

शतक

सप्ततिका

कथायप्राभु

सतकर्मप्राभु

कर्मप्रकृति

श्री चन्द्रर्षि महत्तर प्रणीत

पंचसंग्रह

मूल-शब्दार्थ एवं विवेचन युक्त

हिन्दी व्याख्याकार

मसुधर केंसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज

प्रायोगिक

बन्धक

बन्धल्य

बन्धहेतु

बन्धविधि

संपादक - दशकुमार जैन



पंचसंग्रह

बंधविधि-प्ररूपणा अधिकार

श्री चन्द्रषिमहत्तर प्रणीत

पंच संग्रह

[बन्धविधि-प्ररूपणा अधिकार]

(मूल, शब्दार्थ, विवेचन युक्त)

हिन्दी व्याख्याकार

श्रमणसूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी
श्री मिश्रीमल जी महाराज

सम्प्रेरक

मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि

सम्पादक

देवकुमार जैन

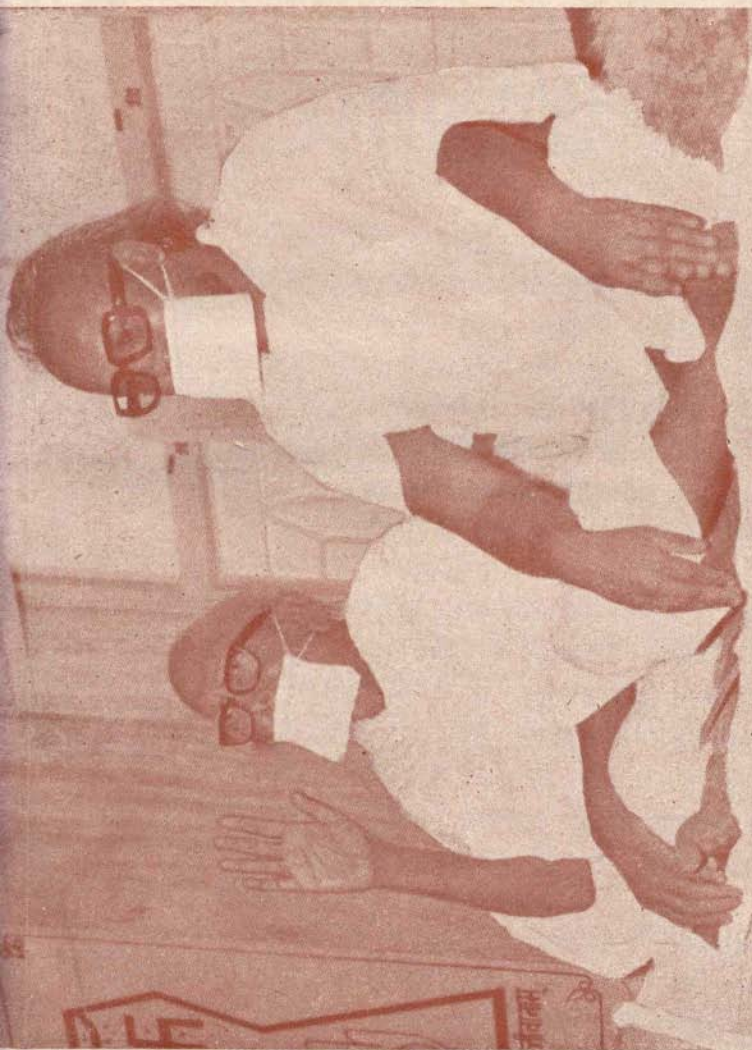
प्रकाशक

आचार्यश्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान, जोधपुर

- ☐ श्री चन्द्रर्षिमहत्तर प्रणीत
पंचसंग्रह (५)
(बंधविधि-प्ररूपणा अधिकार)
- ☐ हिन्दो व्याख्याकार
स्व० मरुधरकेसरी प्रवर्तक श्री मिश्रीमल जी महाराज
- ☐ संयोजक-संप्रेरक
मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि
- ☐ सम्पादक
देवकुमार जैन
- ☐ प्राप्तिस्थान
श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार, व्यावर (राजस्थान)
- ☐ प्रथमावृत्ति
वि० सं० २०४२, ज्येष्ठ, जून १९८५

लागत से अल्पमूल्य २०/- बीस रुपया सिर्फ

- ☐ मुद्रण
श्रीचन्द्र सुराना 'सरस' के निदेशन में
एन० के० प्रिंटर्स, आगरा



શ્રમણસૂર્ય પ્રવર્તક ગુરુદેવ
શ્રી મિશ્રીમત્તજી મહારાજ

વિદ્યામિલાષી શ્રી સુકન મુનિ

प्रकाशकीय

जैनदर्शन का मर्म समझना हो तो 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अत्यावश्यक है। कर्मसिद्धान्त का सर्वांगीण तथा प्रामाणिक विवेचन 'कर्मग्रन्थ' (छह भाग) में बहुत ही विशद रूप से हुआ है, जिनका प्रकाशन करने का गौरव हमारी समिति को प्राप्त हुआ। कर्मग्रन्थ के प्रकाशन से कर्मसाहित्य के जिज्ञासुओं को बहुत लाभ हुआ तथा अनेक क्षेत्रों से आज उनकी मांग बराबर आ रही है।

कर्मग्रन्थ की भाँति ही 'पंचसंग्रह' ग्रन्थ भी जैन कर्मसाहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें भी विस्तारपूर्वक कर्मसिद्धान्त के समस्त अंगों का विवेचन है।

पूज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी महाराज जैनदर्शन के प्रौढ़ विद्वान और सुन्दर विवेचनकार थे। उनकी प्रतिभा अद्भुत थी, ज्ञान की तीव्र रुचि अनुकरणीय थी। समाज में ज्ञान के प्रचार-प्रसार में अत्यधिक रुचि रखते थे। यह गुरुदेवश्री के विद्यानुराग का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि इतनी वृद्ध अवस्था में भी पंचसंग्रह जैसे खटिल और विशाल ग्रन्थ की व्याख्या, विवेचन एवं प्रकाशन का अद्भुत साहसिक निर्णय उन्होंने किया और इस कार्य को सम्पन्न करने की समस्त व्यवस्था भी करवाई।

जैनदर्शन एवं कर्मसिद्धान्त के विशिष्ट अभ्यासी श्री देवकुमार जी जैन ने गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में इस ग्रन्थ का सम्पादन कर प्रस्तुत किया है। इसके प्रकाशन हेतु गुरुदेवश्री ने प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को जिम्मेदारी सौंपी और वि० सं० २०३६ के आश्विन मास में इसका प्रकाशन-मुद्रण प्रारम्भ कर दिया

गया। गुरुदेवश्री ने श्री सुराना जी को दायित्व सौंपते हुए फरमाया—
‘मेरे शरीर का कोई भारोसा नहीं है, इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न कर
लो।’ उस समय यह बात सामान्य लग रही थी, किसे ज्ञात था कि
गुरुदेवश्री हमें इतनी जल्दी छोड़कर चले जायेंगे। किन्तु क्रूर काल
की विडम्बना देखिये कि ग्रन्थ का प्रकाशन चालू ही हुआ था कि
१७ जनवरी १९८७ को पूज्य गुरुदेव के आकस्मिक स्वर्गवास से सबत्र
एक स्तब्धता व रिक्तता-सी छा गई। गुरुदेव का व्यापक प्रभाव समूचे
संघ पर था और उनकी दिवंगति से समूचा श्रमणसंघ ही अपूरणीय
क्षति अनुभव करने लगा।

पूज्य गुरुदेवश्री ने जिस महाकाव्य ग्रन्थ पर इतना श्रम किया और
जिसके प्रकाशन की भावना लिये ही चले गये, वह ग्रन्थ अब पूज्य
गुरुदेवश्री के प्रधान शिष्य मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि जी महाराज
के मार्गदर्शन में सम्पन्न हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है। श्रीयुत
सुराना जी एवं श्री देवकुमार जी जैन इस ग्रन्थ के प्रकाशन-मुद्रण
सम्बन्धी सभी दायित्व निभा रहे हैं और इसे शीघ्र ही पूर्ण कर
पाठकों के समक्ष रखेंगे, यह दृढ़ विश्वास है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्रीमान् पुखराजजी ज्ञानचन्दजी मुणोत
मूल निवासी रणसीगाँव हाल मुकाम ताम्बरम् (मद्रास) ने पूर्ण अर्थ-
सहयोग प्रदान किया है, पहले भी भाग १ एवं ४ में आपकी ओर से
सहयोग प्राप्त हुआ है। आपके अनुकरणीय सहयोग के प्रति हम सदा
आभारी रहेंगे।

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान अपने कार्यक्रम में इस
ग्रन्थ को प्राथमिकता देकर सम्पन्न करवाने में प्रयत्नशील है।

आशा है जिज्ञासु पाठक लाभान्वित होंगे।

मन्त्री

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान
जोधपर

आमुख

जैनदर्शन के सम्पूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा स्वतन्त्र शक्ति है। अपने सुख-दुःख का निर्माता भी वही है और उसका फल-भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्ध दशा में संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं परम आनन्दस्वरूप होने पर भी सुख-दुःख के चक्र में पिस रहा है। अजर-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह में बह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुःखी, दरिद्र के रूप में संसार में यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है ?

जैनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है—कर्मं च जाई मरणस्स मूलं। भगवान् श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्ववैचित्र्य एवं सुख-दुःख का कारण जहाँ ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुःख एवं विश्ववैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं में पुद्गल है, जड़ है। किन्तु राग-द्वेष-वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलवान् और शक्तिसम्पन्न बन जाते हैं कि कर्ता को भी अपने बन्धन में बांध लेते हैं। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनों का

यह मुख्य बीज कर्म क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं ? यह बड़ा ही गम्भीर विषय है। जैनदर्शन में कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमों में और उत्तर-वर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है। थोकड़ों में कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गूँथा है, कण्ठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिए वह अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों में कर्मग्रन्थ और पंचसंग्रह इन दोनों ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें जैनदर्शन-सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा में हैं और इनकी संस्कृत में अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध हैं। गुजराती में भी इसका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा में कर्मग्रन्थ के छह भागों का विवेचन कुछ वर्ष पूर्व ही परम श्रद्धेय गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में प्रकाशित हो चुका है, सर्वत्र उनका स्वागत हुआ। पूज्य गुरुदेव श्री के मार्गदर्शन में पंचसंग्रह (दस भाग) का विवेचन भी हिन्दी भाषा में तैयार हो गया और प्रकाशन भी प्रारम्भ हो गया, किन्तु उनके समक्ष एक भी भाग नहीं आ सका, यह कमी मेरे मन को खटकती रही, किन्तु निरुपाय ! अब गुरुदेवश्री की भावना के अनुसार ग्रन्थ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है, आशा है इससे सभी लाभान्वित होंगे।

—सुकन मुनि

सम्पादकीय

श्रीमद्देवेन्द्रसूरि विरचित कर्मग्रन्थों का सम्पादन करने के सन्दर्भ में जैन कर्मसाहित्य के विभिन्न ग्रन्थों के अवलोकन करने का प्रसंग आया। इन ग्रन्थों में श्रीमदाचार्य चन्द्राधि महत्तरकृत 'पंचसंग्रह' प्रमुख है।

कर्मग्रन्थों के सम्पादन के समय यह विचार आया कि पंचसंग्रह को भी सर्वजन सुलभ, पठनीय बनाया जाये। अन्य कार्यों में लगे रहने से तत्काल तो कार्य प्रारम्भ नहीं किया जा सका। परन्तु विचार तो था ही और पाली (मारवाड़) में विरजित पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी, श्रमणसूर्य श्री मिश्रीमल जी म. सा. की सेवा में उपस्थित हुआ एवं निवेदन किया—

भन्ते ! कर्मग्रन्थों का प्रकाशन तो हो चुका है, अब इसी क्रम में पंचसंग्रह को भी प्रकाशित कराया जाये।

गुरुदेव ने फरमाया—विचार प्रशस्त है और चाहता भी हूँ कि ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हों, मानसिक उत्साह होते हुए भी शारीरिक स्थिति साथ नहीं दे पाती है। तब मैंने कहा—आप आदेश दीजिये। कार्य करना ही है तो आपके आशीर्वाद से सम्पन्न होगा ही, आपश्री की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

'तथास्तु' के मांगलिक के साथ ग्रन्थ की गुरुता और गम्भीरता को सुगम बनाने हेतु अपेक्षित मानसिक श्रम को नियोजित करके कार्य प्रारम्भ कर दिया। 'शनैः कथा' की गति से करते-करते आधे से अधिक ग्रन्थ गुरुदेव के बगड़ी सज्जनपुर चातुर्मास तक तैयार करके सेवा में उपस्थित हुआ। गुरुदेवश्री ने प्रमोदभाव व्यक्त कर फरमाया—
चरैवेति-चरैवेति।

इसी बीच शिवशर्मसूरि विरचित 'कम्मपयडी' (कर्मप्रकृति) ग्रन्थ के सम्पादन का अवसर मिला। इसका लाभ यह हुआ कि बहुत से जटिल माने जाने वाले स्थलों का समाधान सुगमता से होता गया।

अर्थबोध की सुगमता के लिए ग्रन्थ के सम्पादन में पहले मूलगाथा और यथाक्रम शब्दार्थ, गाथार्थ के पश्चात् विशेषार्थ के रूप में गाथा के हार्द को स्पष्ट किया है। यथास्थान ग्रन्थान्तरों, मतान्तरों के मन्तव्यों का टिप्पण के रूप में उल्लेख किया है।

इस समस्त कार्य की सम्पन्नता पूज्य गुरुदेव के वरद आशीर्वादों का सुफल है। एतदर्थ कृतज्ञ हैं। साथ ही मरुधरारत्न श्री रजतमुनि जी एवं मरुधराभूषण श्री नुकनमुनिजी का हादिक आभार मानता हूँ कि कार्य की पूर्णता के लिए प्रतिसमय प्रोत्साहन एवं प्रेरणा का पाथेय प्रदान किया।

ग्रन्थ की मूल प्रति की प्राप्ति के लिए श्री लालभाई दलपतभाई संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबाद के निदेशक एवं साहित्यानुरागी श्री दलमुखभाई मालवणिया का सरस्नेह आभारी हूँ। साथ ही वे सभी धन्यवादार्ह हैं, जिन्होंने किसी न किसी रूप में अपना-अपना सहयोग दिया है।

ग्रन्थ के विवेचन में पूरी सावधानी रखी है और ध्यान रखा है कि सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता आदि न रहे एवं अन्यथा प्ररूपणा भी न हो जाये। फिर भी यदि कहीं चूक रह गई हो तो विद्वान पाठकों से निवेदन है कि प्रमादजन्य स्खलना मानकर त्रुटि का संशोधन, परि-मार्जन करते हुए सूचित करें। उनका प्रयास मुझे ज्ञानवृद्धि में सहायक होगा। इसी अनुग्रह के लिए सानुरोध आग्रह है।

भावना तो यही थी कि पूज्य गुरुदेव अपनी कृति का अवलोकन करते, लेकिन सम्भव नहीं हो सका। अतः 'कालाय तस्मै नमः' के साथ-साथ विनम्र श्रद्धांजलि के रूप में—

त्वव्यं वस्तु योगीन्द्र ! तुभ्यमेव समर्प्यते ।

के अनुसार उन्हीं को सादर समर्पित है।

खजांची मोहल्ला
बीकानेर, ३३४००१

विनीत
देवकुमार जैन

श्रमणसंघ के भीष्म-पितामह

श्रमणसूर्य स्व० गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज

स्थानकवासी जैन परम्परा के १०० वर्षों के इतिहास में कुछ ही ऐसे गिने-गुने महापुरुष हुए हैं जिनका विराट् व्यक्तित्व अनन्त असीम नभोमण्डल की भाँति व्यापक और सीमातीत रहा हो। जिनके उपकारों से न सिर्फ स्थानकवासी जैन, न सिर्फ ज्येताम्बर जैन, न सिर्फ जैन किन्तु जैन-अजैन, बालक-वृद्ध, नारी-पुरुष, श्रमण-श्रमणी सभी उपकृत हुए हैं और सब उस महान् विराट् व्यक्तित्व की शीतल छाया से लाभान्वित भी हुए हैं। ऐसे ही एक आकाशीय व्यक्तित्व का नाम है—श्रमण-सूर्य प्रवर्तक मरुधरकेशरी श्री मिश्रीमल जी महाराज ?

पता नहीं वे पूर्वजन्म की क्या अखूट पुण्याई लेकर आये थे कि बाल-सूर्य की भाँति निरन्तर तेज-प्रताप प्रभाव यश और सफलता की तेजस्विता, प्रभास्वरता से बढ़ते ही गये, किन्तु उनके जीवन की कुछ विलक्षणता यही है कि सूर्य मध्याह्न के बाद क्षीण होने लगता है, किन्तु यह श्रमणसूर्य जीवन के मध्याह्नोत्तर काल में अधिक से अधिक दीप्त होता रहा, ज्यों-ज्यों यौवन की नदी बुढ़ापे के सागर की ओर बढ़ती गई त्यों-त्यों उसका प्रवाह तेज होता रहा, उसकी धारा विशाल और विशालतम होती गई, सोमाएँ व्यापक बनती गई, प्रभाव-प्रवाह सौ-सौ धाराएँ बनकर गाँव-नगर-वन-उपवन सभी को तृप्त-परितृप्त करता गया। यह सूर्य डूबने की अन्तिम घड़ी, अन्तिम क्षण तक तेज दीप्त रहा, प्रभाव में प्रचण्ड रहा और उसकी किरणों का विस्तार अनन्त असीम गगन के दिक्कोणों को छूता रहा।

जैसे लड्डू का प्रत्येक दाना मीठा होता है, अंगूर का प्रत्येक अंश मधुर होता है, इसी प्रकार गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज का

जीवन, उनके जीवन का प्रत्येक क्षण, उनकी जीवनधारा का प्रत्येक जलबिन्दु मधुर मधुरतम जीवनदायी रहा । उनके जीवन-सागर की गहराई में उतरकर गोता लगाने से गुणों की विविध बहुमूल्य मणियां हाथ लगती हैं तो अनुभव होता है, मानव जीवन का ऐसा कौन-सा गुण है जो इस महापुरुष में नहीं था । उदारता, सहिष्णुता, दया-लुता, प्रभावशीलता, समता, क्षमता, गुणज्ञता, विद्वत्ता, कवित्वशक्ति, प्रवचनशक्ति, अदम्य साहस, अद्भुत नेतृत्वक्षमता, संघ-समाज की संरक्षणशीलता, युगचेतना को धर्म का नया बोध देने की कुशलता, न जाने कितने उदात्त गुण व्यक्तित्व सागर में छिपे थे । उनकी गणना करना असंभव नहीं तो दुःसंभव अवश्य ही है । महान तार्किक आचार्य सिद्धसेन के शब्दों में—

कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मान् ।

मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशेः ॥

कल्पान्तकाल की पवन से उत्प्रेरित, उलाचें खाकर बाहर भूमि पर गिरी समुद्र की असीम अगणित मणियां सामने दीखती जरूर हैं, किन्तु कोई उनकी गणना नहीं कर सकता, इसी प्रकार महापुरुषों के गुण भी दीखते हुए भी गिनती से बाहर होते हैं ।

जीवन रेखाएं

श्रद्धेय गुरुदेव का जन्म वि० सं० १९४८ श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को पाली शहर में हुआ ।

पांच वर्ष की आयु में ही माता का वियोग हो गया । १३ वर्ष की अवस्था में भयंकर बीमारी का आक्रमण हुआ । उस समय श्रद्धेय गुरुदेव श्री मानमलजी म. एवं स्व. गुरुदेव श्री बुधमलजी म. ने मंगलपाठ सुनाया और चमत्कारिक प्रभाव हुआ, आप शीघ्र ही स्वस्थ हो गये । काल का ग्रास बनते-बनते बच गये ।

गुरुदेव के इस अद्भुत प्रभाव को देखकर उनके प्रति हृदय की असीम श्रद्धा उमड़ आई । उनका शिष्य बनने की तीव्र उत्कंठा जग

पड़ी। इस बीच गुरुदेवश्री मानमलजी म. का वि. सं. १९७५, माघ वदी ७ को जोधपुर में स्वर्गवास हो गया। वि. सं. १९७५ अक्षय तृतीया को पूज्य स्वामी श्री बुधमलजी महाराज के कर-कमलों से आपने दीक्षारत्न प्राप्त किया।

आपकी बुद्धि बड़ी विचक्षण थी। प्रतिभा और स्मरणशक्ति अद्भुत थी। छोटी उम्र में ही आगम, थोकड़े, संस्कृत, प्राकृत, गणित, ज्योतिष, काव्य, छन्द, अलंकार, व्याकरण आदि विविध विषयों का आधिकारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया। प्रवचनशैली की ओजस्विता और प्रभावकता देखकर लोग आपश्री के प्रति आकृष्ट होते और यों सहज ही आपका वर्चस्व, तेजस्व बढ़ता गया।

वि. सं. १९८५ पौष वदि प्रतिपदा को गुरुदेव श्री बुधमलजी म. का स्वर्गवास हो गया। अब तो पूज्य रघुनाथजी महाराज की संप्रदाय का समस्त दायित्व आपश्री के कंधों पर आ गिरा। किन्तु आपश्री तो सर्वथा सुयोग्य थे। गुरु से प्राप्त संप्रदाय-परम्परा को सदा विकासोन्मुख और प्रभावनापूर्ण ही बनाते रहे। इस दृष्टि से स्थानांगसूत्र-वर्णित चार शिष्यों (पुत्रों) में आपको अभिजात (श्रेष्ठतम) शिष्य ही कहा जायेगा, जो प्राप्त ऋद्धि-वैभव को दिन दूना रात चौगुना बढ़ाता रहता है।

वि. सं. १९९३, लोंकाशाह जयन्ती के अवसर पर आपश्री को मरु-धरकेसरी पद से विभूषित किया गया। वास्तव में ही आपकी निर्भीकता और क्रान्तिकारी सिंह गर्जनाएँ इस पद की शोभा के अनुरूप ही थीं।

स्थानकवासी जैन समाज की एकता और संगठन के लिए आपश्री के भगीरथ प्रयास श्रमणसंघ के इतिहास में सदा अमर रहेंगे। समय-समय पर टूटती कड़ियां जोड़ना, संघ पर आये संकटों का दूरदर्शिता के साथ निवारण करना, संत-सतियों की आन्तरिक व्यवस्था को सुधारना, भीतर में उठती मतभेद की कटुता को दूर करना—यह आपश्री की ही क्षमता का नमूना है कि बृहत् श्रमणसंघ का निर्माण हुआ, बिखरे घटक एक हो गये।

किन्तु यह बात स्पष्ट है कि आपने संगठन और एकता के साथ कभी सौदेबाजी नहीं की। स्वयं सब कुछ होते हुए भी सदा ही पद-मोह से दूर रहे। श्रमणसंघ का पदवी-रहित नेतृत्व आपश्री ने किया और जब सभी का पद-ग्रहण के लिए आग्रह हुआ तो आपश्री ने उस नेतृत्व चादर को अपने हाथों से आचार्य सम्राट (उस समय उपाचार्य) श्री आनन्द ऋषिजी महाराज को ओढ़ा दी। यह है आपश्री की त्याग व निस्पृहता की वृत्ति।

कठोर सत्य सदा कटु होता है। आपश्री प्रारम्भ से ही निर्भीक-वक्ता, स्पष्ट चिन्तक और स्पष्टवादी रहे हैं। सत्य और नियम के साथ आपने कभी समझौता नहीं किया, भले ही वर्षों से साथ रहे अपने कहलाने वाले साथी भी साथ छोड़कर चले गये, पर आपने सदा ही संगठन और सत्य का पक्ष लिया। एकता के लिए आपश्री के अगणित बलिदान श्रमण के गौरव को युग-युग तक बढ़ाते रहेंगे।

संगठन के बाद आपश्री की अभिरुचि काव्य, साहित्य, शिक्षा और सेवा के क्षेत्र में बढ़ती रही है। आपश्री की बहुमुखी प्रतिभा से प्रसून सैकड़ों काव्य, हजारों पद-छन्द आज सरस्वती के शृंगार बने हुए हैं। जैन राम यशोरसायन, जैन पांडव यशोरसायन जैसे महाकाव्यों की रचना हजारों कवित्त, स्तवन की सर्जना आपकी काव्यप्रतिभा के बेजोड़ उदाहरण हैं। आपश्री की आशुकवि-रत्न की पदवी स्वयं में सार्थक है।

कर्मग्रन्थ (छह भाग) जैसे विशाल गुरु गम्भीर ग्रन्थ पर आपश्री के निदेशन में व्याख्या, विवेचन और प्रकाशन हुआ जो स्वयं में ही एक अठ्ठा कार्य है। आज जैनदर्शन और कर्मसिद्धान्त के सैकड़ों अध्येता उनसे लाभ उठा रहे हैं। आपश्री के साद्धिध्य में ही पंचसंग्रह (दस भाग) जैसे विशालकाय कर्मसिद्धान्त के अतीव गहन ग्रन्थ का सम्पादन, विवेचन और प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है, जो वर्तमान में आपश्री की अनुपस्थिति में आपश्री के सुयोग्य शिष्य श्री सुकनमुनि जी के निर्देशन में सम्पन्न हो रहा है।

प्रवचन, जैन उपन्यास आदि की आपश्री की पुस्तकें भी अत्यधिक लोकप्रिय हुई हैं। लगभग ६-७ हजार पृष्ठ से अधिक परिमाण में आपश्री का साहित्य आंका जाता है।

शिक्षा क्षेत्र में आपश्री की दूरदर्शिता जैन समाज के लिए वरदान-स्वरूप सिद्ध हुई है। जिस प्रकार महामना मालवीय जी ने भारतीय शिक्षा क्षेत्र में एक नई क्रांति—नया दिशादर्शन देकर कुछ अमर स्थापनाएँ की हैं, स्थानकवासी जैन समाज के शिक्षा क्षेत्र में आपको भी स्थानकवासी जगत का 'मालवीय' कह सकते हैं। लोंकाशाह गुरुकुल (सादड़ी), राणावास की शिक्षा संस्थाएँ, जयतारण आदि के छात्रावास तथा अनेक स्थानों पर स्थापित पुस्तकालय, वाचनालय, प्रकाशन संस्थाएँ शिक्षा और साहित्य-सेवा के क्षेत्र में आपश्री की अमर कीर्ति गाथा गा रही हैं।

लोक-सेवा के क्षेत्र में भी मरुधरकेसरी जी महाराज भामाशाह और खेमा देवराणी की शुभ परम्पराओं को जीवित रखे हुए थे। फर्क यही है कि वे स्वयं धनपति थे, अपने धन को दान में देकर उन्होंने राष्ट्र एवं समाज-सेवा की, किन्तु आप एक अकिंचन श्रमण थे, अतः आपश्री ने धनपतियों की प्रेरणा, कर्तव्य-बोध और मार्गदर्शन देकर मरुधरा के गांव-गांव, नगर-नगर में सेवाभावी संस्थाओं का, सेवात्मक प्रवृत्तियों का व्यापक जाल बिछा दिया।

आपश्री की उदारता की गाथा भी सैकड़ों व्यक्तियों के मुख से सुनी जा सकती है। किन्हीं भी संत, सतियों को किसी वस्तु की, उपकरण आदि की आवश्यकता होती तो आपश्री निस्संकोच, बिना किसी भेदभाव के उनको सहयोग प्रदान करते और अनुकूल साधन-सामग्री की व्यवस्था कराते। साथ ही जहाँ भी पधारते वहाँ कोई रुग्ण, असहाय, अपाहिज, जरूरतमन्द गृहस्थ भी (भले ही वह किसी वर्ण, समाज का हो) आपश्री के चरणों में पहुँच जाता तो आपश्री उसकी दयनीयता से द्रवित हो जाते और तत्काल समाज के समर्थ व्यक्तियों द्वारा उनकी उपयुक्त व्यवस्था करा देते। इसी कारण गांव-गांव में

किसान, कुम्हार, ब्राह्मण, सुनार, माली आदि सभी कौम के व्यक्ति आपश्री को राजा कर्ण का अवतार मानने लग गये और आपश्री के प्रति श्रद्धावन्त रहते। यही है सच्चे संत की पहचान, जो किसी भी भेदभाव के बिना मानव मात्र की सेवा में रुचि रखे, जीव मात्र के प्रति करुणाशील रहे।

इस प्रकार त्याग, सेवा, संगठन, साहित्य आदि विविध क्षेत्रों में सतत प्रवाहशील उस अजर-अमर यशोधारा में अवगाहन करने से हमें मरुधरकेसरी जी म० के व्यापक व्यक्तित्व की स्पष्ट अनुभूतियाँ होती हैं कि कितना विराट्, उदार, व्यापक और महान था वह व्यक्तित्व !

श्रमणसंघ और मरुधरा के उस महान संत की छत्र-छाया की हमें आज बहुत अधिक आवश्यकता थी किन्तु भाग्य की विडम्बना ही है कि विगत वर्ष १७ जनवरी, १९८४, वि० सं० २०४०, पौष सुदि १४, मंगलवार को वह दिव्यज्योति अपना प्रकाश विकीर्ण करती हुई इस धराधाम से ऊपर उठकर अनन्त असीम में लीन हो गयी थी।

पूज्य मरुधरकेसरी जी के स्वर्गवास का उस दिन का दृश्य, शव-यात्रा में उपस्थित अगणित जनसमुद्र का चित्र आज भी लोगों की स्मृति में है और शायद शताब्दियों तक इतिहास का कीर्तिमान बनकर रहेगा। जैतारण के इतिहास में क्या, सम्भवतः राजस्थान के इतिहास में ही किसी संत का महाप्रयाण और उस पर इतना अपार जन-समूह (सभी कौमों और सभी वर्ण के) उपस्थित होना यह पहली घटना थी। कहते हैं, लगभग ७५ हजार की अपार जनमेदिनी से संकुल शव-यात्रा का वह जलूस लगभग ३ किलोमीटर लम्बा था, जिसमें लगभग २० हजार तो आस-पास व गांवों के किसान बंधु ही थे, जो अपने ट्रैक्टरों, बैलगाड़ियों आदि पर चढ़कर आये थे। इस प्रकार उस महा-पुरुष का जीवन जितना व्यापक और विराट् रहा, उससे भी अधिक व्यापक और श्रद्धा परिपूर्ण रहा उसका महाप्रयाण !

उस दिव्य पुरुष के श्रीचरणों में शत-शत वन्दन !

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'



श्रीमान पुखराजजी मणोत

सौ० रुकमाबाई पुखराजजी मणोत

उदार सहयोगी

श्रीमान् पुखराजजी ज्ञानचन्दजी मुणोत, ताम्बरम् (मद्रास)

संसार में उसी मनुष्य का जन्म सफल माना जाता है जो जीवन में त्याग, सेवा, संयम, दान, परोपकार आदि सुकृत करके जीवन को सार्थक बनाता है। श्रीमान् पुखराजजी मुणोत भी इसी प्रकार के उदारहृदय, धर्मप्रेमी, गुरुभक्त और दानवीर हैं जिन्होंने जीवन को त्याग एवं दान दोनों धाराओं में पवित्र बनाया है।

आपका जन्म वि० सं० १९७८ कार्तिक वदी ५, रणसोगांव (पोपाड़ जोधपुर) निवासी फूलचन्दजी मुणोत के घर, धर्मशीला श्रीमती कूकी बाई के उदर से हुआ। आपके दो अन्य बन्धु व तीन बहनें भी हैं।

भाई—स्व० श्री मिश्रीलाल जी मुणोत

श्री सोहनराज जी मुणोत

बहनें—श्रीमती दाखूबाई, धर्मपत्नी सायबचन्द जी गांधी, नागोर

श्रीमती तीजीबाई, धर्मपत्नी रावतमल जी गुन्देचा, हरियाणा

श्रीमती सुगनीबाई, धर्मपत्नी गंगाराम जी लूणिया, शेरगढ़

आप बारह वर्ष की आयु में ही मद्रास व्यवसाय हेतु पधार गये और सेठ श्री चन्दनमल जी सखलेचा (तिण्डीवणम्) के पास कामकाज सीखा।

आपका पाणिग्रहण श्रीमान् मूलचन्द जी लूणिया (शेरगढ़ निवासी) की सुपुत्री धर्मशीला, सौभाग्यशीला श्रीमती रुक्माबाई के साथ सम्पन्न हुआ। आप दोनों की ही धर्म के प्रति विशेष रुचि, दान, अतिथि-सत्कार व गुरु भक्ति में विशेष लगन रही है।

ई० सन् १९५० में आपने ताम्बरम् में स्वतन्त्र व्यवसाय प्रारम्भ किया। प्रामाणिकता के साथ परिश्रम करना और सबके साथ सद्व्यवहार रखना आपकी विशेषता है। करीब २० वर्षों से आप नियमित

सामायिक तथा चउविहार करते हैं। चतुर्दशी का उपवास तथा मासिक आयम्बल भी करते हैं। आपने अनेक अठाइयाँ, पंचोले, तेले आदि तपस्या भी की हैं। ताम्बरम् में जैन स्थानक एवं पाठशाला के निर्माण में आपने तन-मन-धन से सहयोग प्रदान किया। आप एस० एस० जैन एसोसियेशन ताम्बरम् के कोषाध्यक्ष हैं।

आपके सुपुत्र श्रीमान ज्ञानचन्द जी एक उत्साही कर्तव्यनिष्ठ युवक हैं। माता-पिता के भक्त तथा गुरुजनों के प्रति असीम आस्था रखते हुए, सामाजिक तथा राष्ट्रीय सेवा कार्यों में सदा सहयोग प्रदान करते हैं। श्रीमान ज्ञानचन्दजी की धर्मपत्नी सौ० खमाबाई (सुपुत्री श्रीमान पुखराज जी कटारिया राणावास) भी आपके सभी कार्यों में भरपूर सहयोग करती हैं।

इस प्रकार यह भाग्यशाली मुणोत परिवार स्व० गुरुदेव श्री मरुधरकेसरी जी महाराज के प्रति सदा से असीम आस्थाशील रहा है। विगत मेड़ता (वि० सं० २०३६) चातुर्मास में श्री सूर्य मुनिजी की दीक्षा प्रसंग (आसोज सदी १०) पर श्रीमान पुखराज जी ने गुरुदेव की उम्र के वर्षों जितनी विपुल धन राशि पंच सग्रह प्रकाशन में प्रदान करने की घोषणा की। इतनी उदारता के साथ सत् साहित्य के प्रचार-प्रसार में सांस्कृतिक रुचि का यह उदाहरण वास्तव में ही अनुकरणीय व प्रशंसनीय है। श्रीमान ज्ञानचन्द जी मुणोत की उदारता, सज्जनता और दानशीलता वस्तुतः आज के युवक समाज के समक्ष एक प्रेरणा प्रकाश है।

हम आपके उदार सहयोग के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हुए आपके समस्त परिवार की सुख-समृद्धि की शुभ कामना करते हैं। आप इसी प्रकार जिनशासन की प्रभावना करते रहें—यही मंगल कामना है।

मन्त्री—

पूज्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान
जोधपुर

प्राक्कथन

यह बंधविधि प्ररूपणा नामक पाँचवाँ अधिकार है। यहाँ तक ग्रन्थ के प्रतिपाद्य में से अर्ध अंश का विवेचन पूर्ण होता है। जिससे यहाँ तक के भाग को पंचसंग्रह का पूर्वार्ध कह सकते हैं। इसका पूर्व अधिकारों के साथ यह सम्बन्ध है कि जो जीव कर्म के बन्धक हैं, वे जिन हेतुओं से अपने योग्य कर्मों का बंध करते हैं, उसकी विधि क्या है? वे बंधहेतुओं की अल्पाधिकता के द्वारा किस रूप में बंध करते हैं? इसका उत्तर प्रस्तुत अधिकार में दिया है।

यद्यपि अधिकार के नाम से तो ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ मात्र बंध की विधि का, बंध के स्वरूप का वर्णन किया गया होगा और ऐसी धारणा बनना स्वाभाविक भी है। 'बंधविधि' की शाब्दिक व्युत्पत्ति से यही अर्थ निकलता है। लेकिन ग्रन्थकार आचार्य ने व्यापक दृष्टिकोण का आधार लेकर बंध के साथ-साथ उदय, उदीरणा और सत्ता विधि का भी विवेचन किया है। इनका भी विवेचन क्यों किया है? इसके कारण को ग्रन्थकार आचार्य ने निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है—

बंधस्मुदओ उदए उदीरणा तदवसेसयं संतं ।

तन्हा बंधविहाणे भन्तंते इइ भणितव्वं ॥

अर्थात् बद्ध कर्म का उदय होता है। उदय होने पर उदीरणा होती है और शेष की सत्ता होती है। इस प्रकार परस्पर सम्बन्ध होने से बंधविधि के साथ उदयादिक के स्वरूप का भी वर्णन किया गया है।

विषय प्रवेश के सन्दर्भ में तो अधिकार के प्रतिपाद्य की संक्षेप में रूपरेखा दी जायगी। जिसका क्षेत्र सीमित है। उसमें अन्य सम्बन्धित

का उल्लेख किया जाना प्रासंगिक भी नहीं होगा। अतएव प्राक्कथन में कर्म सिद्धान्त कतिपय विचारणीय बिन्दुओं का विवरण प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि इन बिन्दुओं में से कितनेक का यथाप्रसंग उल्लेख भी है, लेकिन वर्तमान में बृहत् परिमाण में कर्म साहित्य उपलब्ध हो गया है और उसके अभ्यासियों की बहुलता हो गई है। साथ-साथ साहित्यिक अनुसन्धान का क्षेत्र भी विस्तृत हुआ है, अतः उसके होते हुए भी यदि विचारणीय बिन्दु, मात्र विचारणीय ही बने रहे और निर्णय नहीं हुआ तो क्या लाभ है? इसलिए इनके लिये ऊहापोह होकर एक निर्णय पर पहुँचना अपेक्षित है। मान्यता-भेद, परम्परा-भेद आदि कह सर्वसम्मत निर्णय न कर अनिर्णीत रहने दिया तो उपेक्षणीय वृत्ति मानी जायेगी।

इन विचारणीय बिन्दुओं को सैद्धान्तिक, कार्मग्रन्थिक और ग्रन्थ-कर्ताओं के अपने-अपने अभिमत इन तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। इसी क्रम से उन्हें यहाँ उपस्थित करने का प्रयत्न करते हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जो कुछ भी उपस्थित करेंगे, उसके मूल में जिज्ञास वृत्ति है, न तो किसी के प्रति आकर्षण-विकर्षण भाव है और न किसी को श्रेष्ठ-कनिष्ठ मानने की वृत्ति है।

मत-भिन्नता आदि के रूप में माने गये विचारणीय बिन्दुओं में से कुछ एक का उल्लेख करते हैं। जिनको मुख्य रूप से पंचसंग्रह से संकलित किया गया है—

१ - ग्रन्थकार उत्पत्ति के दूसरे समय से स्वयोग्य सभी पर्याप्तियाँ पूर्ण न हों, तब तक मिश्रकाययोग मानते हैं। लेकिन अन्य आचार्य शरीरपर्याप्ति पूर्ण हो तब तक मिश्र और तदनन्तर शुद्ध काययोग मानते हैं।

२—ग्रन्थकार चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त आदि तीन जीवस्थानों में चक्षु-दर्शन नहीं मानते हैं, जब कितने ही आचार्य इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद चक्षुदर्शन मानते हैं।

३—योगोपयोगमार्गणा अधिकार की गाथा ११ में बताया है कि विभंगज्ञान में औदारिकमिश्र काययोग नहीं होता है, जबकि गाथा १२ में कहा है कि विभंगज्ञान में औदारिकमिश्र काययोग होता है।

४—आचार्य मलयगिरि सूरि ने अपनी व्याख्या में चक्षुदर्शन मार्गणा में वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र का निषेध किया है लेकिन चतुर्थ कर्मग्रन्थ में उसका निषेध नहीं किया है।

५—जीवस्थानों में योग निरूपण के प्रसंग में तो मनोयोग संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त को और वचनयोग पर्याप्त द्वीन्द्रिय आदि पाँच जीवस्थानों में तथा काययोग सर्व जीवस्थानों में बतलाया है। जबकि मार्गणास्थानों में जीवस्थानों को बतलाने के प्रसंग में मनोयोग में संज्ञी पर्याप्त-अपर्याप्त यह दो, वचनयोग में पर्याप्त-अपर्याप्त विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय यह आठ एवं काययोग में एकेन्द्रिय के मात्र चार जीवस्थान बताये हैं। जबकि चतुर्थ कर्मग्रन्थ में वचनयोग में पर्याप्त द्वीन्द्रियादि मात्र पाँच जीवस्थान बताये हैं।

६—योगोपयोगमार्गणा अधिकार गाथा ६ में जीवस्थानों में योगों का निर्देश करने के प्रसंग में पर्याप्त विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय में काययोग और वचनयोग, संज्ञी पर्याप्त में सभी योग और शेष जीवों में काययोग बताया है। लेकिन योगमार्गणा में जीवभेदों को बताने के प्रसंग में काययोग में चार, वचनयोग में आठ और मनोयोग में दो जीवस्थान बतलाते हैं। जबकि जीवस्थानों में योगों को अथवा योगों में जीवस्थानों को बतलाना एक जैसा है।

७—भगवती आदि आगमों में अवधिदर्शन में एक से बारह, कर्मग्रन्थादि में चार से बारह और यहाँ (योगोपयोगमार्गणा अधिकार में) गाथा २० में तीन से बारह तथा गाथा ३० की टीका में एक से बारह गुणस्थान बताये हैं।

८—विभंगज्ञान में संज्ञी-पर्याप्त एक और चतुर्थ कर्मग्रन्थ में संज्ञी पर्याप्त-अपर्याप्त इस प्रकार दो जीवभेद बताये हैं।

६—शतक बृहच्चूणि आदि के मत से उपशम सम्यक्त्व में संज्ञी पर्याप्त एक और सप्ततिका चूणिकार आदि के मत से संज्ञी-पर्याप्त-अपर्याप्त इस प्रकार दो जीव-भेद होना बताया है ।

१०—कितनेक आचार्यों के मत से केवली भगवन्तों के मत्यादि चार ज्ञान नहीं, मात्र केवलज्ञान ही होता है जबकि कितने ही आचार्यों के मत से पाँचों ज्ञान होते हैं ।

११—पुरुषवेद और स्त्रीवेद में पर्याप्त-अपर्याप्त असंज्ञी और संज्ञी पचेन्द्रिय यह चार जीव-भेद कहे हैं, जबकि भगवती सूत्र आदि में असंज्ञी के दोनों जीवस्थानों में नपुंसकवेद ही बताया है ।

१२—पंचसंग्रह व कर्मग्रन्थादिक में क्षपकश्रेणि में आतप और उद्योत का क्षय नौवें गुणस्थान में और अपर्याप्त तथा अप्रशस्तविहायोगति का चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में क्षय बताया है, जबकि आवश्यकचूणिकार नौवें गुणस्थान में अपर्याप्त तथा अप्रशस्त-विहायोगति का और चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में आतप-उद्योत का क्षय मानते हैं ।

१३—कितने ही आचार्य क्षपकश्रेणि में नौवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क इन आठ कषायों के बीच स्त्यानद्वित्रिक आदि सोलह प्रकृतियों का और दूसरे कितने ही आचार्य स्त्यानद्वित्रिक आदि सोलह प्रकृतियों के बीच उक्त आठ कषायों का क्षय मानते हैं ।

१४—ग्रन्थकार उपशम श्रेणि का आरम्भक अप्रमत्तसंयत को कहते हैं, जबकि अन्य आचार्य चौथे से सातवें गुणस्थान के जीव मानते हैं ।

१५—इस ग्रन्थ एवं अन्य कितने ही ग्रन्थों में अनन्तानुबन्धि का उपशम करके भी उपशम श्रेणि करते हैं ऐसा कहा है, जबकि कितने ही दूसरे ग्रन्थों में अनन्तानुबन्धि का क्षय करके ही उपशम श्रेणि करते हैं, ऐसा कहा है ।

१६—कर्मग्रन्थादिक के मतानुसार उपशम और क्षपक श्रेणि इस प्रकार दोनों श्रेणियां एक ही भव में की जा सकती हैं, लेकिन सिद्धान्त के मत से एक भव में दोनों में से एक ही श्रेणि की जा सकती है ।

१७—दर्शन के चक्षु आदि केवल पर्यन्त चार भेद प्रसिद्ध हैं और इनको मानने में सभी की एकरूपता है, लेकिन किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने मनःपर्याय दर्शन के रूप में एक पृथक्-पृथक् दर्शन और भी माना है ।

१८—संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में पन्द्रह योग मानना युक्त है, अथवा अपर्याप्त अवस्थाभावी औदारिकमिश्र वैक्रियमिश्र और कार्मण के सिवाय शेष बारह योग माने जायें ? बजाय अपेक्षा दृष्टि के यथार्थ निर्णय अपेक्षित है ।

१९—दिगम्बर कर्म साहित्य में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवस्थान में पन्द्रह योग के बजाय चौदह योग मानने का मत भी मिलता है । क्या वह समीचीन है ?

२०—कर्मग्रन्थिक मतानुसार आदि के ग्यारह जीवस्थानों में मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन में तीन उपयोग होते हैं । सिद्धान्त के अनुसार अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय इन चार जीवस्थानों में अचक्षुदर्शन, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान ये पांच उपयोग होते हैं ।

२१—दिगम्बर कर्म साहित्य में कुमति, कुश्रुत, मति-श्रुत-अवधि-ज्ञान, अचक्षु और अवधिदर्शन ये सात उपयोग संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त को बताये हैं । लेकिन एक मत कुमति, कुश्रुत के अतिरिक्त शेष पांच उपयोग मानने का भी है ।

२२—केवली में केवलज्ञान-दर्शन उपयोगद्वय सहभावी माने जायें या क्रमभावी ? इसका निर्णय अपेक्षित है । जिससे सिद्धान्त और कर्म साहित्य के वर्णन में एकरूपता हो ।

२३—तिर्य्यगगति में आहारकद्विक और वैक्रियद्विक के अतिरिक्त ग्यारह योग मानना युक्तिसंगत है या वैक्रियद्विक सहित तेरह योग मानना । इसका दिगम्बर और श्वेताम्बर कर्म साहित्य में अपेक्षा से समाधान किया गया है, लेकिन निर्णय में एकरूपता होनी चाहिए ।

२४—दिगम्बर साहित्य में नपुंसकवेदमार्गणा में आहारकद्विक के सिवाय तेरह योग माने हैं । लेकिन श्वेताम्बर कर्म साहित्य में सभी पन्द्रह योग बताये हैं । इसी प्रकार श्वेताम्बर साहित्य में आहारक मार्गणा में पन्द्रह योग माने हैं, लेकिन दिगम्बर साहित्य में कर्मणकाय-योग के सिवाय चौदह योगों का निर्देश किया है ।

२५—कर्मग्रन्थिक मतानुसार अज्ञानत्रिक, अभव्य, सासादन और मिथ्यात्व इन छह मार्गणाओं में कुमति, कुश्रुत, विभंगज्ञान, चक्षु-अचक्षु-दर्शन ये पाँच उपयोग होते हैं । लेकिन सिद्धान्त के अनुसार तीन अज्ञान और चक्षुदर्शन आदि प्रथम तीन दर्शन कुल छह उपयोग हैं ।

२६—कर्मग्रन्थिक आचार्यों में अवधिदर्शन को गुणस्थानों में मानने के बारे में दो मत हैं १—चौथे आदि से नौ गुणस्थानों में अवधि-दर्शन मानता है, २—तीसरे गुणस्थान में भी अवधिदर्शन मानता है ।

२७—मिश्र गुणस्थान में वैक्रियमिश्र काययोग न मानने का क्या कारण है ?

२८—श्वेताम्बर साहित्य में पाँचवें गुणस्थान में चार मनोयोग, चार वचनयोग, औदारिक व वैक्रियद्विक काययोग—ये ग्यारह योग, छठे गुणस्थान में पाँचवें गुणस्थान के ग्यारह योगों के साथ आहारकद्विक को मिलाने से तेरह योग और सातवें गुणस्थान में औदारिक, मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क, वैक्रिय, आहारक सहित ग्यारह योग माने हैं । लेकिन दिगम्बर साहित्य में पाँचवें और सातवें गुणस्थान में औदारिक काययोग, चार मनोयोग, चार वचनयोग कुल नौ योग तथा छठे गुण-स्थान में औदारिक काययोग, आहारकद्विक, चार मनोयोग और चार वचनयोग कुल ग्यारह योग माने हैं ।

२६—मिथ्यात्व और सासादन इन दो गुणस्थानों में कर्मग्रन्थिक मतानुसार अज्ञानत्रिक और चक्षु-अचक्षु दर्शन, कुल पाँच उपयोग होते हैं। जबकि सिद्धान्त में अवधिदर्शन सहित छह उपयोग माने हैं। दिगम्बर साहित्य का मत कर्मग्रन्थिक मत जैसा है।

३०—कर्मग्रन्थिकों ने मनुष्यगति में पर्याप्त-अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय रूप दो जीवस्थान माने हैं, और सिद्धान्त में उक्त दो के साथ अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान भी बताया है।

३१—दिगम्बर साहित्य में मनोयोग में एक संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान माना है और श्वेताम्बर साहित्य में अपर्याप्त-पर्याप्त संज्ञी इन दो जीवस्थानों के होने का संकेत किया है।

३२—सिद्धान्त में असंज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त इन दो में मात्र तपुंसकवेद माना है और कर्मग्रन्थिक मतानुसार इनमें पुरुषवेद और स्त्रीवेद भी है।

३३—कर्मग्रन्थिकों ने अज्ञानत्रिक मार्गणाओं में आदि के तीन गुणस्थान माने हैं। लेकिन सिद्धान्त के मतानुसार प्रथम, द्वितीय ये दो गुणस्थान हैं। दिगम्बर परम्परा में भी अज्ञानत्रिक में आदि के दो गुणस्थान होने का मत स्वीकार किया है।

३४—सिद्धान्त में अवधिदर्शन में पहले से लेकर बारहवें तक बारह गुणस्थान माने हैं। लेकिन कतिपय कर्मग्रन्थिक आचार्य चौथे से बारहवें तक नौ गुणस्थान और कुछ तीसरे से बारहवें तक दस गुणस्थान मानते हैं। दिगम्बर परम्परा में भी इन दोनों मतों का उल्लेख है।

३५—श्वेताम्बर साहित्य में सुखपूर्वक जागना हो जाये उसे निद्रा कहा है, जबकि दिगम्बर परम्परा ने निद्रा का अर्थ किया है कि जीव-गमन करते हुए भी खड़ा रह जाये, बैठ जाये, गिर जाये। इसी प्रकार प्रचला के लक्षण में भी भिन्नता है। श्वेताम्बर साहित्य में प्रचला का लक्षण बताया है कि जिस निद्रा में बैठे-बैठे या खड़े-खड़े नींद आये

और दिगम्बर साहित्य में प्रचला का यह लक्षण है—जिसके उदय से जीव कुछ जागता और कुछ सोता रहे ।

३६—श्वेताम्बर साहित्य में चलते-चलते जो नींद आती है, उसे प्रचला-प्रचला कहा है और दिगम्बर साहित्य में जिसके उदय से सोते में जीव के हाथ पैर भी चले और मुँह से लार भी गिरे, यह अर्थ किया है ।

३७—दिगम्बर साहित्य में जुगुप्सामोहनीय का अर्थ स्वदोष छिपाना और पर-दोष प्रगट करना कहा है और श्वेताम्बर कर्म साहित्य के शुभ या अशुभ वस्तु के सम्बन्ध में ग्लानि भाव, घृणा होने रूप किया है ।

३८—श्वेताम्बर कर्म साहित्य में मिश्र एवं सम्यक्त्व मोहनीय के लक्षण इस प्रकार बताये हैं—जिस कर्म के उदय से जिनप्ररूपित तत्त्व की न तो यथार्थ श्रद्धा हो और न अश्रद्धा हो, रुचि-अरुचि में से एक भी न हो, वह मिश्रमोहनीय है तथा जिस कर्म के उदय से जिनप्रणीत तत्त्व की सम्यक् श्रद्धा हो वह सम्यक्त्वमोहनीय है । और दिगम्बर साहित्य में यह लक्षण किये हैं—जिस कर्म के उदय से जीव की तत्त्व के साथ अतत्त्व की, सन्मार्ग के साथ उन्मार्ग की और हित के साथ अहित की मिश्रित श्रद्धा होती है, उसे मिश्रमोहनीय एवं जिस कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन तो बना रहे, किन्तु उसमें चल-मलिन आदि दोष उत्पन्न हों, उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं ।

३९—श्वेताम्बर साहित्य में आनुपूर्वी का लक्षण इस प्रकार बताया है—विग्रह द्वारा एक भव से दूसरे भव में जाते जीव की आकाश प्रदेश की श्रेणि के अनुसार गति होना आनुपूर्वी नामकर्म है और इसका उदय वक्रगति से जाने पर होता है और दिगम्बर परम्परा में जिसके उदय से विग्रहगति में जीव का आकार पूर्वशरीर के समान बना रहे यह माना है ।

४०—‘जिस कर्म के उदय से जीव ओजस्वी हो, दर्शन मात्र अथवा वचन सौष्ठवता से सभा के सदस्यों में त्रास उत्पन्न करे, प्रतिवादी की

प्रतिभा का घात करे, यह पराघात का लक्षण श्वेताम्बर परम्परा मान्य है, जबकि दिगम्बर परम्परा में 'जिस कर्म के उदय से दूसरे के घात करने वाले अवयव होते हैं,' उसे पराघात नामकर्म कहा है।

४१—जिस कर्म के उदय से मस्तक, हड्डियाँ, दाँत आदि शरीरावयव स्थिर हों, वह स्थिरनाम और इसके विपरीत जिस कर्म के उदय से जिह्वा आदि शरीरावयवों में अस्थिरता हो वह अस्थिरनाम है। जिस कर्म के उदय से नाभि से ऊपर के अवयव शुभ और नाभि से नीचे के अवयव अशुभ माने जायें वह अशुभ नामकर्म है। यह श्वेताम्बर साहित्य में माना है। लेकिन दिगम्बर साहित्य में उक्त चारों के लक्षण इस प्रकार माने हैं—जिस कर्म के उदय से शरीर के धातु-उपधातु यथास्थान स्थिर रहें यह स्थिरनाम और धातु-उपधातु स्थिर न रह सकें वह अस्थिर नाम है। जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव सुन्दर हों वह शुभ तथा सुन्दर न हों, वह अशुभ नामकर्म है।

४२—श्वेताम्बर साहित्य में 'जिस कर्म के उदय से मनुष्य की प्रवृत्ति, वाणी को लोक प्रमाण माने वह आदेय नाम और इसके विपरीत अनादेय नामकर्म का लक्षण माना है। लेकिन दिगम्बर परम्परा में प्रभायुक्त शरीर के होने को आदेय कर्म का और शरीर में प्रभा न होने को अनादेय कर्म का लक्षण कहा है।

४३—दिगम्बर साहित्य में श्वेताम्बर साहित्य मान्य बंधननाम-कर्म के पन्द्रह भेद न मानकर पाँच भेद माने हैं और शरीरनाम के पाँचों शरीर के संयोगी पन्द्रह भेद माने हैं। जबकि श्वेताम्बर साहित्य में शरीरनाम के पाँच भेद स्वीकार किये हैं।

४४—श्वेताम्बर कर्म साहित्य में संज्वलन लोभ रहित पन्द्रह कषाय, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा, हास्य, रति, मनुष्यानुपूर्वी, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, आतप, पुरुषवेद इन छद्बीस प्रकृतियों को समकव्यवच्छिद्यमानबंधोदया माना है। लेकिन दिगम्बर परम्परा में इनके

साथ एकेन्द्रियादिजातिचतुष्क और स्थावर इन पाँच को मिलाकर इकतीस प्रकृतियों को समकव्यवच्छिद्यमानबन्धोदया कहा है ।

४५—पंचसंग्रह के टीकाकार आचार्य मलयगिरि सूरि ने मनुष्यानु-पूर्वी का उदयविच्छेद अयोगि के चरम समय में होना कहा है । यह विचारणीय है । क्योंकि आनुपूर्वी का उदय पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थानों में होता है ।

४६—श्वेताम्बर कर्म साहित्य में मूल बंधहेतुओं के उत्तरभेदों के लिए इन्द्रिय अविरति के पाँच भेद मानकर भंग प्ररूपणा की है और दिगम्बर साहित्य में इन्द्रिय अविरति के छह भेद माने हैं तथा तदनु-सार भंग बतलाये हैं ।

४७—पंचसंग्रह के टीकाकार आचार्य मलयगिरि सूरि एकेन्द्रियादि सभी असंजी जीवों में अनाभोगिक मिथ्यात्व मानते हैं, लेकिन स्वयं ग्रन्थकार ने अनभिग्रहीत मिथ्यात्व का संकेत किया है ।

४८—आचार्य चन्द्राक्षि महत्तर ने प्रत्येक जीव-भेदों में तीन वेद का उदय मानकर बंधहेतुओं के भंग बताये हैं । परन्तु परमार्थतः तो असंजी पंचेन्द्रिय तक जीवों में मात्र नपुंसकवेद का उदय है ।

४९—कर्म साहित्य का सामान्य मन्तव्य है कि क्षीणमोह गुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त निद्राद्विक का उदय एवं उदीरणा होती है । परन्तु आचार्य मलयगिरि सूरि उपशान्तमोह गुणस्थान तक निद्राद्विक की उदीरणा मानते हैं ।

५०—किन्हीं आचार्यों का मत है कि ग्यारहवें गुणस्थान से जो भवक्षय से गिरता है, वह अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है और भव के प्रथम समय में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है, पूर्वभव की उपशम श्रेणि का सम्यक्त्व यहाँ नहीं लाता है तथा एक मत ऐसा भी है कि उपशम श्रेणि का उपशम सम्यक्त्व लेकर अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है ।

५१—नामकर्म के बारह उदयस्थानों में नौ अल्पतरोदय होते हैं । उनमें पहले आठ और बीस प्रकृति रूप दो अल्पतरोदय का निषेध किया है । परन्तु बाद में दोनों अल्पतर घटित किये हैं (देखिये बंध-विधि प्ररूपणा पृष्ठ ६१, ६२) ।

५२—इकतीस प्रकृतियों के उदय से अधिक नामकर्म की प्रकृतियों का उदयस्थान न होने से इकतीस तथा पच्चीस और चौबीस के उदय बिना के नौ अल्पतरोदय नामकर्म के होते हैं । ये केवली की अपेक्षा तो ठीक हैं, परन्तु लब्धिसम्पन्न मनुष्य या तिर्यंच वैक्रियशरीर बनाते हैं, तब तीसप्रकृतिक उदयस्थान से पच्चीस के उदयस्थान में और लब्धि सम्पन्न छब्बीस प्रकृतियों के उदय में वर्तमान वायुकायिक जीव वैक्रिय शरीर बनाये तब चौबीस प्रकृतिक उदयस्थान में जाते हैं । अथवा यथासम्भव इकतीस से छब्बीस तक के उदयस्थान से पंचेन्द्रिय तिर्यंच आदि काल करके ऋजु श्रेणि से देव, नारक में उत्पन्न हों तो पच्चीस के और एकेन्द्रिय में उत्पन्न हों तो चौबीस के उदयस्थानों में जाते हैं । इस प्रकार से पच्चीस और चौबीस प्रकृति रूप दोनों उदयस्थान संसारी जीवों में हो सकते हैं । जिससे नौ को बजाय ग्यारह अल्पतरोदय नामकर्म के सम्भव है । परन्तु मलयगिरि सूरि ने नौ अल्पतरोदय बताये हैं ।

५३—समस्त उत्तरप्रकृतियों के उदयस्थानों में से चौतीस प्रकृतिक उदयस्थान स्वभावस्थ तीर्थंकर केवली के होता है । अतः तीर्थंकर होने वाला जब केवली अवस्था को प्राप्त करता है और चवालीस आदि प्रकृतिक किसी भी उदयस्थान से चौतीस के उदयस्थान में जाये तब चौतीस का उदयरूप अल्पतर संभव है, परन्तु उसका निषेध किया है ।

५४—श्वेताम्बर परंपरा में नामकर्म के बारह सत्तास्थान इस प्रकार माने हैं—१०३, १०२, ६६, ६५, ६३, ६०, ८६, ८४, ८३, ८२, ६ और ८ प्रकृतिक । लेकिन दिगम्बर परंपरा में तेरह सत्तास्थान बताये हैं—६३,

६२, ६१, ६०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७६, ७८, ७७, १०, २ प्रकृतिक। इनमें मुख्य अंतर १२ और १३ सत्तास्थान होने का है। प्रकृतियों की संख्या का अंतर तो १०३ और ६३ भेद मानने की दृष्टि से है।

५५—आचार्य मलयगिरि सूरि एवं पंचसंग्रह की बंधविधि प्ररूपणा की स्वोपज्ञवृत्ति में समस्त कर्मों की उत्तरप्रकृतियों के सत्तास्थानों के सत्रह भूयस्कारों में एकसौ तेतालीस प्रकृतिक सत्तास्थान का भी ग्रहण किया है। लेकिन वह भूयस्कार रूप सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियों के साथ एकसौ चवालीस प्रकृतियों की सत्तावाला सम्यक्त्वमोहनीय की उद्बलना करके एकसौ तेतालीस के सत्तास्थान में आता है, जिससे अल्पतर रूप में घटित हो सकता है, भूयस्कार रूप में नहीं।

५६—सामान्यतः देव, नारक और असंख्यात वर्षायुष्क भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यच की परभवायु की अबाधा छह मास मानी गई है। परन्तु किन्हीं आचार्यों का मत है कि भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यचों की परभवायु की अबाधा पत्योपम का असंख्यातवां भाग है।

५७—सामान्य से कर्मसाहित्य में आहारकद्विक की जघन्यस्थिति अंतःकोडाकोडी सागर प्रमाण स्वीकृत है, किन्तु किन्हीं आचार्यों ने अन्तर्मुहूर्त प्रमाण भी जघन्य स्थिति मानी है।

५८—अवध्यमान मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधि आदि बारह कषायों का भाग मिलाने से भय जुगुप्सा के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी अपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती जीव कहा है, परन्तु इन्हीं अवध्यमान तेरह प्रकृतियों का भाग प्रमत्त और अप्रमत्त संयत गुणस्थानों को भी मिलता है। जिससे इन दो गुणस्थानवर्ती जीव भी भय, जुगुप्सा के उत्कृष्ट प्रदेशबंध से स्वामी हो सकते हैं। लेकिन बताये नहीं है।

५९—पंचसंग्रह में हास्य, रति, अरति और शोक इन चार प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेश बंध का स्वामी उत्कृष्ट योग वाला अविरत-

सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती जीव बताया है। लेकिन कर्मग्रन्थों की टीका में चौथे से आठवें गुणस्थान तक के उत्कृष्ट योग में वर्तमान जीवों को बताया है। दिगम्बर साहित्य का भी यही अभिमत है। इसी प्रकार यहाँ (पंचसंग्रह में) असातावेदनीय का उत्कृष्ट प्रदेशबंधक मिथ्यादृष्टि जीव बताया है; परन्तु सम्यक्त्वी जीव भी बांधता है, अतः वह भी उत्कृष्टप्रदेशबंध का स्वामी हो सकता है। पंचम कर्मग्रन्थ एवं दिगम्बर साहित्य का यही मत है।

६०—पंचसंग्रह में वज्रशृषभनाराचसंहनन का उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी मनुष्यमतिरोग्य उनतीस प्रकृतियों का बंधक बताया है। लेकिन पंचम कर्मग्रन्थ में तिर्य्यचगति रोग्य उनतीस प्रकृतियों के बंधक को बताया है।

इनके अतिरिक्त अन्य मतभिन्नतायें भी यत्र-तत्र कर्म साहित्य में विद्यमान हैं। जिनका पूर्वापर सम्बन्ध के साथ विस्तृत प्रस्तुतीकरण एक स्वतंत्र विषय है और प्राकथन के रूप में वह सब लिखा जाना प्रासंगिक भी नहीं है। अतः यथावकाश स्वतंत्र लेख के रूप में लिखने की इच्छा है। यहाँ जो कतिपय सामान्य मतभिन्नताओं का विहंगावलोकन मात्र किया है, वह इसलिये कि जिज्ञासु जन विचार करें। ऊहापोह एवं तर्क प्रक्रिया प्रारंभ हो।

अब संक्षेप में अधिकार के विषय की रूपरेखा का संकेत करते हैं।

विषय परिचय

मुख्य रूप से इस अधिकार के विचारणीय विषय तीन हैं—बंध, उदय और सत्ता की विधि, स्वरूप, प्रकार का विचार करना और उदय के साथ ही उदीरणा विधि का भी संक्षेप में उल्लेख कर दिया है।

बंधविधि प्ररूपणा को प्रारम्भ करते हुए पहले गुणस्थानों में मूलकर्मों की बंध, उदय और सत्ता विधि का विचार किया है।

पतपश्चात् इसी तरह बंध, उदय और सत्ताविधि का जीवस्थानों में निर्देश किया है ।

गुणस्थानों में मूलकर्मप्रकृतियों की उदीरणाविधि का निरूपण करके उदय और उदीरणा विषयक अपवादों को बताया है । फिर उत्तरप्रकृतियों की गुणस्थानों में उदीरणाविधि का उल्लेख करके भजनीय उदीरणायोग्य प्रकृतियों का नाम निर्देश किया है ।

इस प्रकार के सामान्य वर्णन के पश्चात् बंधादि प्रत्येक का विस्तार से विवेचन करना प्रारंभ किया है ।

बंधविधि की प्ररूपणा प्रारंभ करते हुए सर्वप्रथम बंध के अनादि-अनन्त, अनादि-सांत, सादि-सांत इन तीनों प्रकारों का विचार किया है और इनके भी चार-चार उत्तरभेदों की व्याख्या की है । फिर एक दूसरे प्रकार से होने वाले बंध के भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य इन चार भेदों का वर्णन किया है ।

मूलकर्मों के बंधस्थानों का निरूपण कर इनमें भूयस्कार आदि बंध-प्रकारों की योजना की है । इसी प्रकार उदय, उदीरणा और सत्ता स्थानों को बतलाकर भूयस्कार आदि प्रकारों का वर्णन किया है ।

मूलकर्मों की तरह प्रत्येक की उत्तरप्रकृतियों के बंधस्थानों का वर्णन कर उनसे भी और तत्पश्चात् समस्त उत्तरप्रकृतियों के बंध-स्थानों और उनमें संभव भूयस्कार आदि प्रकारों का वर्णन किया है । यह सब वर्णन गाथा १८ तक में पूर्ण हुआ है ।

इसके बाद उदयविधि का वर्णन करने के लिये ज्ञानावरणादि की उत्तरप्रकृतियों के उदयस्थानों का उल्लेख करके उनमें और फिर समस्त उत्तर प्रकृतियों के उदयस्थानों व उनमें भूयस्कार आदि प्रकारों का वर्णन किया है । इसी प्रकार से प्रत्येक कर्म की उत्तरप्रकृतियों के सत्तास्थानों तथा सर्व उत्तरप्रकृतियों के सत्तास्थानों को बताकर उनमें भी संभव भूयस्कार आदि का वर्णन किया है ।

अनन्तर सादि-आदि बंध-प्रकारों का भावाभावत्व, अजघन्य और अनुत्कृष्ट में अंतर आदि को स्पष्ट करके मूल एवं उत्तरप्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा करके स्वामित्व का वर्णन किया है और इसके साथ ही प्रकृतिबंध का विवेचन पूर्ण हुआ है।

इसके बाद स्थिति, निषेक, अबाधाकंडक, उत्कृष्ट जघन्य स्थिति-बंध, स्थितिस्थान, संक्लेश और विशुद्धि स्थान, अध्यवसाय स्थान प्रमाण, साद्यादि, स्वामित्व और शुभाशुभत्व इन ग्यारह विभागों द्वारा स्थितिबंध का विस्तार से विवेचन किया है। जो गाथा ३१ से प्रारम्भ होकर गाथा ६४ में पूर्ण हुआ है।

इसी प्रकार फिर अनुभागबंध का सादि-अनादि, स्वामित्व और अल्पवहुत्व इन तीन विभागों द्वारा अनुभाग बंध का वर्णन किया है। यह सब वर्णन ६५ से ७६ तक कुल बारह गाथाओं में है।

उक्त तीनों बंधों का वर्णन करने के बाद प्रदेशबंध का विचार प्रारम्भ किया है। इसके भाग-विभाग, सादि-अनादि और स्वामित्व प्ररूपणा यह तीन विभाग है। प्रत्येक विभाग में अपने अधिकृत विषय का सर्वांगीण विचार किया है। इसी प्रसंग में प्रकृतियों के निरन्तर बंधकाल का वर्णन करके बंधविधि की प्ररूपणा समाप्त हुई। इसके पश्चात् प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से उदयविधि का वर्णन किया है। इसी तरह सत्ताविधि का भी विचार किया है।

यह समस्त वर्णन १८५ गाथाओं में किया गया है। पाठकगण स्वयं अधिकार का अध्ययन करके कर्म सिद्धान्त को हृदयंगम करें, यह आकांक्षा है।

खजांची मौहल्ला
बीकानेर, ३३४००१

—देवकुमार जैन

विषयानुक्रमणिका

गाथा १	३—४
बंधविधि के साथ उदय उदीरणा और सत्ता विधि के कथन करने में हेतु	३
गाथा २	४—७
मूलकर्म प्रकृतियों के बंधस्थान	५
गुणस्थानापेक्षा बंधस्थानों के स्वामी	६
गाथा ३	७—९
मूलकर्म प्रकृतियों के उदय और सत्तास्थानों की संख्या	७
गुणस्थानापेक्षा उदय व सत्तास्थानों का स्वामित्व	८
गाथा ४	१०—११
जीवस्थानों में बंध उदय सत्ता विधि की प्ररूपणा	१०
गाथा ५	१२—१६
गुणस्थानों में मूलकर्मों की उदीरणा विधि	१२
गुणस्थानों में बंध आदि विधियों का प्रारूप	१५
गाथा ६	१६—१८
मूलप्रकृतियों के उदय-उदीरणा विषयक अपवाद	१७
गाथा ७	१९—२५
सामान्य से उत्तर प्रकृतियों की गुणस्थानों में उदीरणा विधि	१९
मिथ्यात्व गुणस्थान में उदीरणा योग्य प्रकृतियां	२०
सासादन गुणस्थान में उदीरणा योग्य प्रकृतियां	२०
मिश्र गुणस्थान में उदीरणा योग्य प्रकृतियां	२१
अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में उदीरणा योग्य प्रकृ- तियां	२१

देशविरल गुणस्थान में उदीरणा योग्य प्रकृतियां	२२
प्रमत्तसंयत गुणस्थान में उदीरणा योग्य प्रकृतियां	२२
अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में उदीरणा योग्य प्रकृतियां	२३
अपूर्वकरण गुणस्थान में उदीरणा योग्य प्रकृतियां	२३
अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में उदीरणा योग्य प्रकृतियां	२३
सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में उदीरणा योग्य प्रकृतियां	२३
उपशांतमोह गुणस्थान में उदीरणा योग्य प्रकृतियां	२४
क्षीणमोह गुणस्थान में उदीरणा योग्य प्रकृतियां	२४
सयोगिकेवली गुणस्थान में उदीरणा योग्य प्रकृतियां	२४
गाथा ८	२५—२८
भजनीय उदीरणा योग्य प्रकृतियों का कारण सहित नामोल्लेख	२६
गाथा ९	२८—३०
बंध के प्रकारों का रूप	१९
गाथा १०, ११	३०—३४
बंध-प्रकारों के उत्तर भेद	३१
गाथा १२	३४—३६
बंध के अन्य चार भेद	३५
भूयस्कार अल्पतर आदि बंध-प्रकारों के लक्षण	३५
गाथा १३	३७—४१
मूलकर्म प्रकृतियों के बंधस्थान	३७
मूलकर्म प्रकृतियों के बंधस्थानों में भूयस्कार आदि बंध-प्रकार	३८
गाथा १४	४१—४६
मूल प्रकृतियों के उदयस्थान	४१
मूल प्रकृतियों के उदयस्थानों में भूयस्कार आदि प्रकार	४२

मूल प्रकृतियों के उदीरणास्थान	४३
मूल प्रकृतियों के उदीरणास्थानों में भूयस्कार आदि प्रकार	४३
मूल प्रकृतियों के सत्तास्थान	४५
मूल प्रकृतियों के सत्तास्थानों में भूयस्कार आदि प्रकार	४५
गाथा १५	४६—५४
दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियों के बंधस्थान	४७
मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों के बंधस्थान	४८
नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों के बंधस्थान	५०
ज्ञानावरण, अन्तराय, वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म की उत्तर प्रकृतियों के बंधस्थान	५४
उक्त उत्तर प्रकृतियों के बंधस्थानों में अवस्थित बंध-प्रकार का निरूपण	५४
गाथा १६, १७	५४—६४
दर्शनावरण कर्म के बंधस्थानों में भूयस्कार आदि बंध-प्रकार त्रय का निरूपण	५५
मोहनीय कर्म के बंधस्थानों में भूयस्कार आदि बंध-प्रकार त्रय का निरूपण	५७
नामकर्म के बंधस्थानों में भूयस्कार आदि बंध-प्रकार त्रय का निरूपण	५९
नामकर्म के आठ बंधस्थानों में छह भूयस्कार बंध होने का कारण	६१
पूर्वोक्त के अतिरिक्त शेष ज्ञानावरण आदि पाँच कर्मों के बंध स्थानों में भूयस्कार आदि बंध प्रकार	६४
गाथा १८	६५—६४
समस्त उत्तर प्रकृतियों के बंध स्थान	६५

उक्त बंधस्थानों में भूयस्कार बंध-प्रकार का विवरण	६६
उक्त बंधस्थानों में अल्पतर बंध-प्रकार का विवरण	७०
उक्त बंधस्थानों में अवस्थित और अवक्तव्य बंध-प्रकार का विवरण	७३
ज्ञानावरण, वेदनीय, आयु, गोत्र, अन्तरायकर्म के उदय-स्थान	७३
दर्शनावरण कर्म के उदयस्थान व भूयस्कार आदि	७४
मोहनीय कर्म के उदय स्थान व भूयस्कार आदि	७५
नामकर्म के उदयस्थानों का विस्तार से वर्णन	७७
नामकर्म के उदय स्थानों में भूयस्कारोदय आदि	८६

पाथा १६

६५—१०६

समस्त उत्तर प्रकृतियों के उदय स्थान तथा सम्भव भूयस्कार आदि का विवरण	६५

पाथा २०

१०६—११८

समस्त उत्तर प्रकृतियों के उदयस्थानों में इक्कीस भूयस्कारोदय व चौबीस अल्पतरोदय होने में हेतु	१०७
ज्ञानावरण व अन्तरायकर्म की उत्तर प्रकृतियों के सत्तास्थान व भूयस्कार आदि निरूपण	१११
वेदनीयकर्म की उत्तर प्रकृतियों के सत्तास्थान व भूयस्कार आदि निरूपण	१११
गोत्र व आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियों के सत्तास्थान व भूयस्कार आदि निरूपण	११२
दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियों के सत्तास्थान व भूयस्कार आदि निरूपण	११३
मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों के सत्तास्थान व भूयस्कार आदि निरूपण	११४

नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों के सत्तास्थान व भूय-
स्कार आदि निरूपण

११५

गाथा २१, २२

११८—१२०

समस्त उत्तर प्रकृतियों के सत्तास्थान व उनके बनने
में हेतु

११८

उक्त सत्तास्थानों में भूयस्कार आदि निरूपण

१२६

गाथा २३

१२०—१२२

सादि आदि बंध-प्रकारों का भावाभावत्व

१२०

गाथा २४

१२२—१२४

अजघन्य और अनुत्कृष्ट में अन्तर

१२३

अजघन्य और अनुत्कृष्ट में अन्तर बताने के लिए
सादित्व विशेष ग्रहण करने में हेतु

१२४

गाथा २५

१२५—१२६

सामान्य से सादित्व आदि का निर्देश

१२५

गाथा २६

१२७—१२८

प्रकृति बंधापेक्षा सामान्यतः मूल और उत्तर प्रकृतियों
में सम्भव जघन्यादि भंग

१२७

गाथा २७

१२८—१४०

प्रत्येक मूलकर्म की सादि आदि प्ररूपणा

१४०

गाथा २८

१४१—१४३

उत्तर प्रकृतियों की साद्यादि बंध प्ररूपणा
स्वामित्व प्ररूपणा

१४१

१४३

गाथा २९

१४३—१४५

तिर्य्यचगति की बंध-अयोग्य प्रकृतियां

१४४

गाथा ३०

१४५—१४७

देव और नारक के बंध-अयोग्य प्रकृतियां

१४६

स्थितिबंध प्ररूपणा के अधिकार	१४७
गाथा ३१	१४८—१५१
मूल प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध	१४८
गाथा ३२	१५१—१५३
मूलकर्म प्रकृतियों की जघन्य स्थिति	१५२
गाथा ३३	१५४—१५५
वर्णचतुष्क की उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति	१५४
गाथा ३४	१५५—१५६
असातावेदनीय, आवरणादि, अन्तराय, मिथ्यात्व- मोहनीय, स्त्रीवेद, मनुष्यद्विक, सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति	१५६
गाथा ३५	१५७—१५८
प्रथम संस्थान, संहनन, सूक्ष्मत्रिक, विकलेन्द्रियत्रिक, कषायमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति	१५७
गाथा ३६	१५९—१६१
पुरुषवेद, हास्य, रति, उच्च गोत्र, शुभखगति, स्थिरषट्क देवद्विक की उत्कृष्ट स्थिति	१६०
अबाधा काल नियम	१६१
गाथा ३७	१६१—१६४
आयु चतुष्क की उत्कृष्ट स्थिति	१६१
आयु चतुष्क के अबाधा काल सम्बन्धी स्पष्टीकरण	१६२
गाथा ३८, ३९	१६५—१६६
आयुबंध विषयक शंका	१६५
गाथा ४०	१६७—१६९
आयुबंध विषयक शंका का समाधान	१६७
गाथा ४१	१६९—१७०
परभवायुबंधक शेष जीवों की अबाधा का प्रमाण	१७०

गाथा ४२	१७१—१७२
तीर्थकरनाम, आहारकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति	१७१
गाथा ४३	१७२—१७४
तीर्थकरनाम की उत्कृष्ट स्थिति सम्बन्धी प्रश्न	१७४
गाथा ४४	१७४—१७५
तीर्थकरनाम की उत्कृष्ट स्थिति सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर	१७४
गाथा ४५	१७६—१७७
उत्तर प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का नियम	१७६
गाथा ४६	१७७—१७८
देवायु, नरकायु की जघन्य स्थिति	१७७
गाथा ४७	१७८—१७९
पुरुषवेद, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र, सातावेदनीय आहारकद्विक, अंतरायपंचक, आवरणद्विक की जघन्य स्थिति	१७८
गाथा ४८	१८०—१८४
संज्वलन कषायचतुष्क की जघन्य स्थिति	१८०
शेष प्रकृतियों की जघन्य स्थिति विषयक सूत्र	१८१
निद्रापंचक आदि पचासी प्रकृतियों की जघन्य स्थिति सम्बन्धी कर्म प्रकृति का दृष्टिकोण	१८३
गाथा ४९	१८५—१८७
वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति	१८५
गाथा ५०	१८७—१९०
अनन्तरोपनिधा से निषेक विचार	१८८
गाथा ५१	१९०—१९२
आयु कर्म की प्रथम समय से निषेक रचना होने का कारण	१९०

परंपरोपनिधा से निषेक रचना का विचार	१६१
गाथा ५२	१६३—१६४
अर्ध अर्ध हानि के संभवस्थान	१६३
गाथा ५३	१६५—१६७
अवाधा प्ररूपणा	१६५
गाथा ५४, ५५	१६७—२०१
एकेन्द्रियादि का जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबन्ध	१६८
एवं तद्विषयक पंचसंग्रह व कर्मप्रकृति का मन्तव्य	
गाथा ५६	२०१—२०८
स्थितिस्थान प्ररूपणा	२०२
संकलेश और विशुद्धि स्थान प्ररूपणा	२०५
स्थितिस्थान, संकलेशस्थान, विशुद्धिस्थान का प्रारूप	२०८
गाथा ५७, ५८	२०९—२१२
स्थितिबन्ध में हेतुभूत अध्यवसायस्थानप्रमाण	
प्ररूपणा	२०९
गाथा ५९	२१२—२१४
स्थितिबंधापेक्षा मूल प्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपण	२१३
गाथा ६०, ६१, ६२	२१५—२१६
उत्तर प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा	२१५
गाथा ६३	२२०—२२७
उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबंध की	
स्वामित्व प्ररूपणा	२२०
उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबंध-स्वामित्व का प्रारूप	२२६
गाथा ६४	२२६—२३०
स्थितिबन्ध की शुभाशुभत्व प्ररूपणा	२२६

गाथा ६५	२३१—२३४
अनुभाग बन्ध की अपेक्षा मूल प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा	२३१
मूल प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा के प्रारूप	२३४
गाथा ६६	२३५—२३६
उत्तर प्रकृतियों की सादि, अनादि प्ररूपणा	२३५
सादि-अनादि प्ररूपणा सम्बन्धी प्रारूप	२३६
गाथा ६७	२४०—२४०
अशुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के जघन्य-अजघन्य अनुभागबंध का स्वामित्व	२४०
गाथा ६८	२४१—२४२
शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट अनुभागबंध का स्वामित्व	२४१
गाथा ६९	२४२—२४६
कतिपय शुभ प्रकृतियों एवं समस्त अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्टअनुभाग बंध का स्वामित्व	२४२
गाथा ७०	२४७—२४६
आहारकद्विक का जघन्य अनुभाग बन्ध स्वामित्व	२४८
देव-नारक बंधायोग्य प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बन्ध स्वामित्व	२४८
गाथा ७१	२४९—२५१
औदारिकद्विक आदि छह प्रकृतियों एवं तीर्थकरनाम का जघन्य अनुभाग बन्ध स्वामित्व	२४९
गाथा ७२	२५१—२५३
शुभ ध्रुवबंधिनी अष्टक-त्रसचतुष्क आदि पन्द्रह प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध स्वामित्व	२५२

गाथा ७३

२५३—२५४

सप्रतिपक्ष स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति, सातावेदनीय का
जघन्य अनुभाग बन्ध स्वामित्व

२५३

गाथा ७४

२५५—२६२

सप्रतिपक्ष सुस्वरत्रिक, संस्थानषट्क, संहननषट्क, मनुष्य-
द्विक, विहायोगतिद्विक, उच्चगोत्र का जघन्य अनुभाग
बन्ध स्वामित्व

२५५

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, अंतरायपंचक का
जघन्य अनुभागबन्ध स्वामित्व

२५६

पुरुषवेद, संज्वलनचतुष्क, अप्रशस्तवर्णचतुष्क आदि
ग्यारह, स्त्यानद्वित्रिक आदि आठ अप्रत्याख्यानावरण
चतुष्क का जघन्य अनुभाग बन्ध स्वामित्व

२५७

उत्कृष्ट, जघन्य अनुभागबन्ध स्वामित्व का प्रारूप

२५८

गाथा ७५, ७६

२६२—२६६

योगस्थान, प्रकृतिभेद, स्थितिभेद, स्थिति बन्धाध्यव-
सायस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान, कर्मप्रदेश और
रसाणुओं का अल्पबहुत्व

२६३

गाथा ७७

२६७—२७१

जीव द्वारा कर्मवर्गणाओं के ग्रहण करने की प्रक्रिया

२६७

गाथा ७८, ७९

२७१—२७८

कमदलिक भाग-विभाग प्ररूपणा एवं अल्पाधिक भाग
मिलने का कारण

२७२

गाथा ८०

२७८—२७९

जघन्य प्रदेशबन्ध होने में हेतु

२७८

गाथा ८१

२७९—२८१

स्वतः परतः उभयतः उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध की संभावना
का विचार

२७९

गाथा ८२	२८२—२८३
आयु कर्म में उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कैसे ?	२८२
गाथा ८३	२८३—२८४
प्रदेशबन्धापेक्षा सामान्य से मूल कर्मों की साद्यादि प्ररूपणा	२८४
गाथा ८४, ८५	२८४—२८७
आयु और मोहनीय कर्म के सिवाय शेष छह कर्मों के साद्यादि भंग का विशेष निरूपण	२८५
गाथा ८६, ८७	२८७—२८९
मोहनीय और आयु कर्म के साद्यादि भंगों का निरूपण	२८८
गाथा ८८, ८९, ९०	२८९—३०१
ज्ञानावरणपंचक आदि तीस ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा	२९०
मिथ्यात्व आदि सत्रह ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा	२९५
अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा	२९६
मूल प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेश बन्ध स्वामित्व	२९७
ध्रुवबंधिनी उत्तर प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेश बंध स्वामित्व	२९९
गाथा ९१	३०१—३११
अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामित्व का नियम और स्वामी	३०२
जघन्य प्रदेशबंध स्वामित्व की योग्यता	३०६
मूल कर्म प्रकृतियों के जघन्य प्रदेश बंध के स्वामी	३०७
उत्तर प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबंध स्वामित्व	३०९
गाथा ९२	३११—३१७
मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधिचतुष्क, स्त्यानर्द्धित्रिक के	

उत्कृष्ट तथा तैजस आदि नामकर्म की ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के जघन्य प्रदेश बंध स्वामित्व का विशेष स्पष्टीकरण	३१२
उत्कृष्ट व जघन्य प्रदेश बंध स्वामित्व दर्शक प्रारूप	३१३
गाथा ६३	३१७—३१८
तिर्य्यचद्विक, नीचगोत्र और आयु चतुष्क का जघन्य उत्कृष्ट निरन्तर बंध काल	३१८
गाथा ६४	३१९—३२१
सातावेदनीय, औदारिक शरीर, पराधात, उच्छ्वास, त्रसचतुष्क, पंचेन्द्रियजातिनाम का निरन्तर बंध काल	३१९
गाथा ६५	३२२—३२४
समचतुरस्र संस्थान, उच्चगोत्र, प्रशस्त विहायोगति, पुरुषवेद, सुस्वरत्रिक, मनुष्यद्विक, औदारिक अंगोपांग, वज्रऋषभनाराच संहनन, तीर्थकरनाम का निरन्तर बंधकाल	३२२
गाथा ६६	३२५—३२६
पूर्वोक्त से शेष प्रकृतियों का निरन्तर बंधकाल प्रकृतियों का उत्कृष्ट जघन्य निरन्तर बंध काल दर्शक प्रारूप	३२५
गाथा ६७	३२७—३३१
प्रकृतियों के उदय के प्रकार	३२९
गाथा ६८	३३१—३३२
उदय के भेद	३३१
गाथा ६९, १००	३३३—३३६
विशेष उदयवती प्रकृतियों के नाम	३३३

गाथा १०१	३३६—३३८
प्रकृत्युदयापेक्षा मूल प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा	३३७
मिथ्यात्वमोहनीय की साद्यादि प्ररूपणा	३३७
अध्रुवोदया, ध्रुवोदया उत्तर प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा	३३८
गाथा १०२	३३९—३४०
स्थिति-उदय के प्रकार	३३९
गाथा १०३	३४०—३४५
उदीरणा योग्य से उदय योग्य स्थिति का एक स्थिति स्थान अधिक होने का हेतु	३४१
निद्रापंचक के अतिरिक्त शेष इकतालीस प्रकृतियों के जघन्य उदय का प्रमाण	३४४
गाथा १०४	३४५—३४७
अनुभागोदय विषयक विशेषता	३४६
गाथा १०५	३४७—३५१
प्रदेशोदयापेक्षा मूल प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा	३४७
गाथा १०६	३५१—३५४
प्रदेशोदयापेक्षा सभी उदय प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा	३५२
गाथा १०७, १०८	३५४—३६१
ग्यारह गुणश्रेणियों के नाम और लक्षण	३५५
गुणश्रेणियों में दल रचना एवं समय का प्रमाण	३५८
गुणश्रेणियों का प्रदेश और समय प्रमाण दर्शक प्रारूप	३६०
गाथा १०९	३६१—३६३
गतियों में संभव गुणश्रेणियां	३६२
गाथा ११०	३६३—३६४
सामान्यतः उत्कृष्ट जघन्य प्रदेशोदय का स्वामित्व	३६३

गाथा १११	३६४—३६६
सम्यक्त्वमोहनीय, वेदत्रिक, संज्वलनकषायचतुष्क के उत्कृष्ट प्रदेशोदय के स्वामी	३६४
लघुक्षपणा, चिरक्षपणा का अर्थ	३६५
क्षीणमोह गुणस्थान में उदयविच्छेद प्राप्त प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशोदय के स्वामी	३६५
सयोगि और अयोगि केवली गुणस्थान में उदय विच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशोदय के स्वामी	३६६
गाथा ११२	३६६—३६७
निद्राद्विक, वैक्रिय सप्तक, देवद्विक प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशोदय के स्वामी	३६७
गाथा ११३	३६७—३६९
एकान्त तिर्यच उदय प्रायोग्य मिथ्यात्व, स्त्यानद्वि- त्रिक, अपर्याप्त नाम प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशोदय के स्वामी	३६८
गाथा ११४	३६९
हास्यषट्क मध्यम कषायाष्टक का उत्कृष्ट प्रदेशोदय स्वामित्व	३६९
गाथा ११५	३६९—३७०
देव और नरक आयु का उत्कृष्ट प्रदेशोदय स्वामित्व	३७०
गाथा ११६	३७०—३७१
मनुष्यायु, तिर्यचायु का उत्कृष्ट प्रदेशोदय स्वामित्व	३७१
गाथा ११७	३७२—३७३
नरकद्विक, तिर्यचद्विक, दुर्भगत्रिक, नीचगोत्र, मनुष्यानु- पूर्वी का उत्कृष्ट प्रदेशोदय स्वामित्व	३७२

गाथा ११८

३७३—३७४

अन्तिम पाँच संहनन, आहारक सप्तक, उद्योतनाम का
उत्कृष्ट प्रदेशोदय स्वामित्व

३७४

गाथा ११९

३७५—३७६

आतप नाम का उत्कृष्ट प्रदेशोदय स्वामित्व

३७५

गाथा १२०

३७६—३७८

ज्ञानावरणचतुष्क, दर्शनावरणत्रिक का जघन्य
प्रदेशोदय स्वामित्व

३७७

गाथा १२१

३७८—३७९

अवधिद्विक का जघन्य प्रदेशोदय स्वामित्व

३७९

गाथा १२२

३७९—३८०

वेदनीयद्विक, उच्चगोत्र, अंतरायपंचक, अरति, शोक
मोहनीय, निद्राद्विक का जघन्य प्रदेशोदय स्वामित्व

३७९

गाथा १२३

३८०—३८१

नपुंसक वेद, तिर्यचगति, स्थावरनाम, नीचगोत्र,
स्त्यानार्द्धित्रिक का जघन्य प्रदेशोदय स्वामित्व

३८१

गाथा १२४

३८१—३८२

दर्शनमोहत्रिक, अप्रत्याख्यानावरणादि बारह कषाय,
पुरुषवेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा मोहनीय का
जघन्य प्रदेशोदय स्वामित्व

३८२

गाथा १२५

३८३—३८४

नपुंसकवेद आदि आठ प्रकृतियों का देवों में उदय
न होने का कारण

३८३

मिथ्यात्व मोहनीय का जघन्य प्रदेशोदय स्वामित्व

३८४

गाथा १२६	३८४—३८६
अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्क का जघन्य प्रदेशोदय स्वामित्व	३८५
गाथा १२७	३८६—३८७
स्त्रीवेद का जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व	३८६
गाथा १२८	३८८—३८८
आयुचतुष्क का जघन्य प्रदेशोदय स्वामित्व	३८८
गाथा १२९, १३०	३८९—३९१
नरकगति, आनुपूर्वीचतुष्टय का जघन्य प्रदेशोदय स्वामित्व	३८०
गाथा १३१	३९१—३९२
देवगति का जघन्य प्रदेशोदय स्वामित्व	३९१
गाथा १३२	३९२—३९४
पूर्वोक्त से शेष मनुष्यगति, जातिचतुष्क आदि प्रकृ- तियों का जघन्य प्रदेशोदय स्वामित्व	३९२
प्रकृतिसत्कर्म प्ररूपणा के अर्थाधिकारों के नाम	३९४
सत्तापेक्षा मूल प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा	३९४
गाथा १३३	३९४—३९७
सत्तापेक्षा उत्तर प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा	३९५
निद्राद्विक, ज्ञानावरणपंचक आदि प्रकृतियों का सत्ता स्वामित्व	३९६
गाथा १३४	३९७—३९८
मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मोहनीय का निश्चित और भजनीय सत्ता स्वामित्व	३९७

गाथा १३५	३६६—४००
मिश्रमोहनीय और अनन्तानुबन्धितुष्क का निश्चित एवं भजनीय सत्ता स्वामित्व	३६६
गाथा १३६	४००—४०१
मध्यम कषायाष्टक एवं स्त्यानद्वित्रिक का सत्ता स्वामित्व	४००
गाथा १३७	४०१—४०१
एकान्त तिर्यंच प्रायोग्य प्रकृतियां	४०१
गाथा १३८	४०२—४०२
क्षपकश्रेणि के आरम्भ की अपेक्षा तपुसक-वेद, स्त्रीवेद, हास्यषट्क, पुरुषवेद का सत्ता स्वामित्व	४०२
गाथा १३९, १४०	४०३—४०५
स्त्रीवेद के उदय में क्षपक श्रेणि आरम्भक के प्रकृतियों के क्षय का क्रम	४०४
गाथा १४१	४०५—४०६
आहारकसप्तक व तीर्थकरनाम के सत्ता स्वामित्व सम्बन्धी गुणस्थान	४०५
गाथा १४२	४०६—४०७
अन्यतर वेदनीय, उच्चगोत्र, चरमोदया नाम प्रकृतियों और मनुष्यायु का सत्ता स्वामित्व	४०७
स्थिति सत्कर्म प्ररूपणा के अर्थाधिकारों के नाम	४०७
गाथा १४३	४०८—४१०
स्थिति सत्कर्मपेक्षा मूलकर्मों की सादि-अनादि प्ररूपणा	४०९

ध्रुवसत्ताका प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा	४०६
अध्रुवसत्ताका प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा	४१०
गाथा १४४	४११—४१४
बंधोदयोत्कृष्ट प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति सत्ता	४११
अनुदयबंधोत्कृष्ट प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति सत्ता	४१२
गाथा १४५	४१४—४१६
उदयसंक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता	४१५
अनुदयसंक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता	४१७
गाथा १४६	४१६—४२०
उदयवती प्रकृतियों के नाम व जघन्य स्थितिसत्ता	४१६
अनुदयवती प्रकृतियों के नाम व जघन्य स्थितिसत्ता	४२०
गाथा १४७	४२०—४२२
हास्यषट्क, पुरुषवेद, संज्वलनत्रिक की जघन्य स्थिति सत्ता	४२१
उत्तर प्रकृतियों का जघन्य स्थिति सत्ता स्वामित्व	४२१
गाथा १४८	४२२—४२४
स्थितिस्थानों का प्रमाण व उनकी निरन्तर सांतर रूपता	४२२
गाथा १४९	४२५—४२६
सामान्य से अनुभाग सत्कर्म सम्बन्धी विशेषताओं का संकेत	४२५
गाथा १५०	४२६—४२७
मनपर्यायज्ञानावरण, सम्यक्त्वमोहनीय, वेदत्रिक, क्षीणमोहगुणस्थान में क्षय होने वाली प्रकृतियों, और संज्वलन लोभ सम्बन्धी विशेषतायें	४२६

गाथा १५१	४२७—४२८
मति-श्रुत-अवधि-भनपर्याय ज्ञानावरण, चक्षु-अचक्षु अवधि दर्शनावरण की जघन्य अनुभागसत्ता का स्वामित्व	४२७
गाथा १५२	४२८—४३०
अनुभाग सत्तास्थान के भेद और उनके लक्षण	४२९
प्रदेश सत्कर्म प्ररूपणा के अर्थाधिकार	४३०
गाथा १५३	४३०—४३२
प्रदेशसत्कर्मपिक्षा मूल प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा	४३१
गाथा १५४, १५५	४३२—४३५
ध्रुवाध्रुवसत्ताका उत्तर प्रकृतियों की साद्यादि- प्ररूपणा	४३३
गाथा १५६	४३६
सामान्य से उत्कृष्ट प्रदेश सत्कर्म स्वामित्व	४३६
गाथा १५७	४३३—४३७
मिश्र सम्यक्त्व मोहनीय, नपुंसक वेद की उत्कृष्ट प्रदेश सत्ता के स्वामी	४३७
गाथा १५८	४३८
स्त्रीवेद की उत्कृष्ट प्रदेश सत्ता का स्वामी	४३८
गाथा १५९	४३९
पुरुषवेद एवं संज्वलनकषायचतुष्क की उत्कृष्ट प्रदेश सत्ता के स्वामी	४३९
गाथा १६०	४४०
यशःकीर्ति, उच्चगोत्र, सातावेदनीय की उत्कृष्ट प्रदेश सत्ता के स्वामी	४४०

गाथा १६१, १६२	४४१—४४३
आयुचतुष्क की उत्कृष्ट प्रदेश सत्ता के स्वामी	४४१
गाथा १६३	४४३—४४४
वैक्रियषट्क की उत्कृष्ट प्रदेश सत्ता के स्वामी	४४३
गाथा १६४	४४४—४४५
मनुष्यद्विक, वज्रऋषभनाराचसंहनन की उत्कृष्ट प्रदेश सत्ता के स्वामी	४४६
गाथा १६५	४४५—४४६
सम्यक्त्व सापेक्ष पंचेन्द्रियजाति आदि बारह शुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेश सत्ता का स्वामित्व	१४६
गाथा १६६	४४६—४४८
तीर्थकरनाम, आहारकसप्तक की उत्कृष्ट प्रदेश सत्ता का स्वामित्व	४४७
गाथा १६७	४४८—४४९
एकेन्द्रिय जाति आदि तिर्यच प्रायोग्य प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेश सत्ता का स्वामित्व	४४८
गाथा १६८	४४९—४५०
सामान्य से जघन्य प्रदेश सत्ता स्वामित्व	४४९
गाथा १६९, १७०	४५०—४५४
उद्बलन प्रकृतियों, संज्वलन लोभ, यशःकीर्ति की जघन्य प्रदेश सत्ता का स्वामित्व	४५१
पूर्वोक्त से शेष प्रकृतियों की जघन्य प्रदेश सत्ता स्वामित्व	४५४

गाथा १७१	४५५—४५७
प्रकृतियों की स्पर्धक प्ररूपणा	४५५
गाथा १७२, १७३	४५७—४५९
स्पर्धक का लक्षण	४५८
गाथा १७४	४६०—४६१
मिथ्यात्वादि अनुदयवती उनतीस प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्पर्धक	४६०
गाथा १७५	४६१—४६६
क्षीणमोह गुणस्थान में अन्त होने वाली प्रकृतियों के स्पर्धक	४६२
गाथा १७६	४६६—४६८
अयोगिकेवली गुणस्थान में अन्त होने वाली प्रकृतियों के स्पर्धक	४६७
गाथा १७७, १७८	४६९—४७०
उदयवती अनुदयवती प्रकृतियों, प्रकृतियों के स्पर्धकों में अन्तर का हेतु	४६९
गाथा १७९	४७१—४७२
संज्वलन लोभ और यशःकीर्ति का अन्य प्रकार से एक स्पर्धक होने में हेतु	४७१
गाथा १८०	४७२—४७५
उद्वलन प्रकृतियों और हास्यषट्क प्रकृतियों के स्पर्धक	४७२
गाथा १८१, १८२, १८३	४७५—४८१
संज्वलनत्रिक, वेदत्रिक के स्पर्धक	४७६

गाथा १८४, १८५

४८२—४८५

वेदत्रिक के दो स्पर्धक होने का कारण सहित विशेष
वर्णन

४८२

परिशिष्ट

१—७४

मूल गाथाएँ

१

उदीरणा विषयक स्पष्टीकरण

१६

दिगम्बर साहित्यगत मोहनीयकर्म के भूयस्कार आदि बंध
प्रकारों का वर्णन

१८

दिगम्बर कर्म साहित्यगत नामकर्म के भूयस्कार आदि बंध
प्रकारों का विवेचन

२६

पत्योपम सागरोपम की स्वरूप व्याख्या

२६

अपवर्तनीय अनपवर्तनीय आयु विषयक दृष्टिकोण

४२

दिगम्बर साहित्यगत आयुबंध सम्बन्धी अबाधाकाल का
स्पष्टीकरण

४४

कर्म प्रकृतियों की जघन्य स्थितिबंध विषयक मत-भिन्नताएँ

४७

आयु और मोहनीय कर्म के उत्कृष्ट प्रदेश बंध स्वामित्व विष-
यक विशेष वक्तव्य

५५

मूल प्रकृतियों के बंधादिस्थान भूयस्कार आदि प्रकार

५८

प्रत्येक कर्म की उत्तर प्रकृतियों के बंधादि स्थानः

भूयस्कार आदि प्रकार

६०

समस्त उत्तर प्रकृतियों के बंधादि स्थान : भूयस्कार

आदि प्रकार

६२

गाथा —अकाराद्यनुक्रमणिका

६३

श्रीमदाचार्य चन्द्राषिमहत्तर-विरचित
पंचसंग्रह
(मूल, शब्दार्थ तथा विवेचन युक्त)

बंधविधि-प्ररूपणा अधिकार

५

५. बंधविधि-प्ररूपणा अधिकार

बंधहेतु नामक चतुर्थ अधिकार की प्ररूपणा करने के पश्चात् अब क्रम-प्राप्त बंधविधि नामक पांचवें अधिकार को प्रारम्भ करते हैं। इस अधिकार में बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता का स्वरूप कहा जायेगा।

कदाचित् यह कहा जाये कि 'बंधस्य विधिः, बंधविधिः' बंध की विधि, स्वरूप, प्रकार वह बंधविधि, ऐसी व्युत्पत्ति होने से यहाँ केवल बंध के स्वरूप का ही प्रतिपादन करना चाहिये, लेकिन उदय, उदीरणा और सत्ता का स्वरूप कहना योग्य नहीं, तो फिर यहाँ बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन चारों के स्वरूप कथन की प्रतिज्ञा क्यों की है ?

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—

बद्धस्सुदओ उदए उदीरणा तदवसेसयं संतं ।

तम्हा बंधविहाणे भन्नंते इइ भणियव्वं ॥१॥

शब्दार्थ—बद्धस्सुदओ—बद्ध का उदय होता है, उदए—उदय होने पर, उदीरणा—उदीरणा, तदवसेसयं—शेष की, संतं—सत्ता, तम्हा—इसलिए, बंधविहाणे—बंधविधान, भन्नंते—कहने पर भी, इइ—इस कारण, भणियव्वं—कहना चाहिये।

गाथार्थ—बद्ध कर्म का उदय होता है और उदय होने पर उदीरणा होती है तथा शेष की सत्ता होती है। इस कारण परस्पर सम्बन्ध होने से बंधविधि कहने पर भी उन उदयादिक का भी स्वरूप कहना चाहिये।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार आचार्य ने गाथा में बंधविधि के साथ-साथ

अथवा बंधविधि के प्रसंग में उदय, उदीरणा और सत्ता के विवेचन करने के कारण को स्पष्ट किया है ।

‘बद्धस्सुदओ’ अर्थात् बंधे हुए कर्म का अपना-अपना अबाधाकाल पूर्ण समाप्त होने के बाद उदय होता है और ‘उदए उदीरणा’ अर्थात् उदय होने पर प्रायः^१ उदीरणा अवश्य होती है । किन्तु जिस कर्म को अभी तक उदय, उदीरणा के द्वारा भोगकर नष्ट नहीं किया, उस शेष रहे कर्म की सत्ता होती है । इस प्रकार चारों का परस्पर सम्बन्ध होने से बंध के साथ-साथ उदयादिक का स्वरूप कहना भी आवश्यक होने से इस अधिकार में अनुक्रम से चारों के स्वरूप का विचार किया जायेगा ।

अब क्रम-निर्देशानुसार सर्वप्रथम गुणस्थानों में मूलकर्मों की बंध-विधि का कथन करते हैं ।

गुणस्थानों में मूलकर्म बंधविधि

जा अपमत्तो सत्तट्ठबंधगा सुहुमछण्हमेगस्स ।

उवसंतखीणजोगी सत्तण्हं नियट्ठिमीसअनियट्ठी ॥२॥

शब्दार्थ—जा—पर्यन्त तक, अपमत्तो—अप्रमत्तगुणस्थान, सत्तट्ठबंधगा—सात या आठ कर्म के बंधक, सुहुम—सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानवर्ती, छण्हं—छह, एगस्स—एक के, उवसंतखीणजोगी—उपशान्तमाह, क्षीणमोह और सयोगि केवली गुणस्थानवर्ती, सत्तण्हं—सात के, नियट्ठि—निवृत्ति (अपूर्वकरण), मीस—मिश्र, अनियट्ठी—अनिवृत्तिबाधरगुणस्थानवर्ती ।

गाथार्थ—अप्रमत्तगुणस्थान तक जीव सात अथवा आठ कर्मों के बंधक है । सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानवर्ती छह कर्म के, उपशान्त

१ यहाँ ‘प्रायः’ शब्द रखने का कारण यह है कि उदीरणा के बिना भी उदय होता है; जैसे कि मतिज्ञानावरणादि इकतालीस प्रकृतियाँ । उदय के लिए उदीरणा की अपेक्षा नहीं होती है । किन्तु उदीरणा उदयसापेक्ष है ।

मोह, क्षीणमोह सयोगिकेवलि गुणस्थानवर्ती जीव एक कर्म और निवृत्ति, मिश्र और अनिवृत्तिबादर गुणस्थानवर्ती जीव सात कर्म के बंधक हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में गुणस्थानों की अपेक्षा मूलकर्मप्रकृतियों के बंधक जीवों का कथन किया है कि किस गुणस्थान तक के जीवों को कितने-कितने मूल कर्मों का बंध होता है विशेषता के साथ जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मूलकर्मप्रकृतियों के आठप्रकृतिक, सातप्रकृतिक, छहप्रकृतिक और एकप्रकृतिक, इस प्रकार कुल चार बंधस्थान होते हैं । इनमें से आठ-प्रकृतिक बंधस्थान में ज्ञानावरण से लेकर अन्तराय पर्यन्त आठ मूल-प्रकृतियों का, सातप्रकृतिक बंधस्थान में आयु कर्म के बिना सात का, छहप्रकृतिक बंधस्थान में आयु और मोहनीय कर्म के बिना छह का तथा एकप्रकृतिक बंधस्थान में मात्र वेदनीय कर्म का ग्रहण होता है ।

उक्त कथन का तात्पर्य यह हुआ कि आयुबंध के संभव गुणस्थानों तक आठों कर्मों का भी और उन गुणस्थानों में जब आयु का बंध नहीं होगा तब सात का बंध होता है । इसका कारण यह है कि आयु कर्म का सदैव-निरंतर बंध नहीं होकर निर्धारित काल में होता है । इसी-लिये आयुबंध के सम्भव गुणस्थानों में विकल्प से आठ अथवा सात कर्मों के बंध होने का निर्देश किया है । लेकिन उसके बाद के शेष आयु-अबंधक गुणस्थानों में सात कर्मों का और इन सात कर्मों में से भी जब मोहनीय कर्म के बंध का विच्छेद हो जाता है तब आयु और मोहनीय इन दो कर्मों से शेष रहे ज्ञानावरणादि छह कर्मों का बंध होता है । इन छह कर्मों में से भी वेदनीय के सिवाय शेष पांच कर्मों के बंध का विच्छेद हो जाने पर सिर्फ वेदनीय-प्रत्ययिक एकप्रकृतिक बंधस्थान प्राप्त होता है । इसीलिये मूलकर्मप्रकृतियों के चार बंध-स्थान सम्भव हैं—

१. आठप्रकृतिक, २. सातप्रकृतिक, ३. छहप्रकृतिक, ४. एक-प्रकृतिक ।

गुणस्थानों की अपेक्षा इनके बंधकों का विवरण इस प्रकार है कि—‘जा अपमत्तो सत्तट्टबधगा’ अर्थात् पहले मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से लेकर सातवें अप्रमत्तसंयतगुणस्थान पर्यन्त सात गुणस्थानों में सात अथवा आठ प्रकृतिक बंधस्थान प्राप्त होता है । किन्तु इनमें तीसरे मिश्र गुणस्थान को ग्रहण नहीं करना चाहिये । जिसका ग्रन्थकार आचार्य ने गाथा में पृथक् से निर्देश किया है ।

तात्पर्य यह है कि मिश्रगुणस्थान को छोड़कर मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से लेकर अप्रमत्तसंयतगुणस्थान तक के सभी जीव समय-समय सात या आठ कर्मों का बंध करते हैं । जब आयु का बंध करते हैं तब अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त आठ का और उससे शेष रहे समयों में सात कर्मों का बंध करते हैं ।

“सुहुम छण्हं”—अर्थात् सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थानवर्ती जीव मोहनीय और आयु के बिना समय-समय छह कर्म का बंध करते हैं । क्योंकि इस गुणस्थानवर्ती जीव अति विशुद्ध परिणाम वाले होने से आयु का बंध करते ही नहीं है और बादर कषायोदय रूप बंध का कारण नहीं होने से मोहनीय का भी बंध नहीं करते हैं । इसीलिये सूक्ष्म-संपरायगुणस्थानवर्ती जीव छहप्रकृतिक बंधस्थान के स्वामी हैं ।

उपशान्तमोह, क्षीणमोह, और सयोगिकेवलि नामक ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव योग निमित्तक मात्र एक सातावेदनीय का ही बंध करते हैं । इसलिये वे एकप्रकृतिक बंधस्थान के स्वामी हैं—“एगस्स उवसंतखीणजोगी ।” क्योंकि कषाय का उदय नहीं होने से वे शेष किसी भी कर्म को नहीं बाँधते हैं ।

‘सत्तण्हं नियट्ठिमीसअनियट्ठी’ अर्थात् आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती, तीसरे मिश्रगुणस्थान वाले और नौवें अनिवृत्तिबादरसंपराय-

गुणस्थान वाले जीव आयु के बिना प्रति समय सात-सात कर्मों को बांधते हैं। क्योंकि आठवें और नौवें गुणस्थान में अति विशुद्ध परिणाम होने से और मिश्रगुणस्थान में जीवस्वभाव से ही आयु का बंध नहीं होता है। इस कारण ये तीन गुणस्थानवर्ती जीव सात कर्मों के बंधक होते हैं।'

इस प्रकार से गुणस्थानों की अपेक्षा मूलकर्मों की बंध-विधि का निरूपण जानना चाहिये। अब गुणस्थानों में उदय और सत्ता विधि का कथन करते हैं।

गुणस्थानों में उदय और सत्ता विधि

जा सुहुमसंपराओ उइन्न संताइं ताव सव्वाइं ।

सत्तट्ठवसंते खीणे सत्ता सेसेसु चत्तारि ॥३॥

शब्दार्थ—जा—तक, सुहुमसंपराओ—सूक्ष्मसंपराय, उइन्न—उदयगत, संताइं—होते हैं, ताव—तब तक, सव्वाइं—सभी, सत्तट्ठ—सात और आठ, उवसंते—उपशान्तमोह में, खीणे—क्षीणमोह में, सत्ता—सात, सेसेसु—शेष गुणस्थानों में, चत्तारि—चार।

गाथार्थ—सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान तक सभी कर्म उदयगत और सत्तागत होते हैं। उपशान्तमोहगुणस्थान में सात कर्म का उदय और आठ कर्मों की सत्ता, क्षीणमोह में सात का उदय और सात की सत्ता और शेष गुणस्थानों में चार कर्मों का उदय और चार कर्मों की सत्ता होती है।

विशेषार्थ—गाथा में मूलकर्मों के उदयस्थानों एवं सत्तास्थानों

१ दिगम्बर कर्मग्रन्थों में भी इसी प्रकार माना गया है—

(क) छसु सगविहमट्ठविहं कम्मं बंधति तिसु य सत्तविहं ।

छविहमेकट्ठाणे तिसुएक्कमबंधगो एक्को ॥

^१—गो. कर्मकांड, गा. ४५२

(ख) दि० पंचसंग्रह, शतक अधिकार, गाथा २१६-२२०

को बतलाते हुए गुणस्थानों की अपेक्षा उनके स्वामियों का भी निर्देश किया है।

मूल प्रकृतियों की अपेक्षा उदयस्थान तीन हैं—१ आठप्रकृतिक, २ सातप्रकृतिक और ३ चारप्रकृतिक। आठप्रकृतिक उदयस्थान में सब ज्ञानावरणादिक मूल प्रकृतियों का, सातप्रकृतिक उदयस्थान में मोहनीय कर्म के बिना शेष सात का और चारप्रकृतिक उदयस्थान में चार अघाति कर्मों का ग्रहण होता है।

इसी प्रकार मूल प्रकृतियों के सत्तास्थान भी तीन हैं—१ आठप्रकृतिक, २ सातप्रकृतिक और ३ चारप्रकृतिक। आठप्रकृतिक सत्त्वस्थान में सब मूल प्रकृतियों की, सात प्रकृतिक सत्त्वस्थान में मोहनीय के बिना सात की और चारप्रकृतिक सत्त्वस्थान में चार अघाति कर्मों की सत्ता पाई जाती है।

मूल प्रकृतियों के उक्त तीन-तीन उदयस्थान और सत्तास्थान होने से यह आशय फलित होता है कि मोहनीय का उदय रहते आठों कर्मों का मोहनीय के बिना शेष तीन घाति कर्मों का उदय रहते सात का तथा चार अघाति कर्मों का उदय रहते चार का उदय स्थान होता है। इसी प्रकार सत्त्वस्थानों में भी मोहनीय के रहते आठों की, ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अन्तराय के रहते मोहनीय के बिना सात की तथा चार अघाति कर्मों के रहते चार अघाति कर्मों की सत्ता पाई जाती है।

इन पूर्वोक्त उदयस्थानों और सत्तास्थानों का गुणस्थानों की अपेक्षा स्वामित्व इस प्रकार है—

पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर दसवें सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान तक अर्थात् आदि के दस गुणस्थानों तक आठों कर्मों का उदय और आठों कर्मों की सत्ता है—“जा सुद्धमसंपराओ उइन्न संताइ ताव सव्वाइ।” इसका कारण यह है कि इन सभी गुणस्थानों में मोहनीय कर्म का उदय और सत्ता होती है।

‘सत्तद्दुवसंते’ अर्थात् उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान में उदय सात कर्मों का होता है। क्योंकि इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म के सर्वथा उपशमित होने से उदय नहीं होता है किन्तु सत्ता आठों कर्मों की होती है। इसका कारण यह है कि उपशमित होते हुए भी वह सत्ता में तो विद्यमान है तथा बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान में सात कर्म का उदय और सात कर्म की सत्ता होती है—“खीणे सत्त”। क्योंकि इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय होने से वह उदय और सत्ता दोनों में ही नहीं होता है।

इस प्रकार से आदि के बारह गुणस्थानों के उदय और सत्त्व का विचार करने के पश्चात् अब शेष रहे अन्तिम दो गुणस्थानों—सयोगिकेवलि और अयोगिकेवलि गुणस्थानों के उदय एवं सत्त्व का निर्देश करते हैं—‘सेसेसु चत्तारि’ अर्थात् घाति कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने से सयोगि और अयोगिकेवलि गुणस्थानों में शेष रहे चार अघाति कर्मों का ही उदय और सत्त्व पाया जाता है।^१

इस प्रकार से गुणस्थानों में बंध, उदय और सत्त्वविधि का कथन जानना चाहिये। यद्यपि क्रम-प्राप्त उदीरणाविधि के वर्णन का प्रसंग है, लेकिन उसका विस्तार से विवेचन किया जाना सम्भव होने से

१ दिगम्बर कर्मग्रन्थों में भी इसी प्रकार का निर्देश किया गया है—

अद्दुदओ सुहुमोत्ति य मोहेण विणा हु संतखीणेसु ।

घादिदराण चउक्कस्सुदओकेवलि णियमा ॥

—दि० पंचसंग्रह, शतक अधिकार, गा० २२१

—गो० कर्मकाण्ड, गा० ४५४

संतोत्ति अद्दु सत्ता खीणे सत्तेव होत्ति सत्ताणि ।

जोगिम्मि अजोगिम्मि य चत्तारि ह्वंति सत्ताणि ॥

—गो० कर्मकाण्ड, गा० ४५७

उसकी विधि का आगे वर्णन कर रहे हैं। अतएव अभी उसको गौण करके पहले जीवस्थानों में बंध, उदय और सत्ता को घटित करते हैं।

जीवस्थानों में बंध, उदय और सत्ताविधि

बंधति सत्ता अट्ठ व उइन्न सत्ताट्ठगा उ सव्वे वि ।

सत्ताट्ठेगबंधगभंगा

पज्जत्तासन्निमि ॥४॥

शब्दार्थ—बंधति—बांधते हैं, सत्ता अट्ठ—सात, आठ, व—अथवा, उइन्न—उदय, सत्ता—सत्ता में, अट्ठगा—आठ, उ—और, सव्वे वि—सभी, सत्ताट्ठेग—सात, आठ, छह और एक, बंधगभंगा—बंध के भंग, पज्जत्तासन्निमि—पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान में।

गाथार्थ—सभी जीव सात अथवा आठ कर्मों को बांधते हैं तथा उदय और सत्ता में आठों कर्म होते हैं। मात्र पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान में सात, आठ, छह और एक इस प्रकार बंध के चार भंग होते हैं।

विशेषार्थ—जीवस्थानों के चौदह भेद और उनके नामों का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। यहाँ उन्हीं जीवभेदों में बंध, उदय और सत्ता विधि का विचार किया है।

बंधविधि का विचार प्रारम्भ करते हुए आचार्य ने बताया है कि 'बंधति सत्ता अट्ठ व' अर्थात् अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय से लेकर पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त चौदह जीवभेद प्रति समय सात अथवा आठ कर्मों का बंध करते हैं। यह कथन सामान्य से समझना चाहिये। क्योंकि ग्रन्थकार आचार्य ने इसी गाथा में पर्याप्त संज्ञी जीवभेद का पृथक् से निर्देश किया है। अतः तात्पर्य यह हुआ कि पर्याप्त संज्ञी के सिवाय शेष अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रियादि तेरह भेद वाले सभी जीव प्रति समय सात अथवा आठ कर्मों का बंध करते हैं। जिसका आशय यह है कि अपनी-अपनी आयु के दो भाग बीतने के बाद तीसरे, चौथे

आदि भाग के प्रारम्भ में जब आयु का बंध करें तब अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त आठ कर्म बांधते हैं और शेष काल में निरन्तर सात कर्म बांधते हैं तथा इन्हीं तेरह भेदों के सभी जीवों के उदय और सत्ता में आठ कर्म होते हैं—उद्भूत सत्तद्गुण उ सञ्चे वि ।

अब उक्त तेरह जीवभेदों से शेष रहे और पृथक् निर्दिष्ट पर्याप्त संज्ञी जीवभेद के बंधस्थान आदि का निर्देश करते हैं—

‘पञ्जत्त सन्निमि’ अर्थात् पर्याप्त संज्ञी जीवभेद में सात, आठ, छह और एक, इस प्रकार गुणस्थानों के भेद से बंध के चार विकल्प होते हैं । इसका आशय यह हुआ कि पर्याप्त संज्ञी किसी समय सात का, किसी समय आठ का, किसी समय छह का और किसी समय एक कर्म का बंध करता है और चार भंग-विकल्प होने का कारण यह है कि इस जीवभेद में चौदह गुणस्थान पाये जाते हैं । अतः प्रथम मिथ्या-दृष्टिगुणस्थान से लेकर अप्रमत्तसंयतगुणस्थान पर्यन्त संज्ञी पंचेन्द्रिय आयुबंध के काल में आठ कर्म का और शेष काल में सात कर्म का बंध करते हैं तथा मिश्र, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिबादर यानी तीसरे, आठवें और नौवें गुणस्थानवर्ती जीव आयु के बिना सात कर्म बांधते हैं । दसवें सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में आयु और मोहनीय के बिना छह और उपशान्तमोह से लेकर सयोगिकेवलि पर्यन्त तीन गुणस्थानों के सभी जीव एक सातावेदनीय का ही बंध करते हैं । इसीलिए गाथा में पर्याप्त संज्ञी के लिए “सत्तद्गुणबंधगभंगा”—सात, आठ, छह और एक ये चार बंध-विकल्पों का निर्देश किया है तथा अयोगिकेवलि भगवान् बंधहेतु का अभाव होने से एक भी कर्म का बंध नहीं करते हैं ।

गाथा गत ‘सत्तद्गुण’ के बाद ग्रहण किया गया ‘उ—तु’ शब्द अधिक अर्थ का सूचक होने से यह अर्थ समझना चाहिये कि पर्याप्त संज्ञी में आठप्रकृतिक, सातप्रकृतिक और चारप्रकृतिक ये तीन उदय-विकल्प तथा आठ, सात और चार प्रकृतिक ये तीनों सत्ता के विकल्प होते हैं । पर्याप्त संज्ञी जीवभेद में ये उदय और सत्ता के विकल्प कैसे

सम्भव हैं ? तो इसका निर्देश तीसरी गाथा में गुणस्थान सम्बन्धी उदय और सत्ता विधि को बताने के प्रसंग में पहले किया जा चुका है, तदनुसार यहाँ घटित कर लेना चाहिये ।

अब पूर्व में गौण की गई उदीरणा विधि की प्ररूपणा करते हैं ।

गुणस्थानों में मूलकर्म उदीरणा विधि

जाव पमत्तो अट्ठण्हुदीरगो वेयआउवज्जाणं ।

सुहुमो मोहेण य जा खीणो तप्परओ नामगोयाणं ॥५॥

शब्दार्थ—जाव—पर्यन्त, तक, पमत्तो—प्रमत्तसंयत, अट्ठण्हुदीरगो—आठ कर्म के उदीरक, वेयआउवज्जाणं—वेदनीय और आयु को छोड़कर, सुहुमो—सूक्ष्मसंपराय, मोहेण—मोहनीय के, य—और, जा—तक, खीणो—क्षीणमोह, तप्परओ—और उसके बाद, नामगोयाणं—नाम और गोत्र के ।

गाथार्थ—मिथ्यादृष्टि से लेकर प्रमत्तसंयत पर्यन्त सभी जीव आठों कर्म के और अप्रमत्त से लेकर सूक्ष्मसंपराय तक के सभी जीव वेदनीय और आयु के बिना छह कर्म के तथा मोहनीय के बिना पांच कर्म के क्षीणमोह पर्यन्त के उदीरक होते हैं और उसके बाद के सयोगिकेवलिगुणस्थानवर्ती जीव नाम और गोत्र इन दो कर्मों के उदीरक हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में गुणस्थानों के क्रम से आठ मूल कर्मों का उदीरणा-स्वामित्व बतलाया है और इसका प्रारम्भ करते हुए निर्देश किया है—

‘जाव पमत्तो अट्ठण्हुदीरगो’ अर्थात् मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से प्रमत्त-संयतगुणस्थान पर्यन्त के सभी जीव आठों कर्म के उदीरक होते हैं । यानी पहले से लेकर छठे गुणस्थान तक के सभी जीवों को प्रति समय आठों कर्मों की उदीरणा होती है । किन्तु जब अपनी-अपनी आयु का भोग करते-करते एक आवलिका प्रमाण आयु शेष रहे तब आयु की

उदीरणा नहीं होती है, अतः उस समय वे सात कर्म के उदीरक होते हैं। इसका कारण यह है कि उदयावलिका से ऊपर की स्थिति में से दलिकों को खींचकर उदयावलिका के साथ भोगने योग्य करने को उदीरणा कहते हैं, किन्तु यहाँ तो मात्र एक आवलिका ही शेष है और ऊपर की सब स्थिति भोगी जा चुकी है, इस कारण ऊपर से खींचने योग्य दलिक नहीं होने से उस एक आवलिका काल आयु के बिना शेष सात कर्मों के उदीरक होते हैं। लेकिन तीसरा मिश्रगुणस्थान इसका अपवाद है। उसके विषय में इतनी विशेषता जानना चाहिये कि—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान में वर्तमान सभी जीव सर्वदा आठों कर्मों के उदीरक होते हैं। क्योंकि आयु की अन्तिम एक आवलिका शेष रहने पर मिश्रगुणस्थान ही असम्भव है। इसका कारण यह है कि अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर मिश्रगुणस्थानवर्ती सभी जीव तथास्वभाव से उस गुणस्थान को छोड़कर चौथे अथवा पहले गुणस्थान में चले जाते हैं, उनके तीसरा गुणस्थान रहता ही नहीं है।

सातवें अप्रमत्तसंयतगुणस्थान से लेकर दसवें सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों के सभी जीव वेदनीय और आयु के बिना शेष छह कर्म के उदीरक होते हैं। अप्रमत्तदशा के परिणामों के कारण इन गुणस्थानों में वेदनीय और आयु की उदीरणा होती नहीं है—‘वेय-आउवज्जाणं सुहुमो।’ इसीलिए इन दो कर्मों की उदीरणा का यहाँ निषेध किया है। लेकिन इतना विशेष समझना चाहिये कि—

यदि क्षपकश्रेणिगत सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में मोहनीय कर्म का क्षय करते-करते सत्ता में एक आवलिका शेष रहे तब उस अन्तिम आवलिका में मोहनीय के बिना पाँच कर्मों की उदीरणा होती है और उपशम श्रेणि में तो मोह की सत्ता अधिक होने से चरम समय पर्यन्त उदीरणा होती है। उक्त कथन का सारांश यह हुआ कि सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में जो छह कर्म की उदीरणा बताई है, वह उपशम श्रेणि की

दृष्टि से समझना चाहिए। किन्तु क्षपकश्रेणि की अपेक्षा मोहनीय की अन्तिम आवलिका शेष रहने पर मोहनीय की उदीरणा नहीं होती है, शेष पाँच कर्मों की उदीरणा होती है। इसीलिए सूक्ष्मसंपरायगुण-स्थान की चरम आवलिका से लेकर क्षीणमोहगुणस्थान पर्यन्त मोहनीय, वेदनीय और आयु के बिना शेष पाँच कर्मों की उदीरणा होती है। मात्र क्षीणमोहगुणस्थान की चरम आवलिका में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय की स्थिति सत्ता में एक आवलिका ही शेष रहती है, अतः उनकी उदीरणा नहीं होती है, किन्तु नाम और गोत्र इन दो कर्मों की ही उदीरणा होती है। क्योंकि यह नियम है कि किसी भी कर्म की सत्ता में एक आवलिका शेष रहने पर ऊपर की स्थिति में से दलिकों को खींचा जा सके वैसे दलिक शेष नहीं रहने से उनकी उदीरणा नहीं होती है।

क्षीणमोहगुणस्थान की चरम आवलिका से लेकर सयोगिकेवलि गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त मात्र नाम और गोत्र इन दो कर्मों की ही उदीरणा होती है—‘तप्परओ नामगोयाणं।’

चौदहवें अयोगिकेवलिगुणस्थान में उदीरणा नहीं होती है। इसका कारण यह है कि योग होने पर उदीरणा होती है। किन्तु अयोगिकेवलिगुणस्थान में सूक्ष्म अथवा बादर योग नहीं होने से किसी भी कर्म की उदीरणा सम्भव नहीं है।^१ जैसा कि कहा है—

१ दिग्ध्वर कार्मग्रन्थिऋ आचार्यों का भी यही अभिमत है—

(क) घादीणं छदुमट्ठा उदीरणा रागिणो हि मोहस्स ।

तदियाऊण पमत्ता जोगंता होंति दोण्हं पि ॥

मिस्सुणपमस्तन्ते आउस्सट्ठाहुमुहुम खीणाणां ।

आवलिसिट्ठे कमसो सग पण दो चेवुदीरणा होंति ॥

—गो० कर्मकाण्ड, गा० ४५५, ४५६

(ख) दि० पंचसंग्रह, ज्ञातक अधिकार, गाथा २२३-२४-२५-२६

वट्टंतो उ अजोगी न किञ्चि कम्मं उदीरेइ ।^१

अर्थात् अयोगि आत्मा किसी भी कर्म को उदीरित नहीं करती है ।

इस प्रकार से गुणस्थानों में मूल कर्मों की उदीरणा विधि जानना चाहिये और इसके साथ ही गुणस्थानों में मूल कर्म प्रकृतियों की बंध, उदय, सत्ता और उदीरणा विधि का विवेचन पूर्ण होता है । सरलता से बोध करने के लिए जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

क्रम	गुणस्थान नाम	बंध प्रकृतियाँ	उदय प्रकृतियाँ	सत्ता प्रकृतियाँ	उदीरणा प्रकृतियाँ
१	मिथ्यात्व	७/८	८	८	८/७
२	सासादन	७/८	८	८	८/७
३	मिश्र	७	८	८	७
४	अविरतसम्यग्दृष्टि	७/८	८	८	८/७
५	देशविरत	७/८	८	८	८/७
६	प्रमत्तसंयत	७/८	८	८	८/७
७	अप्रमत्तसंयत	७/८	८	८	६
८	निवृत्ति (अपूर्वकरण)	७	८	८	६

२ दि० पंचसंग्रह शतक अधिकार, गाथा २२६ में भी इसी प्रकार का उल्लेख है । तुलना कीजिये—वट्टंतो दु अजोगी न किञ्चि कम्मं उदीरेइ ।

क्रम	गुणस्थान नाम	बंध प्रकृतियाँ	उदय प्रकृतियाँ	सत्ता प्रकृतियाँ	उदीरणा प्रकृतियाँ
६	अनिवृत्तिबादर	७	८	८	६
१०	सूक्ष्मसंपराय	६	८	८	६/५
११	उपशांतमोह	१	७	८	५
१२	क्षीणमोह	१	७	७	५/२
१३	सयोगिकेवली	१	४	४	२
१४	अयोगिकेवली	×	४	४	०

उदय और उदीरणा के उक्त कथन के प्रसंग में शंकाकार अपनी शंका प्रस्तुत करता है कि—

ऐसा सिद्धान्त है कि उदय होने पर उदीरणा होती है। अतः जहाँ तक उदय हो वहाँ तक उदीरणा होती है अथवा उदय होने पर भी उदीरणा न हो, ऐसा भी सम्भव है? तो अब इसका समाधान करते हैं।

उदय, उदीरणा विषयक अपवाद

जाबुदओ ताव उदीरणा वि वेयणीय आउवज्जाणं ।

अद्धावलिया सेसे उदए उ उदीरणा नत्थि ॥६॥

शब्दार्थ—जाबुदओ—जब तक उदय हो, ताव—तब तक, उदीरणा—उदीरणा, वि—भी, वेयणीय आउवज्जाणं—वेदनीय और आयु के बिना, अद्धावलिया—एक समयावलीका, सेसे—शेष रहने पर, उदए—उदय, उ—किन्तु, उदीरणा—उदीरणा, नत्थि—नहीं होती है।

गाथार्थ—वेदनीय और आयु के बिना शेष छह कर्मों का जहाँ तक उदय होता है, वहाँ तक उनकी उदीरणा भी होती है तथा किसी भी कर्म की सत्ता में एक समयावलिका शेष रहे तब उदीरणा नहीं होती है, केवल उदय ही होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में उदीरणाविषयक अपवाद का निर्देश किया है कि—

वेदनीय और आयु के बिना शेष छह कर्मों का जहाँ तक उदय होता है, वहाँ तक उनकी उदीरणा होती है—‘जावुदयो ताव उदीरणा वि ।’ वेदनीय और आयु कर्म का प्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त उदय होता है वहाँ तक उनकी उदीरणा प्रवर्तमान होती है और प्रमत्तगुणस्थान से आगे वेदनीय और आयु कर्म की उदीरणा रुक जाने पर देशोन पूर्व कोटि पर्यन्त^१ केवल उदय ही होता है तथा सभी कर्मों की अद्वाव-लिका^२ (एक समयावलिका) शेष रहने पर उदय प्रवर्तमान होता है किन्तु उदीरणा नहीं होती है । अर्थात् एक आवलिका जितने काल में भोगने योग्य दलिक जब सत्ता में शेष रहे तब उदय प्रवर्तमान होने पर भी उदीरणा नहीं होती है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय, मोहनीय और आयुकर्म का अपनो-अपनी पर्यन्तावलिका में उदय होता है, किन्तु उदीरणा नहीं होती है । क्योंकि उदीरणा का लक्षण यह है—उदय-समय से आरम्भ

१ यहां देशोनपूर्व कोटिकाल सयोगिकेवल्लिगुणस्थान के काल की अपेक्षा जानना चाहिए ।

२ **अद्वावलिका**—आवलिका धानी पंक्ति श्रेणी । श्रेणी प्रायः प्रत्येक पदार्थ की हो सकती है । परन्तु यहां काल की पंक्ति लेना है । जिससे अद्वा शब्द को ग्रहण किया है । अतः अद्वा काल की आवलिका श्रेणी को अद्वावलिका अर्थात् प्रतिनियत संख्या वाली आवलिका के समय प्रमाण जो समय रचना हो, उसे अद्वावलिका कहते हैं ।

करके एक आवलिका जितने काल में भोगी जाये ऐसी निषेक रचना को उदयावलिका कहते हैं और उस उदयावलिका से ऊपर के स्थिति-स्थानों में रहे हुए दलिकों को कषाययुक्त या कषाय बिना के योग संज्ञक वीर्यविशेष द्वारा खींचकर उदयावलिका में विद्यमान दलिकों के साथ भोगने योग्य करने को उदीरणा कहते हैं।^१ इसलिये सत्ता में ही जब किसी कर्म की एक आवलिका शेष रहे, तब उस आवलिका के ऊपर अन्य कोई भी स्थितिस्थान नहीं है जिनमें से दलिक खींचकर उदयावलिका में प्रवेश कराया जाये, इसलिये उस समय उदय होता है, परन्तु उदीरणा नहीं होती है।

गाथागत 'उ—तु' शब्द अधिक अर्थ का सूचक होने से यह जानना चाहिये कि नाम और गोत्र कर्म का अयोगिकेवल अवस्था में उदय होता है, किन्तु योग का अभाव होने से वहां उदीरणा नहीं होती है। यद्यपि नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की पर्यन्तावलिका चौदहवें गुणस्थान में शेष रहती है परन्तु वहां योग का अभाव होने से उदीरणा होती ही नहीं है। इनमें से नाम और गोत्र कर्म की उदीरणा तेरहवें गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त और वेदनीय की उदीरणा छठे प्रमत्त-संग्रतगुणस्थान पर्यन्त होती है। आयु कर्म की पर्यन्तावलिका उपशम श्रेणि में तीसरे गुणस्थान को छोड़कर ग्यारहवें गुणस्थान तक में शेष रह सकती है। इसका कारण यह है कि तीसरे को छोड़कर ग्यारह गुणस्थान तक में मरण होना संभव है और क्षपकश्रेणि में चौदहवें गुणस्थान में ही शेष रहती है, किन्तु उसकी उदीरणा छठे गुणस्थान तक ही होती है। आगे के गुणस्थानों में अधिक आयु सत्ता में हो भी किन्तु उदीरणा नहीं होती है इसका कारण पूर्व में बतलाया जा चुका है।

१ उदयावलिकातो वहिर्वर्तिनीनां स्थितीनां दलिकं कषायैः सहितेनासहितेन वा योग संज्ञिकेन वीर्यविशेषेण समाकृत्योदयावलिकायां प्रवेशनमुदीरणा।

इस प्रकार से मूल कर्मों की उदीरणाविधिविषयक अपवाद जानना चाहिये। अब उत्तरप्रकृतियों की उदीरणाविधि का कथन प्रारम्भ करते हुए यह बतलाते हैं कि किस प्रकृति की किस गुणस्थान तक उदीरणा होती है।

उत्तरप्रकृतियों की गुणस्थानों में उदीरणाविधि

सायासायाऊणं जाव पमत्तो अजोगि सेसुदओ ।

जा जोगि उईरिज्जइ सेसुदया सोदयं जाव ॥७॥

शब्दार्थ—सायासायाऊणं—साता, असाता और (मनुष्य) आयु, जाव—पर्यन्त, पमत्तो—प्रमत्त गुणस्थान, अजोगि—अयोगिकेवलगुणस्थान, सेसुदओ—शेष उदयप्राप्त, जा—पर्यन्त, जोगि—सयोगि, उईरिज्जइ—उदीरणा करते हैं, सेसुदया—शेष उदयप्राप्त, सोदयं—अपने उदय, जाव—पर्यन्त ।

गाथार्थ—साता, असाता वेदनीय और (मनुष्य) आयु की उदीरणा प्रमत्तसंयतगुणस्थान पर्यन्त होती है । इनसे शेष रही अयोगिकेवलगुणस्थान में उदय-प्राप्त प्रकृतियों की उदीरणा सयोगिकेवलगुणस्थान पर्यन्त होती है और इनसे भी शेष उदय-प्राप्त प्रकृतियों की उदीरणा अपने उदय पर्यन्त होती है ।

विशेषार्थ—कर्मविचारणा के प्रसंग में सामान्य से उदययोग्य उत्तरप्रकृतियों की संख्या एक सौ बाईस कही गई है और उदीरणा योग्य प्रकृतियों की संख्या भी इतनी ही है । उनमें से किस गुणस्थान तक किस प्रकृति की उदीरणा होती है, यह विचार इस गाथा में किया गया है—

‘सायासायाऊणं जाव पमत्तो’ अर्थात् वेदनीय कर्म की सातावेदनीय, असातावेदनीय इन दो उत्तरप्रकृतियों तथा मनुष्यायु इन तीन प्रकृतियों की उदीरणा छठे प्रमत्तसंयतगुणस्थान तक होती है किन्तु अप्रमत्त आदि आगे के गुणस्थानों में नहीं होती है । इसका कारण यह है कि इन तीन प्रकृतियों की उदीरणा में प्रमत्त दशा के परिणाम हेतु हैं और

प्रमाद का उदय—प्रमत्त दशा छठे गुणस्थान तक ही पाई जाती है, इसलिये वहां तक ही उदीरणा हो सकती है। आगे के गुणस्थानों में प्रमाद का अभाव—अप्रमत्त दशा होने से उदीरणा नहीं होती है।

साता, असाता वेदनीय और मनुष्यायु के बिना जो प्रकृतियां अयोगिकेवलिगुणस्थान में उदययोग्य हैं, उनकी उदीरणा सयोगिकेवलिगुणस्थान पर्यन्त होती है। अर्थात् साता, असाता वेदनीय और मनुष्यायु के बिना शेष रही त्रस, बादर, पर्याप्त, मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, तीर्थकर नाम, सौभाग्य, आदेय, यशः-कीर्ति और उच्च गोत्र इन दस प्रकृतियों का अयोगिकेवलिगुणस्थान में उदय है, परन्तु उदीरणा सयोगिकेवलिगुणस्थान के चरम समयपर्यन्त होती है। अयोगिकेवलिगुणस्थान में योग का अभाव होने से अयोगि भगवान किसी भी कर्म-प्रकृति की उदीरणा नहीं करते हैं। तथा—

पूर्वोक्त तेरह प्रकृतियों से शेष रही प्रकृतियों की उदीरणा उन-उन प्रकृतियों का जिस-जिस गुणस्थान तक उदय हो वहां तक होती है। लेकिन इतना ध्यान रखना चाहिये कि मात्र चरमावलिका में उदीरणा नहीं होती है, यानी किसी भी कर्मप्रकृति की जब भोगते-भोगते सत्ता में एक आवलिका स्थिति ही शेष रहे तब उदीरणा नहीं होती है।

उक्त सामान्य नियम और अपवाद का संकेत करने के बाद अब इसका निर्देश करते हैं कि किस गुणस्थान पर्यन्त किन-किन प्रकृतियों की उदीरणा होती है।

१. मिथ्यात्वमोहनीय, आतप, सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्त नाम इन पांच प्रकृतियों की उदीरणा मिथ्यादर्ष्टगुणस्थान पर्यन्त होती है। क्योंकि मिथ्यात्व मोहनीय का उदय पहले गुणस्थान में ही होता है और आतप आदि प्रकृतियों के उदय वाले जीवों के पहला ही गुणस्थान होता है।

२. अनन्तानुबधिकषायचतुष्क, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,

चतुरिन्द्रिय तथा स्थावर नामकर्म इन नौ प्रकृतियों की उदीरणा सासादनगुणस्थान पर्यन्त होती है। क्योंकि अनन्तानुबंधी का उदय दूसरे गुणस्थान तक ही है और शेष एकेन्द्रिय जाति नाम कर्मादि प्रकृतियों के उदय वाले जीवों में करण-अपर्याप्त अवस्था में ही दूसरा गुणस्थान होता है, और उसके सिवाय सदैव पहला गुणस्थान है। इसलिए उन प्रकृतियों का उदय दूसरे गुणस्थान तक होने से उनकी उदीरणा भी दूसरे गुणस्थान तक होती है।

३. मिश्रमोहनीय कर्म का उदय तीसरे गुणस्थान में ही होने से, उसकी उदीरणा भी जब तक तीसरा गुणस्थान रहे तब तक होती है।

४. अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क, देवायु, नरकायु, तिर्यचानु-पूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवद्विक, नरकद्विक, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति इन सत्रह प्रकृतियों की उदीरणा अविरत सम्यक्-दृष्टिगुणस्थान तक ही होती है। इसका कारण यह है कि अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क का उदय चौथे गुणस्थान तक ही होता है, उसके बाद के गुणस्थानों में उनकी क्षयोपशम रूपस्थिति हो जाने से उदय नहीं होता है तथा देवत्रिक, नरकत्रिक और वैक्रियद्विक^१ का उदय देव और नारकों के आदि के चार गुणस्थान होने से इन चार गुणस्थानों तक ही उदीरणा होती है। किसी भी आनुपूर्वी नामकर्म का उदय विग्रहगति में होता है और वहाँ पहला, दूसरा और चौथा ये तीन गुणस्थान होते हैं, अन्य कोई गुणस्थान नहीं होते हैं। इसलिए मनुष्य और तिर्यचानुपूर्वी नामकर्म का उदय भी तीसरे के सिवाय चतुर्थ गुणस्थान तक होता है तथा दौर्भाग्य, अनादेय और अयशःकीर्ति नामकर्म का उदय देशविरत आदि गुणसम्पन्न जीवों के गुणनिमित्त से

१ यहाँ भवधारणीय वैक्रियशरीर की विवक्षा होने से वैक्रियद्विक में चार गुणस्थान कहे हैं, अन्यथा लब्धिजन्य वैक्रिय शरीर का उदय तो सात गुणस्थानों तक सम्भव है।

ही नहीं होता है। इसलिए इन अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क आदि सत्रह प्रकृतियों की उदीरणा भी चौथे गुणस्थान तक ही होती है।

५. प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क, तिर्यचगति, तिर्यचायु, उद्योत-नामकर्म और नीचगोत्र, इन आठ प्रकृतियों की उदीरणा देशविरत गुणस्थान तक ही होती है। क्योंकि प्रत्याख्यानावरणकषाय का उदय पांचवें गुणस्थान तक होता है किन्तु आगे के गुणस्थानों में उनकी क्षयोपशम रूप स्थिति हो जाने से उदय होता नहीं है तथा तिर्यचों में आदि के पांच गुणस्थान सम्भव होने से तिर्यचगति और तिर्यचायु का उदय भी पांचवें गुणस्थान तक ही होता है। उद्योत नामकर्म^१ तिर्यच-गति का सहचारी होने से उसका उदय तथा नीचगोत्र का उदय भी तिर्यचाश्रित होने से वह भी पांचवें गुणस्थान तक होता है। इसलिए इन आठ प्रकृतियों की उदीरणा भी पांचवें गुणस्थान तक ही होती है।

६. स्त्यानद्धित्रिक और आहारकद्विक, इन पांच प्रकृतियों की उदीरणा छठे प्रमत्तसंयतगुणस्थान पर्यन्त होती है। इसका कारण यह है कि स्त्यानद्धि, निद्रा-निद्रा और प्रचला-प्रचला ये तीन निद्रायें स्थूल प्रमाद रूप होने से अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में उनका उदय नहीं हो सकता है। इसलिए प्रमत्तसंयतगुणस्थान पर्यन्त उनका उदय होता है तथा आहारकशरीर और आहारक-अंगोपांग इन दो प्रकृतियों का उदय प्रमत्तसंयतगुणस्थान में आहारकशरीर करने वाले चौदह पूर्वधर के होता है।^२ इसलिए इन पांच प्रकृतियों की उदीरणा प्रमत्तसंयत

१ यद्यपि लब्धिजन्य वैक्रिय और आहारक शरीर में भी उद्योत का उदय होता है, परन्तु वह मनुष्यगति सहचारी नहीं है। अतः उसकी विवक्षा नहीं की है।

२ यदि आहारकशरीर को करके उद्योत नामकर्म के बिना उनतीस और उद्योतनाम सहित तीस के उदय में वर्तमान कोई संयमी अप्रमत्तगुणस्थान में जाये तो वहाँ आहारकद्विक का उदय सम्भव है, परन्तु अल्पकाल होने से उनकी विवक्षा नहीं की है। अतः प्रमत्तगुणस्थान में ही उनका उदय ग्रहण किया है।

गुणस्थान तक ही होती है तथा साता, असातावेदनीय और मनुष्यायु का प्रमत्तसंयत गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान के चरमसमय पर्यन्त केवल उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती है, यह पहले कहा जा चुका है।

७. सम्यक्त्वमोहनीय, अधनाराच, कीलिका और सेवार्त संहनन इन चार प्रकृतियों की उदीरणा अप्रमत्तसंयतगुणस्थान पर्यन्त ही होती है। क्योंकि आगे के गुणस्थानों में चारित्रमोहनीय के उपशमक या क्षपक जीव ही होते हैं और उनको क्षायिक अथवा औपशमिक सम्यक्त्व होता है, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व नहीं होता है। सम्यक्त्वमोहनीय का उदय क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी को चौथे से सातवें तक चार गुणस्थानों में होता है। इसलिए उसकी उदीरणा भी वहाँ तक ही होती है और अन्तिम तीन संहननों के द्वारा कोई भी जीव श्रेणी आरम्भ नहीं कर सकता है एवं सातवें गुणस्थान तक जा सकता है। जिससे उनका उदय भी सातवें गुणस्थान तक होता है, इसलिए उदीरणा भी सातवें गुणस्थान तक होती है।

८. हास्यषट्क की उदीरणा आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान तक होती है, किन्तु आगे के गुणस्थानों में अत्यन्त विशुद्ध परिणाम होने से उदय नहीं होता है, इसलिए उदीरणा भी नहीं होती है।

९. वेदत्रिक, संज्वलन क्रोध, मान और माया इन छह प्रकृतियों की उदीरणा नौवें अनिवृत्तिकरणगुणस्थान पर्यन्त होती है। यहाँ उनका सर्वथा क्षय अथवा उपशम सम्भव होने से ऊपर के गुणस्थानों में उनकी उदीरणा नहीं होती है।

१०. संज्वलन लोभ की उदीरणा दसवें सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान पर्यन्त होती है। इसमें भी उपशमश्रेणिगत सूक्ष्मसंपराय के चरम समय पर्यन्त और क्षपकश्रेणिगत चरमावलिका को छोड़कर शेषकाल में होती है।

११. ऋषभनाराच और नाराचसंहनन की उदीरणा उपशान्तमोह गुणस्थान तक होती है। इसका कारण यह है कि ये दो संहनन वाले उपशमश्रेणि को मांडकर इस गुणस्थान तक ही आ सकते हैं।

१२. दर्शनावरणचतुष्क—चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शनावरण, ज्ञानावरणपंचक और अन्तरायपंचक इन चौदह प्रकृतियों का उदय और उदीरणा क्षीणमोहगुणस्थान पर्यन्त होती है। मात्र चरमावलिका में उदीरणा नहीं होती है।^१

१३—औदारिक शरीर, औदारिक-अंगोपांग, तैजस्, कर्मण, संस्थानषट्क, वज्रऋषभनाराच संहनन, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, पराघात, उपघात, अगुरुलघु, उच्छ्वास, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर और निर्माण इन उनतीस प्रकृतियों की सयोगिकेवलिंगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त उदय और उदीरणा होती है।

१ कर्मस्तवकार क्षीणमोह के द्विचरम समय पर्यन्त निद्रा और प्रचला का उदय मानते हैं। इसीलिये उनके मत से क्षीणमोह के द्विचरम समय पर्यन्त निद्राद्विक का उदय और उदीरणा चरमावलिका छोड़कर समझना चाहिये। पंचसंग्रहकार ने भी स्त्रोपज्ञ टीका में इसी मत को स्वीकार किया है—
दर्शनषट्क ज्ञानान्तरायाणां क्षीणकषाय यावदुदयः उदीरणा च।

दिगम्बर कर्मग्रन्थकारों ने भी क्षीणमोहगुणस्थान में सोलह प्रकृतियों की उदीरणा मानी है। उनमें निद्रा और प्रचला की द्विचरम समय में और चरम समय में ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क एवं अन्तराय पंचक इन चौदह प्रकृतियों की बतलाई है।

पंचसंग्रह के टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने उपशान्तमोहगुणस्थान तक निद्रा और प्रचला की उदीरणा बतलाई है—

ततस्तन्मतेन निद्राप्रचलाभोरपि क्षीणमोहगुणस्थानक द्विचरम समयं यावदुदया वेदितव्यः स्वमतेनोपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत्।

त्रस, वादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, तीर्थकर नाम और उच्चगोत्र इन दस प्रकृतियों की उदीरणा तेरहवें गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त होती है और उदय अयोगि गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त होता है।

१४—अयोगिकेवलिगुणस्थान में योग का अभाव होने से किसी भी कर्म की उदीरणा नहीं होती है।^१

इस प्रकार से गुणस्थानों में उत्तरप्रकृतियों की उदीरणाविधि जानना चाहिये। लेकिन जिन कर्मप्रकृतियों का उदय होने पर भी उदीरणा भजना से होती है, अब उनका निर्देश करते हैं।

भजनीय उदीरणा-योग्य प्रकृतियां

निद्राउदयदवईणं समिच्छपुरिसाण एगचत्ताणं ।

एयाणं चिय भज्जा उदीरणा उदए नन्तासि ॥८॥

शब्दार्थ—निद्रा—निद्रापंक्क, उदयवईणं—उदयवती संज्ञावाली, समिच्छ-पुरिसाण—मिथ्यात्वमोहनीय और पुरुषवेद सहित, एगचत्ताणं—इकतालीस,

१ दिगम्बर साहित्य में गुणस्थानों में उदीरणायोग्य प्रकृतियों की संख्या इस प्रकार बतलाई है—

(क) पण णव इगिसत्तरसं अट्ठट्ठय चउरछक्क छच्चेव ।

इगि दुय सोल्लगुदालं उदीरणा होति जोगंता ॥

मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सयोगिकेवलिगुणस्थान पर्यन्त क्रम से पांच, नौ, एक, सत्रह, आठ, आठ, चार, छह, छह, एक, दो, सोलह और उनतालीस प्रकृतियों की उदीरणा होती है। —पंचसंग्रह कर्मस्तव गा० ४८

(ख) गो. कर्मकांड गा. २८१

एयाणं— इनकी, चिय—ही, भज्जा—भजनीय, उदीरणा—उदीरणा, उदए—उदय, नन्नासि—और दूसरी प्रकृतियों की नहीं।

गाथार्थ—निद्रापंचक, मिथ्यात्वमोहनीय और पुरुषवेद सहित उदयवती संज्ञा वाली चौतीस इस तरह इकतालीस प्रकृतियों का उदय होने पर भी उदीरणा भजनीय जानना चाहिये। इनके सिवाय अन्य प्रकृतियों का जहां तक उदय हो वहीं तक उदीरणा होती है।

विशेषार्थ—गाथा में भजनीय उदीरणा वाली प्रकृतियों का नाम निर्देश किया है। भजनीय उदीरणा का यह आशय है कि उदीरणा के बिना भी अमुक समय तक सिर्फ उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती है। ऐसी भजनीय उदीरणा वाली प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

पांच निद्रायें तथा जिनका पूर्व में उदयवती संज्ञा के रूप में उल्लेख किया जा चुका है ऐसी ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरण-चतुष्क, साता-असातावेदनीय, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, सम्यक्त्वमोहनीय, संज्वलन लोभ, त्रस, बादर, पर्याप्ति, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, मनुष्यगति, पचेन्द्रिय जाति, तीर्थंकर नाम, उच्च गोत्र, चार आयु, ये चौतीस प्रकृतियां तथा मिथ्यात्वमोहनीय, और पुरुषवेद इन इकतालीस प्रकृतियों का उदय होने पर भी उदीरणा भजनीय होती है।^१ जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पांच निद्राओं का शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद से लेकर जब तक इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण न हो, तब तक केवल उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती है। शेषकाल में उदय और उदीरणा दोनों साथ ही होती हैं।

चारों आयु का अपने भव की अंतिम आवलिका शेष रहे तब केवल उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती है।

ज्ञानवरणपंचक, अंतरायपंचक और दर्शनावरणचतुष्क की क्षय होते-होते जब सत्ता में एक आवलिका शेष रहती है तब बारहवें गुण-स्थान की अंतिम आवलिका में केवल उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती है ।

क्षपक श्रेणी में सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में संज्वलन लोभ की एक आवलिका के शेष रहने पर उदीरणा नहीं होती है, केवल उदय ही होता है ।

क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जन करते समय जब चरम आवलिका शेष रहे तब सम्यक्त्वमोहनीय की उदारणा नहीं होती है, किन्तु उदय ही रहता है ।

उपशम सम्यक्त्व उपार्जित करते समय अनिवृत्तिकरण की प्रथम स्थिति की एक आवलिका के शेष रहने पर मिथ्यात्वमोहनीय का केवल उदय होता है, उदीरणा नहीं होती है ।

त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, तीर्थंकर नाम और उच्च गोत्र इन दस प्रकृतियों की अयोगि अवस्था में योग के अभाव में उदीरणा नहीं होती है, मात्र उदय ही होता है ।

साता-असातावेदनीय की अप्रमत्तगुणस्थान से तथाविध अध्यवसाय के अभाव में उदीरणा नहीं होती, केवल उदय सम्भव है ।

स्त्रीवेद के उदय में क्षपकश्रेणि आरम्भ करने वाले के स्त्रीवेद की, नपुंसकवेद के उदय में आरम्भ करने वाले के नपुंसकवेद की और पुरुषवेद के उदय में आरम्भ करने वाले के पुरुषवेद की अपनी-अपनी प्रथम स्थिति की जब एक आवलिका शेष रहती है तब उदीरणा नहीं होती है, केवल उदय संभव है ।

इसी कारण उपर्युक्त इकतालीस प्रकृतियों का उदय होने पर भी उदीरणा भजनीय समझना चाहिये तथा इनसे शेष रही इक्यासी प्रकृ-

तियों का उदय होने पर भी उदीरणा भजनीय नहीं है ।^१ इसका आशय यह हुआ कि शेष इक्यासी प्रकृतियों का जहां तक उदय हो वहां तक उदीरणा भी होती है किन्तु किसी भी समय उदीरणा से विहीन केवल उदय नहीं होता है, दोनों का क्रम साथ चलता है और साथ ही रुकता है ।

इस प्रकार विस्तार से उदीरणा विधि समझना चाहिए । अब बंध, उदय, सत्ता और उदीरणा विधियों का निर्देश करने के बाद बंध का विस्तार से विवेचन करने के लिए पहले बंध के प्रकारों को बताते हैं ।

बंध के प्रकार

होइ अणाइअणन्तो अणाइसंतो य साइसन्तो य ।

बंधो अभव्व भव्वोवसन्तजीवेसु इइ तिविहो ॥६॥

शब्दार्थ—होइ—होता है, अणाइअणन्तो—अनादि-अनन्त, अणाइसन्तो—अनादि-सान्त, य—और, साइसन्तो—सादि-सान्त, य—तथा, बंधो—बंध, अभव्व—अभव्य, भव्वोवसन्त—भव्य, उपशान्तमोह, जीवेसु—जीवों में इइ—इस तरह, तिविहो—तीन प्रकार ।

गार्थार्थ—अभव्य, भव्य और उपशान्तमोहगुणस्थान से पतित हुए जीवों में अनुक्रम से अनादि-अनन्त, अनादि-सांत और सादि-सान्त बंध होता है । इस तरह बंध के तीन प्रकार हैं ।

-
- १ दिगम्बर कर्म साहित्य का भी इकतालीस प्रकृतियों की भजनीय उदीरणा के सम्बन्ध में यही मंतव्य है । अन्तर इतना है कि यहां उदय-योग्य १२२ की अपेक्षा उदय एव भजनीय उदीरणा के योग्य इकतालीस प्रकृतियों का उल्लेख किया है, जब कि दिगम्बर साहित्य में समस्त एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों को लेकर उदीरणा, अनुदीरणा, उदीरणाविच्छेद का विचार किया है, किन्तु इकतालीस प्रकृतियों के नाम समान हैं । विस्तार से इसका विवरण परिशिष्ट में देखिये ।

विशेषार्थ गाथा में बंध के प्रकारों—भेदों का निर्देश करते हुए उनके अधिकारी जीवों को बतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पूर्व में ध्रुवबंध, उदय तथा अध्रुवबंध, उदय की अपेक्षा जो प्रकृतियों का वर्गीकरण किया गया है, उस चर्चा में यह जानने की सहज ही उत्सुकता हो जाती है कि कर्मबंध की कितनी दशाएँ होती हैं ? इसी उत्सुकता का निराकरण इस गाथा में किया गया है।

बंध के मूल में दो प्रकार हैं—अनादि-अनन्त और प्रतिपक्षी सादि-सांत। अब यदि इनके सांयोगिक भग बनाये जायें तो चार भंग-विकल्प होंगे—१ अनादि-अनन्त, २ अनादि-सान्त, ३—सादि-अनन्त और ४ सादि-सान्त। जिस बंध की परम्परा अनादि काल से निरन्तर बिना किसी रुकावट के चली आ रही हो और मध्य में न कभी विच्छिन्न हुई और न कभी आगे होगी, ऐसी बंध परम्परा को अनादि-अनन्त कहते हैं। जिस बंध की परम्परा अनादि काल से अप्रतिहत प्रवाह रूप में चली आ रही हो, किंतु आगे व्युच्छिन्न हो जायेगी, वह अनादि-सांत है। जिस बंध की परम्परा की आदि होकर अनन्त काल तक चलती रहे, उसे सादि-अनन्त कहते हैं और जिस बंध की परम्परा आदि सहित होकर कालान्तर में नष्ट हो जाने वाली हो, उसे सादि-सांत समझना चाहिए।

इन चार भंगों के होने पर भी सादि-अनन्त भंग किसी भी बंध या उदय प्रकृति में घटित नहीं होता है। क्योंकि जो बंध या उदय सादि हो वह कभी अनन्त नहीं हो सकता है। इसीलिए ग्रन्थकार आचार्य ने यहाँ बंध के तीन प्रकारों को ग्रहण किया है—१ अनादि-अनन्त, २ अनादि-सान्त और ३ सादि-सान्त।

इन तीनों प्रकारों में अभव्य जीवों के सांपरायिक—संसार के कारण-भूत कर्म का बंध अनादि-अनन्त है। क्योंकि उनको भूतकाल से सर्वदा बंध होता चला आ रहा है, जिससे अनादि है और भविष्य में किसी

भी काल में बंध का नाश होने वाला नहीं है, सर्वदा बंध होता ही रहेगा, इसलिए अनन्त है। इस प्रकार अभव्य जीवों में अनादि-अनन्त बंध-प्रकार जानना चाहिए।

भव्य जीवों में अनादि-सांत प्रकार होता है। क्योंकि भूतकाल में सदैव बंध होते आने से अनादि है और भविष्यकाल में मोक्ष जाने पर बंध का विच्छेद होगा इसलिए सांत है। इसीलिए भव्य जीवों में अनादि-सांत भंग प्राप्त होता है।

उपशांतमोहगुणस्थान से पतित हुए जीव में सादि-सांत प्रकार प्राप्त होता है। क्योंकि उपशांतमोहगुणस्थान में बंध का अभाव होने और वहाँ से पतन होने पर पुनः बंध प्रारम्भ हो जाने से सादि है। अर्थात् उपशांतमोहगुणस्थान में सांपरायिक कर्म का बंध नहीं होता है, किन्तु वहाँ से पतित होने की दशा में जब दसवें आदि अधोवर्ती गुणस्थानों में जीव आता है तब पुनः बंध प्रारम्भ हो जाता है, जिससे सादि है और भविष्य काल में अधिक से अधिक देशोनार्धपुद्गल-परावर्त काल में उसको मोक्ष में जाने पर बंध का नाश होगा, जिससे वह सांत है। इसीलिए उपशांतमोहगुणस्थानवर्ती जीव में सादि-सांत प्रकार बताया है।

इस प्रकार बंध के तीन प्रकार होते हैं। अब इन्हीं बंधप्रकारों के उत्तरभेद बतलाते हैं।

बंधप्रकारों के उत्तरभेद

पयडीठिईपएसाणुभागभेया चउव्विहेक्केक्को ।

उक्कोसाणुक्कोस जहन्न अजहन्नया तेसि ॥१०॥

तेवि हु साइ-अणार्इ-धुव-अधुवभेयओ पुणो चउहा ।

ते दुविहा पुण नेया मूलुत्तरपयइभेएणं ॥११॥

शब्दार्थ—पयडीठिईपएसाणुभागभेया—प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनु-

भाग के भेद से, चउध्वह—चार प्रकार का, एक्केको—एक-एक, उक्को-साणुक्कोसजहन्नअजहन्नया—उत्कृष्ट, अनुकृष्ट, जघन्य और अजघन्य के भेद से, तेसि—उनके ।

तेवि—वे भी, हु—अवश्य ही, साइअणाईधुवअधुवभेयओ—सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव के भेद से, पुणो—पुनः, चउहा—चार प्रकार के, ते—वे, दुविहा—दो प्रकार के, पुण—पुनः, नेया—जानना चाहिये, मूलुत्तरपयइभेएणं—मूल और उत्तर प्रकृति के भेद से ।

गाथार्थ—पूर्वोक्त अनादि-अनन्त आदि एक-एक बंध के प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग के रूप से चार-चार भेद होते हैं और वे प्रकृति बंध आदि प्रत्येक के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य ऐसे चार-चार भेद हैं तथा वे उत्कृष्ट आदि प्रत्येक भेद भी पुनः सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव—इस तरह चार-चार प्रकार के हैं और वे प्रत्येक मूल एवं उत्तर प्रकृति के भेद से दो-दो भेद वाले हैं ।

विशेषार्थ—पूर्व की गाथा में जो अनादि-अनन्त आदि बंध के भेद बतलाये हैं, उनके और प्रकारों तथा उन प्रकारों के भी अवान्तर प्रकारों का इन दो गाथाओं में निर्देश किया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पूर्वोक्त अनादि-अनन्त आदि बंध के प्रत्येक भेद प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग के भेद से चार-चार प्रकार के हैं । यानी पूर्वोक्त बंध के तीन भेद प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, प्रदेशबंध और अनुभागबंध इन चारों में घटित होते हैं । जैसे कि—प्रकृतिबंध अभव्य के अनादि-अनन्त, भव्य के अनादि-सांत तथा यहाँ सांपरायिकबंध की विवक्षा होने से और उपशान्तमोहगुणस्थान में सांपरायिकबंध नहीं होने से किन्तु वहाँ से पतित होने पर पुनः प्रकृतिबंध होने से सादि-सांत, इस तरह जैसे पूर्व में सामान्य बंध के प्रसंग में घटित किये हैं उसी प्रकार यहाँ प्रकृतिबंध में भी घटित करें । इसी प्रकार स्थितिबंध आदि के लिए भी समझ लेना चाहिये ।

अब यदि इन अनादि-अनन्त आदि भेदों की अपेक्षा रखे बिना सामान्य से प्रकृतिबंध आदि प्रत्येक के भेदों का विचार किया जाये तो वे उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य इस तरह चार-चार प्रकार के हैं। तात्पर्य यह है कि प्रकृतिबंध, स्थितिबंध आदि प्रत्येक उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य इस तरह चार-चार भेद वाले हैं। इन उत्कृष्ट आदि चारों प्रकारों के लक्षण इस प्रकार हैं—

अधिकतम बंध होने को उत्कृष्टबंध कहते हैं। अर्थात् जिससे अधिक स्थिति वाला बंध हो ही नहीं सकता है, वह उत्कृष्टबंध है। समयादि न्यून होते-होते जघन्य तक का जो बंध है वह अनुत्कृष्ट बंध है। अर्थात् एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर जघन्य स्थिति-बंध तक के सभी बंध अनुत्कृष्ट बंध हैं, यानी उत्कृष्टबंध के सिवाय अन्य सभी बंध अनुत्कृष्टबंध कहे जाते हैं। सबसे कम स्थिति वाला बंध जघन्यबंध है और एक समय अधिक जघन्यबंध से लेकर उत्कृष्ट बंध पर्यन्त सभी बंध अजघन्यबंध कहे जाते हैं।

प्रश्न—सामान्य से किसी भी वस्तु के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, यह तीन-तीन भेद होते हैं और यहाँ जो जघन्य-अजघन्य और उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट इस तरह दो-दो को जोड़कर चार भेद कहे हैं। उनमें जघन्य प्रकृतिबंधादि का जघन्य में और मध्यम तथा उत्कृष्ट का अजघन्य में समावेश होता है। इस तरह जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त प्रकृति-बंधादि के सभी विकल्पों का इन दो भेदों में समावेश हो जाता है। इसी प्रकार से उत्कृष्ट प्रकृतिबंधादि का उत्कृष्ट में और मध्यम तथा जघन्य का अनुत्कृष्ट में समावेश हो जाने से उत्कृष्ट से जघन्य पर्यन्त के कुल प्रकृतिबंधादि के भेदों का भी उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट इन दो भेदों में संग्रह हो जाता है। अतः जब प्रकृतिबंधादि के सभी भेदों का जघन्य, अजघन्य में अथवा उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट इस तरह दो भेदों में संग्रह हो जाता है तब फिर चार भेद क्यों ग्रहण किये हैं? कोई भी दो ले लेना चाहिए था।

उत्तर—चार भेद ग्रहण करने का कारण यह है कि किसी समय अनुत्कृष्ट पर सादि आदि चार भंग घटित होते हैं तो किसी समय अजघन्य पर । किसी समय अनुत्कृष्ट पर तो कभी अजघन्य पर दो भंग घटित होते हैं । इस प्रकार भंगों की घटना भिन्न-भिन्न रीति से होने के कारण चार भेद लिये हैं । जिसका विशेष स्पष्टीकरण मूल और उत्तर प्रकृतियों में घटित करते समय किया जायेगा ।
तथा—

‘ते वि हु’ अर्थात् वे उत्कृष्ट आदि प्रत्येक भेद भी यथासंभव^१

- १ ये उत्कृष्ट आदि सभी भेद सादि आदि चार विकल्पों में घटित नहीं होते हैं, इसीलिये यहां यथासंभव पद दिया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जिन प्रकृतियों का उत्कृष्ट रसबंधादि ऊपर के गुणस्थानों में होता है, उनके अनुत्कृष्ट भेद पर सादि आदि चार भंग घटित होते हैं । क्योंकि ऊपर के गुणस्थानों में नहीं गये हुए, नहीं जाने वाले और जाकर पतित हुए जीव होते हैं । इसी प्रकार जिन प्रकृतियों का जघन्य रसबंधादि ऊपर के गुणस्थानों में होता हो, उनके जघन्य भंग में सादि आदि चार भंग घटित होते हैं । किन्तु जिन प्रकृतियों का उत्कृष्ट रसबंधादि पहले गुणस्थान में होता हो, उनके अनुत्कृष्ट विकल्प पर सादि और सांत ये दो भंग घटित होते हैं क्योंकि मिथ्यात्वगुणस्थान में एक के बाद दूसरा इस क्रम से उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट दोनों भंग संभव हैं । इसी प्रकार जिन प्रकृतियों का जघन्य रस-बंधादि पहले गुणस्थान में होता हो उनके अजघन्य भंग पर सादि और सांत ये दो भंग घटित होते हैं । जघन्य और उत्कृष्ट अमुक समय ही होने से उन पर तो सादि और सांत ये दो ही भंग घट सकते हैं अन्य नहीं ।

सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस प्रकार चार भेद वाले होते हैं।^१ इन सादि आदि के लक्षण इस प्रकार हैं—

जो आदि सहित हो अर्थात् जिसका प्रारम्भ हो, छूटकर जिसका पुनः बंध हो, उसे सादि और जो प्रारम्भ रहित हो अर्थात् शुरुआत न हो, अनादि काल से जिसके बंध का अभाव न हो, उसे अनादि कहते हैं। जो अन्त सहित बंध हो उसे सांत—अध्रुव और जिसका निरन्तर बंध हुआ करे, उसे अनन्त—ध्रुव बंध कहते हैं।

ये सादि आदि बंध मूल और उत्तर प्रकृतियों के भेद से दो-दो प्रकार के हैं—‘ते दुविहा पुण नेया मूलुत्तरभेण’।

यहाँ बंधादि भेदों का संक्षेप में कथन किया है। विस्तार से यथा-स्थान आगे विचार किया जा रहा है। अब मूल और उत्तर प्रकृतियों में बंध के अन्य सम्भव चार भेदों को बतलाते हैं।

बंध के अन्य चार भेद

भूओगारप्पयरग अव्वत्त अवट्ठिओ य विन्नेया ।

मूलुत्तरपगइबंधणासिया ते इमे सुणसु ॥१२॥

शब्दार्थ—भूओगारप्पयरग—भूयस्कार, अल्पतर, अव्वत्त—अवकतव्य, अवट्ठिओ—अवस्थित, य—और, विन्नेया—जानना चाहिए, मूलुत्तरपगइबंधणासिया—मूल और उत्तर प्रकृतियों के बंधाश्रित, ते इमे—उनको, सुणसु—सुनो ।

१ गो. कर्मकांड में भी इसी प्रकार बंध के भेदों को बतलाया है—

पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेस बंधोत्ति चदुविहो बंधो ।

उक्कस्समणुक्कस्सं जहणमजहणगंति पुधं ॥

सादि अणादी ध्रुव अद्धुवो व बंधो दु जेट्ठमादीसु ।

णाणेगं जीवं पडि ओघारे से जहा जोमां ॥

—गो. कर्मकाण्ड, गा. ८६, ६०

गाथार्थ—मूल और उत्तर प्रकृतियों के बंधाश्रित भूयस्कार, अल्पतर, अवक्तव्य और अवस्थित ये चार भंग जानना चाहिए जिनका वर्णन आगे किया जायेगा उसे सुनो ।

विशेषार्थ—गाथा में कर्मप्रकृतियों में सम्भव बंध के अन्य चार प्रकारों—भेदों के नाम बतलाये हैं कि—

मूलप्रकृतिबंध और उत्तरप्रकृतिबंध इन दोनों के आश्रित रहे हुए यानी इन दोनों में घटित होने वाले अन्य भी चार भेद हैं । जिनके नाम हैं—१. भूयस्कार, २. अल्पतर, ३. अवक्तव्य और ४. अवस्थित । इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. **भूयस्कार**—कम प्रकृतियों को बांधकर दूसरे समय में उससे अधिक प्रकृतियों के बंध करने को भूयस्कार बंध कहते हैं । यानी पहले जो बंध हुआ, उससे एकादि प्रकृति का अधिक बंध करना, जैसे कि सात का बंध करके आठ का बंध करना । यह बंध भूयस्कार कहलाता है ।^१

२. **अल्पतर**—प्रथम समय में अधिक कर्मों का बंध करके दूसरे समय में कम कर्मों के बंध करने को अल्पतर बंध कहते हैं । अल्पतर बंध भूयस्कार बंध से बिल्कुल उलटा है । जैसे कि आठ कर्म बांधकर सात का बंध करना अल्पतर कहलाता है ।^२

१ दिगम्बर साहित्य में भूयस्कार के स्थान पर भुजगार और भुजाकार शब्द का प्रयोग देखने में आता है, लेकिन लक्षण में कोई अन्तर नहीं है—

अप्पबंधिय कम्मं बहुयं बंधेइ होइ भूयमारो ।

—दि० पंचसंग्रह, शतक अधिकार, गा० २३४ ।

२ भूयस्कार और अल्पतर इन दोनों बंधों का काल एक समय है । क्योंकि जिस समय बढ़े या घटे, उसी समय वह बंध भूयस्कार या अल्पतर कहलाता है ।

३. अवस्थित—पहले समय में जितने कर्मों का बंध किया, दूसरे समय में भी उतने ही कर्मों के बंध करने को अवस्थित बंध कहते हैं। अर्थात् पहले और बाद के समय में एक जैसा बंध रहे वह अवस्थित बंध कहलाता है और कदाच बढ़े या घटे तो वह बंध भूयस्कार या अल्पतर संज्ञा के योग्य हो जाता है।

४. अवक्तव्य—एक भी कर्म न बाँधकर पुनः कर्म बंध करने को अवक्तव्य बंध कहते हैं। अर्थात् सर्वथा अबंधक होकर पुनः बंध का प्रारम्भ हो तब वह बंध अवक्तव्य कहलाता है। अवक्तव्य यानी नहीं कहने योग्य, ऐसा बंध जो भूयस्कार, अल्पतर अथवा अवस्थित शब्द द्वारा कहने योग्य न हो, उस बंध को अवक्तव्य कहते हैं। अबंधक होकर नया बंध प्रारम्भ करे, तो वही बंध भूयस्कार आदि शब्द द्वारा कहने योग्य न होने से अवक्तव्य कहलाता है। इसका काल एक समय का है। इसका कारण यह है कि बाद के समय में बढ़े या घटे तो वह बंध भूयस्कार, अल्पतर संज्ञा के योग्य हो जाता है। तथा जितनी प्रकृतियाँ पूर्व के समय में बाँधी थीं, उतनी ही बाद के समय में बाँधी हों तो वह बंध अवस्थित कहा जाने लगता है। क्योंकि बंध संख्या में वृद्धि हानि नहीं हुई, उतनी ही संख्या है।

इस प्रकार बंध के अन्य चार भेदों का स्वरूप जानना चाहिए।^१ वे मूल और उत्तर प्रकृतियों में जिस रीति से घटित होते हैं, उसका विचार यथाक्रम से आगे किया जायगा। लेकिन इन बंधप्रकारों को घटित करने के लिए कर्मों के बंधस्थानों को जान लेना आवश्यक होने से अब पहले मूल कर्मों के बंधस्थानों को बतलाते हैं।

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में भी इसी प्रकार बंध के चार भेद और उनके लक्षण बतलाये हैं।

मूलकर्मप्रकृतियों के बंधस्थान

इगछाइ मूलियाणं बंधट्टाणा हवन्ति चत्तारि ।

अबन्धगो न बन्धइ इइ अब्बत्तो अओ नत्थि ॥१३॥

शब्दार्थ—इगछाइ—एक और छह आदि, मूलियाणं—मूल कर्मों के, बंधट्टाणा—बंधस्थान, हवन्ति—होते हैं, चत्तारि—चार, अबन्धगो—अबन्धक, न—नहीं, बन्धइ—बाँधता है, इइ—यहाँ, अब्बत्तो—अवक्तव्य, अओ—इसलिए, नत्थि—नहीं होता है ।

गाथार्थ—मूल कर्मों के एक और छह आदि तीन इस प्रकार कुल चार बंधस्थान होते हैं । सभी कर्मों का अबन्धक होकर पुनः उनका बंध नहीं करता है, इसलिए यहाँ अवक्तव्य बंध घटित नहीं होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में मूलकर्मों—ज्ञानावरणादि के बंधस्थानों का निर्देश करके यह स्पष्ट किया है कि उनमें कौन सा बंधप्रकार घटित हो सकता ।

‘इगछाइ मूलियाणं’ अर्थात् मूलकर्मों के एक और छह आदि तीन कुल चार बंधस्थान हैं । यानि एकप्रकृतिक, छहप्रकृतिक, सातप्रकृतिक और आठ प्रकृतिक, इस प्रकार कुल चार बंधस्थान मूलकर्मप्रकृतियों के होते हैं । वे चारों बंधस्थान गुणस्थानापेक्षा इस प्रकार समझना चाहिये—

जब एक सातावेदनीय रूप कर्मप्रकृति का बंध हो तब एकप्रकृतिक बंधस्थान होता है और वह उपशांतमोह आदि गुणस्थानों में जानना चाहिये । आयु और मोहनीय कर्म के बिना छह कर्म प्रकृतियों का बंध होने पर छह का बंधस्थान है और वह दसवें सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में होता है । सात कर्मों का बंध होने पर सातप्रकृतिक बंधस्थान होता

है और वह मिश्र, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिबाधर इन तीन गुणस्थानों में जानना चाहिये । क्योंकि इन तीन गुणस्थानों में आयु का बंध नहीं होता है तथा शेष मिथ्यादृष्टि से लेकर मिश्र गुणस्थान वर्जित अप्रमत्त संयत तक के गुणस्थान वालों के आयु के बंध काल में आठ का और शेष काल में सात का बंधस्थान जानना चाहिये ।^१

गुणस्थानापेक्षा बंधस्थानों के क्रमोल्लेख करने का यह आशय है कि उस-उस गुणस्थानवर्ती जीव उस बंधस्थान के स्वामी हैं ।

मूल कर्मों के इन चार बंधस्थानों में तीन भूयस्कार, तीन अल्पतर और चार अवस्थित बंधप्रकार होते हैं किन्तु अवक्तव्य बंधप्रकार नहीं होता है ।^२ जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१ गो. कर्मकांड में भी इसी प्रकार से चार बंधस्थानों के स्वामी का निर्देश किया है—

छसु सगविहमट्ठविहं कम्मं बंधंति तिसुसत्तविहं ।

ध्विहमेकट्ठाणे तिसु एकमबंधगो एवको ॥४५२॥

मिश्रगुणस्थान के बिना अप्रमत्त पर्यन्त छह गुणस्थानों में जीव आयु के बिना सात प्रकार के अथवा आयु सहित आठ प्रकार के कर्म बांधते हैं । मिश्र, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन गुणस्थानों में आयु के बिना सात प्रकार के ही कर्म बंध रूप होते हैं । सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में आयु, मोह के बिना छह प्रकार के कर्मों का बंध होता है, और उपशांतमोह आदि तीन गुणस्थानों में एक वेदनीय कर्म का ही बंध होता है और अयोगि गुणस्थान बंध रहित है, उसमें किसी भी कर्म प्रकृति का बंध नहीं होता है ।

२ दिगम्बर साहित्य में भी मूल प्रकृतियों के बंधस्थान और उनमें भूयस्कार आदि बंध इसी प्रकार बतलाये हैं । देखो—गो. कर्मकांड गा. ४५३

उपशांतमोहगुणस्थान में एक सातावेदनीय का बंध करके जब कोई जीव वहां से गिर कर दसवें सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में आता है और वहां छह कर्मों का बंध करता है, तब छह प्रकृति रूप पहला भूयस्कारबंध है। जिस समय छह का बंध करे उस समय तो भूयस्कार बंध और शेष काल में जब तक वही का वही बंध हो तब तक अवस्थित बंध होता है।

वही जीव दसवें सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान से भी च्युत होकर जब नीचे नीचे अनिवृत्तिवादरसंपरायगुणस्थान में माहनीय कर्म सहित सात प्रकृतियों को बांधता है, तब पहले समय में दूसरा भूयस्कारबंध और शेष काल में जब तक उतना ही बंध करे, तब तक अवस्थितबंध होता है। यह दूसरा भूयस्कारबंध है।

वही जीव सात कर्मों को बांध कर प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में आयुर्कर्म सहित आठ कर्मों को बांधे तब पहले समय में तीसरा भूयस्कारबंध और शेष काल में अवस्थितबंध होता है। यह तीसरा भूयस्कारबंध है।

इस प्रकार एक से छह, छह से सात और सात से आठ का बंध होने के कारण भूयस्कारबंध तीन होते हैं।

इस प्रकार से तीन भूयस्कारबंध जानना चाहिए अब अल्पतरबंध का निर्देश करते हैं—

भूयस्कारबंध की तरह अल्पतरबंध भी तीन होते हैं। वे इस प्रकार हैं—१ आठ कर्मप्रकृतियों को बांध कर सात का बंध, २ सात को बांधकर छह का बंध और ३ छह को बांधकर एक का बंध होना।

आठ कर्मप्रकृतियों को बांधकर सात कर्मप्रकृतियों को बांधते समय पहला अल्पतरबंध और शेष काल में अवस्थितबंध होता है।

जब सात कर्म को बांध कर सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में छह कर्म प्रकृतियों को बांधे तब पहले समय में अल्पतरबंध और शेष काल में अवस्थितबंध होता है, यह दूसरा अल्पतरबंध है ।

छह को बांधकर उपशांतमोहगुणस्थान अथवा क्षीणमोहगुण-स्थान में एक प्रकृति का बंध करने पर पहले समय में अल्पतरबंध और शेष काल में अवस्थितबंध होता है । यह तीसरा अल्पतर-बंध है ।

इस प्रकार मूलकर्मप्रकृतियों में तीन अल्पतरबंध जानना चाहिये । यहां पर आठ का बंध करके छह तथा एक का बंध रूप और सात का बंध करके एक का बंधरूप अल्पतर बंध नहीं हो सकता है । क्योंकि अप्रमत्त और अनिवृत्तिबादर गुणस्थान से जीव एकदम ग्यारहवें गुण-स्थान में और न अप्रमत्त से एकदम दसवें गुणस्थान में ही जा सकता है । इसीलिये अल्पतर बंध तीन ही हो सकते हैं ।

मूल कर्मप्रकृतियों में अवस्थितबंध चार होते हैं । क्योंकि बंध-स्थान चार हैं और वे चारों बंधस्थान अमुक काल तक निरंतर बंधते हैं । उनका काल इस प्रकार है—आठ के अवस्थितबंध का काल आयु के अन्तर्मुहूर्त काल तक ही बंधने से अन्तर्मुहूर्त है । सात कर्म के बंध का काल अन्तर्मुहूर्तन्यून पूर्वकोटि का तीसरा भाग अधिक छह मास न्यून तेतीस सागरोपम प्रमाण है । जिसका आशय यह है कि कोई पूर्वकोटि की आयु वाला दो भाग जाने के बाद तीसरे भाग के प्रारंभ में नारक या देव की तेतीस सागरोपम प्रमाण आयु बांधे । आयु का बंधकाल अन्तर्मुहूर्त है, जिससे आयु का बंध करने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त न्यून पूर्वकोटि के तीसरे भाग तक सात कर्म का बंध होता है । देव या नारक भव में छह मास शेष रहें, तब परभव की आयु का बंध करता है । छह मास शेष रहें, तब तक आयु के बिना सात कर्म ही बांधता है जिससे पूर्वोक्त बंधकाल कम होता है । छह के बंध का

काल अन्तर्मुहूर्त है। क्योंकि सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है और छह का बंध सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में ही होता है। एक के बंध का काल देशोन पूर्वकोटि है। क्योंकि सयोगिकेवलि गुणस्थान का काल उतना है।

अब अवक्तव्यबंध का विचार प्रारम्भ करते हैं कि मूल कर्मों में अवक्तव्यबंध सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि समस्त मूल कर्मप्रकृतियों का अबंधक होकर कोई पुनः कर्मों का बंध नहीं करता है। सभी मूल प्रकृतियों का अबंधक अयोगिकेवली गुणस्थान में होता है और वहाँ से पतन नहीं होने से अवक्तव्य बंध घटित नहीं होता है।

इस प्रकार बंध में भूयस्कार आदि बंधों को जानना चाहिये। अब बंध की तरह उदय, उदीरणा और सत्ता स्थानों में भी भूयस्कार आदि का कथन करते हैं।

उदय आदि में भूयस्कार आदि निरूपण

भूओगारप्पयरगअव्वत्ता अवट्ठिया जहा बंधे ।

उदओदीरणसंतेसु वावि जहसंभवं नेया ॥१४॥

शब्दार्थ—भूओगारप्पयरग—भूयस्कार, अल्पतर, अव्वत्ता—अवक्तव्य, अवट्ठिया—अवस्थित, जहा—जिस प्रकार से, बंधे—बंध में, उदओदीरण—संतेसु—उदय, उदीरणा, सत्ता में, वावि—भी, जहसंभवं—यथासंभव, नेया—जानना चाहिए।

गाथार्थ—जिस प्रकार से बंध में भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य बतलाये हैं, उसी प्रकार से उदय, उदीरणा और सत्ता में भी यथासंभव जानना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा में बंध की तरह उदयादि में भूयस्कार आदि प्रकारों को घटित करने का निर्देश किया है। जिसका अनुक्रम से उदयादि की अपेक्षा विस्तार से स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उदय—मूल कर्मप्रकृतियों के तीन उदयस्थान हैं—१. आठप्रकृ-

तिक २. सात प्रकृतिक और २. चार प्रकृतिक । इनमें से आठों कर्म का उदय पहले मिथ्यात्वगुणस्थान से लेकर दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान पर्यन्त दस गुणस्थानों में होता है । मोहनीय के बिना सात कर्मों का उदय ग्यारहवें और बारहवें उपशांतमोह, क्षीणमोह गुणस्थान में तथा चार घाति कर्मों के बिना तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में चार अघाति कर्मों का उदय होता है ।^१ यहाँ एक भूयस्कार होता है । क्योंकि उपशांतमोहगुणस्थान में सात का वेदक होकर वहाँ से पतित होने पर पुनः आठ का वेदक होता है । चार का वेदक होकर सात का या आठ कर्म का वेदक नहीं होता है । क्योंकि चार का वेदक सयोगि केवल अवस्था में होता है, किन्तु वहाँ से प्रतिपात होता नहीं जिससे यहाँ एक ही भूयस्कार घटित होता है ।

अल्पतर दो होते हैं । वे इस प्रकार जानना चाहिए कि आठ के उदयस्थान से ग्यारहवें अथवा बारहवें गुणस्थान में जाने पर सात का उदयस्थान प्राप्त होता है और सात के उदयस्थान से जब तेरहवें गुणस्थान में जाता है तब चार का उदयस्थान होता है । इस प्रकार दो अल्पतर घटित होते हैं ।

अवस्थित तीन हैं । क्योंकि तीनों उदयस्थान अमुक काल तक अवस्थित होते हैं । इनमें से आठ का उदयस्थान अभव्य को अनादि-अनन्त है, भव्य को अनादि-सांत और ग्यारहवें गुणस्थान से पतित को देशोन अर्धपुद्गलपरावर्तन पर्यन्त होता है । सात का उदय अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त और चार का उदय देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त होता है ।

१ दिग्म्बर साहित्य में भी इसी प्रकार तीन उदयस्थान और उनके स्वामी बतलाये हैं—

(क) अट्ठदओ सुहुमोत्ति य मोहेण विणा इ संतम्बीणेषु ।

धादिदाराण चउक्कस्सुदओ केवली दुगे णियमा ॥

—गो० कर्मकाण्ड, गाथा ४५४

(ख) दि० पंचसंग्रह शतक अधिकार, गा० २२१

मूल कर्मों के उदयस्थानों में अवक्तव्योदय घटित नहीं होता है । इसका कारण यह है कि समस्त कर्मों का अवेदक होकर पुनः किसी भी कर्म का वेदक नहीं होता है । समस्त कर्म का अवेदक जीव सिद्धावस्था में होता है और वहाँ से पुनः संसार में आगमन नहीं है कि जिससे पुनः कर्म का वेदन किया जाये । इसीलिए मूल कर्मों में अवक्तव्योदय घटित नहीं होता है ।

उदीरणा—अब उदीरणास्थानों में भूयस्कार आदि का विचार करते हैं ।

उदीरणास्थान पाँच हैं—१. आठप्रकृतिक २. सातप्रकृतिक ३. छहप्रकृतिक ४. पाँचप्रकृतिक ५. दोप्रकृतिक । इनमें से जब तक आयु की पर्यन्तावलिका शेष न रही हो, वहाँ तक पहले से छठे गुणस्थान पर्यन्त आठ कर्मों की उदीरणा होती है । अन्तर्मुहूर्त आयुशेष रहे तब जीव तीसरे गुणस्थान से पहले या चौथे गुणस्थान में चले जाने से वहाँ आठ कर्मों की ही उदीरणा होती है । सातवें से दसवें गुणस्थान पर्यन्त वेदनीय और आयु के बिना छह कर्मों की उदीरणा होती है और मोहनीय के बिना ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानों में पाँच कर्मों की उदीरणा होती है और तेरहवें गुणस्थान में नाम एवं गोत्र इन दो कर्मों की उदीरणा होती है ।^१

इन पाँच उदीरणास्थानों में तीन भूयस्कार होते हैं । वे इस प्रकार समझना चाहिए कि—उपशांतमोहगुणस्थान में पाँच कर्म का उदीरक होकर जीव वहाँ से पतित हो सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में आता है तब छह कर्म की उदीरणा होती है, यह पहला भूयस्कार है । वहाँ से पतित होकर प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में आयु की आवलिका शेष

१ दिगम्बर साहित्य में भी इसी प्रकार पाँच उदीरणास्थान बतलाये हैं । देखो—गो० कर्ककाण्ड, गा० ४५५, ४५६ और दि० पंचसंग्रह, शतक अधि-कार, गाथा २१७, २२२-२२६

रहने पर सात का उदीरक होता है, यह दूसरा भूयस्कार है। तत्पश्चात् परभव में आठ का उदीरक हो, यह तीसरा भूयस्कार है। दो-प्रकृतिक स्थान के उदीरक क्षीणमोह और सयोगिकेवलि गुणस्थान है। किन्तु इन दोनों में से पतन नहीं है। इसलिए उसकी अपेक्षा भूयस्कार घटित नहीं होता है। इसी कारण उदीरणास्थानों में तीन ही भूयस्कार प्राप्त होते हैं।

उदीरणास्थानों में अल्पतर चार होते हैं। वे इस प्रकार समझना चाहिये कि आठ का उदीरक सात के, सात का उदीरक छह के, छह का उदीरक पाँच के और पाँच का उदीरक दो के उदीरणास्थान में जाता है। इसलिए अल्पतर चार ही सम्भव हैं। तथा—

अवस्थित पाँचों सम्भव हैं। क्योंकि उदीरणास्थान पाँच हैं। उनमें से तेतीस सागरोपम की आयु वाला देव या नारक अपनी आयु की शेष एक आवलिका न रहे, वहाँ तक आठ कर्म का उदीरक होता है। इसलिए आठ कर्म की उदीरणा का उत्कृष्ट काल आवलिकान्यून तेतीस सागरोपम प्रमाण है। आयु की जब एक आवलिका शेष रहे तब उस आवलिका में सात कर्म की उदीरणा होती है। जिससे सात कर्म की उदीरणा का काल अन्तर्मुहूर्त है। क्षपकश्रेणि में दसवें गुणस्थान की पर्यन्तावलिका में और ग्यारहवें गुणस्थान में मोहनीय के बिना पाँच कर्म की उदीरणा होती है। अतः पाँच की उदीरणा अन्तर्मुहूर्त मात्र होती है तथा सयोगिकेवलिगुणस्थान का देशोत्त पूर्वकोटि काल होने से एवं वहाँ दो कर्म की उदीरणा होने से दो की उदीरणा का काल देशोत्त पूर्वकोटि है। इसलिए उदीरणास्थान पाँच होने से अवस्थित भी पाँच होते हैं।

यहाँ भी अव्यक्तव्य नहीं घटता है। क्योंकि मूलकर्म का सर्वथा अनुदीरक होकर पुनः उदीरक नहीं होता है। सर्व कर्मों के अनुदीरक अयोगिकेवलि भगवान् होते हैं और वहाँ से प्रतिपात होता नहीं है, जिससे अव्यक्तव्य भी नहीं होता है।

सत्ता—सत्तास्थान तीन हैं—१. आठप्रकृतिक २. सातप्रकृतिक ३. चारप्रकृतिक। इनमें से ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त आठों कर्मों की सत्ता होती है। मोह के बिना सात की क्षीणमोहगुणस्थान में और अन्तिम दो गुणस्थानों अर्थात् सयोगि और अयोगि केवल गुणस्थान में चार अर्थात् कर्मों की सत्ता होती है।^१ इसमें एक भी भूयस्कार घटित नहीं होता है। इसका कारण यह है कि सात की सत्ता वाला होकर आठ की सत्ता वाला अथवा चार की सत्ता वाला होकर सात की सत्ता वाला होता ही नहीं है। इसी कारण सत्तास्थानों में एक भी भूयस्कार नहीं होता है क्योंकि सात आदि की सत्ता वाला क्षीणमोहगुणस्थानवर्ती होता है और उसका प्रतिपात नहीं होता है।

इन सत्तास्थानों में अल्पतर दो घटित होते हैं। क्योंकि आठ के सत्तास्थान से सात के और सात के सत्तास्थान से चार के सत्तास्थान में जाता है। इसीलिए दो अल्पतर घटित होते हैं। तथा—

अवस्थित आठ, सात और चार प्रकृतिक ये तीन होते हैं। इनमें से आठ की सत्ता का काल अभव्य के अनादि-अनन्त और भव्य के अनादि-सान्त है। सात की सत्ता क्षीणमोहगुणस्थान में होने और उसका काल अन्तर्मुहूर्त होने से, उसकी सत्ता का भी काल अन्तर्मुहूर्त है तथा चार की सत्ता अन्तिम सयोगिकेवलि और अयोगिकेवलि इन दो गुणस्थानों में होने से और सयोगिकेवलि गुणस्थान का काल देशोन-पूर्वकोटि होने से चार की सत्ता का उत्कृष्टकाल देशोनपूर्वकोटि है।

१ गो० कर्मकाण्ड में भी तीन सत्तास्थान माने हैं—

संतोत्ति अट्ठ सत्ता खीणे सत्तेव होंति सत्ताणि ।

जोगिम्मि अजोगिम्मि य चत्तारि हवन्ति सत्ताणि ॥४५७॥

उपशांतकषयगुणस्थान पर्यन्त आठों प्रकृतियों की सत्ता है। क्षीणमोह-नीयगुणस्थान में मोहनीय के बिना सात कर्मों की और सयोगि, अयोगि केवल इन दोनों गुणस्थानों में चार अर्थात् कर्मों की सत्ता है।

सत्तास्थानों में भी अवक्तव्य घटित नहीं होता है। क्योंकि सर्वथा समस्त कर्मों की सत्ता का नाश होने के पश्चात् पुनः उनकी सत्ता होती ही नहीं है। इसी कारण सत्तास्थानों में अवक्तव्य प्रकार नहीं माना जाता है।

इस प्रकार मूलकर्मों के बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता स्थानों में भूयस्कार आदि का विधान जानना चाहिये।

अब इन्हीं भूयस्कार आदि को अनुक्रम से उत्तरप्रकृतियों के बंध आदि स्थानों में बतलाते हैं। परन्तु उत्तरप्रकृतियों के बंधादि स्थानों को जाने बिना उनके भूयस्कार आदि का विवेचन किया जाना संभव नहीं है। अतः विवेचन की सरलता के लिये प्रत्येक कर्म की उत्तर-प्रकृतियों के बंधादि स्थानों का कथन करते हैं और उसके बाद उनमें भूयस्कार आदि विकल्पों का निर्देश करेंगे।

कर्मों की बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन चार अवस्थाओं में बंध का क्रम पहला होने से अब प्रत्येक कर्म की उत्तरप्रकृतियों के बंध-स्थानों का निर्देश करते हैं।

उत्तरप्रकृतियों के बंधस्थान और उनमें भूयस्कार आदि

बंधट्टाणा तिदसट्ठ दंसणावरणमोहनामाणं ।

सेसाणेगमवट्ठियबंधो सव्वत्थ ठाणासमो ॥१५॥

शब्दार्थ—बंधट्टाणा—बंधस्थान, तिदसट्ठ—तीन, दस और आठ, दंस-णावरणमोहनामाणं—दर्शनावरण, मोहनीय, नाम के, सेसाणेगं—शेष का एक-एक, अवट्ठियबंधो—अवस्थित बंध, सव्वत्थ—सर्वत्र, ठाणासमो—बंधस्थानों के समान ।

माथार्थ—दर्शनावरण, मोहनीय और नाम कर्म के अनुक्रम से तीन, दस और आठ बंधस्थान होते हैं और शेष कर्मों का एक-एक बंधस्थान है तथा अवस्थितबंध सर्वत्र बंधस्थानों के समान (बराबर) होता है।

विशेषार्थ—गाथा में आठ मूल कर्मों की उत्तरप्रकृतियों की अपेक्षा बंधस्थानों की संख्या बतलायी है कि—

दर्शनावरण के बंधस्थान तीन, मोहनीय के बंधस्थान दस और नामकर्म के बंधस्थान आठ हैं तथा इन तीन कर्मों से शेष रहे ज्ञानावरण, अन्तराय, वेदनीय, आयु और गोत्र, इन पांच कर्मों में प्रत्येक का एक-एक बंधस्थान होता है ।^१ तथा जिस कर्म के जितने बंधस्थान होते हैं, उस कर्म के उतने अवस्थितबंध होते हैं । इसीलिये गाथा में संकेत किया है कि अवस्थितबंध सब कर्मों में बंधस्थान के समान होता है । जिसका सविशद स्पष्टीकरण इस प्रकार है ।

दर्शनावरण—इसके तीन बंधस्थान हैं—नौप्रकृतिक, छहप्रकृतिक और चारप्रकृतिक । उनमें से दर्शनावरण कर्म की सभी प्रकृतियों का समूह नौप्रकृतिक बंधस्थान है । स्त्यानद्वित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानद्वि—से रहित छहप्रकृतिक और इसमें से निद्रा-द्विक—निद्रा, प्रचला से रहित चार प्रकृतिक, इस प्रकार तीन बंधस्थान होते हैं ।^२ जिनको इस प्रकार समझना चाहिये कि सासादनगुणस्थान

१ (क) गो. कर्मकांड में भी इसी प्रकार से उत्तरप्रकृतियों के बंधस्थानों का निर्देश किया है—

तिणिणदसअट्ठठाणाणि दंसणावरण मोहणामाणं ।

एत्थेव य भुजगारा सेसेसेयं हवे ठाणं ॥४५८॥

दर्शनावरण, मोह और नाम कर्म के क्रमणः तीन, दस और आठ बंधस्थान होते हैं और इन्हीं में भुजाकार आदि बंध होते हैं । शेष कर्मों में केवल एक-एक ही बंधस्थान होता है ।

(ख) दि. पंचसंग्रह, शतक अधिकार, गाथा २४२

२ गो० कर्मकाण्ड में भी दर्शनावरण के बंधस्थानों और उनके स्वामियों को इसी प्रकार बतलाया है—



तक तो सभी प्रकृतियों का बंध होता है। जिससे सासादनगुणस्थान तक नौप्रकृतिक बंधस्थान पाया जाता है। उसके बाद सासादनगुणस्थान के अन्त में स्त्यानद्वित्रिक के बंध की समाप्ति हो जाती है, अतः आगे सम्यक्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से अपूर्वकरणगुणस्थान के प्रथम भाग तक छहप्रकृतिक बंधस्थान होता है और प्रथम भाग के अन्त में निद्रा और प्रचला के बंध का निरोध हो जाता है अतः अपूर्वकरण गुणस्थान के दूसरे भाग से लेकर दसवें गुणस्थान तक शेष चार ही प्रकृतियों का बंध होता है। इसी कारण दर्शनावरण कर्म के नौ, छह और चार प्रकृतिक ये तीन बंधस्थान होते हैं।

मोहनीय कर्म—इसके दस बंधस्थान हैं—बाईस, इक्कीस, सत्रह, तेरह, नौ, पांच, चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक। इनमें से बाईस का बंधस्थान मिथ्यादृष्टि, इक्कीस का बंधस्थान सासादन, सत्रह का मिश्र और अविरतसम्यग्दृष्टि, तेरह का देशविरत, नौ का प्रमत्त, अप्रमत्त और अपूर्वकरण गुणस्थान में जानना चाहिये एवं पांच से

णव छक्क चटुक्कं च य विदियावरणस्स बंधठाणाणि ।

भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि य जाणाहि ॥४५६॥

णव सासणोत्ति बंधो छच्चेव अपुव्वपदममागोत्ति ।

चत्तारि होत्ति ततो सुहुमकसायस्स चरिमोत्ति ॥४६०॥

अर्थात्—दूसरे दर्शनावरण कर्म के नौ प्रकृति, छह प्रकृति और चार प्रकृति रूप, इस तरह तीन बंधस्थान हैं तथा इनके भुजाकार, अल्पतर और अवस्थित बंध ये तीन बंध होते हैं। अपि शब्द से अवक्तव्यबंध भी होता है।

दर्शनावरण का नौप्रकृतिरूप बंध सासादनगुणस्थान पर्यन्त, उसके बाद ऊपर अपूर्वकरण गुणस्थान के पहले भाग तक छह प्रकृतियों का और उसके बाद सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के अन्त समय तक चार प्रकृतियों का बंध होता है।

एक तक के पांच बंधस्थान अनिवृत्ति-बादरसंपरायगुणस्थान में होते हैं ।^१

मोहनीयकर्मप्रकृतियों के दस बंधस्थान होने का सविगत विवरण इस प्रकार जानना चाहिये—

यद्यपि मोहनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियां अट्ठाईस हैं । लेकिन उनमें से सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वमोहनीय का तो बंध ही नहीं होता है तथा तीन वेदों में से एक समय में एक ही वेद का, हास्य-रति और शोक-अरति, इन दो युगलों में से भी एक समय में एक युगल का बंध होता है । अतः छह प्रकृतियों को कम कर देने पर शेष बाईस प्रकृतियां ही एक समय में बंध को प्राप्त होती हैं । जिनके नाम हैं— मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधिचतुष्क आदि सोलह कषाय, वेदत्रिक में से कोई एक वेद, युगलद्विक में से कोई एक युगल, भय और जुगुप्सा । इस बाईसप्रकृतिक बंधस्थान का बंध केवल पहले मिथ्यात्वगुणस्थान में होता है । दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व के सिवाय शेष इक्कीस प्रकृतियों^२ का, तीसरे और चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबंधिचतुष्क के सिवाय शेष सत्रह प्रकृतियों^३ का, पांचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्याना-

१ गो. कर्मकाण्ड में मोहनीयकर्म के बंधस्थानों और उनके स्वामियों का निर्देश इसी प्रकार है—

बावीसमेकवीसं सत्तारस तेरसेव णव पंच ।

चदुतियदुगं च एकं बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥४६३॥

बावीसमेकवीसं सत्तर सत्तर तेर तिसु णवयं ।

धूले पण चदुतियदुगमेकं मोहस्स ठाणाणि ॥४६४॥

२ यद्यपि यहाँ नपुंसकवेद का बंध नहीं होता है तो भी उसकी पूति स्त्री या पुरुष वेद के बंध से हो जाती है । इसीलिए यहाँ मिथ्यात्व को कम किया है ।

३ इन दोनों गुणस्थानों में स्त्रीवेद का बंध नहीं होता है । पुरुषवेद का बंध होने से यहाँ वेद को ग्रहण किया है । आगे पुरुषवेद की अपेक्षा नौवें गुणस्थान के प्रथम भाग तक वेद का ग्रहण समझना चाहिये ।

वरणचतुष्क का बंध न होने के कारण शेष तेरह प्रकृतियों का ही बंध होता है। छठे, सातवें और आठवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरणचतुष्क का बंध न होने से शेष नौ प्रकृतियों का बंध होता है। आठवें गुणस्थान के अन्त में हास्य, रति, भय, जुगुप्सा का बंधविच्छेद हो जाने से नौवें गुणस्थान के प्रथम भाग में पांच ही प्रकृतियों का, दूसरे भाग में वेद के बंध का अभाव हो जाने से चार का, तीसरे भाग में संज्वलन क्रोध के बंध का अभाव हो जाने के कारण तीन का, चौथे भाग में संज्वलन मान का बंध न होने से दो प्रकृतियों का और पांचवें भाग में संज्वलन माया का भी बंध न होने से केवल एक संज्वलन लोभ का ही बंध होता है और उसके आगे दसवें सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में बंध की कारणभूत बादरकषाय का अभाव होने से उस एक प्रकृति का भी बंध नहीं होता है। इस प्रकार मोहनीय कर्म के बाईसप्रकृतिक आदि एक-प्रकृतिक पर्यन्त दस बंधस्थान जानना चाहिये।

नामकर्म—इसके आठ बंधस्थान हैं—तेईस, पच्चीस, छब्बीस, अट्ठाईस, उनतीस, तीस, इकतीस और एक प्रकृतिक^१। ये बंधस्थान नाना जीवों के आश्रय से अनेक प्रकार के हैं, जिनका स्वयं ग्रन्थकार आगे सप्ततिकासंग्रह में विस्तार से विवेचन करने वाले हैं। किन्तु प्रकृत में आवश्यक होने से संक्षेप में उनका यहाँ निर्देश करते हैं।

नामकर्म की कुल प्रकृतियाँ १०३/९३ हैं और सामान्य से बंध योग्य प्रकृतियाँ सड़सठ (६७) मानी गई हैं। किन्तु उनमें से एक समय में एक जीव के तेईस, पच्चीस आदि प्रकृतियाँ ही बंध को प्राप्त होती

१ दिगम्बर साहित्य में भी नामकर्म के इसी प्रकार आठ बंधस्थान माने हैं—

तेवीसं पणवीसं छब्बीसं अट्ठवीसमुगतीसं ।
तीसेवकतीसमेवं एक्को बंधो दुसेदिहि ॥

—गो. कर्मकाण्ड, गा. ५२१

हैं। जिससे नामकर्म के बंधस्थान आठ होते हैं तथा नामकर्म का बहु-भाग पुद्गलविपाकी है, उसका अधिकतर उपयोग जीवों की शरीर-रचना में होता है। अतः भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा एक ही बंध-स्थान की अवान्तर प्रकृतियों में अन्तर पड़ जाता है।

वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण और उपघात ये नामकर्म की नौ ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियाँ हैं। जिनका चारों गति के जीवों के बंध होता है। इन प्रकृतियों के साथ तिर्यचगतिद्विक, एकेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, हुण्डकसंस्थान, स्थावर, बादर-सूक्ष्म में से एक, प्रत्येक-साधारण में से एक, अपर्याप्त, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति इन चौदह प्रकृतियों को मिलाने से तेईस-प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। यह स्थान एकेन्द्रिय अपर्याप्त-प्रायोग्य प्रकृतियों का बंधक बांधता है।

इन तेईस प्रकृतियों में से अपर्याप्त को कम कर पर्याप्त, उच्छ्वास और पराघात प्रकृति को मिलाने से एकेन्द्रिय पर्याप्त-प्रायोग्य पञ्चीस का स्थान होता है। उनमें से स्थावर, पर्याप्त, एकेन्द्रियजाति, पराघात और उच्छ्वास को कम कर उनके स्थान पर त्रस, अपर्याप्त, द्वीन्द्रियजाति, सेवार्तसंहनन और औदारिक-अंगोपांग के मिलाने से द्वीन्द्रिय अपर्याप्तयोग्य पञ्चीस का स्थान होता है। इनमें से द्वीन्द्रियजाति के स्थान पर त्रीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति के स्थान पर चतुरिन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति के स्थान पर पंचेन्द्रियजाति के मिलाने पर क्रमशः त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय अपर्याप्त-प्रायोग्य पञ्चीस का स्थान होता है तथा इसमें तिर्यचगति के स्थान पर मनुष्यगति के मिलाने से मनुष्य अपर्याप्त-प्रायोग्य पञ्चीस का स्थान होता है।

मनुष्यगति सहित पञ्चीस-प्रकृतिक बंधस्थान में से त्रस, अपर्याप्त, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, सेवार्तसंहनन और औदारिक-अंगोपांग

को घटाकर स्थावर, पर्याप्त, तिर्यचगति, एकेन्द्रियजाति, उच्छ्वास, पराघात और उद्योत-आतप में से किसी एक को मिलाने पर एकेन्द्रिय पर्याप्तप्रायोग्य छब्बीस का स्थान होता है ।

नौ ध्रुवबंधिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर-अस्थिर में से एक, शुभ-अशुभ में से एक, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और अयशः-कीर्ति में से एक, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, प्रथम संस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रिय-अंगोपांग, सुस्वर, प्रशस्तविहायोगति, उच्छ्वास और पराघात इन प्रकृतिरूप देवगति-प्रायोग्य अट्ठाईस का बंधस्थान होता है तथा नौ ध्रुवबंधिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति, नरकगति, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, हुण्डकसंस्थान, नरकानुपूर्वी, वैक्रिय-अंगोपांग, दुःस्वर, अप्रशस्तविहायोगति, उच्छ्वास और पराघात इन प्रकृतिरूप नरकगतिप्रायोग्य अट्ठाईस का बंधस्थान होता है ।

नौ ध्रुवबंधिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर या अस्थिर, शुभ या अशुभ, दुर्भग, अनादेय, यशःकीर्ति या अयशःकीर्ति, तिर्यचगति, द्वीन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, हुण्डकसंस्थान, तिर्यचानुपूर्वी, सेवार्त-संहनन, औदारिक-अंगोपांग, दुःस्वर, अप्रशस्तविहायोगति, उच्छ्वास, पराघात इन प्रकृतिरूप द्वीन्द्रिय पर्याप्तप्रायोग्य उनतीस का बंधस्थान होता है । इसमें द्वीन्द्रिय के स्थान पर त्रीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रिय के स्थान पर चतुरिन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रिय के स्थान पर पंचेन्द्रियजाति के मिलाने से क्रमशः त्रीन्द्रिय पर्याप्त, चतुरिन्द्रिय पर्याप्त, पंचेन्द्रिय पर्याप्त प्रायोग्य उनतीसप्रकृतिक स्थान होता है । परन्तु पंचेन्द्रिय पर्याप्त प्रायोग्य उनतीसप्रकृतिक स्थान की इतनी विशेषता है कि सुभग और दुर्भग, आदेय और अनादेय, सुस्वर और दुःस्वर, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति, इन युगलों में से एक-एक प्रकृति बंधती है तथा छह संस्थानों और छह संहननों में से किसी भी एक संस्थान और

एक संहनन का बंध होता है । इसमें से तिर्यंचगति और तिर्यंचानुपूर्वी को घटाकर मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी के मिलाने से पर्याप्त मनुष्य-योग्य उनतीस का बंधस्थान होता है ।

नौ ध्रुवबंधिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर या अस्थिर, शुभ या अशुभ, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति या अयशःकीर्ति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, प्रथम संस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रिय-अंगो-पांग, सुस्वर, प्रशस्तविहायोगति, उच्छ्वास, पराघात, तीर्थकर, इन प्रकृतिरूप देवगति और तीर्थकर सहित उनतीस का बंधस्थान होता है ।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्तयुत उनतीस के चार बंधस्थानों में उद्योत प्रकृति को मिलाने से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्तयुत तीस के चार बंधस्थान होते हैं । पर्याप्त मनुष्य योग्य उनतीस के बंधस्थान में तीर्थकर प्रकृति को मिलाने से मनुष्यगति सहित तीस का बंधस्थान होता है । देवगति सहित उनतीस के बंधस्थान में से तीर्थकर प्रकृति को कम कर आहारकद्विक को मिलाने से देवगतियुत तीस का बंधस्थान होता है ।

देवगति तीर्थकर सहित उनतीस के बंधस्थान में आहारकद्विक के मिलाने से देवगतियोग्य इकतीस का बंधस्थान होता है ।

एकप्रकृतिक बंधस्थान में केवल एक यशःकीर्ति का ही बंध होता है ।

इस प्रकार नामकर्म के आठ बंधस्थानों का विवरण जानना चाहिये ।^१

१ दि. कर्मसाहित्य में भी चारों गतियों में संभव नामकर्म के बंधस्थानों का वर्णन किया है । देखिये दि. पंचसंग्रह शतक अधिकार गाथा २६१ से ३०४ ।

ज्ञानावरण की पांच प्रकृतियों का समूह रूप तथा अन्तरायकर्म की पांच प्रकृतियों का समूह रूप एक-एक बंधस्थान जानना चाहिये। वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म की एक समय में एक प्रकृति का बंध होता है। इसलिये इन तीनों कर्मों का अपना-अपना एक प्रकृतिरूप एक-एक बंधस्थान होता है। इसलिये इनमें भूयस्कार, अल्पतर बंध संभव नहीं हैं।

अब दर्शनावरण, मोहनीय और नाम कर्म के बंधस्थानों में भूयस्कार आदि बंधप्रकारों को घटित करते हैं। उनमें से सरल और सुबोध होने से पहले अवस्थितबंध को बतलाते हैं कि जिस कर्म की उत्तरप्रकृतियों के जितने बंधस्थान हैं, उतने ही अवस्थितबंध की संख्या समझना चाहिये। जिसका आशय यह हुआ कि दर्शनावरण के तीन बंधस्थानों के तीन अवस्थितबंध, मोहनीय के दस बंधस्थान के दस अवस्थितबंध, नामकर्म के आठ बंधस्थान के आठ अवस्थितबंध तथा ज्ञानावरण, अन्तराय, वेदनीय, आयु और गोत्र इनका एक-एक अवस्थितबंध होता है। इसके लिये स्वयं ग्रंथकार आचार्य ने निर्देश कर दिया है कि—‘अवद्वियबंधो सब्वत्थ ठाणसमो’ अर्थात् अवस्थितबंध बंधस्थानों की संख्या के बराबर जानना चाहिये।

इस प्रकार से उत्तरप्रकृतियों के बंधस्थानों और उनमें अवस्थितबंध को बतलाने के बाद अब उन बंधस्थानों में भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्य बंधों का विवेचन करते हैं।

उत्तरप्रकृतियों के बंधस्थानों में भूयस्कार आदि बंधत्रय

भूओगारा दोनवछयप्पतरा दुगट्ठसत्तकमा ।

मिच्छाओ सासणत्तं न एककीसेक्कगुरु जम्हा ॥१६॥

चउ छ दुइए नामंमि एग गुणतीस तीस अब्वत्ता ।

इग सत्तरस य मोहे एकैक्को तइयवज्जाणं ॥१७॥

शब्दार्थ—भूओगारा—भूयस्कार, दोनवछयप्पतरा—दो, नौ और छह, अल्पतर, दुगद्धसत्त—दो, आठ और सात, कमा—क्रम से मिच्छाओ—मिथ्यात्व से, सासणसं—सासादनत्व, सासादनभाव, न—नहीं, एकतीसेवक—इकतीस से एक, गुरु—गुरु, बड़ा (अधिक), जम्हा—इसलिये ।

चउ—चार, छ—छह, बुइए—दूसरे (दर्शनावरण) कर्म में, नाममि—नाम-कर्म में, एग गुणतीस तीस—एक, उनतीस और तीस, अव्वत्ता—अवक्तव्य, इग सत्तरस्स—एक और सत्रह य—और, मोहे—मोहनीयकर्म में, एक्केवको—एक एक, तइयवज्जाणं—तीसरे वेदनीयकर्म को छोड़कर ।

गाथार्थ—दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्म के भूयस्कार अनु-क्रम से दो, नौ और छह हैं, अल्पतर दो, आठ और सात हैं । मिथ्यात्व से सासादनभाव प्राप्त नहीं होने से मोहनीय के आठ ही अल्पतर हैं और इकतीस के बंध से एक का बंध गुरु नहीं, जिससे नामकर्म के छह भूयस्कार होते हैं ।

दूसरे दर्शनावरणकर्म में चार और छह ये दो अवक्तव्यबंध हैं । नामकर्म में एक, उनतीस और तीस के बंधरूप तीन और मोहनीयकर्म में एक एवं सत्रह के बंधरूप दो अवक्तव्यबंध हैं ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में मूल कर्मों की उत्तरप्रकृतियों के बंधस्थानों में संभव भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्य बंधों को बत-लाया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

दर्शनावरण—इसमें दो भूयस्कार, दो अल्पतर और दो अव-क्तव्य बंध होते हैं । जो इस प्रकार जानना चाहिये कि अपूर्वकरणगुण-स्थान के द्वितीय भाग से लेकर दसवें गुणस्थान तक किसी एक गुण-स्थान में चार प्रकृतियों का बंध करके जब कोई जीव अपूर्वकरण-गुणस्थान के द्वितीय भाग से नीचे (मिश्रगुणस्थान पर्यन्त) आकर छह प्रकृतियों का बंध करता है तो पहला भूयस्कार होता है । यहाँ से

भी गिरकर जब नौ प्रकृतियों का बंध करता है, तब दूसरा भूयस्कार होता है।^१ इस प्रकार दो भूयस्कारबंध जानना चाहिये।

भूयस्कारबंध से विपरीत अल्पतरबंध है। अतः नीचे के गुणस्थानों में नौ प्रकृतियों का बंध करके जब कोई जीव तीसरे आदि गुणस्थानों में छह प्रकृतियों का बंध करता है तो पहला अल्पतरबंध होता है और जब छह का बंध करके चार का बंध करता है तो दूसरा अल्पतर-बंध होता है। इस प्रकार दो अल्पतरबंध जानना चाहिये।

दर्शनावरण कर्म के चारप्रकृतिक और छहप्रकृतिक ये दो अव-
क्तव्यबंध होते हैं—चउ छ दुइए। वे इस प्रकार कि दर्शनावरणकर्म की सभी प्रकृतियों का बंधविच्छेद उपशांतमोहादि गुणस्थानों में होता है, अन्यत्र नहीं। उपशांतमोहगुणस्थान से दो प्रकार से प्रतिपात होता है—१ अदाक्षय से और २ भवक्षय से। अदाक्षय यानी उपशांतमोह-
गुणस्थान का काल पूर्ण होने पर पतन होना और भवक्षय यानी मरण होने पर पतन होना। जो जीव उपशांतमोहगुणस्थान का काल पूर्ण करके गिरता है, वह जिस क्रम से चढ़ा था उसी क्रम से पड़ता है। अर्थात् ग्यारहवें से दसवां, नौवां, आठवां आदि गुणस्थानों का स्पर्श करता हुआ गिरता है और जो जीव ग्यारहवें गुणस्थान में मरण को प्राप्त करता है वह देवायु के पहले समय में अविरतसम्यग्दृष्टि देव होता है। यानी मनुष्यायु के चरम समय पर्यन्त ग्यारहवां गुणस्थान होता है और देवायु के पहले समय में ही चौथा गुणस्थान प्राप्त होता है, मध्य के गुणस्थानों का स्पर्श नहीं करता है। अतः जब उपशांतमोहगुणस्थान का काल पूर्ण करके गिरते हुए दसवें गुणस्थान में प्रवेश करता है तब पहले समय में दर्शनावरण की चार प्रकृतियों का बंध करता है तो वह चारप्रकृतिक बंधरूप पहला अवक्तव्यबंध है तथा जब उपशांत-

१ यह पहले और दूसरे—मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थान में संभव है।

मोहगुणस्थान से भवक्षय होने से गिरते हुए अनुत्तर देवों में उत्पन्न होता है तब पहले समय में चौथे गुणस्थान में दर्शनावरण की छह प्रकृतियों का बंध करने से छह का बंधरूप दूसरा अवक्तव्यबंध होता है । जिससे दर्शनावरणकर्म में दो अवक्तव्यबंध होते हैं ।

इस प्रकार दर्शनावरणकर्म में दो भूयस्कार, दो अल्पतर और दो अवक्तव्य बंध होते हैं तथा बंधस्थान तीन होने से अवस्थितबंध तीन जानना चाहिये ।

मोहनीयकर्म—इसके दस बंधस्थानों में नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर और दो अवक्तव्य बंध होते हैं । जिनका विवरण इस प्रकार है—

एक को बांध कर दो का बंध करने पर पहला भूयस्कारबंध होता है । इसी प्रकार दो को बांध कर तीन का बंध करने पर दूसरा भूयस्कार, तीन को बांध कर चार का बंध करने पर तीसरा, चार को बांध कर पांच का बंध करने पर चौथा, पांच का बंध करके नौ का बंध करने पर पांचवां, नौ का बंध करके तेरह का बंध करने पर छठा, तेरह का बंध करके सत्रह का बंध करने पर सातवां, सत्रह का बंध करके इक्कीस का बंध करने पर आठवां और इक्कीस का बंध करके बाईस का बंध करने पर नौवां भूयस्कारबंध होता है ।

इस प्रकार मोहनीयकर्म के बंधस्थानों में नौ भूयस्कारबंध जानना चाहिये । अल्पतरबंध आठ होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

बाईस का बंध करके सत्रह का बंध करने पर पहला अल्पतरबंध होता है । इसी प्रकार सत्रह का बंध करके तेरह का बंध करने पर दूसरा, तेरह का बंध करके नौ का बंध करने पर तीसरा, नौ का बंध करके पांच का बंध करने पर चौथा, पांच का बंध करके चार का बंध करने पर पांचवां, चार का बंध करके तीन का बंध करने पर छठा, तीन का बंध करके दो का बंध करने पर

सातवां और दो का बंध करके एक का बंध करने पर आठवां अल्पतर-बंध होता है। इस प्रकार मोहनीय के बंधस्थानों के आठ अल्पतरबंध होते हैं।

मोहनीयकर्म के दस बंधस्थान में जैसे भूयस्कारबंध नौ होते हैं, उसी प्रकार अल्पतरबंध नौ न होकर आठ होने का कारण यह है कि 'मिच्छाओ सासणत्तां न' अर्थात् कोई भी जीव मिथ्यात्वगुणस्थान से सासादन में नहीं जाता है, इसलिये आठ अल्पतरबंध होते हैं। यानी जैसे ऊपर के गुणस्थान से पतित होने पर भूयस्कारबंध होता है, उसी प्रकार पहले गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान में चढ़ने पर अल्प बंध करने पर अल्पतरबंध होता है। परन्तु बाईस के बंधस्थान से कोई भी जीव इक्कीस के बंधस्थान में नहीं जाता है। क्योंकि बाईस का बंध मिथ्यादृष्टि के होता है और इक्कीस का बंध सासादनसम्यग्दृष्टि के होता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि सासादन में आता नहीं है, लेकिन सासादन से मिथ्यात्व में ही जाता है, जिससे बाईस के बंध से इक्कीस के बंध में नहीं जाने से अल्पतर आठ ही होते हैं।

उक्त कथन का सारांश यह है कि यदि जीव पहले गुणस्थान से दूसरे गुणस्थान में जाता तो वह इक्कीसप्रकृतिक अल्पतरबंध कर सकता था। परन्तु मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है। क्योंकि सासादनगुणस्थान आरोहण का ज्ञापक नहीं है किन्तु ऊपर के गुणस्थानों से पतन करने वाले जीव की स्थितिविशेष का दर्शक है। उपशमसम्यग्दृष्टि ही सासादनगुणस्थान को प्राप्त करता है।^१

१ कर्मप्रकृति (उपशमनाकरण) और उसकी प्राचीन चूर्णि में इसके कारण का उल्लेख किया है—

छालिगसेसा परं आसाणं कोइ गच्छेज्जा ॥२३॥

उपशमसम्यक्त्व के काल में कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवली शेष रहने पर कोई-कोई उपशमसम्यग्दृष्टि सासादन सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

अतः बाईस का बंध करके इक्कीस का बंधरूप अल्पतरबंध संभव न होने से अल्पतरबंध आठ ही होते हैं ।

मोहनीयकर्म में एक और सत्रह प्रकृतिक बंधरूप दो अवक्तव्यबंध होते हैं—इग सत्तरस य मोहे । जो इस प्रकार समझना चाहिये कि ग्यारहवें उपशान्तमोहगुणस्थान में मोहनीयकर्म का बंध न करके जब कोई जीव उपशान्तमोहगुणस्थान से उसका काल पूर्ण करके क्रमशः च्युत होकर नौवें गुणस्थान में आकर संज्वलन लोभ रूप एक प्रकृति का बंध करता है तब एकप्रकृतिक बंधरूप अवक्तव्यबंध होता है । यदि ग्यारहवें गुणस्थान में भवक्षय हो जाने के कारण मरण करके कोई जीव देवों में जन्म लेता है तब पहले ही समय में अविरतसम्यग्दृष्टि होता है और वहाँ अविरतसम्यग्दृष्टि निमित्तक सत्रह प्रकृतियों का बंध होने से सत्रहप्रकृतिक बंधरूप दूसरा अवक्तव्यबंध होता है ।^१ अतः मोहनीयकर्म में दो अवक्तव्यबंध तथा दस बंधस्थान होने से दस अवस्थितबंध जानना चाहिये ।

इस प्रकार मोहनीयकर्म के दस बंधस्थानों के नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दो अवक्तव्य और दस अवस्थित बंध होते हैं ।

नामकर्म— इसके आठ बंधस्थानों^२ में छह भूयस्कार, सात अल्पतर और तीन अवक्तव्य बंध होते हैं । जिनका विवरण इस प्रकार है—

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में भी मोहनीयकर्म के दो अवक्तव्यबंध माने हैं—

उवरदबंधो हेदुठा एक्कं सत्तरस सुरेसु अवत्तव्वा ।

—दि. पंचसंग्रह, शतक अधिकार गाथा २५५

२ नामकर्म के प्रत्येक बंधस्थान का काल प्रायः अन्तर्मुहूर्त है और प्रायः कहने का कारण है कि युगलिया तीन पत्न्योपम पर्यन्त देवगति-योग्य

—→

तेईस का बंध करके पच्चीस का बंध करना, पच्चीस का बंध करके छब्बीस का बंध करना, छब्बीस का बंध करके अट्ठाईस का बंध करना, अट्ठाईस का बंध करके उनतीस का बंध करना, उनतीस का बंध करके तीस का बंध करना, आहारकद्विक सहित तीस का बंध करके इकतीस का बंध करना, इस प्रकार नाम कर्म के छह भूयस्कारबंध होते हैं। अब अल्पतरबंध बतलाते हैं।

आहारकद्विक और तीर्थंकर नामकर्म सहित देवप्रायोग्य इकतीस प्रकृतियों को बांध कर मरण होने पर देव में जाकर तीर्थंकर नामकर्म सहित मनुष्यगतिप्रायोग्य तीस प्रकृतियों को बांधने पर पहला अल्पतर, देव में से च्युत होकर मनुष्यगति में आकर तीर्थंकर नामकर्म सहित देवगतिप्रायोग्य उनतीस प्रकृतियों को बांधने पर दूसरा अल्पतर, क्षपकश्चे णि या उपशमश्चे णि में आरोहण करते समय अपूर्वकरणगुणस्थान में देवगतियोग्य अट्ठाईस आदि चार बंधस्थानों से एकप्रकृतिक बंधस्थान का बंध करने पर तीसरा अल्पतर, मनुष्यगति या तिर्य्यचगति प्रायोग्य उनतीस प्रकृतियों को बांध कर देव या नरकगति प्रायोग्य अट्ठाईस का बंध करने पर चौथा अल्पतर, अट्ठाईस के बंध से एकैन्द्रियप्रायोग्य छब्बीस का बंध करने पर पांचवां अल्पतर तथा छब्बीस के बंध से पच्चीस का और पच्चीस से तेईस का बंध करने पर छठा और सातवां अल्पतर होता है। इस प्रकार नामकर्म के बंधस्थानों के सात अल्पतरबंध होते हैं।

नामकर्म के आठ बंधस्थानों में सात अल्पतरबंध की तरह भूय-

अट्ठाईस प्रकृतियों का बंध करता है। इसी प्रकार अनुत्तरवासी देव मनुष्यगतियोग्य उनतीस या तीस का बंध तेतीस सागरोपम पर्यन्त करता है। सप्तम पृथ्वी का नारक तिर्य्यचयोग्य उनतीस या उद्योत सहित तीस का बंध तेतीस सागरोपम पर्यन्त करता है। शेष बंधस्थानों का काल अन्तर्मुहूर्त है।

स्कार सात न होकर छह होने का कारण यह है कि इकतीसप्रकृतिक बंधस्थान से उतर कर आठवें गुणस्थान के सातवें भाग में जो एक-प्रकृतिक बंध होता है, वह इकतीस की अपेक्षा बड़ा नहीं है—न एक-तीसेकक गुरु जम्हा । इसीलिये नामकर्म के भूयस्कारबंध छह ही होते हैं ।

प्रश्न—उपशमश्रेणि से गिरते हुए यशःकीर्ति रूप एकप्रकृतिक बंध कर आठवें गुणस्थान के छठे भाग में जीव इकतीस के बंधस्थान में भी जाता है और वह इकतीस का बंध एक प्रकृति की अपेक्षा से भूयस्कार है । अतः सात भूयस्कार मानना युक्तियुक्त ही है । जैसा कि शतक-चूर्णि में बताया है—

‘एक्काओ वि एक्कतीसं जाइत्ति भूयोगारा सत्त ।’ अर्थात् एक के बंध से भी इकतीस के बंध में जाया जाता है, इसलिये भूयस्कार सात हैं ।

उत्तर—यह मंतव्य अयोग्य है । इसका कारण यह है कि अट्ठाईस आदि बंध की अपेक्षा से इकतीस का बंधरूप भूयस्कार पहले ही ग्रहण कर लिया गया है । एक के बंध से इकतीस के बंध में जाये अथवा अट्ठाईस आदि प्रकृति के बंध से इकतीस के बंध में जाये, किन्तु इन दोनों में इकतीस के बंधरूप भूयस्कार का तो एक ही रूप है । अवधि के भेद से भिन्न भूयस्कार की विवक्षा नहीं होती है । यदि अवधि के भेद से भिन्न-भिन्न भूयस्कार की विवक्षा की जाये तो उक्त संख्या से भी अधिक भूयस्कार हो सकते हैं । वे इस प्रकार कि किसी समय अट्ठाईस के बंध से, किसी समय उनतीस के बंध से, किसी समय तीस के बंध से, किसी समय एक प्रकृति के बंध से इकतीस के बंध में जाता है तथा किसी समय तेईस के बंध से अट्ठाईस के बंध में, किसी समय पच्चीस आदि के बंध से अट्ठाईस के बंध में जाता है । इस प्रकार यदि अवधि के भेद से भिन्न-भिन्न भूयस्कारों की विवक्षा की जाये तो सात से

बहुत अधिक भूयस्कार हो सकेंगे। परन्तु यह इष्ट नहीं है। अतः अवधि के भेद से भूयस्कार का भेद नहीं है। इसीलिये छह भूयस्कार संभव हैं।

सारांश यह है कि नौवें गुणस्थान में एक यशःकीर्ति का बंध करके जब कोई जीव वहाँ से च्युत होकर आठवें गुणस्थान में तीस अथवा इकतीस का बंध करता है तो वह पृथक् भूयस्कार नहीं गिना जाता है। क्योंकि उसमें भी तीस अथवा इकतीस का ही बंध करता है और यही बंध पांचवें और छठे भूयस्कारबंधों में भी होता है, जिससे उसे पृथक् नहीं गिना जाता है। इसी कारण छह भूयस्कार माने गये हैं।^१

१ दिगम्बर साहित्य में मोहनीय और नामकर्म के भूयस्कार आदि बंधों के वर्णन में अन्तर है।

गो. कर्मकाण्ड गा. ४६८ से ४७४ तक और दि. पंचसंग्रह शतक अधि- गा. २४६ से २५५ तक मोहनीयकर्म के भूयस्कार आदि बंधों का वर्णन किया है। उसमें २० भूयस्कार, ११ अल्पतर, ३३ अवस्थित और २ अवक्तव्य बंध बतलाये हैं।

इसी प्रकार गो. कर्मकाण्ड गा. ५६५ से ५८२ तक तथा दि. पंचसंग्रह शतक अधिकार गा. २५६ से २६० तक नामकर्म के भूयस्कार आदि बंधों का वर्णन किया है। जिसमें २२ भूयस्कार, २१ अल्पतर, ४६ अवस्थित और ३ अवक्तव्य बंध बतलाये हैं।

यहाँ और कर्मकाण्ड आदि के विवेचन में अन्तर पड़ने का कारण यह है कि यहाँ भूयस्कार आदि बंधों का विवेचन केवल गुणस्थानों से उतरने और चढ़ने की अपेक्षा से किया है। किन्तु कर्मकाण्ड आदि में उक्त दृष्टि के साथ-साथ इस बात का ध्यान रखा गया है कि ऊपर चढ़ते समय जीव किस-किस गुणस्थान से किस-किस गुणस्थान में जा सकता है और उतरते समय किस गुणस्थान से किस-किस गुणस्थान में आ सकता है तथा जितने



अब नामकर्म के अवक्तव्यबंध बतलाते हैं—‘नामंमि एग गुणतीस तीस अव्वत्ता’ अर्थात् नामकर्म में एक, उनतीस और तीस प्रकृति के बंधरूप तीन अवक्तव्यबंध होते हैं। वे इस प्रकार समझना चाहिए—

जब उपशान्तमोहगुणस्थान का काल पूर्ण कर च्युत होने पर दसवें गुणस्थान में आकर पहले समय में एक यशःकीर्ति का बंध करता है तब एकप्रकृतिक बंधरूप पहला अवक्तव्यबंध होता है तथा भवक्षय होने पर च्युत होकर देवरूप से उत्पन्न होता है तब वहाँ पहले समय में मनुष्यगतिप्रायोग्य उनतीस प्रकृतियों का बंध करने पर उनतीस प्रकृति रूप दूसरा अवक्तव्यबंध और कोई जीव तीर्थंकर प्रकृति का निकाचित बंधकर उपशमश्रेणि पर आरूढ़ होकर ग्यारहवें गुणस्थान में मरण को प्राप्त हो देव रूप से उत्पन्न होता है तब वहाँ पहले समय में तीर्थंकर नामकर्म सहित मनुष्यगतिप्रायोग्य तीस प्रकृतियों का बंध करने से तीसप्रकृतिक बंधरूप तीसरा अवक्तव्यबंध होता है। इसीलिए नामकर्म के बंधस्थानों में तीन अवक्तव्यबंध माने गये हैं^१ तथा नाम कर्म के बंधस्थान आठ होने से अवस्थितबंध आठ जानना चाहिये।

इस प्रकार से दर्शनावरण, मोहनीय और नाम कर्म की उत्तरप्रकृतियों के बंधस्थानों के भूयस्कार, अल्पतर, अवक्तव्य और अवस्थित बंधों का विचार करने के बाद अब शेष रहे वेदनीय आदि पांच कर्मों की उत्तरप्रकृतियों के बंधों को बतलाते हैं। इन कर्मों के भूयस्कार

प्रकृतिक स्थान को बांधकर जितने प्रकृतिक स्थानों का बंध संभव है और उन स्थानों के जितने भंग हो सकते हैं उन सब की अपेक्षा से भूयस्कार आदि को बतलाया है। इसके सिवाय मरने की अपेक्षा से भी भूयस्कार आदि गिनाये हैं।

संक्षिप्त सारांश परिशिष्ट में देखिये।

१ उवरदबंधो हेट्ठा एककं देवेसु तीसमुगुनीसा।

—दि. पंचसंग्रह, शतक अधिकार गा. २६०

और अल्पतर बंध तो होते नहीं हैं और अब रहे अवस्थित एवं अव-
क्तव्य बंध, सो उनमें भी इनका एक-एक बंधस्थान होने से एक-एक
अवस्थितबंध जानना चाहिए किन्तु अवक्तव्यबंध इस प्रकार हैं—

‘एकैकको तद्व्यवजाणं’—अर्थात् तीसरे वेदनीयकर्म को छोड़कर
शेष ज्ञानावरण, अन्तराय, आयु और गोत्र इन चार कर्मों में एक-एक
अवक्तव्यबंध होता है। उनमें से ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म में
उपशान्तमोहगुणस्थान से अद्धाक्षय या भवक्षय से गिरकर पांच-पांच
प्रकृतियों का बंध करने पर पहले समय में पांच पांच प्रकृतिक बंध
रूप एक-एक अवक्तव्यबंध होता है तथा उपशान्तमोहगुणस्थान से
अद्धाक्षय या भवक्षय से गिरने पर उच्चगोत्र का बंध करने पर पहले
समय में उच्चगोत्र का बंध रूप गोत्रकर्म में एक अवक्तव्य बंध होता
है। आयु के बंध के प्रारम्भ में चार आयु में से किसी भी एक आयु
का बंध करने पर पहले समय में उस एक आयु का बंध रूप अवक्तव्य-
बंध होता है। लेकिन वेदनीयकर्म में अवक्तव्यबंध सर्वथा घटित
नहीं होता है। क्योंकि वेदनीयकर्म का बंधविच्छेद होने के बाद पुनः
बंध होता नहीं है। वेदनीय कर्म का बंध-विच्छेद अयोगि-अवस्था में
होता है और वहाँ से प्रतिपात होता नहीं कि जिससे पुनः बंध का
प्रारम्भ सम्भव हो। इस प्रकार सर्वथा बंध का विच्छेद होने के बाद
बंध का प्रारम्भ नहीं होने से वेदनीयकर्म में अवक्तव्य सम्भव नहीं
होने से उसका निषेध किया है। वेदनीयकर्म में तो मात्र अवस्थितबंध
ही घटित होता है।

इन ज्ञानावरण आदि कर्मों के अवस्थितबंध में से ज्ञानावरण,
अन्तराय और गोत्र कर्म का मूल कर्म-आश्रित अवस्थितबंध अभव्य
की अपेक्षा अनादि-अनन्त, और भव्य की उपेक्षा अनादि-सांत एवं
सादि-सांत है। वेदनीयकर्म का भी अवस्थितबंध इसी प्रकार अभव्य
की अपेक्षा अनादि-अनन्त और भव्य की अपेक्षा अनादि-सांत है और
आयुकर्म का अवस्थितबंध मात्र अन्तर्मुहूर्त ही है।

बन्धस्थानों में भूयस्कार आदि जानना चाहिए । अब सामान्यतः सभी उत्तरप्रकृतियों के बन्धस्थानों में भूयस्कार आदि का निर्देश करने के लिए पहले उनके बन्धस्थानों का निरूपण करते हैं ।

समस्त उत्तरप्रकृतियों के बन्धस्थान

इगसयरेगुत्तर जा दुवीस छव्वीस तह तिपन्नाइं ।

जा चोवत्तरि बावट्ठरहिय बन्धाओ गुणतीसं ॥१८॥

शब्दार्थ—इगसयरेगुत्तर—एक, सत्रह और एक-एक अधिक, जा—पर्यन्त, तक, दुवीस—बाईस, छव्वीस—छब्बीस, तह—तथा, तिपन्नाइं—त्रेपन आदि, जा—तक, चोवत्तरि—चौहत्तर, बावट्ठरहिय—बासठ से रहित, बन्धाओ—बन्ध के, गुणतीसं—उनतीस ।

गाथार्थ—एक, सत्रह और उससे एक-एक अधिक करते हुए बाईस तक के पांच तथा छब्बीस और त्रेपन से एक-एक अधिक करते हुए और बासठ को छोड़कर चौहत्तर तक के इक्कीस, इस प्रकार सभी प्रकृतियों के उनतीस बन्धस्थान होते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में सामान्य से सभी कर्मों की उत्तरप्रकृतियों के बन्धस्थान बतलाये हैं कि वे उनतीस होते हैं । उन उनतीस बन्धस्थानों में समाविष्ट प्रकृतियों की संख्या इस प्रकार है—

एक, सत्रह और उसके बाद एक-एक अधिक करते हुए बाईस तक पांच अर्थात् अठारह, उन्नीस, बीस इक्कीस, बाईस तथा छब्बीस और उसके बाद त्रेपन से प्रारम्भ कर एक-एक अधिक बढ़ाते हुए और बीच में बासठ का स्थान छोड़कर^१ चौहत्तर तक इक्कीस बन्धस्थान

१ किसी भी प्रकार से किसी भी प्रकृति के कम-बढ़ न होने से बासठप्रकृतिक बन्धस्थान सर्वथा सम्भव नहीं होने से उसमें भूयस्कार आदि बन्धों का विचार नहीं किया जाता है ।

अर्थात् त्रेपन, चौपन, पचपन, छप्पन, सत्तावन, अट्ठावन, उनसठ, साठ, इकसठ, त्रेसठ, चौंसठ, पैंसठ, छियासठ, सड़सठ, अड़सठ, उनहत्तर, सत्तर, इकहत्तर, बहत्तर, तिहत्तर और चौहत्तर। इस प्रकार कुल मिलाकर $(१+१+५+१+२१=२९)$ उनतीस बंधस्थान सभी कर्मों की उत्तरप्रकृतियों के जानना चाहिए। अंकानुसार वे इस प्रकार हैं—१, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २६, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, कुल २९।

अब इन बंधस्थानों में भूयस्कार आदि घटित करते हैं।

भूयस्कारबंध—इन उनतीस बंधस्थानों में अट्ठाईस भूयस्कार होते हैं। वे इस प्रकार जानना चाहिये—

१—एक प्रकृतिक बंधस्थान उपशान्तमोहादि गुणस्थान में होता है। जब उपशान्तमोहगुणस्थान से च्युत होकर सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में आता है तब ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, यशःकीर्ति और उच्चगोत्र इन सोलह प्रकृतियों को अधिक बांधने पर सत्रह कर्मप्रकृतिक बंधरूप पहला भूयस्कार होता है।

२—सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान से च्युत होकर अनिवृत्तिबादरगुणस्थान में प्रवेश करने पर प्रारम्भ में संज्वलन लोभ का अधिक बन्ध होने से अठारहप्रकृतिक बंधरूप दूसरा भूयस्कार होता है।

३—उसके बाद उसी गुणस्थान में संज्वलन माया का भी बंध होने से उन्नीसप्रकृतिक बंधरूप तीसरा भूयस्कार जानना चाहिए।

४—तत्पश्चात् उसी गुणस्थान में संज्वलन मान का अधिक बंध होने से बीसप्रकृतिक बंधरूप चौथा भूयस्कार है।

५—तदनन्तर उसी गुणस्थान में संज्वलन क्रोध का अधिक बंध होने से इक्कीसप्रकृतिक बंधरूप पांचवां भूयस्कार है।

६—वहाँ से च्युत होने पर उसी गुणस्थान में पुरुषवेद का अधिक बांध होने पर बाईसप्रकृतिक बांधरूप छठा भूयस्कार होता है ।

७—तत्पश्चात् अनुक्रम से अपूर्वकरणगुणस्थान में प्रवेश करने पर भय, जुगुप्सा, हास्य और रति इन चार प्रकृतियों को अधिक बांधने पर छब्बीसप्रकृतिक बांधरूप सातवां भूयस्कार होता है ।

८—इसी गुणस्थान में पूर्व से उतरकर नामकर्म की देवगति-प्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधने पर परन्तु पूर्वोक्त छब्बीस प्रकृतियों में यशःकीर्ति का समावेश होने से उस एक को कम करके शेष सत्ताईस प्रकृतियों को मिलाने से त्रैपनप्रकृतिक बांधरूप आठवां भूयस्कार होता है ।

९—तीर्थकरनामकर्म सहित देवगति-प्रायोग्य उनतीस प्रकृतियों को बांधने पर चौपनप्रकृतिक बांधरूप नौवां भूयस्कार होता है ।

१०—आहारकद्विक सहित देवगति-प्रायोग्य तीस प्रकृतियों को बांधने पर पचपनप्रकृतिक बांधरूप दसवां भूयस्कार होता है ।

११—आहारकद्विक और तीर्थकरनाम सहित इकतीस प्रकृतियों को बांधने पर छप्पनप्रकृतिक बांधरूप ग्यारहवां भूयस्कार होता है ।

१२—तत्पश्चात् नीचे उतरने पर इसी गुणस्थान में नामकर्म की तीस प्रकृतियों के साथ निद्राद्विक को बांधने पर सत्तावनप्रकृतिक बांधरूप बारहवां भूयस्कार होता है ।

१३—नामकर्म की इकतीस प्रकृतियों के साथ निद्राद्विक को बांधने पर अट्ठावनप्रकृतिक बांधरूप तेरहवां भूयस्कार होता है ।

१४—तत्पश्चात् अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में प्राप्त हुई देवायु के साथ पूर्वोक्त अट्ठावन प्रकृतियों को बांधने पर उनसठप्रकृतिक बांधरूप चौदहवां भूयस्कार जानना चाहिये । ये उनसठ प्रकृतियां इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणषट्क, एक वेदनीय, नौ मोहनीय, एक आयु, एक गोत्र, अंतरायपंचक और नामकर्म की इकतीस प्रकृतियां ।

१५—वहाँ से देशविरतगुणस्थान में आकर नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधने के साथ प्रत्याख्यानावरणचतुष्क अधिक बांधने पर साठप्रकृतिक बंधरूप पन्द्रहवां भूयस्कार होता है ।

१६—तीर्थंकरनाम सहित नामकर्म की उनतीस प्रकृतियों को बांधने पर इकसठप्रकृतिक बंधरूप सोलहवां भूयस्कार होता है । वे इकसठ प्रकृतियां इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणषट्क, एक वेदनीय, मोहनीय तेरह, आयु एक, गोत्र एक, अन्तरायपंचक और नामकर्म की उनतीस प्रकृतियां ।

१७—वहाँ से अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान में आकर नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधने और आयु का बंध न करने एवं अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क अधिक बांधने पर त्रैसठ प्रकृतियों का बंधरूप सत्रहवां भूयस्कार होता है । यहाँ पूर्वोक्त इकसठ में से आयु और तीर्थंकरनाम को कम करके अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क को जोड़ने से त्रैसठ प्रकृतियां होती हैं । जो इस प्रकार जानना चाहिये—ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणषट्क, एक वेदनीय, सत्रह मोहनीय, एक गोत्र, अंतरायपंचक और नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियां ।

१८—उसी अविरतसम्यग्दृष्टि के नामकर्म की उनतीस प्रकृतियों को बांधने पर चौंसठप्रकृतिक बंधरूप अठारहवां भूयस्कार होता है ।

१९—उसी अविरतसम्यग्दृष्टि के देवगति में मनुष्यगति-प्रायोग्य नामकर्म की तीस प्रकृतियों के बंध होने पर पैंसठप्रकृतिक बंधरूप उन्नीसवां भूयस्कार होता है ।

२०—उसी जीव के आयु का बंध करने पर छियासठप्रकृतिक बंधरूप बीसवां भूयस्कार जानना चाहिये । वे छियासठ प्रकृतियां इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणषट्क, एक वेदनीय, सत्रह मोहनीय, एक आयु, एक गोत्र, अंतरायपंचक और नामकर्म की तीस प्रकृतियां ।

२१—उस चौथे अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान से च्युत होकर मिथ्यात्व में गये हुए को नामकर्म की तेईस प्रकृतियों और आयु का भी बंध करने एवं मिथ्यात्वमोहनीय, अनन्तानुबंधोचतुष्क तथा स्थानाद्वित्रिक अधिक बंधने पर सड़सठप्रकृतिक बंधरूप इक्कीसवां भूयस्कार होता है ।

२२—इसी मिथ्यादृष्टि के नामकर्म की पच्चीस प्रकृतियों का बंध करने और आयु का बंध नहीं करने से अड़सठप्रकृतिक बंधरूप बाईसवां भूयस्कार होता है ।

२३—उसी पच्चीस के बंधक के आयु का बंध करने पर उनहत्तर-प्रकृतिक बंधरूप तेईसवां भूयस्कार होता है ।

२४—मिथ्यादृष्टि के नामकर्म की छब्बीस प्रकृतियों का बंध होने पर सत्तरप्रकृतिक बंधरूप चौबीसवां भूयस्कार होता है ।

२५—नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों का बंध करने और आयु का बंध नहीं करने पर इकहत्तरप्रकृतिक बंधरूप पच्चीसवां भूयस्कार होता है ।

२६—उसी के आयु का बंध करने पर बहत्तरप्रकृतिक बंधरूप छब्बीसवां भूयस्कार होता है ।

२७—नामकर्म की उनतीस प्रकृतियों का बंध करने पर तिहत्तर-प्रकृतिक बंधरूप सत्ताईसवां भूयस्कार होता है ।

२८—उसी मिथ्यादृष्टि के नामकर्म की तिर्यचगति-प्रयोग्य तीस प्रकृतियों का बंध होने पर चौहत्तरप्रकृतिक बंधरूप अट्ठाईसवां भूयस्कार जानना चाहिये । चौहत्तर प्रकृतियां इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, एक वेदनीय, मोहनीय बाईस, आयु एक, गोत्र एक, अंतरायपंचक और नामकर्म की तीस प्रकृतियाँ। अधिक से अधिक एक समय में एक जीव के चौहत्तर प्रकृतियों का बंध होता है।

पूर्वोक्त भूयस्कारों में से कितने ही भूयस्कार अन्यान्य बंधस्थानों की अपेक्षा से अनेक बार होते हैं, परन्तु उनका एक बार ग्रहण हो जाने और अवधि के भेद से भूयस्कार के भेदों की विवक्षा नहीं होने से उनको यहाँ गिना नहीं है। परन्तु इतना ध्यान में रखना चाहिये कि एक भूयस्कार अनेक प्रकार से भी होता है। किन्तु मूल में भूयस्कार तो अट्ठाईस ही होते हैं।

इस प्रकार सामान्यापेक्षा सभी कर्मों की उत्तरप्रकृतियों के बंधस्थानों के भूयस्कारबंध जानना चाहिये। अब इन्हीं बंधस्थानों में अल्पतरबंध का विचार करते हैं।

अल्पतरबंध—जिस क्रम से प्रकृतियों की वृद्धि करके भूयस्कार-बंध का निर्देश किया, उसी क्रम से पश्चानुपूर्वी के क्रम से प्रकृतियों को कम करने पर अल्पतरबंध होते हैं। अतएव उनतीस बंधस्थानों में अट्ठाईस अल्पतरबंध जानना चाहिए। क्रमानुसार जो इस प्रकार हैं—

१-२—ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, एक वेदनीय, बाईस मोहनीय, एक आयु, तीस नामकर्म, एक गोत्र और अन्तरायपंचक, इन चौहत्तर प्रकृतियों का बंध करके उनमें से आयु या उद्योत प्रकृति को कम करके बांधने पर तिहत्तरप्रकृतिक पहला और दोनों को न बांधने पर बहत्तरप्रकृतिक दूसरा अल्पतरबंध होता है।

३—नामकर्म की अट्ठाईस और शेष छह कर्म की तेतालीस कुल इकहत्तर प्रकृतियों को बांधने पर तीसरा अल्पतर होता है।

४—एकेन्द्रिय-योग्य नामकर्म की छब्बीस, आयु और शेष छह कर्मों की तेतालीस इस प्रकार सत्तर प्रकृतियों को बांधने पर चौथा अल्पतर होता है।

५—पूर्वोक्त सत्तर प्रकृतियों में से आयु रहित उनहत्तर प्रकृतियों को बांधने पर पांचवां अल्पतर होता है ।

६—एकेन्द्रियादि योग्य पच्चीस और शेष छह कर्म की तेतालीस इस प्रकार अड़सठ प्रकृतियों को बांधने पर छठा अल्पतर होता है ।

७—आयु के साथ-साथ सात कर्म की चवालीस और एकेन्द्रिय-योग्य नामकर्म की तेईस प्रकृतियां इस प्रकार सड़सठ प्रकृतियां बांधने पर सातवां अल्पतर होता है ।

८—पूर्वोक्त में से आयु के बिना छियासठ प्रकृतियों को बांधने पर आठवां अल्पतर जानना चाहिए । वे छियासठ प्रकृतियां इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणपंचक, एक वेदनीय, बाईस मोहनीय, तेईस नामकर्म, एक गोत्र और अन्तरायपंचक ।

९—चौथे अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान में ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणषट्क, एक वेदनीय, सत्रह मोहनीय, एक आयु, एक गोत्र, अन्तरायपंचक और नामकर्म की देवगति-योग्य तीर्थकरनाम सहित उनतीस, इस प्रकार पैंसठ प्रकृतियों को बांधने पर नौवां अल्पतर होता है ।

१०-११—पूर्वोक्त में से तीर्थकरनाम और आयु इन दोनों में से एक कम करके चौंसठ और दोनों कम करके त्रेसठ प्रकृतियों को बांधने पर चौंसठप्रकृतिक और त्रेसठप्रकृतिक दसवां और ग्यारहवां अल्पतर होता है ।

१२—पांचवें गुणस्थान में ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणषट्क, एक वेदनीय, तेरह मोहनीय, एक आयु, एक गोत्र, अन्तरायपंचक और नामकर्म की उनतीस, इस प्रकार इकसठ प्रकृतियों को बांधने पर बारहवां अल्पतर होता है ।

१३-१४—पूर्वोक्त में से तीर्थकर और आयु में से एक-एक कम

करने पर साठ का और दोनों को कम करने पर उनसठ का बंधरूप तेरहवां और चौदहवां अल्पतर होता है ।

१५-१८—सातवें गुणस्थान में ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणषट्क, एक वेदनीय, नौ मोहनीय, एक आयु, अन्तरायपंचक और तीर्थकर-नाम एवं आहारकद्विक सहित नामकर्म की इकतीस प्रकृतियां, इस प्रकार अट्ठावन प्रकृतियों का बंध होने पर पन्द्रहवां और तीर्थकरनाम के बंध बिना सत्तावन प्रकृतियों का बंध करने पर सोलहवां, तीर्थकरनाम का बंध और आहारकद्विक को नहीं बांधकर छप्पन प्रकृतियों का बंध होने पर सत्रहवां तथा तीनों के बिना पचपन का बंध होने पर अठारहवां अल्पतर जानना चाहिये ।

१६-२०—आठवें गुणस्थान में ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, एक वेदनीय, नौ मोहनीय, एक गोत्र, अन्तरायपंचक और नामकर्म की तीर्थकरनाम के साथ देवगति-प्रायोग्य उनतीस इस प्रकार चौपन प्रकृतियों का बंध होने पर उन्नीसवां एवं तीर्थकरनाम के बिना त्रेपन प्रकृतियों का बंध होने पर बीसवां अल्पतर होता है ।

२१—आठवें गुणस्थान के सातवें भाग में ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, एक वेदनीय, नौ मोहनीय, एक गोत्र, अन्तरायपंचक और नामकर्म की यशःकीर्ति रूप एक, इस प्रकार छब्बीस प्रकृतियों का बंध होने पर इक्कीसवां अल्पतर होता है ।

२२-२८—नौवें गुणस्थान में ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, एक वेदनीय, पांच मोहनीय, एक नाम, एक गोत्र और अन्तरायपंचक इस प्रकार बाईस प्रकृतियों का बंध होने पर बाईसवां अल्पतर, पुरुष-वेद बिना इक्कीस का बंध होने पर तेईसवां अल्पतर, संज्वलन क्रोध बिना बीस का बंध होने पर चौबीसवां अल्पतर, मान के बिना उन्नीस प्रकृतियों का बंध होने पर पच्चीसवां अल्पतर, माया के बिना अठारह प्रकृतियों का बंध होने पर छब्बीसवां अल्पतर, लोभ के बिना दसवें

गुणस्थान में सत्रह प्रकृतियों का बंध होने पर सत्ताईसवां अल्पतर एवं ग्यारहवें गुणस्थान में एक सातावेदनीय का बंध होने से अट्ठाईसवां अल्पतर होता है ।

इस प्रकार सामान्य से सभी कर्मों की उत्तरप्रकृतियों के बंधस्थानों में अट्ठाईस अल्पतरबंध जानना चाहिये ।

अवस्थित और अवक्तव्य बंध—‘बंधस्थानों के समान सर्वत्र अवस्थित बंध होते हैं’ इस नियम के अनुसार अवस्थितबंध उनतीस हैं तथा यहाँ अवक्तव्यबंध घटित नहीं होता है । इसका कारण यह है कि समस्त उत्तरप्रकृतियों का अबंध अयोगिवेल्लिगुणस्थान में होता है, किन्तु वहाँ से प्रतिपात नहीं होने से अवक्तव्यबंध घटित नहीं होता है ।

इस प्रकार से ज्ञानावरणादि कर्मों की अपनी-अपनी उत्तरप्रकृतियों के और सामान्य से सभी उत्तरप्रकृतियों के बंधस्थानों में भूयस्कार आदि बंध जानना चाहिये । अब उदयस्थानों में भूयस्कार आदि के विचार का अवसर प्राप्त है । यह विचार दो प्रकारों से किया जायेगा । पहला ज्ञानावरणादि एक-एक कर्म की उत्तरप्रकृतियों के उदयस्थानों की अपेक्षा से और दूसरा सामान्य से सभी प्रकृतियों के उदयस्थानों की अपेक्षा । उनमें से पहले एक-एक ज्ञानावरणादि कर्मों की उत्तरप्रकृतियों के उदयस्थानों का विचार करते हैं ।

ज्ञानावरणादि की उत्तरप्रकृतियों के उदयस्थान

ज्ञानावरण, वेदनीय, आयु, गोत्र और अन्तराय इन पांचों कर्मों में एक-एक उदयस्थान होता है । जो इस प्रकार समझना चाहिये—

ज्ञानावरण और अन्तराय इन दोनों कर्मों की पांचों उत्तरप्रकृतियों का प्रति समय उदय होने से पांच-पांच प्रकृतियों का समूह रूप एक-एक उदयस्थान है तथा वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म की एक-एक प्रकृति ही उदयप्राप्त होने से उनका एक-एक उदयस्थान जानना

चाहिये। क्योंकि इनकी उत्तरप्रकृतियां परस्पर परावर्तमान होने से एक साथ दो, तीन उदय को प्राप्त नहीं होती हैं, किन्तु एक समय में किसी एक का ही उदय होता है।

दर्शनावरण—दर्शनावरणकर्म के दो उदयस्थान हैं—चारप्रकृतिक और पांचप्रकृतिक। यदि चार हों तो चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शनावरण ये चार प्रकृतियां और यदि पांच हों तो पांच निद्राओं में से किसी एक निद्रा को मिलाने पर पांच प्रकृतियां उदय में होती हैं। परन्तु निद्राएँ अध्रुवोदया हैं और परस्पर विरुद्ध होने से किसी समय निद्रा का उदय नहीं भी होता है और जब हो तब पांच में से किसी एक का उदय होता है। जिससे दर्शनावरणकर्म के यही दो उदयस्थान सम्भव हैं।^१

दर्शनावरणकर्म के इन दो उदयस्थानों में से चार से पांच के उदय में जाने पर एक भूयस्कार और पांच से चार के उदय में जाने पर एक अल्पतर होता है। अवस्थितोदय दो हैं क्योंकि दोनों उदय-

१ गो. कर्मकाण्ड गा० ४६१ में दर्शनावरणकर्म के उदयस्थानों और उनके स्वामियों को विशेषता के साथ स्पष्ट करते हुए इस प्रकार बतलाया है—

स्त्रीणोत्ति चारि उदया पंचसु णिदासु दोसु णिदासु ।

एवके उदयं पत्ते स्त्रीणदुचरिमोत्ति पंचुदया ॥ ४६१ ॥

अर्थात् दर्शनावरण की चक्षुदर्शनावरणादि चार प्रकृतियों का उदय रूप स्थान जागृतावस्थान वाले क्षीणकषायगुणस्थान पर्यन्त होता है और निद्रावान जीव के प्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त पांच निद्राओं में से एक का उदय होने पर पांच प्रकृति रूप स्थान तथा क्षीणकषाय के अन्त के समीप के समय तक निद्रा और प्रचला इन दो निद्राओं में से एक का उदय होने पर दर्शनावरण का पांच प्रकृति रूप उदयस्थान जानना चाहिए।

स्थान अमुक काल तक उदय में प्रवर्तमान रहते हैं । अवक्तव्योदय सर्वथा घटित नहीं होता है । क्योंकि दर्शनावरणकर्म की सभी प्रकृतियों का उदयविच्छेद क्षीणमोहगुणस्थान में होता है, किन्तु वहाँ से पतन नहीं होने के कारण पुनः उसकी किसी भी प्रकृति का उदय नहीं होता है ।

मोहनीय—मोहनीयकर्म के नौ उदयस्थान हैं—एकप्रकृतिक, दो-प्रकृतिक, चारप्रकृतिक, पांचप्रकृतिक, छहप्रकृतिक, सातप्रकृतिक, आठप्रकृतिक, नौप्रकृतिक और दसप्रकृतिक ।^१ इन सभी उदयस्थानों का आगे सप्ततिकाप्रकरण में विस्तार से विचार किया जा रहा है । लेकिन प्रासंगिक होने के कारण एवं सरलता से समझने ने लिये संक्षेप में यहाँ उनका निर्देश करते हैं—

जहाँ केवल चार संज्वलन कषायों में से किसी एक प्रकृति का उदय रहता है, वहाँ एकप्रकृतिक उदयस्थान होता है । इसमें तीन वेदों में से किसी एक को मिलाने पर दोप्रकृतिक, इसमें हास्य-रति-युगल अथवा अरति-शोकयुगल में से किसी एक युगल को मिलाने पर चारप्रकृतिक, इसमें भयप्रकृति को मिला देने पर पांचप्रकृतिक, इसमें जुगुप्सा प्रकृति को मिला देने पर छहप्रकृतिक, इसमें प्रत्याख्यानारण-कषाय की किसी एक प्रकृति को मिला देने पर सातप्रकृतिक, इसमें अप्रत्याख्यानारणकषाय की एक प्रकृति को मिला देने पर आठ-प्रकृतिक, इसमें अनन्तानुबन्धकषायचतुष्क में से किसी एक प्रकृति को मिला देने पर नौप्रकृतिक और इसमें मिथ्यात्व को मिला देने पर दसप्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

यह कथन सामान्य से किया गया है । इसलिये इन उदयस्थानों में संभव विकल्पों को न बताकर सूचनामात्र की है । अब इन उदय-

१ दिगम्बर परम्परा में भी इसी प्रकार मोहनीयकर्म के नौ उदयस्थान बताये हैं । गो. कर्मकाण्ड गा. ४७५ ।

स्थानों में भूयस्कर आदि प्रकारों का निर्देश करते हैं कि इन नौ स्थानों में आठ भूयस्कार, आठ अल्पतर, नौ अवस्थित तथा पांच अवक्तव्योदय होते हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मोहनीय के नौ उदयस्थानों में एक के उदयस्थान से उत्तरोत्तर क्रमशः दो आदि के उदयस्थान में जाने पर आठ भूयस्कार होते हैं तथा इसी प्रकार दस आदि उदयस्थान से नौ आदि के उदयस्थानों में क्रमशः नीचे-नीचे आने पर आठ अल्पतर समझ लेना चाहिये तथा उदयस्थानों के नौ होने से अवस्थितोदय नौ हैं। क्योंकि प्रत्येक उदय-स्थान अमुक काल तक उदय में हो सकता है।

अवक्तव्योदय पांच हैं—एक, छह, सात, आठ और नौ प्रकृतिक। इनमें से उपशांतमोहगुणस्थान से अद्धाक्षय से च्युत होकर सूक्ष्मसंप-रायगुणस्थान में प्रवेश करने पर प्रथम समय में संज्वलन लोभ का उदय होता है, तब पहले समय में संज्वलन लोभरूप एकप्रकृतिक अवक्तव्योदय होता है। जब उपशांतमोहगुणस्थान से भवक्षय होने के कारण च्युत होकर अविरतसम्यग्दृष्टि देव होता है, तब पहले समय में यदि वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो और भय, जुगुप्सा का उदय न हो तो उस पहले समय में अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोधादि में से किन्हीं भी क्रोधादि तीन, पुरुषवेद और हास्य-रति युगल^१ ये छह प्रकृतियां उदय में आती हैं। इस प्रकार छह प्रकृति का उदय रूप दूसरा अवक्तव्योदय होता है। यदि वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि न हो तो पहले समय में सम्यक्त्वमोहनीय का वेदन करता है।^२

१ देवगति में भव के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त हास्य-रति का ही उदय होता है। इसीलिये यहाँ हास्य-रति ये दो प्रकृतियां ग्रहण की हैं।

२ किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का मत है कि ग्यारहवें गुणस्थान से जो भवक्षय से गिरता है वह अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है और भव के प्रथम समय

जिससे सम्यक्त्वमोहनीय सहित सात प्रकृत्यात्मक तीसरा अवक्तव्योदय होता है । अथवा यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो और भय या जुगुप्सा इन दो में से किसी भी एक का अनुभव करे तो भी सात प्रकृति का उदय रूप तीसरा अवक्तव्योदय होता है तथा जब क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि भय या जुगुप्सा इन दो में से किसी भी एक का अनुभव करे तब अथवा क्षायिकसम्यग्दृष्टि भय और जुगुप्सा इन दोनों का युगपत् अनुभव करे तब आठप्रकृतिक उदयरूप चौथा अवक्तव्योदय होता है । क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि भय और जुगुप्सा इन दोनों का एक साथ अनुभव करता हो तब नौप्रकृतिक उदयरूप पांचवां अवक्तव्योदय होता है ।

इस प्रकार मोहनीयकर्म के पांच अवक्तव्योदय जानना चाहिये और इसके साथ ही मोहनीयकर्म के उदयस्थान एवं उनमें भूयस्कार आदि उदयों का कथन पूर्ण होता है ।

नामकर्म—अब नामकर्म के उदयस्थान और उनमें भूयस्कार आदि उदयों का विवेचन करते हैं ।

नामकर्म के बारह उदयस्थान इस प्रकार हैं—१—बीसप्रकृतिक
२—इक्कीसप्रकृतिक ३—चौबीसप्रकृतिक ४—पच्चीसप्रकृतिक
५—छब्बीसप्रकृतिक ६—सत्ताईसप्रकृतिक ७—अट्ठाईसप्रकृतिक

में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है । पूर्वभव की उपशमश्रेणि का सम्यक्त्व यहाँ नहीं लाता है । इसलिये लिखा है कि जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि न हो तो वह पहले समय में सम्यक्त्वमोहनीय का वेदन करता है तथा एक ऐसा भी मत है कि उपशमश्रेणि का उपशमसम्यक्त्व लेकर अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है, उसके अनुसार उदयस्थान और अवक्तव्योदय क्षायिक सम्यग्दृष्टि की तरह धटित होता है ।

८—उनतीसप्रकृतिक ९—तीसप्रकृतिक १०—इक्कीसप्रकृतिक ११—नौप्रकृतिक और १२—आठप्रकृतिक ^१ जो इस प्रकार हैं—

१—नामकर्म की बारह ध्रुवोदया प्रकृतियों में मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय और यशःकीर्ति इन आठ प्रकृतियों को मिलाने से बीसप्रकृतिक उदयस्थान बनता है। यह उदयस्थान समुद्धातगत अतीर्थकेवलि के कर्मणकाययोग के समय होता है।

नामकर्म के इक्कीसप्रकृतिक आदि उदयस्थान अनेक जीवों की अपेक्षा अनेक प्रकार से बनते हैं। जो इस प्रकार जानना चाहिये।

२—(क) नामकर्म की बारह ध्रुवोदया प्रकृतियों के साथ तिर्यंचगतिद्विक, स्थावर, एकेन्द्रियजाति, बादर-सूक्ष्म में से एक, पर्याप्त-अपर्याप्त में से एक, दुर्भग, अनादेय तथा यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में से कोई एक, इन नौ प्रकृतियों को मिलाने पर इक्कीसप्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह उदयस्थान भव के अन्तरालगति में विद्यमान एकेन्द्रिय जीव के होता है।

(ख) ध्रुवोदया बारह प्रकृतियों के साथ तिर्यंचगतिद्विक, द्वीन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त में से कोई एक, दुर्भग, अनादेय तथा यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में से कोई एक, इन नौ प्रकृतियों के मिलाने पर इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह उदयस्थान भव के अपान्तराल में विद्यमान द्वीन्द्रिय जीव के प्राप्त होता है।

इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों का भी इक्कीसप्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये किन्तु द्वीन्द्रियजाति के स्थान पर

१ गो. कर्मकाण्ड गाथा ५६२ में भी नामकर्म के इसी प्रकार से बारह उदयस्थान बताये हैं—

वीसं इगच्चउवीसं तत्तो इगितीसओत्तिद्विएयधियं ।

उदयट्ठाणा एवं णव अट्ठ य होति णामस्स ॥

त्रीन्द्रिय जीवों के लिये त्रीन्द्रियजाति का और चतुरिन्द्रिय जीवों के लिये चतुरिन्द्रियजाति का उल्लेख करना चाहिये ।

(ग) ध्रुवोदया बारह प्रकृतियों के साथ तिर्यचगतिद्विक, पंचेन्द्रिय-जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त में से एक, सुभग-दुर्भग में से एक, आदेय-अनादेय में से एक, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में से एक, इन नौ प्रकृतियों को मिलाने पर इक्कीसप्रकृतिक उदयस्थान होता है । यह उदयस्थान भव के अपान्तरालगति में विद्यमान तिर्यचपंचेन्द्रिय के होता है ।

(घ) तिर्यचपंचेन्द्रिय के समान सामान्य मनुष्य का इक्कीसप्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये । किन्तु मनुष्य के लिए तिर्यचगतिद्विक के स्थान में मनुष्यगतिद्विक का उदय कहना चाहिये । शेष प्रकृतियों के नाम पूर्ववत् हैं ।

(ङ) पूर्व में बताये गये अतीर्थकेवली के बीसप्रकृतिक उदयस्थान में तीर्थकर प्रकृति को मिला देने पर इक्कीसप्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(च) नामकर्म की ध्रुवोदया बारह प्रकृतियों के साथ देवगतिद्विक, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग-दुर्भग में से एक, आदेय-अनादेय में से एक, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में से एक, इन नौ प्रकृतियों को मिलाने पर देवगति-प्रायोग्य इक्कीसप्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(छ) नामकर्म की ध्रुवोदया बारह प्रकृतियों के साथ नरकगतिद्विक, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, दुर्भग, अनादेय और अयशः-कीर्ति इन नौ प्रकृतियों को मिलाने पर नरकगति-प्रायोग्य इक्कीस-प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

३—पूर्वोक्त एकेन्द्रिय-प्रायोग्य इक्कीसप्रकृतिक उदयस्थान में से तिर्यचगत्यानुपूर्वी को कम करके औदारिकशरीर, हुण्डसंस्थान, उप-घात और प्रत्येक-साधारण में से कोई एक, इन चार प्रकृतियों को

मिला देने पर चौबीसप्रकृतिक उदयस्थान होता है । यह स्थान शरीरस्थ एकेन्द्रिय जीव के जानना चाहिये ।

वायुकायिक जीव भी एकेन्द्रिय हैं । उनके वैक्रियशरीर को करते समय औदारिकशरीर के स्थान में वैक्रियशरीर होता है । अतः उनके औदारिकशरीर के स्थान पर वैक्रियशरीर के साथ भी चौबीसप्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये तथा उनके मात्र बादर, पर्याप्त, प्रत्येक और अयशःकीर्ति ये प्रकृतियाँ ही कहना चाहिये । क्योंकि तेज और वायुकायिक जीवों के साधारण और यशःकीर्ति का उदय नहीं होता है ।

४—(क) शरीरस्थ एकेन्द्रिय जीव के चौबीसप्रकृतिक उदयस्थान में शरीरपर्याप्त से पर्याप्त हो जाने के बाद पराघात प्रकृति को मिला देने पर पञ्चीसप्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(ख) पूर्व में कहे गये तिर्यचपंचेन्द्रिय के इक्कीसप्रकृतिक उदयस्थान में वैक्रियशरीर को करने वाले तिर्यचपंचेन्द्रियों की अपेक्षा वैक्रियशरीर, वैक्रिय-अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, उपघात और प्रत्येक इन पांच प्रकृतियों को मिलाने और तिर्यचगत्यानुपूर्वी को कम करने पर पञ्चीसप्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(ग) नामकर्म की बारह ध्रुवोदया प्रकृतियों के साथ मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियद्विक, समचतुरस्रसंस्थान, उपघात, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, सुभग-दुर्भग में से एक, आदेय-अनादेय में से एक, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में से एक इन तेरह प्रकृतियों को मिलाने से वैक्रियशरीर को करने वाले मनुष्यों की अपेक्षा पञ्चीसप्रकृतिक उदयस्थान होता है ।^१

१ गो कर्मकाण्ड में वैक्रियशरीर और वैक्रिय-अंगोपांग का उदय देव, नारकों के ही बताया है, मनुष्य-तिर्यचों के नहीं । इसलिये वहाँ वैक्रियशरीर की अपेक्षा मनुष्यों, वायुकायिक और पंचेन्द्रियतिर्यचों में उदयस्थानों का निर्देश नहीं किया है ।

(घ) पूर्व में कही गई मनुष्यगति में उदययोग्य इक्कीस प्रकृतियों के साथ आहारकद्विक, समचतुरस्रसंस्थान, उपघात और प्रत्येक इन पांच प्रकृतियों को मिलाने और मनुष्यगत्यानुपूर्वी को कम करने पर आहारक संयतों की अपेक्षा पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(ङ) पूर्व में देवों में कहे गये इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान में से देवगत्यानुपूर्वी को कम करके वैक्रियद्विक, उपघात, प्रत्येक और समचतुरस्रसंस्थान इन पांच प्रकृतियों को मिलाने पर शरीरस्थ देव की अपेक्षा पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(च) शरीरस्थ नारक की अपेक्षा पूर्वोक्त इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थानों में से नरकगत्यानुपूर्वी को कम करके वैक्रियशरीरद्विक, हुण्डसंस्थान, उपघात और प्रत्येक इन पांच प्रकृतियों को मिलाने पर पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

५—(क) एकेन्द्रियप्रायोग्य पूर्वोक्त पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान में प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्ति हुए जीव की अपेक्षा उच्छ्वासनाम को मिलाने पर छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है । अथवा शरीरपर्याप्ति से पर्याप्ति हुए जीव के उच्छ्वास का उदय न होकर आतप और उद्योत में से किसी एक का उदय होता है तब उसके भी छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है तथा बादर वायुकायिक के वैक्रियशरीर को करते समय उच्छ्वासपर्याप्ति से पर्याप्ति होने पर पच्चीस प्रकृतियों में उच्छ्वास के मिलाने पर छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(ख) द्वीन्द्रियप्रायोग्य इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान में औदारिकद्विक, हुण्डसंस्थान, सेवार्तसंहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियों को मिलाने एवं त्रियचगत्यानुपूर्वी को कम करने पर शरीरस्थ द्वीन्द्रिय जीव की अपेक्षा छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है । इसी प्रकार शरीरस्थ त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव की अपेक्षा भी छब्बीस

प्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये। किन्तु द्वीन्द्रियजाति के स्थान पर त्रीन्द्रिय के लिये त्रीन्द्रियजाति और चतुरिन्द्रिय के लिये चतुरिन्द्रिय-जाति कहना चाहिए।

(ग) तिर्यचपंचेन्द्रियप्रायोग्य इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान में से तिर्यचगत्यानुपूर्वी को कम करके औदारिकद्विक, छह संस्थानों में से कोई एक संस्थान, छह संहननों में से कोई एक संहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियों को मिलाने से शरीरस्थ तिर्यचपंचेन्द्रिय योग्य छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(घ) पूर्वोक्त तिर्यचपंचेन्द्रियप्रायोग्य छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान की तरह सामान्य मनुष्य का छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान समझना चाहिये। यहाँ मनुष्यगत्यानुपूर्वी को कम कर औदारिकद्विक आदि छह प्रकृतियां मिलाना चाहिये।

(ङ) पूर्व में कहे गये अतीर्थ केवली के बीस प्रकृतिक उदयस्थान में भी औदारिकशरीर, औदारिकअंगोपांग, छह संस्थानों में से कोई एक संस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियों को मिलाने से भी मनुष्यप्रायोग्य छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह स्थान अतीर्थकर केवली के औदारिकमिश्रकाय-योग के समय होता है।

६—(क) एकेन्द्रियप्रायोग्य छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान में प्राणा-पानपर्याप्ति से पर्याप्त जीव के आतप और उद्योत में से किसी एक प्रकृति को मिलाने से सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(ख) वैक्रियशरीर को करने वाले तिर्यच पंचेन्द्रिय जीवों के पचवीस प्रकृतिक उदयस्थान में शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवों के पराघात और प्रशस्त विहायोगति के मिलाने से सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(ग) वैक्रियशरीर करने वाले मनुष्यों के पच्चीस प्रकृतिक उदय-स्थान में शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवों के पराघात और प्रशस्त-विहायोगति के मिलाने से मनुष्यों की अपेक्षा सत्ताईस प्रकृतिक उदय-स्थान जानना चाहिये ।

(घ) आहारक संयत के पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान में शरीर-पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के पराघात और प्रशस्त विहायोगति इन दो प्रकृतियों के मिलाने से आहारक मनुष्यों की अपेक्षा सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(ङ) अतीर्थकर केवली के छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान में तीर्थकर प्रकृति को मिलाने से भी सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये ।

(च) देवों के पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान में शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के पराघात और प्रशस्त विहायोगति के मिलाने से देवों की अपेक्षा सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(छ) नारकों के पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान में शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के पराघात और अप्रशस्त विहायोगति के मिलाने से नारकों की अपेक्षा सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

७—(क) शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए द्वीन्द्रिय जीवों के पूर्वोक्त छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान में अप्रशस्त विहायोगति और पराघात इन दो प्रकृतियों को मिलाने से द्वीन्द्रियप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है । इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों का भी अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये । किन्तु वहाँ त्रीन्द्रिय-जाति, चतुरिन्द्रियजाति कहना चाहिये ।

(ख) तिर्यच पंचेन्द्रियों के छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान में शरीर-पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवों की अपेक्षा पराघात और प्रशस्त और

अप्रशस्त विहायोगति में से कोई एक को मिलाने पर अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(ग) वैक्रियशरीर को करने वाले तिर्यच पंचेन्द्रिय जीवों के सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान में प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवों के उच्छ्वास को मिला देने पर अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है । अथवा शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के यदि उद्योत का उदय हो तो भी अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(घ) तिर्यच पंचेन्द्रिय के अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान की तरह सामान्य मनुष्य का भी अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये । किन्तु तिर्यचगतिद्विक के स्थान पर मनुष्यगतिद्विक कहना चाहिये ।

(ङ) वैक्रियशरीर को करने वाले मनुष्य के सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान में प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास मिलाने पर अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है । अथवा उत्तर वैक्रिय-शरीर को करने वाले संयतों के शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त होने पर पूर्वोक्त सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत को मिलाने से अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(च) आहारक संयतों के सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान में प्राणापान-पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास को मिलाने से अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है । अथवा शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त जीव के पूर्वोक्त सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत को मिलाने पर अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(छ) अतीर्थकर केवली के उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान में से उच्छ्वास का निरोध होने पर उसे कम करने से अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(ज) देवों के सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान में प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवों के उच्छ्वास को मिला देने पर अट्ठाईस प्रकृतिक

उदयस्थान होता है । अथवा शरीरपर्याप्ति से पर्याप्ति हुए जीवों के पूर्वोक्त सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत को मिलाने पर अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(झ) नरकगतिप्रायोग्य सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान में प्राणापान-पर्याप्ति से पर्याप्ति हुए जीव के उच्छ्वास को मिला देने पर अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

८—(क) द्वीन्द्रिय जीवों के अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान में श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति से पर्याप्ति होने पर उच्छ्वास प्रकृति को मिलाने पर उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है । अथवा शरीर-पर्याप्ति से पर्याप्ति हुए जीव के उद्योत का उदय होने पर उच्छ्वास के बिना उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है । इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों का भी उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये । किन्तु वहाँ त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के लिए क्रमशः त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति कहना चाहिये ।

(ख) तिर्यंच पंचेन्द्रिय के अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान में प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्ति हुए जीव की अपेक्षा उच्छ्वास को मिला देने पर उनतीस प्रकृतियों का उदयस्थान होता है । अथवा शरीरपर्याप्ति से पर्याप्ति हुए जीव के उच्छ्वास का उदय न होने से उसके स्थान पर उद्योत को मिला देने पर उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(ग) वैक्रियशरीर को करने वाले तिर्यंच पंचेन्द्रियों के भाषा-पर्याप्ति से पर्याप्ति हुए जीव की उच्छ्वास सहित अट्ठाईस प्रकृतियों में सुस्वर को मिलाने पर अथवा प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्ति हुए जीव के उच्छ्वास सहित अट्ठाईस प्रकृतियों में उद्योत को मिलाने से उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(घ) तिर्यंच पंचेन्द्रिय के उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान की तरह सामान्य मनुष्य का भी उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान समझना चाहिये ।

परन्तु तिर्य्यचगतिद्विक के स्थान पर मनुष्यगतिद्विक कहना चाहिये । यहाँ उद्योत का उदय नहीं होता है ।

(ङ) वैक्रियशरीर करने वाले मनुष्य के भाषापर्याप्ति से पर्याप्त होने पर उच्छ्वास सहित अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान में सुस्वर को मिलाने पर उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है । अथवा संयतों के स्वर के स्थान पर उद्योत को मिलाने से उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(च) भाषापर्याप्ति से पर्याप्त हुए आहारक संयत जीव के उच्छ्वास सहित अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान में सुस्वर के मिलाने से अथवा प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के स्वर के स्थान पर उद्योत को मिलाने से उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(छ) अतीर्थकर केवली के तीर्थकर नाम का उदय नहीं होता है । अतः तीस प्रकृतिक उदयस्थान में से तीर्थकर नाम को कम करने पर उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है तथा तीर्थकर केवली जब उच्छ्वास का निरोध करते हैं तब उच्छ्वास का उदय नहीं रहता, जिससे उनके तीस प्रकृतिक उदयस्थान में से उच्छ्वास को कम करने पर उनके उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(ज) भाषापर्याप्ति से पर्याप्त हुए देवों के उच्छ्वास सहित अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान में सुस्वर को मिलाने से उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है । अथवा प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त हुए के उच्छ्वास सहित अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत को मिलाने से उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(झ) भाषापर्याप्ति से पर्याप्त हुए नारक के अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान में दुःस्वर को मिला देने पर उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

६—(क) भाषापर्याप्ति से पर्याप्ति हुए द्वीन्द्रिय जीव के उच्छ्वास सहित उनतीस प्रकृतियों में सुस्वर या दुःस्वर को मिलाने से तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। अथवा प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्ति हुए के स्वर का उदय न होकर यदि उद्योत का उदय हो गया हो तो भी तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के लिए भी जानना चाहिये।

(ख) तिर्यच पंचेन्द्रिय जीव के उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान में भाषापर्याप्ति से पर्याप्ति हुए के सुस्वर या दुःस्वर के मिलाने से तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। अथवा प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्ति के उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत को मिला देने पर तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(ग) वैक्रियशरीर करने वाले तिर्यच पंचेन्द्रिय के सुस्वर सहित उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत को मिलाने पर तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(घ) सामान्य मनुष्यों के भी पंचेन्द्रिय तिर्यच के समान तीस प्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये। परन्तु यहाँ उद्योत रहित कहना चाहिये। क्योंकि वैक्रिय और आहारक संयतों के सिवाय सामान्य मनुष्य के उद्योत का उदय नहीं होता है तथा तिर्यचगतिद्विक के स्थान पर मनुष्यगतिद्विक कहना चाहिये।

(ङ) वैक्रिय शरीर को करने वाले मनुष्यों के सुस्वर सहित उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान में संयतों के उद्योत का उदय होने से उसको मिलाने पर तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(च) आहारक संयतों में भाषापर्याप्ति से पर्याप्ति हुए जीव के स्वर सहित उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत को मिलाने पर तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।^१

१ दिगम्बर पंचसंग्रह सप्ततिका अधिकार गा. १७० में आहारक शरीर के उदय वाले विशेष मनुष्यों के २५, २७, २८ और २९ प्रकृतिक ये चार

(छ) अतीर्थकर केवली के छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान में पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त अथवा अप्रशस्त विहायोगति में से एक, सुस्वर-दुःस्वर में से एक इस प्रकार चार प्रकृतियों को मिलाने से तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह अतीर्थकर सयोगिकेवली के औदारिककाय-योग के समय होता है तथा जब तीर्थकर केवली वाग्योग का निरोध करते हैं तब उनके स्वर का उदय नहीं होता है, अतः उनके इकतीस प्रकृतिक उदयस्थान में से एक प्रकृति कम कर देने पर तीर्थकर केवली के तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(ज) भाषापर्याप्ति से पर्याप्ति हुए देव के सुस्वर सहित उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत के मिलाने पर तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

१०—(क) द्वीन्द्रिय जीवों के स्वर सहित तीस प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत को मिलाने पर इकतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के लिए भी इसी प्रकार जानना चाहिये। किन्तु त्रीन्द्रियजाति और चतुरिन्द्रियजाति का उल्लेख करना चाहिये।

उदयस्थान बतलाये हैं। इसका कारण गो. कर्मकाण्ड गा २६७ से ज्ञात होता है कि पांचवें गुणस्थान तक के जीवों के ही उद्योत प्रकृति का उदय होता है तथा उसी की गाथा २८६ से यह भी ज्ञात होता है कि उद्योत का उदय तिर्यचगति में ही होता है। इसी से आहारक संयतों के २५, २७, २८ और २९ प्रकृतिक ये चार उदयस्थान बतलाये हैं। इनमें से २५ और २७ प्रकृतिक उदयस्थान तो यहाँ बतलाये गये अनुसार जानना चाहिये और २८ प्रकृतिक उदयस्थान उच्छ्वासप्रकृति के उदय से और २९ प्रकृतिक उदयस्थान सुस्वरप्रकृति के उदय से होता है।

एमेवट्ठावीसं आणापज्जत्तयस्स उत्सासं ॥

एमेऊणत्तीसं भासापज्जत्तयस्स सुस्सरयं ॥

—दि. पंचसंग्रह सप्ततिका अधिकार गा. १७४, १७५

(ख) तीर्थंच पंचेन्द्रियों के स्वर सहित तीस प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत को मिलाने पर इकतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(ग) अतीर्थकर केवली के तीस प्रकृतिक उदयस्थान में तीर्थकर-नाम को मिलाने पर केवली भगवान के इकतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है । यह स्थान तीर्थकर सयोगिकेवली के औदारिककाययोग के समय होता है ।

११—तीर्थकर केवली के मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और तीर्थकरनाम यह नौ प्रकृतिक उदयस्थान है । जो अयोगिकेवलीगुणस्थान में प्राप्त होता है ।

१२—पूर्वोक्त नौ प्रकृतिक उदयस्थान में से तीर्थकरनाम को कम कर देने पर आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है । यह अतीर्थकर केवली के अयोगिकेवलीगुणस्थान में प्राप्त होता है ।

इस प्रकार नामकर्म के बारह उदयस्थान विभिन्न जीवों की अपेक्षा अनेक प्रकार से बनते हैं ।^१ अब इन बारह उदयस्थानों में भूयस्कार आदि उदयों का विचार करते हैं ।

भूयस्कारोदय—नामकर्म के बारह उदयस्थानों में आठ भूयस्कार होते हैं । क्योंकि बीस के उदयस्थान से इक्कीस के उदयस्थान में, आठ

१ नामकर्म के उपर्युक्त २०, २१ आदि प्रकृतिक बारह उदयस्थानों के स्वामियों का गो. कर्मकांड गाथा ५६३ से ५६८ तक सामान्य और विशेष से कथन किया है । जिसका संक्षिप्त सारांश इस प्रकार है—

२१ के स्थान के चारों गति के जीव स्वामी हैं, २४ के एकेन्द्रिय, २५ के विशेष मनुष्य, देव, नारक, एकेन्द्रिय; २६ के एकेन्द्रिय आदि पंचेन्द्रिय तक सामान्य जीव; २७ के विशेष पुरुष, देव, नारक, एकेन्द्रिय; २८ और २९ के सामान्य पुरुष, पंचेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, विशेष पुरुष, देव और नारक; ३० के पंचेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा ६ और ८ के स्थान के अयोगिकेवली स्वामी हैं ।

के उदयस्थान से नौ के उदयस्थान में एवं नौ के उदयस्थान से बीस के उदयस्थान में कोई नहीं जाता है। क्योंकि बीस और आठ का उदयस्थान सामान्य केवली के और नौ का उदयस्थान तीर्थंकर केवली के होता है। सामान्य केवली के उदयस्थान से तीर्थंकर केवली के उदयस्थान में अथवा तीर्थंकर केवली के उदयस्थान से सामान्य केवली के उदयस्थान में कोई भी जीव जाने वाला न होने से उनके भूयस्कार नहीं होते हैं। किन्तु इक्कीस के उदयस्थान से प्रारम्भ कर यथायोग्य रीति से ससार में अथवा समुद्रघात में चौबीस आदि उदयस्थान में जाते हैं। अतएव आठ भूयस्कार होते हैं।

भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा स्वामित्व इस प्रकार है—

एकेन्द्रिय के उदययोग्य २१ आदि पांच स्थान, मनुष्य के उदययोग्य २१, २६ और २८ आदि तीन स्थान, इस तरह पांच स्थान हैं। सकलेन्द्रिय (पंचेन्द्रिय), विकलेन्द्रिय तिर्यंचों के उदययोग्य २१, २६ और २८ आदि तीन स्थान और भाषापर्याप्ति में ३१ का स्थान, इस प्रकार छह स्थान हैं। देव, नारक, आहारक और केवलसहित विशेष मनुष्य के २१, २५ तथा २७ आदि तीन, इस प्रकार पांच स्थान, समुद्रघातकेवली के मनुष्य की तरह २१ में से २० का ही स्थान होता है, क्योंकि आनुपूर्वी कम हो जाती है तथा तीर्थंकर समुद्रघात केवली के तीर्थंकर प्रकृति बढ़ने से २१ का स्थान होता है, इस प्रकार केवली के २० और २१ के दो स्थान उदययोग्य हैं और विग्रहगति के कार्मण में २१ का ही स्थान होता है, मिश्र-शरीरकाल में २४ आदि चार स्थान, शरीरपर्याप्तिकाल में २५ आदि के पांच स्थान, श्वासोच्छ्वासपर्याप्तिकाल में २६ आदि के पांच स्थान, भाषा-पर्याप्तिकाल में २६ आदि तीन स्थान उदययोग्य हैं और अयोगि में तीर्थंकर के ६ का और सामान्य केवली के ८ का ये दो स्थान उदययोग्य हैं।

दिगम्बर पंचसंग्रह सप्ततिका अधिकार गाथा ६७ से २०७ तक विस्तार से चौदह भागणाओं की अपेक्षा नामकर्म के उदयस्थानों के स्वामियों का वर्णन किया है।

अल्पतरोदय—नामकर्म के बारह उदयस्थानों में नौ अल्पतरोदय हैं। इसका कारण यह है कि कोई भी जीव नौ के उदयस्थान से आठ के उदयस्थान में एवं इक्कीस के उदयस्थान से बीस के उदयस्थान में नहीं जाता है। क्योंकि नौ और इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान तीर्थकर के होता है, वे सामान्य केवली के उदयस्थान में जाते नहीं, इसलिए ये दो अल्पतरोदय घटित नहीं होते हैं^१ तथा कोई भी जीव पच्चीस के उदयस्थान से चौबीस के उदयस्थान में नहीं जाता है। क्योंकि संसारी जीव अपर्याप्त अवस्था में चौबीस के उदय से पच्चीस के उदयस्थान में प्रवेश करता है, परन्तु पच्चीस के उदयस्थान से चौबीस के उदयस्थान में नहीं आता है। जिससे अल्पतरोदय नौ होते हैं।

अब यह विचार करते हैं कि ये अल्पतरोदय तीर्थकर और सामान्य केवली के समुद्घात और अयोगि दशा प्राप्त होने पर किस तरह होते हैं।

स्वभावस्थ सामान्यकेवली के मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सौभाग्य, यशःकीर्ति, आदेय, अगुरुलघु, निर्माण, तैजस, कर्मण, वर्णचतुष्क, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, वज्रऋषभनाराच-संहनन, उपघात, प्रत्येक, औदारिकद्विक, छह संस्थान में से कोई एक संस्थान, पराघात, उच्छ्वास, अन्यतर विहायोगति, सुस्वर-दुःस्वर में से एक, इन तीस प्रकृतियों का और तीर्थकरकेवली के तीर्थकर-नाम सहित इक्कीस प्रकृतियों का उदय होता है। जब ये समुद्घात में प्रवृत्त होते हैं तब समुद्घात करते सामान्यकेवली के दूसरे समय में औदारिकमिश्रकाययोग में वर्तमान रहते पराघात, उच्छ्वास, अन्यतर

- १ उक्त कथन का यह भाव हुआ कि आठ प्रकृतिक और बीस प्रकृतिक रूप दो अल्पतरोदय घटित नहीं होते हैं। परन्तु यहीं आगे ये दोनों अल्पतर घटित किये हैं। अतएव इस परस्पर विरुद्धकथन को विद्वज्जन स्पष्ट करने की कृपा करें।

विहायोगति और सुस्वर-दुःस्वर में से कोई एक इस तरह चार प्रकृतियों के उदय का निरोध होने पर छब्बीस का उदय होता है और तीर्थंकर के पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति और सुस्वर का निरोध होने पर सत्ताईस का उदय होता है। इस प्रकार तीस और इक्कीस के उदय से छब्बीस और सत्ताईस के उदय में जाने पर छब्बीस का उदयरूप और सत्ताईस का उदयरूप ये दो अल्पतर होते हैं तथा समुद्घात में प्रविष्ट अतीर्थंकरकेवली के तीसरे समय में कार्मणकाय-योग में रहते उदयप्राप्त संस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, औदारिकद्विक, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियों का रोध होने पर बीस का उदय होता है और तीर्थंकरकेवली के उस समय उक्त छह प्रकृतियों के उदय का रोध होने पर इक्कीस का उदय होता है। इस प्रकार छब्बीस और सत्ताईस के उदय से बीस और इक्कीस के उदय में जाने पर बीस और इक्कीस के उदय रूप दो अल्पतर होते हैं। इस प्रकार समुद्घात अवस्था में चार अल्पतर होते हैं। तथा—

अयोगिपने को प्राप्त करने पर तीर्थंकरकेवली को योग के रोध-काल में पूर्वोक्त इक्कीस प्रकृतियों में से स्वर का उदय रुकने पर तीस का और उसके बाद उच्छ्वास का उदय रुकने पर उनतीस का उदय होता है तथा सामान्यकेवली के पूर्वोक्त तीस प्रकृतियों में से स्वर के उदय का रोध होने पर उनतीस का और उच्छ्वास के उदय का रोध हो तब अट्ठाईस का उदय होता है। इस प्रकार तीर्थंकर की अपेक्षा तीस और उनतीस के उदयरूप दो अल्पतर और सामान्यकेवली की अपेक्षा उनतीस और अट्ठाईस प्रकृतियों के उदयरूप दो अल्पतर, इस प्रकार चार अल्पतर होते हैं। किन्तु उनतीस का उदयरूप अल्पतर दोनों में आता है, इसलिए अवधि के कारण भिन्न अल्पतर की विवक्षा नहीं होने से उसे एक गिनकर तीन ही अल्पतर होते हैं।

अट्ठाईस के उदय वाले अतीर्थंकर केवली के अयोगिदशा की प्राप्ति के प्रथम समय में पराघात, विहायोगति, प्रत्येक, उपघात, अन्यतम

उदयप्राप्त संस्थान, वज्रशृषभनाराच-संहनन, औदारिकद्विक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, अगुरुलघु, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क और निर्माण इन बीस प्रकृतियों का उदयविच्छेद होने पर आठ का उदय होता है और उनतीस प्रकृति के उदय वाले तीर्थकर केवली के उक्त बीस प्रकृतियों का उदयविच्छेद होने पर नौ का उदय होता है। इस प्रकार अट्ठाईस और उनतीस के उदय से आठ और नौ के उदय में जाने पर आठ और नौ प्रकृतिक उदय रूप दो अल्पतर होते हैं।

इस प्रकार तीर्थकर अतीर्थकर केवली की अपेक्षा समुद्घात और अयोगिपने को प्राप्त करने पर होने वाले नौ अल्पतरोदय जानना चाहिये तथा संसारी जीवों के इक्कीस आदि उदयस्थानों से प्रारम्भ कर इक्कीस तक के कितने ही अल्पतर उदयस्थानों में संक्रमण होता है, जैसे कि इन्द्रियपर्याप्ति के पूर्ण होने के पश्चात् चौबीस या छब्बीस में से किसी भी उदयस्थान में रहते मरण होने पर इक्कीस के उदयस्थान में जाने पर इक्कीस का उदय रूप अल्पतर होता है तथा उद्योतसहित तीस के उदय में वर्तमान उत्तरवैक्रियशरीरी देव वैक्रियशरीर का संहरण करने के बाद उनतीस के उदय में जाता है, उस समय उनतीस का अल्पतर होता है।

इस प्रकार संसारी जीवों के कितने ही अल्पतर सम्भव हैं। परन्तु जिस संख्या वाले अल्पतर उनको होते हैं, उन अल्पतरों का पूर्वोक्त अल्पतरों में समावेश हो जाता है। अतः एक अल्पतर अनेक प्रकार से होता है यह समझना चाहिये, परन्तु अवधि के भेद से कारण अल्पतरों के भेदों की गणना नहीं किये जाने से नौ से अधिक अल्पतरोदय नहीं होते हैं।^१

१ विज्ञान स्पष्ट करने की कृपा करें—

यह ठीक है कि इक्कीस प्रकृति के उदय से अधिक नामकर्म की प्रकृतियों का उदयस्थान न होने से इक्कीस प्रकृति का उदय रूप अल्पतर

अवस्थितोदय—यह पूर्व में बतलाया जा चुका है कि अवस्थितोदय उदयस्थान के तुल्य जानना चाहिये। अतः नामकर्म के जितने उदयस्थान हैं उतने ही अवस्थितोदय हैं। यानि नामकर्म के उदयस्थान बारह होने से बारह ही अवस्थितोदय होते हैं।

अवक्तव्योदय—यह सर्वथा असंभव है। क्योंकि नामकर्म की सभी उत्तरप्रकृतियों का उदयविच्छेद होने के पश्चात् पुनः उदय होता नहीं है और सभी उत्तरप्रकृतियों का उदयविच्छेद अयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय में होता है और वहाँ से प्रतिपात नहीं होने से पुनः उदय संभव नहीं। इसलिये अवक्तव्योदय घटित नहीं होता है।

इस प्रकार से ज्ञानावरण आदि प्रत्येक कर्म की उत्तरप्रकृतियों के उदयस्थानों में भूयस्कार आदि प्रकारों को जानना चाहिये। अव सामान्यतः सभी उत्तरप्रकृतियों के उदयस्थानों में भूयस्कार आदि का निरूपण करने के लिये उनके उदयस्थानों को बतलाते हैं।

नहीं होता है। इसीलिए इकतीस तथा पच्चीस और चौबीस के उदय बिना नौ उदयस्थान के नौ अल्पतरोदय बताये, वे केवली की अपेक्षा तो बराबर हैं, परन्तु लब्धिसंपन्न मनुष्य या तिर्यंच वैक्रियशरीर बनाते हैं तब तीस के उदयस्थान से पच्चीस के उदयस्थान में और लब्धिसंपन्न छब्बीस के उदय में वर्तमान वायुकायिक जीव वैक्रिय शरीर बनायें तब छब्बीस के उदयस्थान से चौबीस के उदयस्थान में जाते हैं। अथवा यथासंभव इकतीस से छब्बीस तक के उदयस्थान से पंचेन्द्रिय तिर्यंच आदि काल कर के ऋजुध्रेणि द्वारा देव, नारक में उत्पन्न हों तब पच्चीस के और एकेन्द्रिय में उत्पन्न हों तब चौबीस के उदयस्थानों में जाते हैं। जिससे पच्चीस और चौबीस प्रकृति के उदय रूप दोनों अल्पतर संसारी जीवों में घट सकते हैं। जिससे नौ की बजाय ग्यारह अल्पतरोदय मानना चाहिए। किन्तु मलय-गिरिसूरि ने नौ अल्पतरोदय बताये हैं।

स्वोपज्ञवृत्ति से भी कारण ज्ञात नहीं होता है।

समस्त उत्तरप्रकृतियों के उदयस्थान, भूयस्कार आदि

एककार बार तिचउक्कवीस गुणतीसओ य चउतीसा ।

चउआला गुणसठ्ठी उदयट्ठाणाइं छब्बीसं ॥१६॥

शब्दार्थ—एककार—ग्यारह, बार—बारह, तिचउक्कवीस—तीन, चार अधिक बीस अर्थात् तेईस, चौबीस, गुणतीसओ—उनतीस से, य—और चउतीसा—चौतीस, चउआला—चवालीस से, गुणसठ्ठी—उनसठ, उदयट्ठाणाइं—उदयस्थान, छब्बीस—छब्बीस ।

गाथार्थ—ग्यारह, बारह, तेईस, चौबीस, उनतीस से चौतीस और चवालीस से उनसठ प्रकृति पर्यन्त छब्बीस उदयस्थान होते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में सामान्य से सभी कर्मों की उत्तरप्रकृतियों के उदयस्थान बतलाये हैं । यद्यपि सभी कर्मों की उदययोग्य एक सौ बाईस प्रकृतियां हैं । लेकिन प्रत्येक जीव को एक समय में उस जीव की योग्यताविशेष के कारण वे सभी प्रकृतियां उदय में नहीं आती हैं, किन्तु उनके उदय में अन्तर होता है । इसीलिये एक समय में एक जीव के जितनी प्रकृतियों का उदय संभव है, उस अपेक्षा से ये उदयस्थान माने गये हैं । इस दृष्टि से सामान्यतः सभी उत्तरप्रकृतियों के छब्बीस उदयस्थान होते हैं । जो इस प्रकार हैं—

ग्यारह, बारह, तेईस, चौबीस तथा उनतीस से लेकर चौतीस अर्थात् उनतीस, तीस, इकतीस, बत्तीस, तेतीस, चौतीस और पैंतीस से तेतालीस तक के उदयस्थान संभव नहीं है । अतः चवालीस से लेकर उनसठ तक यानि चवालीस, पैंतालीस, छियालीस, सैंतालीस, अड़तालीस, उनचास, पचास, इक्यावन, बावन, त्रेपन, चौपन, पचपन, छप्पन, सत्तावन, अट्ठावन, उनसठ प्रकृतिक, इस प्रकार कुल छब्बीस उदयस्थान होते हैं । इन उदयस्थानों का विवरण क्रमशः इस प्रकार है—

मनुष्यगति, मनुष्यायु, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, अन्यतर वेदनीय और उच्चगोत्र, इन ग्यारह

प्रकृतियों का उदय सामान्य केवली भगवान को अयोगि अवस्था में और इसी अवस्था (अयोगि अवस्था) में तीर्थंकर भगवान को तीर्थंकर-नामकर्म सहित बारह का उदय होता है ।

यही अतीर्थंकर और तीर्थंकर केवली के दोनों उदयस्थान अनुक्रम से अगुरुलघु, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्पण, वर्णचतुष्क, इन बारह ध्रुवोदया प्रकृतियों को मिलाने से क्रमशः तेईस और चौबीस प्रकृतिक उदयस्थान होते हैं । ये दोनों उदयस्थान अनुक्रम से समुदघात अवस्था में कामेणकाययोग में वर्तमान सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली के होते हैं ।

इन चार उदयस्थानों में एक भी भूयस्कार घटित नहीं होता है । क्योंकि कोई भी जीव अयोगि अवस्था से सयोगि अवस्था में आता नहीं है एवं सामान्य केवली तीर्थंकरनाम के उदय को प्राप्त नहीं करता है । इसी कारण इनमें भूयस्कारोदय घटित नहीं होता है ।

पूर्वोक्त तेईस और चौबीस प्रकृतिक उदयस्थान के साथ प्रत्येक, उपघात, औदारिकद्विक, छह संस्थान में से कोई एक संस्थान और प्रथम संहनन इन छह प्रकृतियों को जोड़ने पर उनतीस और तीस प्रकृतिक ये दो उदयस्थान होते हैं । यह दो उदयस्थान अनुक्रम से औदारिक-मिश्रयोग में वर्तमान सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली के होते हैं और औदारिककाययोग में वर्तमान तथा स्वभावस्थ उन दोनों के पराघात, विहायोगति, उच्छ्वास और स्वर के उदय के साथ अनुक्रम से तेतीस और चौतीस का उदय होता है तथा योग का रोध करने पर जब स्वर का रोध होता है, तब स्वर का उदय न रहने से उस समय पूर्वोक्त तेतीस और चौतीस में से एक प्रकृति के कम होने पर बत्तीस और तेतीस का उदय होता है । तदनन्तर श्वासोच्छ्वास का रोध होने पर श्वासोच्छ्वास का उदय रुकता है, तब इकतीस और बत्तीस का उदय होता है । इस प्रकार छह उदयस्थान जानना चाहिए और पूर्व में

बताये गये चार उदयस्थानों को इन छह के साथ मलाने पर कुल दस उदयस्थान होते हैं । ये उदयस्थान केवली भगवान के होते हैं ।

यद्यपल केवली भगवान के कुल मलाकर दस उदयस्थान होते हैं परन्तु ग्यारह, बारह, तेईस, चौबीस प्रकृतलक इन चार उदयस्थानों में भूयस्कार नहीं होते हैं । ललसका कारण सहलत उल्लेख ऊपर कलया जा चुका है । शेष छह उदयस्थानों में अर्थात् उनतीस से लेकर चौतीस प्रकृतलक उदयस्थानों में छह भूयस्कारोदय होते हैं और वे सामान्य केवली और तीर्थकर केवली की अपेक्षा जानना चाहलये ।

इन केवलीप्रायोग्य दस उदयस्थानों में नौ अल्पतरोदय जानना चाहलये और वे चौतीस प्रकृतलक उदयस्थान को छोड़कर शेष सभी में समझना चाहलये ।^१

वलग्रहगलतल में वर्तमान क्षायलक सम्यक्त्ववी अवलरत सम्यग्दृष्टल के चवलीस प्रकृतलक उदयस्थान होता है । उन चवलीस प्रकृतलतल्यों के नाम इस प्रकार हैं—

- १ योग के रोघकाल में इकतीस और बत्तीस के उदय में वर्तमान सामान्य केवली और तीर्थकर केवली अयोगल अवस्था को प्राप्त करते हैं, तब उनके ग्यारह और बारह का उदय होता है तथा जब समुद्धात करते हैं तब इन दोनों के दूसरे समय में औदारलकमलश्रयोग में रहते स्वर आदल प्रकृतलतल्यों का उदय कम कलया जाता है तब तीस और उनतीस का उदय होता है और कर्मणयोग में रहते प्रत्येक आदल छह प्रकृतलतल्यों का उदय कम होता है तब चौबीस और तेईस का उदय होता है और तेतीस और चौतीस के उदय वाले स्वर का रोध करते हैं तब उनको बत्तीस और तेतीस का उदय होता है और उच्छ्वास का रोध होने पर इकतीस और बत्तीस का उदय होता है । इस प्रकार ११, १२, ३०, २६, २४, २३, ३३, ३२ और ३१ प्रकृतलक ये नौ अल्पतरोदय होते हैं ।

ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, अनन्तानु-
बन्धी रहित अप्रत्याख्यानावरणादि क्रोधादि तीन कषाय, तीन वेद में से
एक वेद, युगलद्विक में से अन्यतर एक युगल, ये मोहनीय की छह प्रकृ-
तियां, इस प्रकार घातिकर्मों की कुल बीस प्रकृतियों के साथ चार
गतियों में से कोई एक गति, चार आनुपूर्वियों में से गति के अनुसार
एक आनुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग-दुभंग में से
से कोई एक, आदेय-अनादेय में से कोई एक, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में
से कोई एक, निर्माण, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, तैजस,
कर्मण, वर्णचतुष्क इस प्रकार नामकर्म की इक्कीस, चार आयु में से
एक आयु, दो वेदनीय में से एक वेदनीय, दो गोत्र में से एक गोत्र कुल
मिलाकर अघातिकर्मों की चौबीस प्रकृतियों को मिलाने पर चवालीस
प्रकृतियां होती हैं। इन चवालीस प्रकृतियों का उदय विग्रहगति में
वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के होता है।

पूर्वोक्त चवालीस प्रकृतियों में सम्यक्त्वमोहनीय, भय और
जुगुप्सा में किसी एक प्रकृति को मिलाने पर पैंतालीस प्रकृतिक उदय-
स्थान होता है।

पूर्वोक्त चवालीस प्रकृतियों में सम्यक्त्वमोहनीय-भय अथवा सम्य-
क्त्वमोहनीय-जुगुप्सा अथवा भय-जुगुप्सा इन दो-दो प्रकृतियों को
मिलाने पर छियालीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इस प्रकार छिया-
लीस प्रकृतिक उदयस्थान के तीन विकल्प हैं और चवालीस प्रकृतियों
में सम्यक्त्वमोहनीय, भय और जुगुप्सा इन तीनों के युगम् मिलाने
से सैंतालीस प्रकृतिक उदयस्थान है।

भवस्थ क्षायिक सम्यग्दृष्टि देव अथवा नारक के पूर्व में कही गई
चवालीस प्रकृतियों में से आनुपूर्वी को कम करके वैक्रियद्विक, प्रत्येक,
उपघात और समचतुरस्रसंस्थान इन पांच प्रकृतियों को जोड़ने पर
अड़तालीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इन अड़तालीस प्रकृतियों के
नाम इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, मोहनीय की छह प्रकृति (जिनके नाम चवालीस प्रकृतिक उदयस्थान में कहे हैं), अन्तरायपंचक तथा विग्रहगति में जो नामकर्म की इक्कीस प्रकृतियां बतलाई हैं उनमें से आनुपूर्वी को कम करके पूर्वोक्त वैक्रियद्विक आदि पांच सहित पच्चीस, गोत्र एक, वेदनीय एक, आयु एक, इस प्रकार अड़तालीस प्रकृतियों का उदय भवस्थ क्षायिक सम्यग्दृष्टि देव या नारक को होता है ।^१

पूर्वोक्त अड़तालीस प्रकृतियों में भय, जुगुप्सा^२ और सम्यक्त्वमोहनीय^३ इन तीन में से किसी एक को मिलाने पर उनचास प्रकृतिक उदयस्थान होता है तथा अड़तालीस प्रकृतियों में भय-सम्यक्त्वमोहनीय, जुगुप्सा-सम्यक्त्वमोहनीय अथवा भय-जुगुप्सा इस प्रकार कोई भी दो-दो प्रकृतियों के मिलाने पर पचास प्रकृतिक उदयस्थान होता है । इस प्रकार पचास प्रकृतिक उदयस्थान के तीन विकल्प होते हैं तथा अड़तालीस प्रकृतियों में भय, जुगुप्सा और सम्यक्त्वमोहनीय को युग-पत् मिलाने पर इक्यावन प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

अथवा पूर्व में देव और नारक योग्य जो अड़तालीस प्रकृतियां बत-

-
- १ नारकों में हुण्डसंस्थान आदि अशुभ प्रकृतियों का ही उदय समझना चाहिए ।
 - २ भय और जुगुप्सा का उदय प्रत्येक को नहीं भी होता है, परन्तु कभी दोनों में से एक का, कभी दोनों का उदय होता है और किसी समय दोनों में से एक का भी उदय नहीं होता है । इसीलिए अदल-बदल कर मिलाने का संकेत किया है ।
 - ३ सम्यक्त्वमोहनीय का उदय क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी के ही होता है । इस लिये जहाँ भी सम्यक्त्वमोहनीय के उदय का उल्लेख हो वहाँ यह समझना चाहिए कि उस उदयस्थान वाला क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी है ।

लाई हैं, उनमें शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त क्षायिक सम्यग्दृष्टि देव अथवा नारक के पराघात और अन्यतर विहायोगति के मिलाने पर पचास प्रकृतिक उदयस्थान होता है। उसमें सम्यक्त्वमोहनीय, भय और जुगुप्सा इन तीन में से किसी एक प्रकृति को मिलाने पर इक्यावन प्रकृतिक और सम्यक्त्वमोहनीय और भय, अथवा सम्यक्त्वमोहनीय और जुगुप्सा, अथवा भय और जुगुप्सा कोई दो प्रकृतियों को मिलाने पर बावन प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इस प्रकार बावन प्रकृतिक उदयस्थान के तीन विकल्प हैं तथा तीनों को युगपत् मिलाने पर त्रेपन प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

अब मनुष्यों, तिर्यंचों की अपेक्षा उनचास आदि प्रकृतिक उदयस्थानों को बतलाते हैं—

पूर्व में जो चवालीस प्रकृतियां बतलाई हैं, उनमें से आनुपूर्वी को कम करके औदारिकद्विक, प्रत्येक, उपघात, समचतुरस्रसंस्थान और वज्रशृषभनाराचसंहनन इन छह प्रकृतियों को मिलाने पर उनचास प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह स्थान भवस्थ क्षायिक सम्यग्दृष्टि तिर्यंच अथवा मनुष्य को होता है। इनमें सम्यक्त्वमोहनीय, भय और जुगुप्सा इन तीनों में से कोई एक प्रकृति को मिलाने पर पचास प्रकृतिक उदयस्थान होता है तथा सम्यक्त्वमोहनीय और भय, अथवा सम्यक्त्वमोहनीय और जुगुप्सा अथवा भय और जुगुप्सा इन तीन विकल्पों में से कोई दो प्रकृतियों को मिलाने पर इक्यावन प्रकृतिक उदयस्थान होता है। सम्यक्त्वमोहनीय, भय और जुगुप्सा को युगपत् मिलाने पर बावन प्रकृतिक उदयस्थान होता है और इस बावन प्रकृतिक उदयस्थान में निद्रा को मिलाने पर त्रेपन प्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये। अथवा—

शरीरस्थ क्षायिक सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्य को पूर्व में जो उनचास प्रकृतियां कही हैं, उनमें शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त होने के पश्चात् पराघात और प्रशस्त विहायोगति को मिलाने पर इक्यावन

प्रकृतिक उदयस्थान होता है। तत्पश्चात् उसमें सम्यक्त्वमोहनीय, भय, जुगुप्सा और निद्रा इन चार प्रकृतियों में से कोई भी एक प्रकृति को मिलाने पर बावन प्रकृतिक, कोई भी दो मिलाने पर त्रेपन प्रकृतिक, कोई भी तीन प्रकृतियों को मिलाने पर चौपन प्रकृतिक और चारों प्रकृतियों को युगपत् मिलाने पर पचपन प्रकृतिक उदयस्थान होता है। अथवा—

क्षायिक सम्यग्दृष्टि तिर्यंच, मनुष्य के अनन्तरोक्त इक्यावन प्रकृतियों में प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्ति होने के बाद श्वासोच्छ्वास को मिलाने पर बावन प्रकृतिक उदयस्थान होता है। उसमें सम्यक्त्वमोहनीय, भय, जुगुप्सा और निद्रा में से किसी एक प्रकृति को मिलाने पर त्रेपन प्रकृतिक, कोई दो मिलाने पर चौपन प्रकृतिक, कोई तीन मिलाने पर पचपन प्रकृतिक और चारों को युगपत् मिलाने पर छप्पन प्रकृतिक उदयस्थान होता है। अथवा—

श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति से पर्याप्ति हुए मनुष्य, तिर्यंच के जो बावन प्रकृतिक उदयस्थान कहा है, उसमें भाषापर्याप्ति से पर्याप्ति होने के अनन्तर स्वर को मिलाने पर त्रेपन प्रकृतिक उदयस्थान होता है। उसमें सम्यक्त्वमोहनीय, भय, जुगुप्सा और निद्रा इन चार में से किसी एक प्रकृति को मिलाने पर चौपन प्रकृतिक, कोई भी दो मिलाने पर पचपन प्रकृतिक, कोई भी तीन मिलाने पर छप्पन प्रकृतिक और चारों को मिलाने पर सत्तावन प्रकृतिक उदयस्थान होता है और तिर्यंचाश्रयी उद्योत नाम को मिलाने पर अट्ठावन प्रकृतिक उदयस्थान होता है। उन अट्ठावन प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और एक निद्रा, मोहनीय की अप्रत्याख्यानावरणादि कोई भी क्रोधादि तीन कषाय, एक युगल, एक वेद, सम्यक्त्वमोहनीय, भय और जुगुप्सा को मिलाकर कुल नौ प्रकृतियां, अंतरायपंचक, गोत्र एक, वेदनीय एक, आयु एक और नाम-कर्म की विग्रहगति में प्राप्त आनुपूर्वी से रहित बीस और औदारिकद्विक,

प्रत्येक, उपघात, एक संहनन, एक संस्थान, पराघात, विहायोगति, उच्छ्वास, स्वर और उद्योत कुल इकतीस प्रकृतियों को मिलाने से अट्ठावन प्रकृतियां होती हैं।

अविरत सम्यग्दृष्टि के ये सभी उदयस्थान निद्रा, भय, जुगुप्सा और उद्योत के अध्रुवोदया होने से उनको कम-बढ़ करने पर अल्पतर और भूयस्कर दोनों रूप से संभव हैं।

मिथ्यादृष्टि के छियालीस से लेकर उनसठ तक के उदयस्थान होते हैं। उनका भिन्न-भिन्न गति में रहे हुए मिथ्यादृष्टि जीवों की अपेक्षा आगे सप्ततिकासंग्रह में विस्तार से विवेचन किया जा रहा है। जिनका पूर्वापर भाव का विचार करके निद्रा, भय, जुगुप्सा और उद्योत इन प्रकृतियों को घटा-बढ़ाकर स्वयं समझ लेना चाहिए। परन्तु किये जाने वाले कथन को सुगमता से जानने के लिये यहाँ उनका सामान्य से निर्देश करते हैं—

सामान्य से मिथ्यादृष्टि के विग्रहगति में ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, वेदनीय एक, मोहनीय की अनन्तानुबन्धी क्रोधादि में से क्रोधादि चार, एक युगल, एक वेद और मिथ्यात्व ये आठ, आयु एक, गोत्र एक, अंतरायपंचक इस प्रकार सात कर्म की पच्चीस और नाम-कर्म की इक्कीस इस तरह कुल मिलाकर कम से कम छियालीस प्रकृतियों का उदय होता है। उनमें भय, जुगुप्सा और निद्रा में से कोई एक मिलाने पर सैंतालीस, दो मिलाने पर अड़तालीस और तीनों को युगपत् मिलाने पर उनचास प्रकृतिक उदयस्थान होता है। तथा—

भवस्थ एकेन्द्रिय को पूर्वोक्त सात कर्म की पच्चीस और नामकर्म की इक्कीस प्रकृतियों में से आनुपूर्वी को कम करके प्रत्येक, औदारिक-शरीर, उपघात और हुंडकसंस्थान इन चार को मिलाने पर चौबीस, कुल मिलाकर उनचास का उदय होता है। उनमें भय, जुगुप्सा और

निद्रा इन तीन में से एक-एक को मिलाने पर पचास, दो-दो को मिलाने पर इक्यावन और तीनों को मिलाने पर बावन प्रकृतियों का उदयस्थान होता है । तथा—

पूर्वोक्त उनचास प्रकृतियों में शरीरपर्याप्ति से पर्याप्ति के पराधात का उदय बढ़ाने पर पचास का उदय होता है । उसमें भय, जुगुप्सा और निद्रा इन तीन में से एक-एक के मिलाने पर इक्यावन, दो-दो के मिलाने पर बावन और तीनों के मिलाने पर त्रेपन प्रकृतिक उदयस्थान होते हैं । तथा—

पूर्वोक्त पचास में उच्छ्वासपर्याप्ति से पर्याप्ति के स्वासोच्छ्वास के उदय को बढ़ाने पर इक्यावन का उदय होता है । उसमें भय, जुगुप्सा और निद्रा में से कोई एक बढ़ाने पर बावन, दो-दो के मिलाने पर त्रेपन और तीनों के मिलाने पर चौपन प्रकृतिक उदयस्थान होता है । तथा—

पूर्वोक्त इक्यावन में उद्योत अथवा आतप का उदय बढ़ाने पर बावन का उदय होता है । उसमें भय, जुगुप्सा अथवा निद्रा में से एक-एक को मिलाने पर त्रेपन, दो-दो को मिलाने पर चौपन और तीनों को मिलाने पर पचपन प्रकृतिक उदयस्थान होता है । तथा—

भवस्थ द्वीन्द्रियादि के भवस्थ एकेन्द्रिय के उदययोग्य चौबीस में अंगोपांग और संहनन को मिलाने पर नामकर्म की छब्बीस और शेष सात कर्म को पच्चीस कुल मिलाकर इक्यावन प्रकृतियों का उदय होता है । उनमें भय, जुगुप्सा और निद्रा में से कोई एक मिलाने पर बावन, दो-दो के मिलाने पर त्रेपन और तीनों के मिलाने पर चौपन प्रकृतियों का उदयस्थान है । तथा—

शरीरपर्याप्ति से पर्याप्ति उन द्वीन्द्रिय आदि के पूर्वोक्त इक्यावन प्रकृतियों में पराधात और विहायोगति के मिलाने पर त्रेपन का उदय होता है । उनमें भय, जुगुप्सा और निद्रा में से किसी एक को मिलाने पर चौपन, दो-दो के मिलाने पर पचपन और तीनों के मिलाने पर छपन प्रकृतिक उदयस्थान है । तथा—

उच्छ्वासपर्याप्ति से पर्याप्त उन्हीं के पूर्वोक्त त्रेपन के उदय में श्वासोच्छ्वास के मिलाने पर चौपन का उदय होता है। उनमें भय, जुगुप्सा और निद्रा में से एक-एक को मिलाने पर पचपन, दो-दो को मिलाने पर छप्पन और तीनों को मिलाने पर सत्तावन प्रकृतियों का उदयस्थान होता है। तथा—

भाषापर्याप्ति से पर्याप्त के पूर्वोक्त चौपन में स्वर का उदय बढ़ाने पर पचपन का उदय होता है। उनमें भय, जुगुप्सा और निद्रा में से एक-एक को मिलाने पर छप्पन, दो-दो को मिलाने पर सत्तावन और तीनों को मिलाने पर अट्ठावन प्रकृतियों का उदयस्थान होता है। तथा—

पूर्वोक्त पचपन प्रकृतियों में तिर्यचाश्रयी उद्योत का उदय बढ़ाने पर छप्पन का उदयस्थान होता है। उनमें भय, जुगुप्सा और निद्रा में से एक-एक को मिलाने पर सत्तावन, दो-दो को मिलाने पर अट्ठावन और तीनों को मिलाने पर उनसठ प्रकृतियों का उदयस्थान होता है।

इस प्रकार तिर्यचों में एक समय में एक जीव के अधिक से अधिक उनसठ प्रकृतियों का उदय होता है। जिनमें ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणपंचक, वेदनीय एक, मोहनीय दस, आयु एक, गोत्र एक, अन्तराय-पंचक और नामकर्म की इकतीस प्रकृतियां होती हैं।

देवादि भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा उदयस्थानों का विचार करने पर एक-एक उदयस्थान अनेक प्रकार से होता है। यहाँ उदयस्थानों की दिशा मात्र बतलाई है, इसलिए भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा उदयस्थानों का विचार स्वयमेव कर लेना चाहिये।

प्रश्न—मिथ्यादृष्टि के मोहनीय की सात प्रकृतियों का उदय होने पर भी विग्रहगति में नामकर्म की इक्कीस प्रकृतियों के उदय में वर्तमान जीव के पैंतालीस प्रकृतियों का उदयस्थान क्यों सम्भव नहीं और छियालीस का क्यों कहा है ?

उत्तर—छियालीस का उदयस्थान इसलिए कहा है—मिथ्यादृष्टि के सात का उदय अनन्तानुबन्धी का उदय न हो तब मात्र एक आवलिका तक पर्याप्त-अवस्था में होता है और नामकर्म की इक्कीस प्रकृतियों का उदय तो विग्रहगति में होता है। कोई भी मिथ्यादृष्टि अनन्तानुबन्धी के बिना मरण को प्राप्त करता नहीं जिससे विग्रहगति में अनन्तानुबन्धी के उदय से रहित कोई भी जीव होता नहीं है। जिससे विग्रहगति में छियालीस आदि प्रकृतियों का हो उदयस्थान होता है तथा उस मिथ्यादृष्टि के अन्तिम उनसठ प्रकृतियों का उदयस्थान मोहनीय की दस प्रकृतियां उदय में हों तब होता है। वे उनसठ प्रकृतियां इस प्रकार हैं—

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोधादि में से कोई भी क्रोधादि चार, तीन वेद में से एक वेद, युगलद्विक में से एक युगल, भय, जुगुप्सा और मिथ्यात्व ये मोहनीय की दस प्रकृतियां, तिर्यचगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग-दुर्भग में से एक, आदेय-अनादेय में से एक, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में से एक, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, तैजस, कर्मण, औदारिकद्विक, कोई एक संहनन, कोई एक संस्थान, प्रत्येक, उपघात, पराघात, कोई एक विहायोगति, दो स्वर में से कोई एक स्वर, उच्छ्वास और उद्योत इस प्रकार नामकर्म की इक्कीस प्रकृतियां, ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, चक्षुदर्शनावरण आदि दर्शनावरणचतुष्क, पांच निद्राओं में से कोई एक निद्रा, एक वेदनीय, एक आयु और एक गोत्र, इस प्रकार अधिक से अधिक उनसठ प्रकृतियां उदय में होती हैं।

इन उदयस्थानों में सासादन, मिश्र और देशविरति सम्बन्धी कितने ही उदयस्थान भिन्न-भिन्न रीति से भी सम्भव हैं। जिनका आगे सप्ततिकासंग्रह में विस्तार से विचार किया जा रहा है। यहाँ तो प्रासंगिक होने से उक्त संख्या वाले उदयस्थानों की सम्भावना मात्र बतलाई है।

इन उदयस्थानों में अवस्थितोदय घटित नहीं होता है। क्योंकि सभी प्रकृतियों का उदयविच्छेद होने के बाद पुनः उनका उदय सम्भव नहीं है और अवस्थितोदय जितने उदयस्थान हों उतने ही होते हैं, ऐसा नियम होने से अवस्थितोदय छब्बीस हैं।

प्रश्न—विग्रहगति और समुद्घात अवस्था में जो उदयस्थान होते हैं, उनमें अवस्थितोदय कैसे सम्भव है ? उनका समय अत्यल्प है ?

उत्तर—विग्रहगति और समुद्घात अवस्था में जो उदयस्थान होते हैं, तो उस स्थिति में भी दो, तीन समय अवस्थान होता है। इसीलिए उनमें भी अवस्थितोदय माना जाता है। जिस समय अल्पाधिकता हो, उस समय भूयस्कार या अल्पतरोदय होता है और उसके बाद के समय में यदि वही का वही उदय रहे तो वह अवस्थितोदय कहलाता है। समुद्घात या विग्रहगति के उदयस्थान यदि एक ही समय के रहते हों तो उपर्युक्त शंका योग्य हो सकती थी। परन्तु वे उदयस्थान तो दो या तीन समय रह सकते हैं। जिससे अवस्थितोदय छब्बीस सम्भव हैं।

इन छब्बीस उदयस्थानों में भूयस्कारोदय इक्कीस और अल्पतरोदय चौबीस होते हैं। जिनका कारण सहित स्पष्टोक्ति इस प्रकार है—

भूयप्पयरा इगिचउवीसं जन्नेइ केवली छउमं ।

अजओ य केवलित्तं तित्थयरियरा व अन्नोन्नं ॥२०॥

शब्दार्थ—भूयप्पयरा—भूयस्कार और अल्पतर, इगिचउवीसं—इक्कीस और चौबीस, जन्नेइ—क्योंकि प्राप्त नहीं करते हैं, केवली—केवली भगवान, छउमं—छद्मस्थ उदयस्थानों को, अजओ—अविरात, य—और, केवलित्तं—केवलीपने को, तित्थयरियरा—तीर्थकर और इतर-सामान्य केवली, व—और, अन्नोन्नं—परस्पर एक दूसरे के उदयस्थानों को।

गाथार्थ—पूर्वोक्त छब्बीस उदयस्थानों में भूयस्कार और अल्पतर अनुक्रम से इक्कीस और चौबीस होते हैं। क्योंकि केवली छद्मस्थ

के तथा अविरति केवली के उदयस्थानों को तथा इसी प्रकार तीर्थकर सामान्य केवली के और सामान्य केवली तीर्थकर के उदय-स्थानों को प्राप्त नहीं करते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में पूर्वोक्त छब्बीस [उदयस्थानों में इक्कीस भूयस्कारोदय और चौबीस अल्पतरोदय मानने के कारण को स्पष्ट किया है—

केवली भगवान् छद्मस्थ के उदयस्थानों को प्राप्त नहीं करते हैं— 'जन्नेइ केवली छउम' और अविरतसम्यग्दृष्टि केवलज्ञानी के उदय-स्थान में जाते नहीं 'अजओ य केवलित्त ।' यदि अविरति केवलित्व प्राप्त करते तो चवालीस प्रकृतिक उदयस्थान भूयस्कार रूप में हो सकता था और वैसा होने पर उनकी संख्या बढ़ सकती थी, परन्तु वैसा नहीं होने से भूयस्कारों की संख्या में वृद्धि नहीं होती है । इसके साथ दूसरा कारण यह है—

अतीर्थकर तीर्थकर के उदयस्थानों को और अयोगिकेवली सयोगि-केवली के उदयस्थानों को प्राप्त नहीं करते हैं—'जन्नेइ तित्थयरियरा व अन्तोन् ।' जिससे ग्यारह, बारह, तेईस, चौबीस और चवालीस प्रकृतिक ये पांच उदयस्थान भूयस्कारोदय रूप से संभव नहीं हैं ।^१

१ उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि ग्यारह, बारह, तेईस, चौबीस और चवालीस के बिना शेष इक्कीस भूयस्कारोदय होते हैं । कारण यह है कि तीर्थकर और सामान्य केवली के क्रमशः अयोगिगुणस्थान में मनुष्यगति आदि बारह और ग्यारह का और सयोगिगुणस्थान में केवलिसमुद्घात में कर्मणकाययोग में वर्तमान तीर्थकर केवली और सामान्य केवली आत्मा के अनुक्रम से ध्रुवोदया बारह प्रकृतियों पुक्त चौबीस और तेईस प्रकृतियों का उदय होता है तथा चवालीस का उदयस्थान अविरत क्षायिक सम्यग्दृष्टि के विग्रहगति में घटित होता है । ये पांचों उदयस्थान प्रकृतियों की हानि से ही प्राप्त होते हैं किन्तु वृद्धि से नहीं, जिससे ये पांचों उदयस्थान भूयस्कार रूप में संभव नहीं हैं ।

परन्तु शेष इक्कीस उदयस्थान भूयस्कारोदय रूप संभव हैं। इसीलिये इक्कीस भूयस्कारोदय माने जाते हैं। वे इक्कीस भूयस्कारोदय इस प्रकार जानना चाहिए—

छब्बीस उदयस्थानों में केवली के उदयस्थान सम्बन्धी छह तथा अविरत के चवालीस से अट्ठावन तक के पन्द्रह उदयस्थानों में जिस क्रम से उदय में प्रकृतियों की वृद्धि पूर्व में बतलाई है, उस क्रम से वृद्धि करने पर अट्ठावन तक चौदह और अन्तिम उनसठ प्रकृतिक उदयस्थान अर्थात् पैंतालीस प्रकृतिक से लेकर उनसठ प्रकृतिकपर्यन्त पन्द्रह, इस तरह कुल मिलाकर $(६ + १५ = २१)$ इक्कीस भूयस्कारोदय होते हैं।

इस प्रकार से इक्कीस भूयस्कारोदय होने के कारण को स्पष्ट करने के बाद अब चौबीस अल्पतरोदय होने के कारण को स्पष्ट करते हैं—

‘जन्नेइ अजओ य केवलितं’ अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि केवली भगवान के उदयस्थानों को प्राप्त नहीं करते हैं। इस कारण केवलीप्रायोग्य चौतीस प्रकृतिक उदयस्थान अविरत और मिथ्यादृष्टि में घटित नहीं होने से चौतीस का उदय रूप स्थान अल्पतरोदय नहीं होता है तथा उनसठ के उदयस्थान से यदि कोई और दूसरा अधिक संख्या वाला उदयस्थान होता तो उसमें इस उनसठ प्रकृतिक उदयस्थान के संक्रांत होने पर वह अल्पतरोदय माना जा सकता था, किन्तु उससे अधिक संख्या वाला कोई उदयस्थान नहीं है। जिससे वह भी अल्पतर नहीं होता है। इस प्रकार चौतीस और उनसठ प्रकृतिक ये दो उदयस्थान अल्पतर रूप न होने से शेष चौबीस ही अल्पतरोदय होते हैं।

प्रश्न—चौतीस का उदयस्थान स्वभावस्थ तीर्थंकर केवली के होता है। इसलिए जब तीर्थंकर होने वाला जीव केवली अवस्था को प्राप्त करता है और वह चवालीस आदि किसी भी उदयस्थान से चौतीस के

उदय में जाये तब चौतीस का उदयरूप अल्पतर सम्भव है तो फिर चौतीस के अल्पतर का निषेध क्यों किया है ?

उत्तर—चौतीस प्रकृतिक उदयस्थान को अल्पतरोदय रूप न होने का निषेध इसलिए किया कि सभी जीव केवली-अवस्था गुणस्थान के क्रम से प्राप्त करते हैं, किन्तु कोई भी जीव चौथे, पांचवें से सीधा तेरहवें गुणस्थान में नहीं जा सकता है। अर्थात् छठे, सातवें से आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान को क्रम से प्राप्त करके और उसके बाद बारहवें गुणस्थान का स्पर्श करके ही तेरहवें गुणस्थान—केवली-अवस्था को प्राप्त करता है। बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान में तेतीस प्रकृति का उदय रूप एक ही उदयस्थान होता है, किन्तु अन्य कोई उदयस्थान नहीं होता है।^१ उन तेतीस प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, तैजस, कर्मण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, निर्माण, औदारिकद्विक, प्रत्येक, उपघात, अन्यतर विहायी-गति, पराघात, सुस्वर-दुःस्वर में से कोई एक, उच्छ्वास, छह संस्थान में से कोई एक संस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, साता-असाता में से कोई एक वेदनीय, मनुष्यायु और उच्चगोत्र।

- १ इस कथन का स्पष्टीकरण अपेक्षित है क्योंकि चार अघाति कर्मों की ही तेतीस प्रकृतियां होती हैं। उनमें ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और अन्तरायपंचक इन चौदह प्रकृतियों को मिलाने से बारहवें गुणस्थान में सैंतालीस का उदयस्थान होता है। क्योंकि वहाँ तीन घातिकर्मों का भी उदय है। जिससे उस सैंतालीस के उदयस्थान से घातिकर्म क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त कर चौतीस के उदय में जाने पर चौतीस का अल्पतर भी सम्भवित हो सकता है तो फिर उसका निषेध क्यों किया ? यानि बारहवें गुणस्थान में तेतीस का उदयस्थान ही क्यों कहा और चौतीस का अल्पतर क्यों नहीं बताया ?

अब जब केवलज्ञान उत्पन्न हो और सयोगिकेवलीगुणस्थान को प्राप्त करे तब तीर्थंकर होने वाला तीर्थंकरनामकर्म का उदय होने से चौतीस का उदयस्थान प्राप्त करता है। जिससे चौतीस का उदयस्थान भूयस्कार रूप ही घट सकता है, किन्तु चौतीस से आगे पैंतीस प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होने से वह अल्पतर रूप में घटित नहीं होता है। इसीलिए चौतीस के अल्पतर का निषेध किया है।

इस प्रकार उनसठ और चौतीस प्रकृतिक उदयस्थान अल्पतर रूप न होने से चौबीस अल्पतरोदय माने जाते हैं। जिनका संक्षेप में विवरण इस प्रकार है—

छब्बीस उदयस्थानों में केवली सम्बन्धी नौ उदयस्थानों और अवि-रत के उनसठ से चवालीस प्रकृतिक तक के सोलह उदयस्थानों में पश्चानुपूर्वी के क्रम से प्रकृतियों को कम करने पर पन्द्रह अल्पतर होते हैं। जैसे कि अट्ठावन प्रकृति के उदय में से निद्रा, भय और जुगुप्सा में से किसी एक प्रकृति को कम करने पर सत्तावन का, कोई भी दो कम करने पर छप्पन का और तीनों को कम करने पर पचपन का उदयस्थान होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

यहाँ बताये गये अल्पतर और पूर्व में बताये गये भूयस्कार उदयों में से प्रत्येक अनेक प्रकार से हो सकते हैं, परन्तु अवधि मर्यादा के कारण उन भूयस्कारादि के भेदों की गणना न किये जाने से उनकी उतनी ही संख्या होती है और चवालीस का उदय विग्रहगति में वर्तमान क्षायिक सम्यक्त्वी के होता है और उसमें भय आदि को मिलाने पर अन्तिम सैंतालीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है तथा अड़तालीस का उदय भवस्थ के होता है। जिससे अड़तालीस के उदय से सैंतालीस के उदय में नहीं जाया जाता है। अतः उसकी अपेक्षा तो यह प्रतीत होता कि अल्पतर घटित नहीं हो किन्तु छियालीस के उदय वाले मिथ्यादृष्टि के भय, जुगुप्सा बढ़ाने पर अड़तालीस का उदयस्थान होता है और

उसमें से भय या जुगुप्सा किसी ँक को कम करने पर सेंतालीस का अल्पतर सम्भव है ।

इस प्रकार सभी उत्तरप्रकृतियों के सामान्य से उदयस्थान और उनमें भूयस्कार आदि को जानना चाहिये ।

अब क्रमशः ज्ञानावरण आदि प्रत्येक कर्म की उत्तरप्रकृतियों के और सामान्य से सभी प्रकृतियों के सत्तास्थानों का निर्देश करके उनमें भूयस्कार आदि का वर्णन करेंगे । उनमें से पहले प्रत्येक कर्म की उत्तर-प्रकृतियों के सत्तास्थानों व उनमें भूयस्कार आदि का कथन करते हैं ।

प्रत्येक कर्म की उत्तरप्रकृतियों के सत्तास्थान, भूयस्कार आदि

ज्ञानावरण, अन्तराय — इन दोनों कर्मों का पांच-पांच प्रकृतिरूप ँक ही सत्तास्थान है । इन दोनों कर्मों की पांच-पांच प्रकृतियां होने और उनकी सत्ता ध्रुव होने के अन्य कोई दूसरा अल्पाधिक प्रकृति वाला सत्तास्थान नहीं होता है । इसलिए इन दोनों में भूयस्कारत्व या अल्प-तरत्व सम्भव नहीं है तथा इन दोनों कर्मों की समस्त प्रकृतियों की सत्ता का व्यवच्छेद होने पर पुनः उनकी सत्ता संभव नहीं होने से अवक्तव्यसत्ता भी घटित नहीं होती है । अवस्थितसत्ता अवश्य सम्भव है । जिसमें अभव्य के अनादि-अनन्त और भव्य के अनादि-सान्त यह दो भंग सम्भव हैं ।

वेदनीय—के दो और ँक प्रकृतिरूप दो सत्तास्थान हैं । उनमें से अयोगिकेवलीगुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त दो प्रकृतिरूप और अन्तिम समय में ँक प्रकृतिरूप सत्तास्थान होता है । यहाँ ँक प्रकृति के सत्तास्थान से दो प्रकृति के सत्तास्थान में नहीं जाने के कारण भूय-स्कार तो घटित नहीं होता है, किन्तु दो प्रकृतिक सत्तास्थान से ँक प्रकृतिक स्थान में जाना शक्य होने से ँक अल्पतर सम्भव है । दो प्रकृति रूप सत्ता अभव्य के अनादि-अनन्त और भव्य के अनादि-सान्त, इस प्रकार दो प्रकृत्यात्मक ँक अवस्थितसत्कर्म सम्भव है । किन्तु ँक

प्रकृत्यात्मक एक सत्तास्थान मात्र एक समय मात्र ही रहने के कारण अवस्थितरूप से घटित नहीं होता है तथा इस कर्म की सम्पूर्ण सत्ता का नाश होने के पश्चात् पुनः उसकी सत्ता नहीं होने से अवक्तव्यसत्कर्म सम्भव नहीं है ।

गोत्रकर्म—इसके दो सत्तास्थान होते हैं—दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक । जब तक गोत्रकर्म की दोनों प्रकृतियों की सत्ता हो तब तक तो दो प्रकृतिक सत्तास्थान और तेजस्कायिक, वायुकायिक के भव में जाकर उच्चगोत्र की उद्वलना कर देने पर नीचगोत्र रूप एक प्रकृतिक सत्तास्थान होता है । अथवा अयोगिकेवलीगुणस्थान के द्विचरम समय में नीचगोत्र का क्षय होने से चरम समय में उच्चगोत्र की सत्ता रूप एक प्रकृतिक सत्तास्थान होता है ।

यदि कोई नीचगोत्र की सत्ता वाला जीव पृथ्वीकाय आदि में आकर उच्चगोत्र का बंध करे तब दो प्रकृति की सत्ता रूप एक भूयस्कार होता है तथा अल्पतर भी जब उच्चगोत्र की उद्वलना करे तब नीचगोत्र की सत्ता रूप अथवा नीचगोत्र का क्षय करे तब उच्चगोत्र की सत्ता रूप एक ही होता है । अवस्थितसत्कर्म दो हैं । इसका कारण यह है उच्च और नीच इन दोनों प्रकृतियों की और उच्चगोत्र की उद्वलना करने के बाद केवल नीचगोत्र की सत्ता चिरकाल पर्यन्त सम्भव है तथा अवक्तव्यसत्कर्म उच्चगोत्र की सत्ता नष्ट होने के अनन्तर पुनः वह सत्ता में आती है, जिससे उस एक प्रकृति की अपेक्षा घटित होता है, किन्तु गोत्रकर्म की अपेक्षा घटित नहीं होता है । क्योंकि गोत्रकर्म की सत्ता का नाश होने के अनन्तर पुनः उसकी सत्ता प्राप्त नहीं होती है ।

आयुर्कर्म—अब आयुर्कर्म के सत्तास्थानों और उनमें भूयस्कार आदि सत्कर्म का निर्देश करते हैं । उसके दो सत्कर्मस्थान हैं—दो प्रकृतिक, एक प्रकृतिक । जब तक परभव की आयु का बंध न हो, तब तक भुज्यमान एक आयु की सत्ता होती है और परभव की आयु का

बंध होने पर दो की सत्ता होती है। यहाँ दो प्रकृतिक सत्ता रूप एक भूयस्कार होता है और वह भी तब जानना चाहिये जब परभव की आयु का बंध हो। एक प्रकृतिक रूप एक अल्पतरसत्कर्म होता है और वह भी तब जब अनुभूयमान भव की आयु की सत्ता का नाश होने के बाद जिस समय परभव की आयु का उदय होता है। अवस्थितसत्कर्म-स्थान दोनों हैं। इसका कारण यह है कि दोनों सत्तास्थान अमुक काल पर्यन्त होते हैं। किन्तु अवक्तव्यसत्कर्म नहीं होता है। क्योंकि आयु-कर्म की सत्ता का नाश होने के पश्चात् पुनः उसका सत्त्व प्राप्त नहीं होता है।

दर्शनावरण—इसके तीन सत्तास्थान हैं—नौ प्रकृतिक, छह प्रकृतिक और चार प्रकृतिक। इनमें से क्षपकश्रेणि की अपेक्षा अनिवृत्तिबादर-सम्परायगुणस्थान के संख्यात भाग पर्यन्त और उपशमश्रेणि की अपेक्षा उपशान्तमोहगुणस्थान पर्यन्त नौ प्रकृतियों की सत्ता होती है। क्षपकश्रेणि में अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थान के संख्याता भागों के बाद से आरम्भ कर क्षीणमोह गुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त छह प्रकृतियों की और चरम समय में चार प्रकृतियों की सत्ता होती है।

दर्शनावरण के इन प्रकृतिस्थानों में भूयस्कार एक भी घटित नहीं होता है। क्योंकि क्षपकश्रेणि में छह और चार की सत्ता होने के पश्चात् पतन नहीं होता है। अल्पतर दो हैं—१ छह प्रकृतिक और २ चार प्रकृतिक। नौ से छह की और छह से चार की सत्ता में जाने से ये दो अल्पतर घटित होते हैं। अवस्थितसत्कर्म दो हैं—१ नौ प्रकृतिक और २ छह प्रकृतिक। इनमें से नौ की सत्ता अभव्य के अनादि-अनन्त और भव्य के अनादि-सान्त है और छह की सत्ता अन्तमुहूर्त मात्र ही होती है तथा चार प्रकृतिक सत्तास्थान एक समय मात्र ही होने से वह अवस्थित रूप नहीं होता है तथा समस्त प्रकृतियों का विच्छेद होने के

पश्चात् पुनः सत्ता सम्भव न होने से अवस्तव्यसत्कर्म भी घटित नहीं होता है ।

मोहनीयकर्म—मोहनीय के पन्द्रह सत्तास्थान होते हैं—१ अट्ठाईस प्रकृतिक, २ सत्ताईस प्रकृतिक, ३ छब्बीस प्रकृतिक, ४ चौबीस प्रकृतिक, ५ तेईस प्रकृतिक, ६ बाईस प्रकृतिक, ७ इक्कीस प्रकृतिक, ८ तेरह प्रकृतिक, ९ बारह प्रकृतिक, १० ग्यारह प्रकृतिक, ११ पांच प्रकृतिक, १२ चार प्रकृतिक, १३ तीन प्रकृतिक, १४ दो प्रकृतिक और १५ एक प्रकृतिक ।^१

जिनका विवरण इस प्रकार है—जब सभी प्रकृतियों की सत्ता हो तब अट्ठाईस प्रकृतिक स्थान होता है । उसमें से सम्यक्त्वमोहनीय की उद्बलना करने पर सत्ताईस प्रकृतिक और मिश्रमोहनीय की उद्बलना करने अथवा अनादि मिथ्यादृष्टि के छब्बीस प्रकृतिक तथा अट्ठाईस में से अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्क का क्षय होने पर^२ चौबीस प्रकृतिक, मिथ्यात्व का क्षय होने पर तेईस प्रकृतिक, मिश्रमोहनीय का क्षय होने पर बाईस प्रकृतिक और सम्यक्त्वमोहनीय का क्षय होने पर इक्कीस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है । तत्पश्चात् क्षपकश्रेणि में आठ कषाय का क्षय होने पर इक्कीस प्रकृतियों में से उनको कम करने पर तेरह प्रकृतिक, नपुंसकवेद का क्षय होने पर बारह प्रकृतिक, स्त्रीवेद का क्षय होने पर ग्यारह प्रकृतिक, छह नोकषायों का क्षय होने पर पांच प्रकृतिक, पुरुषवेद का क्षय होने पर चार प्रकृतिक, संज्वलन क्रोध का क्षय होने पर तीन प्रकृतिक, संज्वलन मान का क्षय होने पर दो प्रकृतिक और संज्वलन माया का क्षय होने पर एक प्रकृतिक सत्तास्थान होता है ।

- १ दिगम्बर कर्मसाहित्य में भी इसी प्रकार मोहनीयकर्म के पन्द्रह सत्तास्थानों का निर्देश किया है । देखिए पंचसंग्रह सप्ततिका अधिकार गाथा ३३ ।
- २ दिगम्बर कर्मसाहित्य में अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्क का क्षय अथवा विसंयोजन होने पर मोहनीयकर्म का चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होना बताया है ।

इन पन्द्रह स्थानों में अवस्थितसत्कर्म पन्द्रह हैं। इसका कारण यह है कि समस्त सत्तास्थानों में कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अवस्थान—स्थिरता संभव है और अल्पतर चौदह होते हैं। जिन्हें अट्ठाईस के सत्कर्मस्थान को छोड़कर शेष चौदह स्थान में समझना चाहिये तथा अट्ठाईस का सत्तास्थान रूप भूयस्कारसत्कर्म एक ही है। क्योंकि चौबीस के सत्तास्थान से अथवा छब्बीस के सत्तास्थान से अट्ठाईस के सत्तास्थान में आया जाता है। शेष सत्तास्थान भूयस्कर रूप नहीं हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि अनन्तानुबंधिकषाय, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय के सिवाय शेष प्रकृतियों की सत्ता का नाश होने के पश्चात् पुनः उनकी सत्ता प्राप्त नहीं होती है तथा मोहनीयकर्म की समस्त प्रकृतियों की सत्ता का नाश होने के बाद पुनः उनकी सत्ता प्राप्त न होने से अवक्तव्यसत्कर्म घटित नहीं होता है।

नामकर्म—इसके बारह सत्तास्थान हैं—१ तेरानवै प्रकृतिक, २ बानवै प्रकृतिक, ३ नवासी प्रकृतिक, ४ अठासी प्रकृतिक, ५ छियासी प्रकृतिक, ६ अस्सी प्रकृतिक, ७ उन्यासी प्रकृतिक, ८ अठहत्तर प्रकृतिक, ९ छियहत्तर प्रकृतिक, १० पचहत्तर प्रकृतिक, ११ नौ प्रकृतिक और १२ आठ प्रकृतिक।^१ जिनका विवरण इस प्रकार है—

१ कर्मप्रकृति में नामकर्म के बारह सत्त्वस्थान इस प्रकार हैं—१०३, १०२, ६६, ६५, ६३, ६०, ८६, ८४, ८३, ८२, ६ और ८ प्रकृतिक। इनमें अन्तर इतना ही है कि ये स्थान बंधननामकर्म के १५ भेद करके बताये हैं।

दिगम्बर कर्मसाहित्य में नामकर्म के तेरह सत्त्वस्थान बतलाये हैं। देखिए गो. कर्मकांड गाथा ६०६ और पंचसंग्रह सप्ततिका अधिकार गाथा २०८।

वे तेरह सत्त्वस्थान इस प्रकार हैं—६३, ६२, ६१, ६०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७६, ७८, ७७, १० और ६ प्रकृतिक।

नामकर्म की समस्त प्रकृतियां तेरानव हैं। जब ये प्रकृतियां सत्ता में हैं तब तेरानव प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। तीर्थकरनामकर्म की सत्ता न हो तब बानव प्रकृतिक, तीर्थकर नामकर्म की सत्ता हो किन्तु आहारकद्विक—आहारकशरीर, आहारक अंगोपांग—आहारकबंधन और आहारकसंघात इन चार प्रकृतियों की सत्ता न हो तब नवासी प्रकृतिक और तीर्थकरनामकर्म की भी सत्ता न हो तब अठासी प्रकृतिक स्थान होता है। इन चार सत्तास्थानों की प्रथम यह संज्ञा है, यानी ये प्रथम सत्तास्थानचतुष्क कहलाते हैं।

उक्त चार सत्तास्थानों में से नामकर्म की तेरह प्रकृतियों का क्षय होने पर द्वितीय सत्तास्थानचतुष्क होता है। जो अस्सी, उन्वासी, छियत्तर और पचहत्तर प्रकृतियों की संख्या वाला है। यह द्वितीय सत्तास्थानचतुष्क कहलाता है।

प्रथम सत्तास्थानचतुष्क सम्बन्धी अठासी प्रकृतिक सत्तास्थान में से देवद्विक अथवा नरकद्विक की उद्बलना करने पर छियासी प्रकृतिक,

६३ प्रकृतिक सत्त्वस्थान में नामकर्म की सब प्रकृतियों की सत्ता स्वीकार की है। तीर्थकरनाम को कम कर देने पर ६२ प्रकृतिक और ६३ में से आहारकद्विक को कम करने पर ६१ प्रकृतिक तथा तीर्थकर, आहारकद्विक को कम करने पर ६० प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। ६० प्रकृतिक स्थान से देवद्विक की उद्बलना होने पर ८८ प्रकृतिक, इसमें से नारकचतुष्क की उद्बलना होने पर ८४ प्रकृतिक, इसमें से मनुष्यद्विक की उद्बलना होने पर ८२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। क्षपक अनिवृत्तिकरण के ६३ प्रकृतियों में से नरकद्विक आदि तेरह प्रकृतियों का क्षय होने पर ८० प्रकृतिक और ६२ में से उक्त तेरह प्रकृतियों के कम करने पर ७६ प्रकृतिक और उक्त तेरह को ६१ में से घटाने पर ७८ प्रकृतिक, ६० में से उक्त तेरह प्रकृतियों को घटाने पर ७७ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तीर्थकर अयोगिकेवली के १० प्रकृतिक और सामान्य केवली के ६ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है।

देवद्विक अथवा नरकद्विक की जिसने उद्वलना न की हो, किन्तु अब उसके साथ वैक्रियचतुष्क की भी उद्वलना करने पर अस्सी और उसमें से मनुष्यद्विक की उद्वलना करने पर अठहत्तर प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। प्राचीन ग्रन्थों में इन तीन स्थानों की अध्रुव संज्ञा है तथा अयोगि अवस्था के चरम समय में तीर्थंकर भगवान के नौ प्रकृतिक और सामान्य केवली के आठ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है।

यद्यपि अस्सी प्रकृतिक सत्तास्थान क्षपकश्चेणि में तेरह प्रकृतियों का क्षय करने और अठासी में से वैक्रिय-अष्टक का क्षय करने पर भी होता है। परन्तु दोनों में संख्या समान होने से एक ही गिना है। इसलिये बारह सत्तास्थान हैं।

इन बारह सत्तास्थानों में दस अवस्थितसत्कर्म हैं। क्योंकि नौ प्रकृतिक और आठ प्रकृतिक सत्तास्थान एक समय मात्र के होने से वे अवस्थित रूप नहीं हैं।

अल्पतरसत्कर्मस्थान दस हैं, जो इस प्रकार जानना चाहिये— प्रथम सत्तास्थानचतुष्क से द्वितीय सत्तास्थानचतुष्क में जाने पर चार अल्पतर, दूसरे चतुष्क से अयोगि के चरम समय में नौ और आठ प्रकृतिक सत्तास्थान में जाने पर दो अल्पतर, प्रथम सत्तास्थानचतुष्क में के अठासी प्रकृतिक सत्तास्थान से छियासी और अठहत्तर प्रकृतिक सत्तास्थान में जाने पर दो अल्पतर तथा तेरानव और बानव के सत्तास्थान से आहारकचतुष्क की उद्वलना करने पर नवासी और अठासी प्रकृतिक सत्तास्थान में जाने पर दो अल्पतरसत्कर्म होते हैं और ये चार, दो, दो और दो मिलकर कुल $(४+२+२+२=१०)$ दस अल्पतर होते हैं।

अस्सी का अल्पतर नामकर्म की तेरह प्रकृतियों का क्षय करने पर भी होता है और वैक्रियाष्टक का क्षय करने पर भी होता है। किन्तु संख्यातुल्य होने से एक ही गिना है। क्योंकि अवधि-मर्यादा के कारण भेद नहीं गिना जाता है।

भूयस्कारसत्कर्मस्थान छह होते हैं। जो इस प्रकार जानना चाहिए कि अठहत्तर के स्थान से मनुष्यद्विक का बंध करके अस्सी के सत्तास्थान में जाने पर पहला भूयस्कार, वहाँ से नरकद्विक और वैक्रियचतुष्क अथवा देवद्विक और वैक्रियचतुष्क बांधकर छियासी प्रकृतियों के सत्तास्थान में जाने पर दूसरा भूयस्कार, वहाँ से देवद्विक अथवा नरकद्विक बांधकर अठासी के सत्तास्थान में जाने पर तीसरा भूयस्कार, तीर्थकर नामकर्म का बंध कर के नवासी के सत्तास्थान में जाने पर चौथा भूयस्कार, तीर्थकर के बंध बिना आहारकचतुष्क का बंध करके बानव प्रकृतिक स्थान में जाने पर पांचवां भूयस्कार और वहाँ से तीर्थकरनाम का बंध करके तेरानव के सत्तास्थान में जाने पर छठा भूयस्कार होता है। शेष सत्तास्थानों से अन्य अधिक संख्या वाले सत्तास्थानों में जाना असंभव होने से छह भूयस्कार ही होते हैं तथा नामकर्म की सभी उत्तर प्रकृतियों की सत्ता नष्ट होने के बाद पुनः उनकी सत्ता संभव नहीं होने से अवक्तव्य-सत्तास्थान नहीं होता है।

इस प्रकार ज्ञानावरण आदि प्रत्येक कर्म की उत्तरप्रकृतियों के सत्ता-स्थान और उनमें भूयस्कार आदि का निर्देश जानना चाहिए। अब सभी उत्तर प्रकृतियों के सत्तास्थान एवं उनमें भूयस्कार आदि का कथन करने के लिये सत्तास्थानों को बतलाते हैं।

सर्व उत्तर प्रकृतियों के सत्तास्थान, भूयस्कारादि

एक्कारबारसासी इगिचउपंचाहिया य चउणउई ।

एत्तो चोदसहिय सयं पणवीसाओ य छायालं ॥२१॥

बत्तीसं नत्थि सयं एवं अडयाल संत ठाणाणि ।

जोगि अघाइचउक्के भण खिविउं घाइसंताणि ॥२२॥

शब्दार्थ—एक्कार—एकारह, बारसासी—बारह, अस्सी, इगिचउपंचाहिया—एक, चार, पांच अधिक, य—और, चउणउई—चौरानव, एत्तो—इसके बाद,

चोद्वहिय—चौदह अधिक, सयं—सौ, पणवीसाओ—पच्चीस, य—ओर, छायाल—छियालीस ।

बत्तीस—बत्तीस, नत्थि—नहीं है, सयं—सौ अर्थात् एक सौ बत्तीस का स्थान नहीं है, एवं—इस प्रकार, अड्याल—अड़तालीस, संत—सत्ता, ठाणाणि—स्थान, जोगि—सयोगिकेवली, अघाइचउक्के—अघातिकमंचतुष्क के स्थानों में भण—कहना चाहिये, खिविउं—प्रक्षेप करके, मिलाकर, घाइसंताणि—घातिकर्म के सत्तास्थान ।

गाथार्थ—ग्यारह, बारह, अस्सी तथा एक, चार और पांच अधिक अस्सी, चोरानवै और उसके बाद एक सौ चौदह पर्यन्त सभी, उसके बाद एक सौ पच्चीस से लेकर एक सौ छियालीस तक के सभी किन्तु बीच में एक सौ बत्तीस को छोड़ देना चाहिये । इस प्रकार कुल अड़तालीस सत्तास्थान होते हैं । सयोगिकेवली के अघातिकर्म के चार सत्तास्थानों में घातिकर्म के सत्तास्थानों को मिलाकर उपर्युक्त सत्तास्थान कहना चाहिए ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में ज्ञानावरण आदि आठों कर्म की समस्त उत्तर प्रकृतियों के सामान्य से सत्तास्थान बतलाये हैं और उनमें भूयस्कार आदि का विचार किया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सामान्य से सभी कर्मों की सत्ता योग्य एक सौ अड़तालीस प्रकृतियां हैं । किन्तु प्रत्येक जीव को प्रत्येक समय उन सभी एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों की सत्ता नहीं होती है । परन्तु जीव की योग्यता के अनुसार प्रकृतियां पाई जाती हैं । इसी अपेक्षा सत्तास्थान अड़तालीस हैं और उनमें संकलित प्रकृतियों की संख्या इस प्रकार है—

१ ग्यारह, २ बारह, ३ अस्सी, ४ इक्यासी, ५ चौरासी, ६ पचासी, ७ चोरानवै, ८ पंचानवै, ९ छियानवै, १० सत्तानवै, ११ अट्ठानवै, १२ निन्यानवै, १३ सौ, १४ एक सौ एक, १५ एक सौ दो, १६ एक सौ तीन, १७ एक सौ चार, १८ एक सौ पांच, १९ एक सौ छह, २० एक सौ

सात, २१ एक सौ आठ, २२ एक सौ नौ, २३ एक सौ दस, २४ एक सौ ग्यारह, २५ एक सौ बारह, २६ एक सौ तेरह, २७ एक सौ चौदह, २८ एक सौ पचचीस, २९ एक सौ छब्बीस, ३० एक सौ सत्ताईस, ३१ एक सौ अट्ठाईस, ३२ एक सौ उनतीस, ३३ एक सौ तीस, ३४ एक सौ इकतीस, ३५ एक सौ तेतीस, ३६ एक सौ चौतीस, ३७ एक सौ पैंतीस, ३८ एक सौ छत्तीस, ३९ एक सौ सैंतीस, ४० एक सौ अड़तीस, ४१ एक सौ उनतालीस, ४२ एक सौ चालीस, ४३ एक सौ इकतालीस, ४४ एक सौ बयालीस, ४५ एक सौ तेतालीस, ४६ एक सौ चवालीस, ४७ एक सौ पैंतालीस और ४८ एक सौ छियालीस । प्रत्येक के साथ प्रकृतिक शब्द जोड़ लेना चाहिये ।

ये सत्तास्थान जिस प्रकार से बनते हैं, अब उसका विचार करते हैं—

सयोगिकेवली के अघाति प्रकृति सम्बन्धी अस्सी आदि जो चार सत्तास्थान हैं, उनमें धातिकर्म सम्बन्धी सत्तास्थानों को अनुक्रम से मिलाने पर ये अड़तालीस सत्तास्थान होते हैं । इस संक्षिप्त कथन का विशेषता के साथ स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सामान्य केवली के अयोगिगुणस्थान के चरम समय में तीर्थकर-नाम रहित ग्यारह प्रकृतियों का और उसी समय तीर्थकर केवली के तीर्थकरनाम सहित बारह प्रकृतियों का सत्तास्थान होता है । उन बारह प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—मनुष्यायु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तिनाम, सुभग, आदेय, यशः, कीर्ति, तीर्थकर, अन्यतर वेदनीय और उच्चगोत्र ।

सयोगिकेवली अवस्था में अस्सी, इक्यासी, चौरासी और पचासी प्रकृतिक, इस प्रकार चार सत्तास्थान होते हैं । उनमें अस्सी प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

देवद्विक, औदारिकचतुष्क, वैक्रियचतुष्क, तैजसशरीर, कामर्ण-

शरीर, तैजसब्रंधन, कामेणब्रंधन, तैजससंघातन, कामेणसंघातन, संस्थानषट्क, संहननषट्क, वर्णादिबीस, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, विहायोगतिद्विक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, दुर्भंग, अयशःकीर्ति, अनादेय, निर्माण, प्रत्येक, अपर्याप्त, मनुष्यानुपूर्वी, नीचगोत्र और अन्यतर वेदनीय ये उनहत्तर प्रकृतियां हैं। इनमें पूर्वोक्त मनुष्यायु आदि बारह प्रकृतियों में से तीर्थकर रहित ग्यारह प्रकृतियों को मिलाने पर अस्सी प्रकृतियां होती हैं। यही अस्सी तीर्थकरनाम सहित इक्यासी, आहारकचतुष्क सहित चौरासी तथा तीर्थकर और आहारकचतुष्क को युगपत् मिलाने पर पचासी प्रकृतियां होती हैं।

इन चार सत्तास्थानों में से अस्सी और चौरासी प्रकृतिक ये दो सत्तास्थान सामान्य केवली के और इक्यासी एवं पचासी प्रकृतिक ये सत्तास्थान तीर्थकर केवली के होते हैं। तीर्थकर और अतीर्थकर ये दोनों एक दूसरे के सत्तास्थानों में नहीं जाने वाले होने से तथा तीर्थकर आदि का बंध नहीं होने से एक भी भूयस्कार नहीं होता है और अस्सी एवं चौरासी के सत्तास्थानों से ग्यारह के सत्तास्थान में जाने से तथा इक्यासी एवं पचासी के सत्तास्थानों से बारह के सत्तास्थान में जाने से ग्यारह और बारह प्रकृतियों के सत्तारूप दो अल्पतरसत्कर्मस्थान होते हैं।

पूर्वोक्त अस्सी आदि चार सत्तास्थानों में ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और अन्तरायपंचक, इन चौदह प्रकृतियों को मिलाने से चौरानवै, पंचानवै, अट्ठानवै और निन्यानवै प्रकृतिक चार सत्तास्थान होते हैं। ये सत्तास्थान क्षीणकषायगुणस्थान के चरम समय में नाना जीवों की अपेक्षा होते हैं।

इन्हीं चौरानवै आदि चार सत्तास्थानों में निद्रा और प्रचला का प्रक्षेप करने से छियानवै, सत्तानवै, सौ और एक सौ एक प्रकृतिक रूप चार सत्तास्थान होते हैं। ये चारों सत्तास्थान क्षीणमोहगुणस्थान के द्विचरमसमय पर्यन्त अनेक जीवों की अपेक्षा घटित होते हैं। किन्तु

यहाँ ऊपर के गुणस्थान से पतन नहीं होने के कारण एक भी भूयस्कार नहीं होता है तथा क्षीणमोहगुणस्थान के चरमसमयवर्ती चौरानवै और अट्ठानवै प्रकृतिक सत्तास्थान से अस्सी और चौरासी के सत्तास्थान में जाने से और पंचानवै तथा निन्यानवै के सत्तास्थान से इक्यासी और पचासी के सत्तास्थान में जाने से अस्सी, चौरासी एवं इक्यासी, पचासी के सत्तारूप चार अल्पतर होते हैं। इसी प्रकार छियानवै एव सौ के सत्तास्थान से चौरानवै और अट्ठानवै के सत्तास्थान में जाने से तथा सत्तानवै एवं एक सौ एक के सत्तास्थान से पंचानवै और निन्यानवै के सत्तास्थान में जाने से चौरानवै, अट्ठानवै, और पंचानवै, निन्यानवै के सत्तारूप चार अल्पतरसत्कर्म होते हैं।

पूर्वोक्त छियानवै आदि चार सत्तास्थानों में संज्वलन लोभ का प्रक्षेप करने पर सत्तानवै, अट्ठानवै, एक सौ एक और एक सौ दो प्रकृतिक रूप चार सत्तास्थान होते हैं। ये सत्तास्थान दसवें सूक्ष्म-सम्परायगुणस्थान में होते हैं।

तत्पश्चात् इन्हीं चार में संज्वलन माया के मिलाने पर अट्ठानवै, निन्यानवै, एक सौ दो और एक सौ तीन प्रकृतिक ये चार सत्तास्थान होते हैं। ये सत्तास्थान अनिवृत्तिवादरसम्पराय नामक नौवें गुणस्थान के अन्त में होते हैं।

तथा इसी गुणस्थान में संज्वलन मान का प्रक्षेप करने पर निन्यानवै, सौ, एक सौ तीन और एक सौ चार प्रकृत्यात्मक चार सत्तास्थान होते हैं। तथा—

इन्हीं चार सत्तास्थानों में संज्वलन क्रोध का प्रक्षेप करने पर क्रमशः सौ, एक सौ एक, एक सौ चार और एक सौ पांच प्रकृतिक रूप चार सत्तास्थान होते हैं। तथा—

इसी गुणस्थान में पुरुषवेद का प्रक्षेप करने पर एक सौ एक, एक सौ दो, एक सौ पांच और एक सौ छह प्रकृतिक इस तरह चार सत्तास्थान होते हैं। तथा—

इसी गुणस्थान में हास्यादिषट्क का प्रक्षेप करने पर एक सौ सात, एक सौ आठ, एक सौ ग्यारह और एक सौ बारह प्रकृतिक इस प्रकार चार सत्तास्थान होते हैं ।

तत्पश्चात् स्त्रीवेद का प्रक्षेप करने पर एक सौ आठ, एक सौ नौ, एक सौ बारह और एक सौ तेरह प्रकृतिक इस तरह चार सत्तास्थान होते हैं ।

तदनन्तर इसी गुणस्थान में नपुंसकवेद का प्रक्षेप करने पर एक सौ नौ, एक सौ दस, एक सौ तेरह और एक सौ चौदह प्रकृतिक ये चार सत्तास्थान होते हैं । तथा—

इन्हीं चार सत्तास्थानों में इसी गुणस्थान में नरकद्विकादि नामकर्म की तेरह प्रकृतियों^१ और स्त्यानद्वित्रिक, कुल सोलह प्रकृतियों का प्रक्षेप करने पर एक सौ पच्चीस, एक सौ छब्बीस, एक सौ उनतीस और एक सौ तीस प्रकृतिक ये चार सत्तास्थान होते हैं ।

तत्पश्चात् इसी गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क इन आठ कषायों का प्रक्षेप करने पर एक सौ तेतीस, एक सौ चौतीस, एक सौ सैंतीस और एक सौ अड़तीस प्रकृतिक ये चार सत्तास्थान होते हैं । ये सभी सत्तास्थान नौवें गुणस्थान में होते हैं ।

पूर्व के क्षीणमोहगुणस्थान सम्बन्धी छियानव, सत्तानव, सौ और एक सौ एकप्रकृति वाले चार सत्तास्थानों में मोहनीय की बाईस, स्त्यानद्वित्रिक और नामत्रयोदशक प्रकृतियों का प्रक्षेप करने पर एक सौ

-
- १ स्वावरद्विक, तिर्यचद्विक, नरकद्विक, आतपद्विक, एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क और साधारण नाम, ये तेरह प्रकृतियां नामत्रयोदश के रूप उल्लिखित की जाती हैं । यहाँ तथा आगे जहाँ भी नामत्रयोदश का संकेत किया जाये वहाँ नामकर्म की इन तेरह प्रकृतियों को ग्रहण करना चाहिए ।

चौतीस, एक सौ पैंतीस, एक सौ अड़तीस और एक सौ उनतालीस प्रकृतिक चार सत्तास्थान होते हैं। इनमें नौवें गुणस्थान के अन्तिम चार सत्तास्थानों की मोहनीयकर्म की बारह कषाय और नव नोकषायों के साथ सम्यक्त्वमोहनीय अधिक ली है।

जिस क्रम से प्रकृतियों का क्षय किया जाता है, उससे विपरीत पश्चानुपूर्वी के क्रम से प्रकृतियों का प्रक्षेप करने पर उपर्युक्त सत्तास्थान होते हैं।

पूर्वोक्त क्षीणकषाय सम्बन्धी छियानव आदि चार सत्तास्थानों में मिश्रमोहनीय सहित मोहनीय की तेईस, नामत्रयोदश और स्त्यान-द्वित्रिक का प्रक्षेप करने पर एक सौ पैंतीस, एक सौ छत्तीस, एक सौ उनतालीस और एक सौ चालीस प्रकृत्यात्मक ये चार सत्तास्थान होते हैं। तथा—

उन छियानव आदि चार स्थानों में मिथ्यात्वमोहनीय के साथ मोहनीय की चौबीस, नामत्रयोदश और स्त्यानद्वित्रिक का प्रक्षेप करने पर एक सौ छत्तीस, एक सौ सैंतीस, एक सौ चालीस और एक सौ इकतालीस प्रकृतिक ये चार सत्तास्थान होते हैं। तथा—

उन्हीं छियानव प्रकृतिक आदि चार सत्तास्थानों में मोहनीय की छब्बीस, स्त्यानद्वित्रिक और नामत्रयोदश का प्रक्षेप करने पर एक सौ अड़तीस, एक सौ उनतालीस, एक सौ बयालीस और एक सौ तेतालीस प्रकृतिक चार सत्तास्थान होते हैं। तथा—

उन्हीं छियानव प्रकृतिक आदि चार सत्तास्थानों में मोहनीय की सत्ताईस, नामत्रयोदश और स्त्यानद्वित्रिक का प्रक्षेप करने पर एक सौ उनतालीस, एक सौ चालीस, एक सौ तेतालीस और एक सौ चवालीस प्रकृति वाले चार सत्तास्थान होते हैं। तथा—

उन्हीं छियानव आदि प्रकृतिक चार सत्तास्थानों में मोहनीय की अट्ठाईस, स्त्यानद्वित्रिक और नामत्रयोदश का प्रक्षेप करने पर एक

सौ चालीस, एक सौ इकतालीस, एक चवालीस और एक सौ पैंतालीस प्रकृतिक चार सत्तास्थान होते हैं ।

इस प्रकार मोहनीय की बाईस आदि प्रकृतियों के प्रक्षेप द्वारा होने वाले एक सौ चौतीस आदि सत्तास्थानों से प्रारम्भ कर एक एक सौ पैंतालीस प्रकृतिक तक के सत्तास्थान अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयतगुणस्थान पर्यन्त होते हैं ।^१

ऊपर जो एक सौ पैंतालीस का सत्तास्थान कहा है, वही परभव की आयु का बंध होते समय एक सौ छियालीस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है ।

जब तेजस्कायिक और वायुकायिक भव में वर्तमान जीव के नाम-कर्म की अठहत्तर प्रकृति और नीचगोत्र की सत्ता हो तब ज्ञानावरण-पंचक, दर्शनावरणनवक, वेदनीयद्विक, मोहनीय की छब्बीस, अन्तराय-पंचक, तिर्यंचायु, नामकर्म की अठहत्तर और नीचगोत्र, इस प्रकार एक सौ सत्ताईस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है । वही जब परभव संबन्धी तिर्यंचायु का बंध करे तब एक सौ अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान होता

-
- १ यहाँ जो भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा चौथे से सातवें गुणस्थान तक एक सौ चौतीस से एक सौ पैंतालीस तक के सत्तास्थान बतलाते हैं, वे कर्म-प्रकृति सत्ताधिकार गा० १३ और उसकी टीका में उल्लिखित अन्य आचार्यों के मत की अपेक्षा हैं । क्योंकि उनके मत से पहले दर्शनत्रिक का और उसके बाद अनन्तानुबन्धिचतुष्क का क्षय करता है । इस मत के अनुसार विचार किया जाये तो मिथ्यात्व का क्षय होने के बाद मोहनीय की सत्ताईस प्रकृतियों की और मिश्र का क्षय होने के बाद छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता चौथे से सातवें गुणस्थान तक सम्भव है । विद्वज्जन समा-धान करने की कृपा करें ।

है^१ तथा वनस्पतिकाय के जीवों में स्थिति का क्षय होने से जब देवद्विक, नरकद्विक और वैक्रियचतुष्क इन आठों प्रकृतियों की सत्ता का नाश और नामकर्म की अस्सी प्रकृतियों की सत्ता हो तब वेदनीयद्विक, गोत्रद्विक, अनुभूयमान तिर्यचायु, ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, मोहनीय छब्बीस और अन्तराय-पंचक इस प्रकार एक सौ तीस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है और परभव की आयु का बंध करे तब एक सौ इकतीस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। इस प्रकार सत्तास्थानों का विचार करने पर एक सौ बत्तीस का सत्तास्थान संभव नहीं होने से ग्रन्थकार आचार्य ने उसका निषेध किया है कि—‘बत्तीसं नत्थि सयं’—अर्थात् एक सौ बत्तीस प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं होता है।

यद्यपि सत्तानवै आदि प्रकृतिक सत्तास्थान उक्त प्रकार से अन्य-अन्य उनके योग्य प्रकृतियों का प्रक्षेप करने से दूसरी तरह से भी बन सकते हैं, लेकिन उनमें संख्या तुल्य होने से एक की ही विवक्षा की है। इस प्रकार एक ही सत्तास्थान भी दूसरी-दूसरी रीति से हो सकता है, किन्तु उससे सत्तास्थानों की संख्या में वृद्धि नहीं होती है, अन्तर नहीं आता है। इसीलिए अड़तालीस ही सत्तास्थान होते हैं, कम-बढ़ नहीं होते हैं।

इन सत्तास्थानों में समस्त कर्मप्रकृतियों की सत्ता का विच्छेद होने के बाद पुनः उनकी सत्ता प्राप्त नहीं होने में अवक्तव्यसत्कर्म घटित नहीं होता है तथा अवस्थितसत्कर्मस्थान चबलीस हैं। क्योंकि ग्यारह

-
- १ यहाँ प्रश्न होता है कि तेज और वायु काय में वर्तमान एक सौ सत्ताईस की सत्ता वाले जीव को परभव सम्बन्धी तिर्यचायु का बंध होने पर एक सौ अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है, ऐसा कहा है। यद्यपि ये जीव तिर्यचायु के सिवाय अन्य आयु का बंध नहीं करते हैं, यह ठीक है, किन्तु एक सौ सत्ताईस में पहले से ही तिर्यचायु की सत्ता होने पर भी पुनः तिर्यचायु लेकर एक सौ अट्ठाईस की सत्ता कैसे की जा सकता है? विद्वज्जनों से समाधान की अपेक्षा है।

और बारह का सत्तास्थान अयोगिकेवली के चरम समय में तथा चौरानव और पंचानव का सत्तास्थान क्षीणमोहगुणस्थान के चरम समय में होता है। जिससे ये चार सत्तास्थान एक समय प्रमाण के ही होने से अवस्थित रूप से सम्भव नहीं हैं। जिसमें चवालीस अवस्थित-सत्कर्मस्थान होते हैं।

अल्पतरसत्कर्मस्थान सैंतालीस हैं। जो पहले सयोगिकेवलीगुण-स्थान के सत्तास्थानों में धातिकर्म की प्रकृतियों का क्रमशः प्रक्षेप करते हुए एक सौ छियालीस तक के सत्तास्थान कहे गये हैं, उनमें से पश्चा-नुपूर्वी से प्रकृतियों को कम करने पर सैंतालीस होते हैं।

भूयस्कार सत्रह हैं। ये भूयस्कार तेज और वायुकाय में एक सौ सत्ताईस के सत्तास्थान से आरम्भ कर आगे के सत्तास्थानों में संभव हैं। क्योंकि इससे पहले के सत्तास्थान क्षपकश्रेणि में होने से और वहाँ से पतन न होने के कारण उनमें भूयस्कार संभव नहीं हैं तथा एक सौ तेतीस व एक सौ सत्ताईस के सत्तास्थान अल्पतर रूप में प्राप्त होने से वे भी भूयस्कार रूप में संभव नहीं होने से भूयस्कार सत्रह माने जाते हैं। सारांश यह हुआ कि एक सौ अट्ठाईस से एक सौ इकतीस तक के चार और एक सौ चौतीस से एक सौ छियालीस तक के तेरह इस प्रकार सत्रह सत्तास्थान भूयस्कार रूप में प्राप्त होते हैं। संक्षेप में जिनका विवरण इस प्रकार है—

तेज और वायुकाय में मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र की उद्वलना करने के पश्चात् ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, वेदनीयद्विक, मोहनीय छब्बीस, आयु एक, गोत्र एक, अन्तरायपंचक और नामकर्म की अठहत्तर इस प्रकार एक सौ सत्ताईस प्रकृतियों की सत्ता होती है और आयु का बंध करने पर एक सौ अट्ठाईस का सत्तास्थान होता है। एक सौ सत्ताईस की सत्तावाले पृथ्वीकायिक आदि जीव मनुष्यद्विक का बंध करें तब एक सौ उनतीस का उच्चगोत्र अथवा आयु का बंध होने

पर एक सौ तीस का और दोनों का बंध करने पर एक सौ इक्तीस का सत्तास्थान होता है तथा आयु रहित एक सौ तीस की सत्तावाला पंचेन्द्रिय वैक्रियषट्क का बंध करे तब एक सौ छत्तीस का और आयु का बंध करने पर एक सौ सैंतीस का सत्तास्थान होता है तथा एक सौ छत्तीस की सत्ता वाला देवद्विक अथवा नरकद्विक का बंध करे तब एक सौ अड़तीस का और वही आयु का बंध करे तब एक सौ उनतालीस का सत्तास्थान होता है तथा आयुविहीन एक सौ अड़तीस की सत्ता वाले के जब उपशमसम्यक्त्व प्राप्त हो तब सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय की सत्ता प्राप्त हो तब एक सौ चालीस का सत्तास्थान होता है और एक सौ चालीस की सत्ता वाला सम्यग्दृष्टि तीर्थकरनाम का बंध करे तब एक सौ इक्तालीस का तथा उसी एक सौ चालीस की सत्ता वाले सम्यक्त्वी के तीर्थकर के बिना आहारकचतुष्क का बंध हो तब एक सौ चवालीस का, तीर्थकर और आहारकचतुष्क दोनों का बंध होने पर एक सौ पैंतालीस का और देवायु का बंध होने पर एक सौ छियालीस का सत्तास्थान होता है । इस तरह १२८, १२९, १३०, १३१, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४४, १४५, १४६ प्रकृतिक सत्तास्थान भूयस्कार रूप से प्राप्त होते हैं । तथा—

क्षायिक सम्यग्दृष्टि के ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, वेदनीय-द्विक, मोहनीय इक्कीस, आयु एक, नाम अठासी, गोत्रद्विक और अन्त-रायपंचक, इस प्रकार एक सौ तेतीस प्रकृतियों की सत्ता होती है । उमे तीर्थकर का बंध होने पर एक सौ चौत्तीस का, आयुबंध में एक सौ पैंतीस का, तीर्थकर और आयु के बंध बिना आहारकचतुष्क का बंध होने पर एक सौ सैंतीस का, तीर्थकर के बंध में एक सौ अड़-तीस का और आयु का बंध होने पर एक सौ उनतालीस का सत्तास्थान होता है । इस प्रकार क्षायिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा पांच सत्तास्थान भूयस्कार रूप में प्राप्त होते हैं । उनमें से आदि के दो लेना चाहिए, किन्तु शेष समान संख्या वाले होने से ग्रहण नहीं किये हैं । तथा—

अनन्तानुबंधिविसंयोजक क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के ज्ञानावरण-पंचक, दर्शनावरणनवक, वेदनीयद्विक, मोहनीय चौबीस, आयु एक, नाम अठासी, गोत्रद्विक और अन्तरायपंचक, इस प्रकार एक सौ छत्तीस प्रकृतियों का सत्तास्थान होता है। तीर्थंकरनाम का बंध होने पर एक सौ सैंतीस का, आयु के बंध में एक सौ अड़तीस का तथा एक सौ छत्तीस की सत्तावाले के आहारकचतुष्क का बंध होने पर एक सौ चालीस का, तीर्थंकरनाम का बंध होने पर एक सौ इकतालीस का और देवायु का बंध होने पर एक सौ बयालीस का सत्तास्थान होता है। इस प्रकार यह १३७, १३८, १४०, १४१, १४२ प्रकृतिक पांच सत्तास्थान भूयस्कार रूप में प्राप्त होते हैं। इनमें से अन्तिम सत्तास्थान भूयस्कार रूप में लें। क्योंकि कि शेष समसंख्या वाले होने से ग्रहण नहीं किये हैं। इस प्रकार भूयस्कारों का विधान जानना चाहिये।^१

- ५ आचार्य मलयगिरिसूरि ने अपनी टीका एवं स्वोपज्ञवृत्ति में सत्रह भूयस्कारों के उल्लेख में एक सौ तेतालीस प्रकृतिक सत्तास्थान का भी ग्रहण किया है। लेकिन पूर्वोक्त प्रकार से विचार करने पर सोलह भूयस्कार सम्भव हैं। एक सौ तेतालीस प्रकृतिक भूयस्कार नहीं बनता है। क्योंकि यदि आहारकचतुष्क की उद्वलना के पत्योपम का असंख्यातवां भाग बड़ा हो और मिश्रमोहनीय की उद्वलना के पत्योपम का असंख्यातवां भाग छोटा हो, जिससे मिश्रमोहनीय की उद्वलना होने के बाद भी आहारकचतुष्क की सत्ता रहती हो तो ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, वेदनीयद्विक, मोहनीय सत्ताईस, आयु एक, नाम बानवै, गोत्रद्विक और अन्तरायपंचक इस तरह एक सौ तेतालीस प्रकृतिक सत्तास्थान सम्भव है। किन्तु वह भूयस्कार रूप तो सम्भव नहीं होगा। क्योंकि मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियों के साथ एक सौ चवालीस प्रकृतियों की सत्ता वाला सम्यक्त्व-मोहनीय की उद्वलना करके एक सौ तेतालीस के सत्तास्थान में जाता है, जिससे वह अल्पतर रूप में घटित हो सकता है, भूयस्कार रूप में नहीं। इसका कारण बहुश्रुत स्पष्ट करने की कृपा करें।

मूल एवं उत्तर प्रकृतियों एवं समस्त उत्तर प्रकृतियों के बंधादि एवं उनके भूयस्कारों आदि प्रकारों को बतलाने^१ के बाद अब सादि आदि भेदों का कथन करते हैं। सादि आदि के चार प्रकारों के नाम पूर्व में बतलाये जा चुके हैं—सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। जिसके लक्षण इस प्रकार हैं—जो बंधादि आदि—आरम्भ, शुरुआत युक्त हो वे सादि, जिनकी, आदि न हो वे अनादि, भविष्य में जो बंधादि सदैव रहने वाले हों, जिनका कभी नाश नहीं होता है वे ध्रुव—अनन्त और कालांतर में जिनका विच्छेद होता है वे अध्रुव—सांत कहलाते हैं। इन चार भेदों में से जिसके साथ जिसका सद्भाव अवश्यभावी है, इसका निरूपण करते हैं।

सादि आदि बंधप्रकारों का भावाभावत्व

साइ अधुवो नियमा जीवविसेसे अणाइ अधुवधुवो ।

नियमा धुवो अणाई अधुवो अधुवो व साई ॥२३॥

शब्दार्थ—साइ—सादि, अधुवो—अध्रुव, नियमा—नियम से, जीव-विसेसे—जीव विशेष में, अणाई—अनादि, अधुवधुवो—अध्रुव, ध्रुव, नियमा—नियम से, अवश्य, धुवो—ध्रुव, अणाई—अनादि, अधुवो—अध्रुव अधुवो—अध्रुव, वा—और, साई—सादि, वा—अथवा ।

गाथार्थ—जो बंधादि सादि हों वे नियम से अध्रुव होते हैं। किन्तु जीव विशेष की अपेक्षा अनादि बंधादि भी अध्रुव और ध्रुव होते हैं। जो ध्रुव होते हैं वे अवश्य अनादि और जो अध्रुव हैं, वे अध्रुव रूप में रहते हैं अथवा सादि भी होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में परस्पर भावाभाव की अपेक्षा सादि आदि बंध प्रकार के सद्भाव का निरूपण किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१ सुगमता से बोध करने के लिए उक्त समग्र कथन का प्रारूप परिशिष्ट में देखा ।

‘साइ अधुवो नियमा’—अर्थात् जो बंध सादि हो, जिसका प्रारम्भ हो, वह अवश्य ही अध्रुव होता है। इसका कारण यह है कि सादित्व तभी घट सकता है, जब पूर्व के बंध का विच्छेद हो जाने के पश्चात् पुनः नवीन बंध का प्रारम्भ हो। इसलिए सादित्व बंधविच्छेद पूर्वक ही होता है और तभी यह कहा जा सकता है कि जो बंध सादि हो वह अवश्य निश्चित रूप से अध्रुव—सांत होता है।

प्रकारान्तर से इसका फलितार्थ यह निकला कि अनादि बंध को ध्रुव होना चाहिए। क्योंकि अनादि सादि के विपरीत लक्षण वाला है।

लेकिन अनादि बंध में यह विशेषता है कि जीवविशेषों की अपेक्षा वह अध्रुव भी है और ध्रुव भी है—‘जीवविसेसे अणाई अध्रुवध्रुवो।’ इसका कारण यह है कि समस्त संसारी जीव भव्य और अभव्य की अपेक्षा दो प्रकार के हैं। अतः अभव्य और भव्य रूप जीवों की अपेक्षा अनादि बंध के दो प्रकार हो जाते हैं—ध्रुव और अध्रुव। अभव्य को जो बंध अनादि है वह ध्रुव, अनन्त है किन्तु भव्य के अनादि बंध का भविष्य में नाश होना संभव होने से अध्रुव—सांत होता है।

जो बंध ध्रुव होता है, वह अवश्य ही अनादि होता है—‘नियमा ध्रुवो अणाई’। क्योंकि सर्वकाल अवस्थायी को ध्रुव कहते हैं और समस्त काल पर्यंत अवस्थायित्व अनादि के बिना संभव नहीं है। अनादि के सिवाय ध्रुवत्व अनन्त हो ही नहीं सकता है तथा अध्रुव, सादि बंध अनन्त काल पर्यन्त रह ही नहीं सकता है। इसका कारण यह है कि ऊपर के गुणस्थानों में जाकर पूर्व के बंध का विच्छेद कर पतित होने पर पुनः बंध का प्रारम्भ किया जाये तब वह सादि कहलाता है। जैसे कि पहले मिथ्यात्वगुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानों में आरोहण करने वाला जीव चाहे पतन होने पर पुनः पहले गुणस्थान में आये, परन्तु वह देशोन अर्धपुद्गलपरावर्तन से अधिक संसार में नहीं रहता है, अतः जब ऊपर के गुणस्थान में जाता है तब बंध का अंत करता

ही है। इसीलिए जो बंध सादि हो वह अवश्य सांत—अध्रुव होता है तथा ऐसा भी होता है कि जिस बंध का अंत हो जाये पुनः उसके बंध का प्रारम्भ नहीं होता है। जैसे कि वेदनीयकर्म के बंध का विच्छेद होने के बाद पुनः उसका बंध नहीं होता है और किसी कर्म के बंध का विच्छेद हो जाने के बाद पुनः उसके बंध की शुरुआत भी होती है। जैसे कि ज्ञानावरणकर्म के बंध का विच्छेद हो जाने के बाद पतन होने पर पुनः उसके बंध की शुरुआत होती है। इसीलिए यह कहा गया है कि 'अध्रुवो अध्रुवो व साई वा'—अर्थात् जो बंध अध्रुव हो वह अध्रुव रूप ही रहता है एवं उस बंध की आदि भी होती है।

इस प्रकार से सादि आदि बंध के भेदों में जिसके सद्भाव में जो अवश्य होता है अथवा जिसके सद्भाव में जो नहीं होता है, यह स्पष्ट किया।

ये सादि आदि भी जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट के भेद से चार भेद वाले हैं। उनमें से अजघन्य और अनुत्कृष्ट एक जैसे दिखते हैं, अतः अब तद्गत विशेष को स्पष्ट करके उन दोनों में अन्तर बतलाते हैं।

अजघन्य और अनुत्कृष्ट में अन्तर—भेद

उक्कोसा परिवडिए साइ अणुक्कोसओ जहन्नाओ ।

अब्बंघाओ वियरो तदभावे दो वि अविसेसा ॥२४॥

शब्दार्थ—उक्कोसा—उत्कृष्ट से, परिवडिए—पतन होने पर, साइ—सादि, अणुक्कोसओ—अनुत्कृष्ट, जहन्नाओ—जघन्य, अब्बंघाओ—अबंधक होकर, वियरो—अथवा इतर अर्थात् पुनः बंध करने पर, तदभावे—उमके अभाव में, दो वि—दोनों ही, अविसेसा—अविशेष, समान।

गाथार्थ—उत्कृष्ट से पतन होने पर अनुत्कृष्ट और जघन्य से पतन होने पर अथवा अबंधक होकर पुनः बंध करने पर

अजघन्य सादि होता है। उसके अभाव में दोनों ही अविशेष—समान हैं।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार आचार्य ने गाथा में अनुत्कृष्ट और अजघन्य सम्बन्धी भ्रांत धारणा का निराकरण करके उन दोनों में अन्तर-भेद बतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जघन्य से आरम्भ कर उत्कृष्ट पर्यन्त जो बंध या उदय होता है, वह सब अजघन्य कहलाता है। किन्तु उसमें सर्वजघन्य बंध या उदय का समावेश नहीं होता है तथा उत्कृष्ट से लेकर जघन्य पर्यन्त जो बंध या उदय हो, वह सब अनुत्कृष्ट कहलाता है। किन्तु उसमें उत्कृष्टतम-अधिक से अधिक होने वाले बंध या उदय का समावेश नहीं होता है, उससे नीचे के स्थान तक उसकी सीमा है। यद्यपि जघन्य और उत्कृष्ट के बीच के एवं उत्कृष्ट और जघन्य के बीच के स्थान दोनों में सदृश ही हैं। अतः वे विशेषता के कारण नहीं हैं किन्तु तद्गत सादित्व विशेष का भेद होने से दोनों में विशेषता है और यही विशेष उन दोनों में अन्तर-भेद का दिग्दर्शन कराता है कि उत्कृष्ट से पतन होने पर अनुत्कृष्ट सादि होता है। यानी परिणामविशेष से उत्कृष्ट बंध करने के पश्चात् पारिणामिक मन्दस्थिति के कारण उत्कृष्ट बंध से गिरने पर अनुत्कृष्ट बंध सादि होता है और जघन्य बंध से अथवा बंधादि का विच्छेद करने के अनन्तर पतन होने पर अजघन्य बंध सादि होता है। तात्पर्य यह हुआ कि जब तथाप्रकार के परिणामविशेष के द्वारा जघन्य बंध करके वहाँ से पतन होने पर अथवा उपशांतमोहगुणस्थान को प्राप्त कर और अबंधक होने के बाद परिणामों के परावर्तन के कारण वहाँ से पतन होने पर अजघन्य बंध सादि होता है। इस प्रकार अजघन्य और अनुत्कृष्ट का सादित्व भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होने के कारण ये दोनों (अजघन्य और अनुत्कृष्ट) भिन्न हैं, एक नहीं हैं।

अजघन्य और अनुत्कृष्ट इन दोनों की भिन्नता का दूसरा कारण यह है—इन दोनों के उत्पन्न होने की अवधि—मर्यादा भिन्न-भिन्न है।

अर्थात् अजघन्य और अनुत्कृष्ट भिन्न-भिन्न अवधि-मर्यादा जन्य हैं। जिसका आशय यह है कि जघन्य रूप मर्यादा की अपेक्षा लेकर अजघन्य और उत्कृष्ट रूप मर्यादा की अपेक्षा लेकर अनुत्कृष्ट अपने स्वरूप को प्राप्त करता है। यानी जघन्य से अजघन्य में और उत्कृष्ट से अनुत्कृष्ट में जाते हैं। इस प्रकार की अवधि के भेद से उन दोनों के स्वरूप में भेद ज्ञात हो जाता है। जैसे कि पूर्व और पश्चिम दिशा की मर्यादा भिन्न होने से वे दोनों स्वरूपतः भिन्न हैं, उसी प्रकार अजघन्य और अनुत्कृष्ट की मर्यादा भिन्न-भिन्न होने से वे दोनों भी स्वरूप से भिन्न-भिन्न हैं।

प्रश्न—अजघन्य और अनुत्कृष्ट में अन्तर बताने के लिये सादित्व विशेष को ग्रहण करने में क्या हेतु है ?

उत्तर—यहाँ मात्र सादित्व विशेष को स्वीकार करने के द्वारा ही यानि सादित्व रूप विशेष को ग्रहण करने के कारण ही अजघन्य और अनुत्कृष्ट में स्पष्ट रूप से विशेष भेद ज्ञात होता है। इसीलिए उसको ग्रहण किया है। जहाँ सादित्व रूप विशेष का अभाव है, वहाँ उन दोनों के बीच किसी प्रकार की विशेषता नहीं है—‘तदभावे दो वि अविसेसा’। क्योंकि सादित्व रूप विशेष का अभाव तभी होता है, जबकि मर्यादा का अभाव हो यानी जघन्य से अजघन्य में जायें तब अजघन्य की सादि होती है और उत्कृष्ट से अनुत्कृष्ट में जायें तब अनुत्कृष्ट की सादि होती है, इस प्रकार की मर्यादा ही नष्ट हो जाए तब मध्य के स्थान समान होने से उन दोनों में किसी प्रकार का भेद घटित नहीं हो सकता है। इसलिए सादित्व विशेष ही उन दोनों के भेद में कारण है। सादित्व-विशेष के अभाव में वे दोनों सहस्र हैं।

यदि किसी स्थान पर सादित्वविशेष सम्यक् प्रकार से ज्ञात न होता हो और उसके कारण अजघन्य, अनुत्कृष्ट के बीच भेद मालूम न पड़ता हो तो वहाँ भी यह समझ लेना चाहिए कि अजघन्य की मर्यादा जघन्य है और अनुत्कृष्ट की मर्यादा उत्कृष्ट है और इसको समझकर दोनों के बीच भेद है, यह निर्णय कर लेना चाहिये।

इस प्रकार से अजघन्य और अनुत्कृष्ट के विशेष को बतलाने के बाद अब अजघन्यादि में सामान्य से सादित्वादि भंगों की प्ररूपणा करते हैं।

सामान्य से सादित्व आदि का निर्देश

ते णाइ ओहेणं उक्कोसजहन्नो पुणो साई ।

अधुवाण साइ सव्वे धुवाणणाई वि संभविणो ॥२५॥

शब्दार्थ—ते—वे, णाइ—अनादि, ओहेणं—ओघ—सामान्य से, उक्को-सजहन्नो—उत्कृष्ट तथा जघन्य, पुणो—पुनः तथा, साई—सादि, अधुवाण—अध्रुवबंधिनी, साइ—सादि, सव्वे—सभी, धुवाण—ध्रुवबंधिनी, णाई—अनादि, वि—भी, संभविणो—संभवित ।

गाथार्थ—सामान्य से अजघन्य और अनुत्कृष्ट अनादि और उत्कृष्ट तथा जघन्य सादि हैं । अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के सभी भंग सादि हैं और ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के संभवित अजघन्य और अनुत्कृष्ट भेद अनादि भी होते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में जघन्य आदि बंध भेदों के सादि आदि भंगों का निर्देश किया है कि 'ते णाई ओहेणं' अर्थात् जिनमें सादित्वविशेष अनुपलक्ष्यमाण है—समझ नहीं सकते हैं, प्रतीत नहीं होता है, दिखता नहीं है ऐसे सादित्व विशेष से विहीन उन अजघन्य अथवा अनुत्कृष्ट का काल अनादि है । वे अनादि हैं ओघ से-सामान्य से । यानी प्रकृति अथवा स्थिति आदि विशेष की अपेक्षा रखे बिना सर्वत्र अनादि हैं तथा प्रकृति अथवा स्थिति आदि विशेष की अपेक्षा वे कैसे हैं ? तो इसका वर्णन यथास्थान आगे किया जायेगा तथा 'उक्कोसजहन्नो पुणो साइ' यानी उत्कृष्ट और जघन्य नियतकाल भावी होने से—अमुक निर्णीत समय पर्यन्त ही प्रवर्तमान होने से सादि हैं ।

इस प्रकार से प्रकृति, स्थिति आदि की अपेक्षा रखे बिना सामान्य से जघन्यादि में सादित्वादि को जानना चाहिए। अब इसी बात को सामान्य से प्रकृतियों के बंध की अपेक्षा स्पष्ट करते हैं—

‘अधुवाण साईं सव्वे’ यानी सातावेदनीय आदि अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ये सभी भंग सादि हैं तथा सादि यह सांत, अध्रुव का उपलक्षण—सूचक होने से यह समझना चाहिये कि सादि अध्रुव—सांत भी है। इसका कारण पूर्व में कहा जा चुका है कि जो सादि होता है, वह सांत भी है।^१ इसलिये यद्यपि यहाँ मात्र सादि भंग का निर्देश किया है, तथापि अध्रुव-सांत का भी ग्रहण स्वयमेव कर लेना चाहिए। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ये चारों बंध प्रकार सादि होते हैं और जब सादि हैं तो उन्हें अध्रुव—सांत भी समझ लेना चाहिए।

अब ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के लिये स्पष्ट करते हैं कि ‘ध्रुवाण णाईं वि संभविणो’ अर्थात् वर्णादि ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों में यथायोग्य रीति से संभवित अजघन्य और अनुत्कृष्ट बंध का काल अनादि है तथा उपलक्षण से यहाँ भी अनादि के साथ ध्रुव-अनन्त का ग्रहण समझ लेना चाहिये। क्योंकि जब अनादि हो तभी ध्रुवत्व, अनन्तपना संभव है। यानी ये दोनों अनादि और ध्रुव हैं और गाथा में आगत अपि शब्द से यह अर्थ लेना चाहिए कि सादि और अध्रुव भी हैं तथा ध्रुव-बंधिनी प्रकृतियों के जघन्य और उत्कृष्ट भेद सादि और सांत भी समझना चाहिए। इसका कारण यह है कि ये दोनों कदाचित्क-किसी समय ही होते हैं। अतः जब होते हैं तब सादि हैं और यह पहले बताया जा चुका है कि जो सादि है, वह सांत होता ही है। इस लिये ध्रुव-बंधिनी प्रकृतियों के जघन्य और उत्कृष्ट बंध सादि और सांत जानना चाहिए।

इस प्रकार सामान्य से प्रकृतिबंध की अपेक्षा जघन्य आदि भंगों की सादि आदि प्ररूपणा समझना चाहिए। अब मूल और उत्तर प्रकृतियों में यथास्थान संभव जघन्यादि बंधों को बतलाते हैं।

सामान्यतः मूल और उत्तर प्रकृतियों में संभव जघन्यादि बंध

मूलुत्तरपगईणं जहण्णओ पगइबंध उवसंते ।

तब्भट्ठा अजहन्तो उक्कोसो सन्निमिच्छंमि ॥२६॥

शब्दार्थ—मूलुत्तर—मूल और उत्तर, पगईणं—प्रकृतियों का, जहण्णओ—जघन्य, पगइबंधो—प्रकृतिबंध, उवसंते—उपशांतमोहगुणस्थान में, तब्भट्ठा—वहाँ से गिरने पर, अजहन्तो—अजघन्य, उक्कोसो—उत्कृष्ट, सन्निमिच्छंमि—संज्ञी मिथ्यादृष्टि में ।

गाथार्थ—मूल और उत्तर प्रकृतियों का जघन्य बंध उपशांतमोहगुणस्थान में और वहाँ से गिरने पर अजघन्य बंध एवं उत्कृष्ट बंध संज्ञी मिथ्यादृष्टि में होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में बतलाया है कि मूल और उत्तर प्रकृतियों का जघन्य, अजघन्य एवं उत्कृष्ट बंध कब और किससे संभव है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

यहाँ स्थितिबंध आदि की अपेक्षा अजघन्यबंध आदि का विचार नहीं किया जा रहा है किन्तु प्रकृतिबंध की अपेक्षा किया जा रहा है। इसलिये मूल और उत्तर प्रकृतियों का अत्यल्प—कम से कम, सर्व जघन्य बंध ग्यारहवें उपशांतमोहगुणस्थान में होता है, इसका कारण यह है कि उपशांतमोहगुणस्थान में मूल अथवा उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा एक सातावेदनीय प्रकृति का ही बंध होता है और वह एक प्रकृति का बंध प्रकृतिबंध की अपेक्षा जघन्य बंध है। क्योंकि प्रकृतिबंध की अपेक्षा सबसे कम प्रकृतियों के बंध को जघन्य बंध कहते हैं तथा यहाँ उपशांत शब्द के उपलक्षण से क्षीणमोह और

सयोगिकेवली गुणस्थानों का ग्रहण कर लेना चाहिये।^१ इसका तात्पर्य यह हुआ कि ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें इन तीन गुणस्थानों में एक सातावेदनीय प्रकृति का ही बंध होता है, इससे कम प्रकृतियों का बंध अन्य दूसरे किसी भी गुणस्थान में नहीं होता है। अतः यह एक प्रकृतिक बंध प्रकृतिबंध की अपेक्षा जघन्यबंध है।

किन्तु 'तब्भट्ठा अजहन्नो'—अर्थात् वहाँ से—उपशांतमोहगुणस्थान से गिरने पर अजघन्य बंध होता है। इसका कारण यह है कि ग्यारहवें गुणस्थान से पतन अवश्यभावी है और पतन कर दसवें आदि गुणस्थानों में आते हैं तब मूलकर्म-आश्रयी छह और उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा सत्रह आदि प्रकृतियों का बंध संभव है तथा 'उक्कोसो सन्निमिच्छंमि' अर्थात् मिथ्यादृष्टि संज्ञी के उत्कृष्ट प्रकृतिबंध होता है। क्योंकि संज्ञी मिथ्यादृष्टि के ज्ञानावरण आदि आठों मूल और चौहत्तर उत्तर प्रकृतियों का बंध हो सकता है।^२

यद्यपि ग्रन्थकार आचार्य ने गाथा में जघन्य, अजघन्य और उत्कृष्ट बंध का निर्देश किया है किन्तु उसको ध्यान में रखते हुए अनुत्कृष्ट बंध का स्वयं निर्देश कर लेना चाहिये। क्योंकि उत्कृष्ट बंध के अनन्तर

१ यद्यपि उपलक्षण से क्षीणमोह और सयोगिकेवली गुणस्थानों का ग्रहण किया है। किन्तु गाथा में उपशांतमोहगुणस्थान का नामोल्लेख करने का कारण यह है कि उपशांतमोहगुणस्थान से प्रतिपात होता है और प्रतिपात होने पर अजघन्य आदि विकल्प सम्भव हैं। यही मुख्यता बताने के लिए उपशांतमोहगुणस्थान को ग्रहण किया है।

२ एकेन्द्रियादि जीव भी आठ मूल और चौहत्तर उत्तर प्रकृति रूप उत्कृष्ट प्रकृतिबंध करते हैं लेकिन गाथा में संज्ञी जीव को ग्रहण किया है। इसका कारण संभवतः यह हो कि पंचेन्द्रिय संज्ञी मिथ्यादृष्टि अपनी बध्प्रमाण प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग अधिक बांध सकते हैं। विद्वज्जन इसका समाधान करने की कृपा करें।

जो उत्तरोत्तर अल्प-अल्प मूल अथवा उत्तर प्रकृतियों का बंध होता है उसे अनुत्कृष्ट बंध कहते हैं ।

इन बंध प्रकारों में सादित्व आदि भंगों की योजना इस प्रकार करना चाहिये कि मूल अथवा उत्तर प्रकृतियों का जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट बंध कादाचित्क होने से सादि और सांत है मात्र अजघन्य बंध सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इन चारों प्रकार का है । क्योंकि उपशांतमोहगुणस्थान से पतित होकर जब अजघन्य बंध करे तब सादि, उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया उनके अनादि, अभव्य को सदैव अजघन्य बंध होते रहने से ध्रुव और भव्य के अमुक समय विच्छेद संभव होने से अध्रुव है ।

इस प्रकार सामान्यतः मूल और उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा जघन्य आदि बंधों की संभवता जानना चाहिए । अब एक-एक मूल-कर्म की अपेक्षा सादित्व आदि का प्रतिपादन करते हैं ।

प्रत्येक मूलकर्म की सादि आदि प्ररूपणा

आउस्स साइ अधुवो बंधो तइयस्स साइअवसेसो ।

सेसाण साइयाई भव्वाभव्वेसु अधुवधुवो ॥२७॥

शब्दार्थ—आउस्स—आयु का, साइ—सादि, अधुवो—अधुव, बंधो—बंध, तइयस्स—तीसरे वेदनीय कर्म का, साइ—सादि, अवसेसो—सिवाय, सैसाण—शेष कर्मों के, साइयाई—सादि आदि चारों, भव्वाभव्वेसु—भव्य और अभव्य में, अधुवधुवो—अध्रुव और ध्रुव ।

गाथार्थ—आयु का बंध सादि और अध्रुव है । तीसरे वेदनीय कर्म के सादि के सिवाय शेष तीन बंध होते हैं और इनसे शेष रहे कर्मों के सादि आदि चारों प्रकार के बंध समझना चाहिये । भव्य और अभव्य के क्रमशः अध्रुव और ध्रुव बंध होते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में ग्रन्थकार आचार्य ने प्रत्येक मूलकर्म के सादि आदि बंधप्रकारों का निर्देश किया है। जो इस प्रकार है—

‘आउस्स साइ अधुवो’—अर्थात् ज्ञानावरण आदि आठों मूलकर्मों में से आयु का बंध अध्रुवबंधिनी होने से सादि और अध्रुव—सांत है तथा ‘तइयस्स साइ अवसेसो—यानी तीसरे वेदनीयकर्म का बंध सादि के सिवाय अनादि, अध्रुव और ध्रुव है। सर्वदा उसका बंध होते रहने से अनादि, अभव्य के भविष्य में किसी भी समय विच्छेद होना असम्भव होने से अनन्त—ध्रुव और भव्य के अयोगिकेवलीगुणस्थान में बंध का विच्छेद होने से अध्रुव—सांत है। इस प्रकार से वेदनीयकर्म का बंध १ अनादि, २ अनन्त और ३ सांत—अध्रुव रूप जानना चाहिए।

‘सेसाण साइयाई’ अर्थात् पूर्वोक्त आयु और वेदनीय इन दो कर्मों से शेष रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय, इन छह कर्मों का बंध सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव चारों प्रकार का है। जब उपशान्तमोहगुणस्थान से गिरकर बंध प्रारम्भ करे

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में भी मूल कर्मप्रकृतियों में इसी प्रकार से सादिवंध आदि का निरूपण किया है—

साइ अणाइ य ध्रुव अद्धुवो य बंधो दु कम्मछक्कस्स ।

तइए साइयसेसा अणाइ ध्रुव सेसओ आऊ ।

आयु और वेदनीय को छोड़कर शेष ज्ञानावरण आदि अन्तराय पर्यन्त छह कर्मों का सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव बंध भी होता है। अर्थात् चारों प्रकार का बंध होता है। तीसरे वेदनीय का सादि बंध को छोड़कर शेष तीन प्रकार का और आयुकर्म का अनादि और ध्रुव बंध के सिवाय शेष दो प्रकार का बंध होता है।

—दिगम्बर पंचसंग्रह, शतक अधिकार गा. २३५

तव सादि, जिसने उस स्थान को प्राप्त नहीं किया, उसकी अपेक्षा अनादि और अभव्य के ध्रुव एवं भव्य के अध्रुव बंध जानना चाहिये ।

इस प्रकार से मूलकर्म सम्बन्धी सादि-अनादि विषयक प्ररूपणा जानना चाहिये । अब उत्तरप्रकृतियों की अपेक्षा एक-एक प्रकृति के बंध में सादित्व आदि को बतलाते हैं ।

उत्तरप्रकृतियों की साद्यादि बंधप्ररूपणा

साई अध्रुवो सव्वाण होइ ध्रुवबंधियाण णाइध्रुवो ।

निययअबंधचुयाणं साइ अणाई अपत्ताणं ॥२८॥

शब्दार्थ—साई—सादि, अध्रुव—अध्रुव, सव्वाण—सभी, होइ—होते हैं, ध्रुवबंधियाण—ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के, णाइ—अनादि, ध्रुवो—ध्रुव, नियय—अपने, अबंध—अबंधस्थान से, चुयाणं—च्युत होने वाले के, साइ—सादि, अणाई—अनादि, अपत्ताणं—प्राप्त नहीं करने वाले के ।

गाथार्थ—सभी ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का बंध सादि, अध्रुव, अनादि और ध्रुव होता है । अपने अपने अबंधस्थान से च्युत होने वाले के सादि बंध और जिसने उस स्थान को प्राप्त नहीं किया, उसके अनादि बंध होता है ।

विशेषार्थ—अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का बंध कादाचित्क होने से सादि और अध्रुव होता है । अतः उनके बारे में विशेष विचार की आवश्यकता नहीं रह जाती है । लेकिन ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की यह विशेषता है कि उनमें सादित्व, अनादित्व आदि सम्भव है । इसीलिए ग्रन्थकार आचार्य ने ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के बंध में सादित्व आदि का यहाँ विचार किया है—

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, अन्तरायपंचक, सोलह कषाय, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा, अगुरुलघु, निर्माण, तैजस, कर्मण, उपघात

और वर्णचतुष्क इन सैंतालीस ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों का सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव, इस प्रकार चारों प्रकार का बंध होता है ।^१ इनमें से पहले सादिबंध का विचार करते हैं—

‘नियय अबंधनुयाणं सादि’ अर्थाः जहाँ-जहाँ जिस-जिस प्रकृति का अबंधस्थान है, वहाँ से पतन होने पर होने वाला बंध सादि होता है । जैसे कि मिथ्यात्व, स्त्यानद्वित्रिक और अनन्तानुबन्धिचतुष्क इन आठ प्रकृतियों के अबंधस्थान मिश्रदृष्टि आदि गुणस्थान हैं, इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क के देशविरत आदि गुणस्थान, प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क के प्रमत्त संयतआदि गुणस्थान, निद्रा, प्रचला, अगुरुलघु, निर्माण, तैजस, उपघात, वर्णचतुष्क कार्मण, भय और जुगुप्सा इन तेरह प्रकृतियों के अनिवृत्तिबादरसम्पराय आदि गुणस्थान हैं, संज्वलनकषायचतुष्क के सूक्ष्मसम्पराय आदि गुणस्थान एवं ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक और दर्शनावरणचतुष्क इन चौदह प्रकृतियों के उपशान्तमोह आदि गुणस्थान अबंधस्थान हैं । अर्थाः इन-इन गुणस्थानों में उन-उन प्रकृतियों का बंध नहीं होता है । किन्तु उन मिश्रदृष्टि आदि अबंधस्थानों से पतन होने पर मिथ्यात्व आदि प्रकृतियों का पुनः बंध प्रारम्भ होता है, जिससे सादि है । सादित्व अध्रुवपने के बिना होता नहीं है, अतः जो बंध सादि हो उसका अन्त अवश्य है । इसलिए मिश्रदृष्टि आदि गुणस्थानों में जाने पर उन-उन प्रकृतियों के बंध का अन्त होता है, अतएव उनका बंध अध्रुव सांत है तथा उन सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान आदि रूप अबंधस्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया है, उनके उन-उन प्रकृतियों के बंध की शुरुआत का अभाव होने से अनादि है—‘अणाई अपत्ताणं ।’ अभव्यों के किसी भी समय बंधविच्छेद नहीं होने से अनन्त-ध्रुव है और भव्य

१ दिगम्बर कर्ममाहित्य का भी यही अभिमत है । देखिये दि. पंचसंग्रह, शतक अधिकार गाथा २३७ ।

उन उन गुणस्थानों को प्राप्त कर भविष्य में बंध का नाश करेंगे अतः उनकी अपेक्षा सांत-अध्रुव बंध जानना चाहिए ।

उक्त ध्रुवबंधिनी सैंतालीस प्रकृतियों के अलावा शेष रही तिहत्तर अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का बंध उनके अध्रुवबंधिनी होने से ही सादि, अध्रुव-सांत समझ लेना चाहिए ।

इस प्रकार प्रकृतिबंधापेक्षा सामान्य एवं विशेष से मूल और उत्तर प्रकृतियों की सादि आदि प्ररूपणा जानना चाहिए ।

स्वामित्व-प्ररूपणा

अब स्वामित्व का विचार करते हैं कि कौनसा जीव कितनी प्रकृतिय के बंध का अधिकारी है । उनमें भी जो प्रकृतियां जिन जीवों के बंध के अयोग्य है, उन प्रकृतियों के बंध के वे जीव स्वामी नहीं हैं, ऐसा कहा जाये तो इसका अर्थ यह होगा कि उनके सिवाय शेष रही दूसरी प्रकृतियों के बंध के वे स्वामी हैं और चारों गतियों में ऐसी बंध के अयोग्य प्रकृतियां अल्प होती हैं, इसलिए ग्रन्थलाघव एवं संक्षेप में सरलता से बोध करने के लिए जो प्रकृतियां जिन जीवों के बंध के अयोग्य हैं, उनका प्रतिपादन करते हैं । उनमें भी सर्वप्रथम तिर्यचों के बंध-अयोग्य प्रकृतियों को बतलाते हैं ।

तिर्यचगति की बंध-अयोग्य प्रकृतियां

नरयतिगं देवतिगं इगिविगलाणं विउव्वि नो बंधे ।

मणुयतिगुच्चं च गईत्तसंमि तिरि तित्थ आहारं ॥२६॥

शब्दार्थ—नरयतिगं—नरकत्रिक, देवतिगं—देवत्रिक, इगिविगलाणं—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों के, विउव्वि—वैकृत्यद्विक, नो—नहीं, बंधे—बंध

१ अध्रुवबंधिनी तिहत्तर प्रकृतियों के नाम तीसरे बंधव्यप्ररूपणा अधिकार में देखिये ।

में, मण्युयतिगुच्चं—मनुष्यत्रिक और उच्चगोत्र, च—और, गईतसंमि—गतित्रसों में—तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों में, तिरि—तिर्यचों में, तित्थ आहारं—तीर्थकर, आहारकद्विक ।

गाथार्थ—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों के नरकत्रिक, देवत्रिक और वैक्रियद्विक, गतित्रसों में मनुष्यत्रिक और उच्चगोत्र तथा तीर्थकर एवं आहारकद्विक सभी तिर्यचों के बंध में नहीं होते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में तिर्यचगति की बंध के अयोग्य प्रकृतियों को बतलाया है । लेकिन एकेन्द्रिय आदि जातियों, पृथ्वी आदि काय भेदों की अपेक्षा तिर्यचों के अनेक भेद हैं । इसलिए सामान्य और विशेषा-पेक्षा उन अयोग्य प्रकृतियों का निर्देश करते हुए कहा है—

नरकत्रिक—नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु, **देवत्रिक—**देव-गति देवानुपूर्वी और देवायु तथा **वैक्रियद्विक—**वैक्रियशरीर, वैक्रिय-अंगोपांग^१ इन आठ प्रकृतियों का 'इगिविगलाणं नो बधे' एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय जीव बंध नहीं करते हैं ।

'मण्युयतिगुच्चे च गईतसंमि' अर्थात् मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु रूप मनुष्यत्रिक और उच्चगोत्र ये चार तथा पूर्व में बतलाई गई आठ कुल बारह प्रकृतियों का गतित्रस—तेजस्काय और वायुकाय के जीव बंध नहीं करते हैं । तथा—

'तिरि तित्थ आहार'—अर्थात् तथाभवस्वभाव से सभी तिर्यच तीर्थकरनाम और आहारद्विक—आहारकशरीर, आहारक—अंगोपांग इन तीन प्रकृतियों को नहीं बांधते हैं ।

उक्त समस्त कथन का तात्पर्य यह हुआ कि तीर्थकरनाम और आहारकद्विक बिना सामान्य से शेष एक सौ सत्रह प्रकृतियां तिर्यचगति

१ इन आठ प्रकृतियों को वैक्रियाष्टक भी कहते हैं ।

में बंधयोग्य हैं और जिनके बंध के स्वामी पंचेन्द्रिय तिर्यच है तथा इन एक सौ सत्रह प्रकृतियों में से भी एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव नरकात्रक, देवत्रिक और वैक्रियद्विक इन आठ प्रकृतियों के भी बंधक नहीं होते हैं, अतः इन आठ को एक सौ सत्रह में से कम करने पर एक सौ नौ प्रकृतियों के बंध के स्वामी एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव होते हैं तथा गतित्रस—तेजस्काय और वायुकाय के जीव इन एक सौ नौ प्रकृतियों में से भी मनुष्यत्रिक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु तथा उच्चगोत्र इन चार प्रकृतियों के बंधक नहीं होते हैं। अतएव एक सौ नौ में से इन चार को भी कम करने पर कुल एक सौ पांच प्रकृतियों के बंध के अधिकारी हैं।^१

इस प्रकार से तिर्यचगति में बंध के योग्य व अयोग्य प्रकृतियों को जानना चाहिये। अब देव और नारकों की अपेक्षा बंध के अयोग्य प्रकृतियों को बतलाते हैं।

देव और नारक के बंध-अयोग्य प्रकृतियां

वेउब्बाहारदुगं नारयसुरसुहुमविगलजाइतिगं ।

बंधहि न सुरा सायवथावरएणिदि नेरइया ॥३०॥

१ दिगम्बर कर्मसाहिता का भी तिर्यचगति में बंध-अयोग्य प्रकृतियों के लिए यही अभिमत है—देखिये दि. पंचसंग्रह शतक अधिकार गाथा ३३३, ३३७, ३३८, ३३९, ३४०, ३४१, ३४२ । लेकिन तत्संबन्धी विशेषता इस प्रकार है—

१—सामान्य से तिर्यचगति बंधप्रयोग्य ११७ प्रकृति है।

२—पंचेन्द्रिय तिर्यच के पर्याप्त, अपर्याप्त यह दो भेद किये हैं।

उनमें से पर्याप्त के ११७ और अपर्याप्त के एकेन्द्रिय, विकलत्रिक के समान १०९ प्रकृतियां बंधयोग्य हैं। फिर पर्याप्त में पंचेन्द्रिय तिर्यचनी रूप एक भेद और करके उसमें भी बंधयोग्य ११७ प्रकृतियां बताई हैं।

शब्दार्थ—वेउच्चाहारदुग्—वैक्रियद्विक और आहारकद्विक, नारयसुरसुहुम-विगलजाइतिगं—नरकत्रिक, देवत्रिक, सूक्ष्मत्रिक, विकलजातित्रिक, बंधहि—बांधते हैं, न—नहीं, सुरा—देव, सायवथावरएगिदि—आतप, स्थावर और एकेन्द्रिय जाति सहित, नेरइया—नारक ।

गाथार्थ—वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, नरकत्रिक, देवत्रिक, सूक्ष्म-त्रिक और विकलजातित्रिक इन सोलह प्रकृतियों को देव नहीं बांधते हैं तथा पूर्वोक्त सोलह और आतप, स्थावर और एकेन्द्रियजाति सहित कुल उन्नीस प्रकृतियों का नारक बंध नहीं करते हैं ।

विशेषार्थ—देवों और नारकों के बंध-अयोग्य प्रकृतियों का गाथा में उल्लेख किया है । इस उल्लेख में कुछ एक प्रकृतियां तो देवों और नारकों में समान रूप से बंध के अयोग्य हैं और कुछ ऐसी हैं जो नारकों के बंध के अयोग्य होने पर भी देवों के बंधयोग्य हैं । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

वैक्रियशरीर और वैक्रिय-अंगोपांग रूप वैक्रियद्विक, आहारक-शरीर और आहारक-अंगोपांग रूप आहारकद्विक तथा त्रिक शब्द का प्रत्येक के साथ योग होने से नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु रूप नरकत्रिक, देवगति, देवानुपूर्वी और देवायुरूप देवत्रिक, सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्त रूप सूक्ष्मत्रिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतु-रिन्द्रिय रूप विकलेन्द्रियजातित्रिक, इस प्रकार कुल मिलाकर सोलह प्रकृतियों का भवस्वभाव से सभी देव बंध नहीं करते हैं । अतएव देव इन सोलह से शेष एक सौ चार प्रकृतियों के बंधाधिकारी हैं । सामान्य से एक सौ चार प्रकृतियां बंधयोग्य हैं । तथा—

आतप, स्थावर और एकेन्द्रियजाति के साथ पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियों को अर्थात् कुल उन्नीस प्रकृतियों को भवस्वभाव से कोई भी

नारक बंध नहीं करते हैं। इसलिए वे सामान्य से एक सौ एक प्रकृतियों के बंधाधिकारी हैं।^१

पूर्वोक्त प्रकार से तिर्यच, देव और नारकों के बंध-अयोग्य प्रकृतियों को बतलाने का फलितार्थ यह हुआ कि बंधयोग्य सभी एक सौ बीस प्रकृतियों के बंधाधिकारी मनुष्य हैं।^२

इस प्रकार से प्रकृतिबंध सम्बन्धी विवेचन है।

स्थितिबंध

अब क्रमप्राप्त स्थितिबंध का विचार प्रारम्भ करते हैं। इसके ग्यारह अनुयोगद्वार हैं—१ स्थितिप्रमाणप्ररूपणा, २ निषेकप्ररूपणा, ३ अबाधाकंडकप्ररूपणा, ४ एकेन्द्रियादि जीवों की अपेक्षा उत्कृष्ट जघन्य स्थितिबंध-प्रमाणप्ररूपणा, ५ स्थितिस्थानप्ररूपणा, ६ संक्लेशस्थानप्ररूपणा, ७ विशुद्धिस्थानप्ररूपणा, ८ अध्यवसाय-स्थानप्रमाणप्ररूपणा, ९ साध्यादिप्ररूपणा, १० स्वामित्वप्ररूपणा और ११ शुभाशुभत्वप्ररूपणा।

स्थितिप्रमाणप्ररूपणा

उक्त ग्यारह अनुयोगद्वारों में से पहले स्थितिप्रमाणप्ररूपणा करते हैं। स्थितिप्रमाणप्ररूपणा यानी प्रत्येक मूल और उत्तर प्रकृतियों की कम से कम और अधिक से अधिक स्थिति के बंध होने का विचार

१ दिगम्बर कर्मग्रन्थों में इसी प्रकार सामान्य से देवगति और नरकगति में क्रमशः १०४ और १०१ प्रकृतियां बंधयोग्य बताई हैं। देखिये दि. पंच-संग्रह शतक अधिकार गाथा ३२६, ३२७, ३४३, ३४४।

२ सामान्य से किस-किस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध होता है और कौन-कौन से जीव कितनी कितनी प्रकृतियों के बंधक हैं, इसका विस्तार से ज्ञान करने के लिये ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित दूसरे, तीसरे कर्मग्रन्थ देखिये। यहाँ तो दिग्दर्शन मात्र कराया है।

करना । इस द्वार में मूल और उत्तर प्रकृतियों की जघन्य और उत्कृष्ट जितनी स्थिति बंधती है, उसका विचार किया जायेगा । अतएव पहले मूल कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं ।

मूल प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध

मोहे सयरी कोडाकोडीओ बीस नामगोयाणं ।

तीसियराण चउण्हं तेत्तीसयराइं आउस्स ॥३१॥

शब्दार्थ—मोहे—मोहनीयकर्म की, सयरी—सत्तर, कोडाकोडीओ—कोडाकोडी, बीस—बीस, नामगोयाणं—नाम और गोत्र की, तीसियराण—तीस इतर, चउण्हं—चार की, तेत्तीसयराइं—तेतीस सागरोपम, आउस्स—आयुर्कर्म की ।

गाथार्थ—मोहनीयकर्म की सत्तर कोडाकोडी, नाम और गोत्र की बीस कोडाकोडी, इतर अर्थात् दूसरे अन्य ज्ञानावरण आदि चार कर्मों की तीस कोडाकोडी तथा आयु की तेतीस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बंधती है ।

विशेषार्थ—गाथा में ज्ञानावरण आदि आठ मूल प्रकृतियों की उत्कृष्ट बंधस्थिति का प्रमाण बतलाया है । जिसका कथन—१ सबसे अधिक स्थिति वाले कर्म, २ समान स्थिति वाले कर्म और २ पूर्वोक्त कर्मों की अपेक्षा अल्प स्थिति वाले कर्म का निर्देश करके किया है । उक्त निर्देश का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट बंधस्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम की है । नाम और गोत्र की बीस-बीस कोडाकोडी सागरोपम की, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मों की तीस-तीस कोडाकोडी सागरोपम की तथा आयुर्कर्म की तेतीस सागरोपम स्थिति है ।

यह स्थिति इतनी अधिक है कि संख्याप्रमाण के द्वारा बताना अशक्य होने के कारण उपमाप्रमाण के द्वारा बतलाया है। सागरोपम^१ यह उपमा प्रमाण का एक भेद है और एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर प्राप्त महाराशि को एक कोडाकोडी कहते हैं। इन कोडाकोडी सागरोपमों में कर्मों की जो उत्कृष्ट स्थिति बताई है, उनमें आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति सागरों में, किन्तु शेष सात कर्मों की स्थिति कोडाकोडी सागरोपम में है। कर्मों की इस सुदीर्घ स्थिति से यह स्पष्ट है कि एक भव का बांधा हुआ कर्म अनेक भवों तक बना रह सकता है।

बंध हो जाने पर जो कर्म जितने समय तक आत्मा के साथ संबद्ध रहता है, वह उसका स्थितिकाल कहलाता है और बंधने वाले कर्मों में इस स्थितिकाल की मर्यादा के पड़ने को स्थितिबंध कहते हैं। यह स्थिति दो प्रकार की है—पहली कर्मरूपतावस्थानलक्षणा स्थिति अर्थात् बंधने के बाद जब तक कर्म आत्मा के साथ ठहरता है, उतने काल का प्रमाण और दूसरी अनुभवयोग्या स्थिति अर्थात् जितने काल तक उसका वेदन होता है, उतने समय का प्रमाण। कर्मरूपतावस्थानलक्षणा स्थिति में उसका अबाधाकाल भी गभित रहता है और अनुभवयोग्या स्थिति अबाधाकाल से रहित होती है। यहाँ जो स्थिति का उत्कृष्ट प्रमाण बतलाया है और आगे जघन्य प्रमाण कहा जा रहा है, वह कर्मरूपतावस्थानलक्षणा स्थिति का समझना चाहिये। परन्तु आयुकर्म की उत्कृष्ट व जघन्य स्थिति का प्रमाण अनुभवयोग्या स्थिति का ही जानना चाहिये।

यदि कर्मों की अनुभवयोग्या स्थिति जानना हो तो कर्मरूपतावस्थानलक्षणा स्थिति में से अबाधाकाल कम कर लेना चाहिए। आयुकर्म को छोड़कर शेष ज्ञानावरण आदि सात कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का अबाधाकाल जानने के लिये यह नियम है कि जिस कर्म

की जितने कोडाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति का बंध हो, उसका उतने सौ वर्ष का अबाधाकाल होता है। इस बात को बताने के लिये इसी प्रकरण में आगे कहा जा रहा है—‘एवइया बाह वाससया’ अर्थात् जिस कर्म की जितनी कोडाकोड़ी प्रमाण स्थिति का बंध हो, उतने सौ वर्ष का अबाधाकाल होता है। जैसे कि मोहनीयकर्म को उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोड़ी सागरोपम प्रमाण बंधने पर उसका सत्तर सौ (सात हजार) वर्ष का अबाधाकाल है। अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति से बांधा गया मोहनीयकर्म सात हजार वर्ष पर्यन्त अपने उदय द्वारा जीव को कुछ भी बाधा उत्पन्न नहीं करता है, तत्पश्चात् ही बाधा उत्पन्न करता है, यानी अपना विपाकवेदन कराता है। इसका कारण यह है कि सात हजार वर्ष के जितने समय होते हैं, उसमें आत्मा तथास्वभाव से दलिकरचना नहीं करती है। उसके बाद के समय से लेकर सात हजार वर्ष न्यून सत्तर कोडाकोड़ी सागरोपम काल पर्यन्त फलानुभव करती है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि जिस समय जो कर्म बंधे, उसके भाग में जो दलिक आते हैं, उनको क्रमशः भोगने के लिए व्यवस्थित रचना होती है। जिस समय कर्म बंधा, उस समय से लेकर कितने ही समय में रचना नहीं होती है, परन्तु उससे ऊपर के समय में होती है। जितने समयों में रचना नहीं होती है उसे अबाधाकाल कहते हैं। अबाधाकाल यानि दलिकरचना रहित काल। बंध समय से लेकर अमुक समयों में दलरचना नहीं होने में जीवस्वभाव कारण है। अबाधाकाल के ऊपर के समय से लेकर अमुक समय में इतने दलिक फल देंगे, इस प्रकार स्थिति के चरम समय पर्यन्त क्रमबद्ध रूप से निश्चित रचना होती है। जिस-जिस समय में जिस-जिस क्रमानुसार प्रमाण में रचना हुई हो, उस-उस समय के प्राप्त होने पर उतने-उतने दलिकों का फल भोग होता है। इसी कारण अबाधाकाल जाने के बाद एक साथ सभी दलिक फल नहीं देते हैं, किन्तु रचनानुसार फल देते हैं। जितने स्थानों में रचना नहीं हुई है, उसे अबाधाकाल और फल

भोग के लिये हुई व्यवस्थित दलिकरचना को निषेकरचना कहते हैं। अबाधाकाल में दलिक व्यवस्थित क्रम से जमाये हुए नहीं होने से उतने काल पर्यन्त विवक्षित समय में बंधे हुए कर्म का फलानुभव नहीं होता है। उतना काल बीतने के बाद अनुभव होता है। इस प्रकार आयु को छोड़कर शेष कर्मों के लिये जानना चाहिए। यथा— नाम और गोत्र कर्म की बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है तो दो हजार वर्ष का अबाधाकाल है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकों की निषेकरचना का काल है तथा इतर चार कर्मों की तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है, तीन हजार वर्ष का अबाधाकाल है और अबाधाकाल से हीन शेष निषेकरचनाकाल है।

आयुर्कर्म की पूर्वकोटि का तीसरा भाग अधिक तेतीस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है, पूर्वकोटि का तीसरा भाग आबाधाकाल है और अबाधाकाल से हीन शेष निषेकरचनाकाल है।^१

इस प्रकार से मूलकर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण जानना चाहिये। अब उनकी जघन्य स्थिति का प्रमाण बतलाते हैं।

मूलकर्म प्रकृतियों की जघन्यस्थिति

मोत्तुमकसाइ तणुया ठिइ वेयणियस्स बारस मुहुत्ता ।

अट्ठट्ठ नामगोयाण सेसयाणं मुहुत्तंतो ॥३२॥

- १ आयुर्कर्म की उत्कृष्ट स्थिति विषयक कथन का आशय यह है कि आयुर्कर्म की जो भी स्थिति बंधती है, वह सभी निषेककाल है। अर्थात् उतनी स्थिति प्रमाण उसके निषेकों की रचना (विपाकोदयरूपता) होती है। आयुर्कर्म की उत्कृष्ट अबाधा पूर्व कोटि वर्ष का विभाग बताया है, वह भुज्यमान आयु की अपेक्षा समझना चाहिए, बध्यमान आयु की अपेक्षा नहीं। यह कथन पूर्वकोटिप्रमाण कर्मभूमिज मनुष्य-तिर्यचों की भुज्यमान आयु के विभाग रूप अबाधाकाल को सम्मिलित करके कहा गया समझना चाहिए। आयुर्कर्म के अबाधाकाल सम्बन्धी चार विवरण हैं, जिनका स्पष्टीकरण यथाप्रसंग आगे किया जा रहा है।

शब्दार्थ—मोक्षमकसाई—अकषायी को छोड़कर, तणुया—जीवों को, ठिङ्—स्थिति, वेदनीयस्स—वेदनीय की, बारस्स—बारह, मुहुत्ता—मुहूर्त, अट्ठट्ठ—आठ-आठ, नामगोयाण—नाम और गोत्र की, सेसयाणं—शेष कर्मों की, मुहुत्ततो—अन्तर्मुहूर्त ।

गाथार्थ—अकषायी जीवों को छोड़कर वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की है । नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त और शेष कर्मों की अन्तर्मुहूर्त स्थिति है ।

विशेषार्थ—गाथा में ज्ञानावरण आदि आठों मूल कर्मों की जघन्य स्थिति बतलाई है । जिसका प्रारम्भ किया है वेदनीयकर्म से कि उसकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की है । वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति के प्रसंग में यह जानने योग्य है कि वेदनीयकर्म की स्थिति दो प्रकार की है—१ सकषायी जीवों को दसवें गुणस्थान के अन्त में कम से कम बंधने वाली और २ अकषायी जीवों को ग्यारहवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त दो समय प्रमाण बंधने वाली । यहाँ अकषायी जीवों की स्थिति की विवक्षा नहीं की है ।^१ इसीलिए उस स्थिति को छोड़कर शेष सकषायी जीवों के वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त प्रमाण बंधती है यह संकेत किया है और उसका अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अबाधाकाल है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकों की निषेकरचना का काल है ।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि स्थितिबंध का मुख्य कारण कषाय है और कषाय का उदय दसवें सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान तक ही

-
- १ ग्यारहवें आदि गुणस्थान में बंधने वाली वेदनीयकर्म की दो समय प्रमाण स्थिति को जघन्य स्थिति के रूप में ग्रहण न करने का कारण यह है कि कषायरूप हेतु के बिना बंधने वाली स्थिति में रभ नहीं होने से उसका कुछ भी फल अनुभव में नहीं आता है । किन्तु अल्पाधिक कषाय के निमित्त से बंधने वाले कर्म का फल अनुभव होता है ।

होता है। इसलिए दसवें गुणस्थान तक के जीव सकषायी और ग्यारहवें से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के जीव अकषायी कहलाते हैं। ज्ञानावरणादिक आठ कर्मों में वेदनीयकर्म ही एक ऐसा कर्म है जो अकषायी जीवों को भी बंधता है और शेष सात कर्म केवल सकषायी जीवों के ही बंधते हैं। अकषायी जीवों के जो वेदनीयकर्म बंधता है, उसकी केवल दो समय की ही स्थिति होती है, पहले समय में उसका बंध होता है और दूसरे समय में उसका वेदन होकर निर्जरा हो जाती है। इसीलिए ग्रन्थकार ने 'मोत्तुमकसाई तणुया' पद देकर यह स्पष्ट किया है कि यहाँ वेदनीय की जो स्थिति बतलाई है, वह कषायसहित जीव द्वारा बांधी गई वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति जानना चाहिए, अकषायी जीव के वेदनीय की नहीं समझना चाहिए।

'अट्टट्ट नामगोयाण' अर्थात् नाम और गोत्र कर्म की आठ मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति है, अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अबाधाकाल और अबाधाकालहीन शेष निषेकरचनाकाल है तथा 'सेसयाणं मुहुत्तंतो' यानी शेष रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय और आयु इन पांच कर्मों की अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति है। अन्तर्मुहूर्त अबाधाकाल^१ और अबाधाकाल से हीन निषेकरचना योग्य काल है।

इस प्रकार मूलकर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का प्रमाण जानना चाहिए। अब इसी उत्कृष्ट और जघन्य के क्रम से पहले मूलकर्मों की उत्तरप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं।

-
- १ अन्तर्मुहूर्त में असंख्यात समय होते हैं। अतः स्थिति के अन्तर्मुहूर्त में अधिक समय वाले अन्तर्मुहूर्त को और अबाधाकाल के अन्तर्मुहूर्त में कम समयों वाले अन्तर्मुहूर्त को ग्रहण करने से जघन्य स्थिति के अन्तर्मुहूर्त में अन्तर्मुहूर्त का अबाधाकाल घटित होता है।

उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति

सुक्किलसुरभिमहुराण दस उ तह सुभचउण्हफासाणं ।

अड्ढाइज्ज पवुड्ढी अबिलहालिद् पुव्वाणं ॥३३॥

शब्दार्थ—सुक्किलसुरभिमहुराण—शुक्लवर्ण, सुरभिगंध, मधुररस, दस—दस कोडाकोडी, उ—अधिक अर्थसूचक अव्यय है, तह—तथा, सुभ—शुभ, चउण्ह—चार, फासाणं—स्पर्शों की, अड्ढाइज्ज—अढाई कोडाकोडी की, पवुड्ढी—वृद्धि, अबिलहालिद्—आम्लरस और हारिद्रवण, पुव्वाणं—पूर्वक, सहित ।

गाथार्थ—शुक्लवर्ण, सुरभिगंध, मधुररस और चार शुभ स्पर्शों की दस कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है तथा आम्लरस, हारिद्रवणादि की अढाई-अढाई कोडाकोडी सागरोपम की वृद्धि सहित उत्कृष्ट स्थिति है ।

विशेषार्थ—गाथा में वर्णचतुष्क के अवान्तर भेदों की स्थिति का निर्देश किया है ।

शुक्लवर्ण, सुरभिगंध, मधुररस तथा मृदु, लघु, स्निग्ध और उष्ण रूप चार शुभ स्पर्श, इन सात प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम को है । इनका एक हजार वर्ष अबाधाकाल और अबाधाकाल हीन शेष निषेकरचनाकाल है ।

आम्लरस और पीतवर्ण आदि रस और वर्ण की उत्कृष्ट स्थिति अनुक्रम से अढाई-अढाई कोडाकोडी सागरोपम अधिक जानना चाहिए । जिसका तात्पर्य इस प्रकार है कि आम्लरस और पीतवर्ण की उत्कृष्ट स्थिति साढ़े बारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण तथा साढ़े बारहसौ वर्ष का अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष निषेकरचनाकाल है । इन साढ़े बारह कोडाकोडी सागरोपमों में अढाई कोडाकोडी सागरोपम मिलाने पर कषायरस और रक्तवर्ण की पन्द्रह कोडाकोडी

सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति और इनका पन्द्रहसौ वर्ष का अबाधा-काल तथा अबाधाकाल से रहित शेष निषेकरचनाकाल है। इस पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम काल में अढाई कोडाकोडी सागरोपम को मिलाकर कुल साढ़ेसत्रह कोडाकोडी सागरोपम काल कटुकरस और नीलवर्ण का उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण है। साढ़े सत्रह सौ वर्ष अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष काल निषेकरचनाकाल है। तित्तरस, कृष्णवर्ण और गाथागत अधिक अर्थसूचक तु शब्द से दुरभिगंध, गुरु, कर्कश, रूक्ष और शीत इन चार स्पर्शों की पूर्वोक्त साढ़े सत्रह कोडाकोडी सागरोपम में अढाई कोडाकोडी सागरोपम मिलाकर कुल बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति जानना चाहिए। इनका दो हजार वर्ष का अबाधाकाल है और अबाधाकाल से हीन निषेकरचनाकाल है।

इस प्रकार से वर्णचतुष्क के अवान्तर भेदों की उत्कृष्ट स्थिति जानना चाहिए।^१

अब वेदनीय तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिकर्मों की सभी उत्तरप्रकृतियों एवं मोहनीय व नामकर्म की कुछ प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बताते हैं।

तीसं कोडाकोडी असाय-आवरण-अंतरायाणं ।

मिच्छे सयरी इत्थी मणुदुगसायाण पन्नरस ॥३४॥

१ कर्मप्रकृति एवं दिगम्बर कर्मसाहित्य में वर्णचतुष्क के अवान्तर भेदों की उत्कृष्ट स्थिति पृथक्-पृथक् नामनिर्देश नहीं करके सामान्य से बीस कोडाकोडी सागरोपम बताई है। जिसका सम्भव कारण यह है कि बंधयोग्य मानी गई एक सौ बीस प्रकृतियों में वर्णचतुष्क को ग्रहण किया है। यहाँ जो विस्तार से अलग-अलग उल्लेख किया है, वह विशेषापेक्षा समझना चाहिए।

शब्दार्थ—तीस—तीस, कोडाकोडी—कोडाकोडी, असाय—आसाता-वेदनीय, आवरण अंतरायणं—आवरणद्विक, (ज्ञानावरण, दर्शनावरण) अन्तराय कर्मप्रकृतियों की, मिच्छे—मिथ्यात्व, सयरी—सत्तर, इत्थी—स्त्रीवेद, मणुगु—मनुष्यगतिद्विक, सायाण—सातावेदनीय की, पन्नरस—पन्द्रह कोडाकोडी ।

गाथार्थ—असातावेदनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म प्रकृतियों की तीस कोडाकोडी, मिथ्यात्व की सत्तर कोडाकोडी, स्त्रीवेद, मनुष्यगतिद्विक और सातावेदनीय की पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ।

विशेषार्थ—गाथा में समान-समान स्थिति वाले तीन कर्मप्रकृति वर्गों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है ।

पहला वर्ग है—आसातावेदनीय, ज्ञानावरणपंचक (मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनपर्यायज्ञानावरण, केवल-ज्ञानावरण), दर्शनावरणनवक (निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानद्धि, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवल-दर्शनावरण), अंतरायपंचक (दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, (उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय), कुल बीस प्रकृतियों का । इन बीस प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति अपने मूलकर्म के बराबर तीस कोडाकोडी-तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है । इनका तीन-तीन हजार वर्ष अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष निषेकरचना-काल है ।

दूसरे वर्ग में सिर्फ एक मिथ्यात्वमोहनीय प्रकृति है । इसकी सत्तर कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है और सात हजार वर्ष का अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष कर्मदलिकों की निषेकरचना का काल है ।

तीसरे वर्ग में गृहीत स्त्रीवेद, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और सातावेदनीय इन चार प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोडाकोडी साग-

रोपम की है। पन्द्रह सौ वर्ष का अबाधाकाल एवं अबाधाकाल से हीन शेष निषेकरचनाकाल है।

इस प्रकार से अभी तक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मों की सभी उत्तरप्रकृतियों एवं कुछ एक मोहनीय और नामकर्म की उत्तरप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई जा चुकी है। अब आगे की गाथा में मुख्य रूप से नामकर्म का उत्तरप्रकृतियों की और साथ में मोहनीयकर्म में से सोलह कषायों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं—

संघयणे संठाणे पढमे दस उवरिमेसु दुगुबुड्ढी ।

सुहुमतिवामणविगले ठारस चत्ता कसायाणं ॥३५॥

शब्दार्थ—संघयणे—संहनन में, संठाणे—संस्थान में, पढमे—पहले, दस—दस कोडाकोडी, उवरिमेसु—ऊपर के संहनन और संस्थानों में, दुगुबुड्ढी—दो-दो की वृद्धि, सुहुमति—सूक्ष्मत्रिक, वामण—वामनसंस्थान, विगले—विकलत्रिक की, ठारस—अठारह कोडाकोडी सागरोपम, चत्ता—चालीस, कसायाणं—कषायों की।

गाथार्थ—संहननों और संस्थानों में से पहले संहनन और संस्थान की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम की है और इसके बाद ऊपर-ऊपर के एक संहनन और संस्थान में दो-दो कोडाकोडी सागरोपम की वृद्धि करना चाहिए। सूक्ष्मत्रिक, वामन-संस्थान और विकलत्रिक की अठारह कोडाकोडी सागरोपम तथा कषायों की चालीस कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है।

विशेषार्थ—प्रथम संहनन—वज्रऋषभनाराच और प्रथम संस्थान—समचतुरस्र इन दोनों की उत्कृष्ट स्थिति दस-दस कोडाकोडी सागरोपम की है, एक हजार वर्ष का अबाधकाल एवं अबाधाकाल से हीन शेष दलिक

निषेकरचनाकाल है। इसके बाद आगे के संहननों और संस्थानों के युगल बनाकर अनुक्रम से दो-दो कोडाकोडी सागरोपम की वृद्धि करना चाहिए। वह इस प्रकार से समझना चाहिए—

दूसरे ऋषभनाराचसंहनन और न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान की बारह कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है। बारहसौ वर्ष अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष दलिक—निषेकरचनाकाल है। तीसरे नाराचसंहनन और सादिसंस्थान की चौदह कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्टस्थिति, चौदहसौ वर्ष अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष दलिकरचनाकाल है। चौथा अर्धनाराचसंहन और कुब्जसंस्थान की सोलह कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है, सोलहसौ वर्ष अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष निषेकरचनाकाल है। पांचवें कीलिकासंहनन और वामनसंस्थान की अठारह कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है, अठारहसौ वर्ष का अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष निषेकरचनाकाल है तथा सेवार्तसंहनन और हुंडकसंस्थान की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की है, दो हजार वर्ष का अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष निषेकरचनाकाल है।

इस प्रकार संहनन और संस्थान नामकर्मों के छह-छह भेदों की कर्मरूपतावस्थानलक्षणा एवं अनुभवयोग्या उत्कृष्ट स्थिति जानना चाहिए।

सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्त तथा विकलत्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति तथा वामनसंस्थान^१ इन सात प्रकृतियों

- १ कुछ एक आचार्य क्रमगणना में वामन को चौथा संस्थान मानते हैं। अतएव उनके मतानुसार वामनसंस्थान की उत्कृष्ट स्थिति सोलह कोडाकोडी सागरोपम की है। परन्तु पंचसंग्रहकार इसे पांचवां संस्थान मानते हैं। इनको यह मत इष्ट नहीं है कि वामनसंस्थान चौथा संस्थान है। इसीलिए



की अठारह कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है, अठारह सौ वर्ष का अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष निषेकरचानाकाल है। तथा—

‘चत्ता कसायाणं’ अर्थात् अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोधादि चतुष्कों रूप सोलह कषायों की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोडाकोडी सागरोपम है, चार हजार वर्ष अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन निषेकरचानाकाल है। तथा—

पुंहासरईउच्चे सुभखगतिथिराइछक्कदेवदुगे ।
दस सेसाणं वीसा एवइयाबाह वाससया ॥३६॥

शब्दार्थ —पुंहासरईउच्चे—पुरुषवेद, हास्य, रति, उच्चगोत्र, सुभखगति—
शुभ विहायोगति, थिराइछक्क—स्थिरादिषट्क, देवदुगे—देवद्विक, दस—दस
कोडाकोडी सागरोपम, सेसाणं—शेष प्रकृतियों की, वीसा—वीस कोडाकोडी
सागरोपम, एवइयाबाह—इतना अबाधाकाल, वाससया—सौ वर्ष ।

गाथार्थ—पुरुषवेद, हास्य, रति, उच्चगोत्र, शुभ विहायोगति,
स्थिरषट्क और देवद्विक की दस कोडाकोडी सागरोपम की और
शेष प्रकृतियों की बीस कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति
है । जितने कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति हो उतने ही सौ वर्ष
का अबाधाकाल जानना चाहिए ।

पूर्व में संस्थानों की स्थिति का वर्णन कर दिये जाने के बाद पुनः विशेष
निर्णय के लिए गाथा में पृथक् से निर्देश किया है—

सुहुमतिवामणविगले ठारस ।

कर्मप्रकृति में भी वामन को पांचवां संस्थान मानकर अठारह कोडा-
कोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है ।

दिगम्बर कर्मग्रन्थिकों ने भी वामन को पांचवां संस्थान माना है ।

विशेषार्थ—गाथा में आयु और नामकर्म की सम्यक्त्वसाक्षेप आहारकद्विक और तीर्थकरनाम इन तीन प्रकृतियों के अतिरिक्त पूर्वोक्त से शेष रही कतिपय शुभ प्रकृतियों एवं मोहनीय, गोत्र कर्म की प्रकृतियों की नामोल्लेख पूर्वक उत्कृष्ट स्थिति तथा उत्कृष्ट स्थिति का अबाधाकाल जानने की विधि बतलाई है ।

नामोल्लेख पूर्वक जिन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है, वे इस प्रकार हैं—

पुरुषवेद, हास्य, रति, उच्चगोत्र, शुभविहायोगति, स्थिरषट्क—स्थिर, शुभ, सौभाग्य, सुस्वर, आदेय, यशः कीर्ति और देवद्विक—देवगति और देवानुपूर्वी इन तेरह प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम की है । एक हजार वर्ष का अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष निषेकरचनाकाल है तथा नामोल्लेख पूर्वक जितनी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति अभी तक कही जा चुकी है, उनसे शेष रही प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की है—‘सेसाणं बीसा ।’ वे शेष प्रकृतियां सैंतीस हैं । जिनके नाम इस प्रकार हैं—

भय, जुगुप्सा, शोक, अरति, नपुंसकवेद, नीचगोत्र, नरकद्विक, तिर्यचद्विक, औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, स्थावर, आतप, उद्योत, अशुभविहायोगति, निर्माण, एकन्द्रियजाति, पंचेन्द्रियजाति, तैजस और कार्मण । इनकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम है, दो हजार वर्ष का अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन निषेकरचनाकाल है ।

यद्यपि प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाने के साथ उन-उनके अबाधाकाल का भी निर्देश करते आ रहे हैं । लेकिन अभी तक उतना-उतना अबाधाकाल मानने का नियम नहीं बतलाया है । अतः अब उसे बताते हैं—

‘एवइया बाह्वाससया’ अर्थात् जिस कर्म प्रकृति की जितने कोडा-कोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति हो, उस प्रकृति का उतने सौ वर्ष अबाधाकाल समझना चाहिए। जैसेकि मिथ्यात्वमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम है तो उसका सत्तर सौ वर्ष यानी सात हजार वर्ष प्रमाण अबाधाकाल है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए।

अब पूर्वोक्त से शेष रही प्रकृतियों में से पहले आयुचतुष्क की उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं—

सुरनारयाउयाणं अयरा तेत्तीस तिन्नि पलियाइं ।

इयराणं चउसु वि पुव्वकोडितंसो अबाहाओ ॥३७॥

शब्दार्थ—सुरनारयाउयाणं—देव और नरक आयु की, अयरा—सागरोपम, तेत्तीस—तेतीस, तिन्नि—तीन, पलियाइं—पल्योपम, इयराणं—इतर दो आयु की, चउसु—चारों आयु में, वि—ही, पुव्वकोडितंसो—पूर्व कोटि का तीसरा भाग, अबाहाओ—अबाधाकाल।

गाथार्थ—देव और नरक आयु की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम है और उनसे इतर दो आयु मनुष्य एवं तिर्यच आयु की तीन पल्य है। चारों ही आयु का पूर्वकोटि का तीसरा भाग अबाधाकाल है।

विशेषार्थ—गाथा में आयुकर्म के चारों भेदों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है—

देवायु और नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम तथा इतर—तिर्यच और मनुष्य आयु की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की है। इन चारों स्थितियों में पूर्वकोटि का तीसरा भाग अधिक मिला लेना चाहिये। इसका तात्पर्य यह हुआ कि देव और नरक आयु की जो उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम और तिर्यच, मनुष्य आयु की तीन पल्योपम बतलाई है, वह अनुभवयोग्या उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें

अबाधाकाल गर्भित नहीं है तथा पूर्वकोटि का तीसरा भाग जो अधिक लिया गया है, वह उनका अबाधाकाल है। इतने काल में बध्यमान आयु के दलिकों की रचना नहीं होती है। भुज्यमान आयु के दो भाग बीतने पर तीसरा भाग शेष रहे तब परभव की आयु का बंध होता है, तभी पूर्वकोटि का तीसरा भाग अबाधा घटित होता है। पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाला तीसरे भाग की शुरुआत में यदि परभव की आयु बंध करे, उसे ही उतना उत्कृष्ट अबाधाकाल होता है। पूर्वकोटि का तीसरा भाग ये उत्कृष्ट अबाधा है। क्योंकि पूर्वकोटि से अधिक आयु वाला अपनी आयु के छह मास रहने पर परभव की आयु का बंध करता है।

आयुक्रम के अबाधाकाल के सम्बन्ध में एक बात ध्यान रखने योग्य है कि अबाधाकाल के लिए पहले जो नियम बतला आये हैं कि एक कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति में सौ वर्ष अबाधाकाल होता है, वह नियम आयुक्रम के सिवाय शेष सात कर्मों की अबाधा निकालने के लिए है। आयुक्रम की अबाधा स्थिति के अनुपात पर अवलम्बित नहीं है। इसका कारण यह है कि अन्य सातों कर्मों का बंध तो सर्वदा होता रहता है, किन्तु आयुक्रम का बंध अमुक-अमुक काल में ही होता है। गति के अनुसार अमुक-अमुक काल निम्न प्रकार हैं—कर्मभूमिज मनुष्यगति और तिर्यचगति में जब भुज्यमान आयु के दो भाग बीत जाते हैं तब परभव की आयु के बंध का काल उपस्थित होता है। जैसे कि यदि किसी मनुष्य की आयु निग्यानवै वर्ष की है तो उसमें छियासठ वर्ष बीतने पर वह मनुष्य परभव की आयु बांधेगा, उससे पहले उसके आयुक्रम का बंध नहीं हो सकता है। यह तो हुई कर्मभूमिज मनुष्य-तिर्यचों की अपेक्षा से आयुक्रम की अबाधा की व्यवस्था किन्तु भोग-भूमिज मनुष्य और तिर्यच तथा देव और नारक अपनी-अपनी आयु के छह माह शेष रह जाने पर आगामी भव की आयु बांधते हैं।

आयुक्रम की अबाधा के सम्बन्ध में दूसरी ध्यान में रखने योग्य

बात यह है कि पूर्व में सात कर्मों की जो स्थिति बतलाई है, उसमें उनका अबाधाकाल भी सम्मिलित है। जैसे कि मिथ्यात्वमोहनीय की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है और उसका सात हजार वर्ष अबाधाकाल बतलाया है, तो ये सात हजार वर्ष उस सत्तर कोडाकोडी सागरोपम में सम्मिलित हैं। अतः यदि मिथ्यात्व की अबाधारहित स्थिति (अनुभवयोग्या स्थिति) जानना हो तो सत्तर कोडाकोडी सागरोपम में से सात हजार वर्ष कम कर देना चाहिये। किन्तु आयुकर्म की तेतीस सागरोपम, तीन पल्योपम आदि जो स्थिति बतलाई है, वह शुद्ध स्थिति है। उसमें अबाधाकाल सम्मिलित नहीं है। क्योंकि अन्य कर्मों की तरह आयुकर्म की अबाधा अनुपात पर आधारित नहीं है और अनुपात पर अवलम्बित न होने का कारण यह है कि आयु के त्रिभाग में भी आयु का बंध अवश्यभावी नहीं है। क्योंकि त्रिभाग के भी त्रिभाग करते-करते आठ त्रिभाग पड़ते हैं। इस प्रकार से तीसरे भाग में, नौवें भाग में, सत्ताईसवें भाग में परभव की आयु का बंध हो सकता है और कदाचित् इस सत्ताईसवें भाग में भी परभव की आयु का बंध न हो तो मरण से अन्तर्मुहूर्त पहले अवश्य बंध हो जाता है। इसी अनिश्चितता के कारण आयुकर्म की स्थिति में उसका अबाधाकाल सम्मिलित नहीं किया जाता है।

आयुकर्म की स्थिति के साथ उसकी अबाधा को न जोड़ने का तीसरा कारण यह है कि अन्य कर्म अपने स्वजातीय कर्मों को अपने बंध द्वारा पुष्ट करते हैं और यदि उनका उदय भी हो तो उसी जाति के बंधे हुए नवीन कर्म का बंधावलिका के बीतने के पश्चात् उदीरणा द्वारा उदय भी होता है। परन्तु आयुकर्म के लिए ऐसा नहीं है। बध्यमान आयु भुज्यमान आयु के एक भी स्थान को पुष्ट नहीं करती है। जैसे कि मनुष्यायु को भोगते हुए स्वजातीय मनुष्यायु का बंध भी हो तो बध्यमान उस आयु को अन्य मनुष्य जन्म में जाकर ही भोगा जाता है, यहाँ उसके एक भी दलिक का उदय या उदीरणा नहीं होती है। इसी कारण आयु के साथ अबाधाकाल को नहीं जोड़ा जाता है।

आयुर्कर्म की स्थिति के साथ उसके अबाधाकाल को न जोड़ने का चौथा कारण यह है कि आयुर्कर्म की उत्कृष्ट स्थिति में भी जघन्य अबाधा और जघन्य स्थिति में भी उत्कृष्ट अबाधा हो सकती है। क्योंकि पहले यह बता चुके हैं कि उसका अबाधाकाल स्थिति के प्रति-भाग के अनुसार नहीं होता है। अतः आयुर्कर्म की अबाधा के चार विकल्प होते हैं—

१. उत्कृष्ट स्थितिबंध में उत्कृष्ट अबाधा।
२. उत्कृष्ट स्थितिबंध में जघन्य अबाधा।
३. जघन्य स्थितिबंध में उत्कृष्ट अबाधा।
४. जघन्य स्थितिबंध में जघन्य अबाधा।

इन चार विकल्पों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जब कोई मनुष्य अपनी पूर्वकोटि की आयु में तीसरा भाग शेष रहने पर तृतीयांश सागरोपम की आयु बांधता है तब उत्कृष्ट स्थितिबंध में उत्कृष्ट अबाधा होती है और यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शेष रहने पर तृतीयांश सागरोपम की स्थिति बांधता है, तो उत्कृष्ट स्थिति में जघन्य अबाधा होती है तथा जब कोई मनुष्य एक पूर्वकोटि का तीसरा भाग शेष रहने पर भव की जघन्य स्थिति बांधता है जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण हो सकती है, तब जघन्य स्थिति में उत्कृष्ट अबाधा और यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रहने पर भव की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति बांधता है तो जघन्य स्थिति में जघन्य अबाधा होती है। इस प्रकार आयुर्कर्म की उत्कृष्ट स्थिति में भी जघन्य अबाधा और जघन्य स्थिति में भी उत्कृष्ट अबाधा हो सकती है। यही कारण है कि आयुर्कर्म की स्थिति में उसका अबाधाकाल सम्मिलित नहीं किया जाता है।^१

-
- १ उत्कृष्ट स्थितिबंध का अबाधाकाल निकालने का जो सूत्र बताया है कि एक कोडाकोडी सागरोपम पर सौ वर्ष का अबाधा होती है, उस सूत्र के अनुरूप आयुर्कर्म की उत्कृष्ट स्थिति कोडाकोडी सागरोपमों में नहीं होकर



इस प्रकार से आयुर्कर्म की स्थिति में उसके अबाधाकाल को न जोड़ने के कारण को स्पष्ट करने के अनन्तर अब भुज्यमान आयु के दो भाग जाने के बाद तीसरा भाग शेष रहने पर परभव की आयु बंध होने को आधार बनाकर प्रस्तुत की गई एक शंका का समाधान करते हैं ।

आयुबंध विषयक शंका-समाधान

बोलीणेषुं दोसुं भागेसुं आउयस्स जो बंधो ।

भणिओ असंभवाओ न घडइ सो गइचउक्केवि ॥३८॥

पलियासंखेज्जसे बंधंति न साहिए नरतिरिच्छा ।

छम्मासे पुण इयरा तदाउत्तंसो बहुं होइ ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—बोलीणेषुं—बीतने पर, दोसुं भागेसुं—दो भागों के, आउयस्स—आयुर्कर्म के, जो—जो, बंधो—बंध, भणिओ—कहा है, असंभवाओ—असंभव होने से, न—नहीं, घडइ—घटित होता है, सो—वह, गइचउक्केवि—चारों गतियों में भी ।

पलियासंखेज्जसे—पत्य के असंख्यातवें भाग, बंधंति—बांधते हैं, न—नहीं, साहिए—साधिक, नरतिरिच्छा—मनुष्य तिर्यच, छम्मासे—छह मास, पुण—पुनः और, इयरा—इतर—देव, नारक, तदाउत्तंसो—उनकी आयु का तृतीय अंश, बहुं—बहुत बड़ा, होइ—होता है ।

गाथार्थ—भुज्यमान आयु के दो भागों के बीतने पर शेष रहे तीसरे भाग में जो परभव की आयु का बंध होना कहा है वह असंभव होने से चारों गतियों में घटित नहीं होता है । क्योंकि युगलिक मनुष्य साधिक पत्योपम के असंख्यातवें भाग के शेष

मात्र सागरोपमों में होने से सम्भवतः आयुर्कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बंधने में उसका अबाधाकाल न जोड़ा हो । विज्ञान इस दृष्टिकोण पर विचार करें ।

रहने तक और इतर—देव, नारक छह मास से अधिक आयु जब तक शेष हो तब तक परभव की आयु नहीं बांधते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी आयु का तीसरा भाग बहुत बड़ा होता है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में एक शंका का पूर्व पक्ष प्रस्तुत किया गया है।

शंका—भुज्यमान आयु के दो भाग बीतने पर शेष रहे तीसरे भाग में परभव की आयुबंध होने का जो नियम कहा है, वह असंभव है। इसका कारण यह है कि भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यंच अपनी भुज्यमान आयु का जब तक कुछ अधिक पत्योपम का असंख्यातवां भाग शेष हो तब तक परभव की आयु नहीं बांधते हैं।^१ परन्तु पत्योपम का असंख्यातवां भाग शेष रहे तभी परभव की आयु बांधते हैं तथा इतर—देव और नारक अपनी आयु का छह मास से अधिक भाग शेष हो तब तक परभव की आयु का बंध नहीं करते हैं, परन्तु छह मास आयु शेष रहने पर परभव की आयु बांधते हैं। क्योंकि भोग-भूमिज मनुष्य-तिर्यंचों और देव-नारकों की आयु का तीसरा भाग बहुत बड़ा होता है। भोगभूमिज मनुष्य-तिर्यंचों का तीसरा भाग पत्योपम प्रमाण और देव-नारकों की आयु का त्रिभाग ग्यारह सागर प्रमाण होता है और आयु का इतना बड़ा भाग शेष रहे तब परभव की आयु का बंध घट नहीं सकता है। परन्तु पत्योपम का असंख्यातवां भाग आदि शेष रहे तब बंध होना घट सकता है। जब यह बात है तो अपनी आयु का तीसरा भाग शेष रहने पर परभव की आयु का बंध और पूर्वकोटि का तीसरा भाग अबाधा यह जो कहा है, वह सब असंगत है।

-
- १ यह कथन उनकी अपेक्षा समझना चाहिए जो युगलिक मनुष्यों और तिर्यंचों के पत्योपम का असंख्यातवां भाग अबाधा मानते हैं। उनके मत से पत्योपम का असंख्यातवां भाग शेष रहे तब परभव की आयु बांधते हैं।

यह शंका का पूर्वपक्ष है । जिसका अब ग्रन्थकार आचार्य समाधान करते हैं—

पुव्वाकोडी जेसि आऊ अहिकिच्च ते इमं भणियं ।

भणियं पि निय अबाहं आउं बंधति अमुयंता ॥४०॥

शब्दार्थ—पुव्वाकोडी—पूर्वकोटि, जेसि—जिनकी, आऊ—आयु, अहिकिच्च—अधिकृत करके, अपेक्षा से, ते—वह, इमं—यह, भणियं—कहा गया है, भणियं—कहा है, पि—भी, निय—अपनी, अबाहं—अबाधा, आउं—आयु को, बंधति—बांधते हैं, अमुयंता—नहीं छोड़ते ।

गाथार्थ—जिनकी पूर्वकोटि वर्ष आयु है, उनकी अपेक्षा यह कहा गया है कि दो भाग बीतने के बाद तीसरा भाग शेष रहने पर परभव की आयु बांधते हैं एवं उन्हीं की अपेक्षा यह कहा है कि वे पूर्वकोटि का त्रिभाग रूप अपनी अबाधा को नहीं छोड़ते हैं । अर्थात् पूर्वकोटि का तीसरा भाग शेष रहने पर परभव की आयु का बंध करते हैं, यह जो कहा है, वह पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले जीवों की अपेक्षा से कहा गया है ।

विशेषार्थ—गाथा में ग्रन्थकार आचार्य ने शंका का समाधान करते हुए बताया है कि पूर्वकोटि का त्रिभाग अबाधा का निर्देश असंगत नहीं है । क्योंकि जिन संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच और मनुष्यों की पूर्वकोटि प्रमाण आयु होती है और वे परभव की आयु का बंध करें तो उनकी अपेक्षा ही यह कहा गया है कि अपनी आयु के दो भाग जाने पर, तीसरे भाग के प्रारम्भ में परभव की आयु का बंध करते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि उनकी अपनी आयु के दो भाग जायें और तीसरा भाग शेष रहे तब परभव की आयु का बंध होता है, यह पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले जीवों की अपेक्षा से कहा गया है । किन्तु इससे अधिक जिनकी आयु हो उनकी अपेक्षा इस नियम का विधान नहीं किया गया है । वे तो छह माह की आयु शेष रहने पर आगामी भव की आयु का बंध करते हैं तथा पूर्वकोटि का तीसरा भाग रूप उत्कृष्ट अबाधा भी

पूर्वकोटि वर्ष की आयु वालों के ही घटित होती है। क्योंकि वे ही अपनी आयु के दो भाग जाने के अनन्तर तीसरे भाग के प्रारम्भ में परभव की आयु बांध सकते हैं।

परभव की आयु का उत्कृष्ट बंध और उत्कृष्ट अबाधा, यह भंग भी उन्हीं जीवों में घटित हो सकता है जो पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले दो भाग जाने के बाद तीसरे भाग के प्रारम्भ में आयु बांधते हैं और वह भी उत्कृष्ट आयु बांधते हैं। किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि पूर्व कोटि वर्ष की आयु वाले सभी जीव दो भाग जाने के बाद तीसरे भाग के प्रारम्भ में ही आयु बांधते हैं। क्योंकि कितने ही तीसरे भाग में, कितने ही तीसरे भाग के तीसरे भाग में, यानी कुल आयु के नौवें भाग में, कितने ही नौवें भाग के तीसरे भाग में यानी कुल आयु के सत्ताईसवें भाग में, यावत् कितने ही अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में भी पारभविक आयु का बंध करते हैं। जितनी अपनी भुज्यमान आयु शेष रहे और पारभविक आयु बंध हो, उतना अबाधाकाल है। यह अबाधाकाल भुज्यमान आयु सम्बन्धी समझना चाहिए किन्तु परभवायु सम्बन्धी नहीं तथा भुज्यमान आयु जिस समय पूर्ण हो, उसके अनन्तर समय में ही परभव की आयु का उदय होता है। बीच में एक भी समय का अन्तर नहीं रहता है। जीवस्वभाव के कारण निषेकरचना ही इस प्रकार से होती है कि भुज्यमान आयु के एक भी स्थान में नहीं होती है किन्तु अनन्तर समय के प्रारम्भ से ही होती है। यानी भुज्यमान आयु पूर्ण हो कि उसके पश्चाद्वर्ती समय में ही परभव की आयु का उदय होता है। इस प्रकार दो भाग जाने के बाद तीसरे भाग के प्रारम्भ में आयु का बंध और पूर्वकोटि का तीसरा भाग रूप उत्कृष्ट अबाधा यह सब कथन पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले की अपेक्षा से कहा है, इसलिये उक्त कथन संगत है।

इस प्रकार परभव की आयु बांधने वाले पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच और मनुष्यों के पूर्वकोटि का तीसरा भाग

रूप उत्कृष्ट अबाधा जानना चाहिये ।^१ अब परभव की आयु बांधने वाले शेष जीवों के जितनी अबाधा होती है, उसे बतलाते हैं ।

परभवायु बंधक शेष जीवों की अबाधा का प्रमाण

निरुवक्कमाण छमासा इगिविगलाणं भविट्ठईतंसो ।

पलियासंखेज्जंसं युगधम्मोणं वयंतन्ने ॥४१॥

शब्दार्थ—निरुवक्कमाण—निरूपक्रम आयु वालों के, छमासा—छह मास, इगिविगलाणं—एकेन्द्रिय और विरुलेन्द्रियों के, भविट्ठईतंसो—भवस्थिति का

१ आयु की ऐसी परिभाषा है कि पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले संख्यात वर्ष की आयु वाले और उससे एक समय भी अधिक यावत् पल्योपम सागरोपम आदि की आयु वाले असंख्य वर्ष की आयु वाले कहलाते हैं । अपनी भुज्यमान आयु के दो भाग जाने के पश्चात् तीसरे भाग के आदि में—प्रारम्भ में आयु बांध सकते हैं, यह कथन संख्यात वर्ष की आयु वालों की अपेक्षा घटित होता है । असंख्यात वर्ष की आयु वालों की अपेक्षा नहीं । असंख्यात वर्ष की आयु वाले तो अपनी आयु छह माह शेष रहे तब परभव की आयु का बंध करते हैं । मतान्तर से युगलिक पल्योपम का असंख्यातवां भाग शेष रहे तब और नारक अन्तर्मुहूर्त की आयु बाकी हो तब परभव की आयु बांधते हैं ।

पूर्व में जो आयु के उत्कृष्ट स्थितिबंध में जघन्य अबाधा होने का संकेत किया है, वह नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति बांधने पर सम्भव है । जैसे कि अन्तर्मुहूर्त की आयु वाला तन्दुलमत्स्य तेतीस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट नरकायु का बंध करता है । किन्तु देवायु की अपेक्षा सम्भव नहीं है । क्योंकि अन्तर्मुहूर्त की आयु वाला अनुष्य अनुत्तर विमान की तेतीस सागरोपम प्रमाण आयु नहीं बांध सकता है । अनुत्तर विमान की आयु-प्रमत्तअप्रमत्त संयत गुणस्थान में बंधती है और वह गुणस्थान लगभग नौ वर्ष की उम्र वाले को ही प्राप्त होते हैं ।

तृतीयांश, पलियासंखेज्जांसं—पल्योपम का असंख्यातवां भाग, जुगधम्मोणं—युगलियों के—भोगभूमिजों के, वयंतन्ने—अन्य आचार्य कहते हैं ।

गाथार्थ—निरुपक्रम आयु वालों के छह मास अबाधा है । एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों के अपनी भवस्थिति आयु का तृतीयांश अबाधा है तथा अन्य आचार्य ऐसा भी कहते हैं कि युगलियों के पल्योपम का असंख्यातवां भाग अबाधा है ।

विशेषार्थ—गाथा में कर्मभूमिज मनुष्य-तिर्यचों के अतिरिक्त शेष मनुष्य-तिर्यचों, देव और नारकों की भवस्थिति की अबाधा का निर्देश किया है—

‘निखवक्कमाण छमासा’ अर्थात् निरुपक्रम—अनपवर्तनीय आयु वाले देव, नारक एवं असंख्यात वर्षायुष्क वाले तिर्यच और मनुष्यों की परभवायु की अबाधा छह मास प्रमाण है । इसका कारण यह है कि वे अपनी छह माह आयु शेष रहने पर आगामी भव की आयु बांधते हैं तथा एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियों की जितनी-जितनी भवस्थिति हो—उनकी जितनी-जितनी उत्कृष्ट आयु हो, उसका तीसरा भाग उत्कृष्ट अबाधा है । क्योंकि ये अपनी-अपनी आयु के दो भाग बीतने के बाद परभव की आयु बांध सकते हैं, तभी अपनी-अपनी उत्कृष्ट आयु का तीसरा भाग उत्कृष्ट अबाधा घटती है ।

इस सन्दर्भ में यह जानना चाहिए कि सभी उत्कृष्ट आयु वाले हों और तीसरा भाग शेष रहे तब परभव की आयु बांधें, यह कोई नियम नहीं है । कोई नौवें, कोई सत्ताईसवें भाग इत्यादि में भी आयु बांधते हैं, उनकी अपेक्षा उतनी अबाधा समझना चाहिए ।

उत्कृष्ट अबाधा का सामान्य से उक्त नियम है । लेकिन किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का यह भी मतव्य है कि युगलिया—भोगभूमिज

१ एतद् विषयक दृष्टिकोण परिशिष्ट में देखिये ।

असंख्यात वर्ष की आयु वाले तीर्थंच और मनुष्यों की पत्योपम का असंख्यातवां भाग परभवायु की अबाधा है। उनके मत से पत्योपम का असंख्यातवां भाग शेष रहे, तब परभव की आयु का बंध होता है।

इस प्रकार से आयुचतुष्क की उत्कृष्ट स्थिति और तत्सम्बन्धी अबाधाकाल का विचार करने के पश्चात् अब तीर्थकरनाम, आहारकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण बताते हैं।

तीर्थकरनाम, आहारकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति

अंतोकोडाकोडी तित्थयराहार तीए संखाओ ।

तेत्तीसपलियसंखं निकाइयाणं तु उक्कोसा ॥४२॥

शब्दार्थ—अंतोकोडाकोडी—अन्तःकोडाकोडी सागरोपम, तित्थयराहार—तीर्थकरनाम और आहारकद्विक की, तीए—उसके, संखाओ—संख्यातवें भाग, तेत्तीसपलियसंखं—तेतीस सागरोपम और पत्योपम का असंख्यातवां भाग, निकाइयाणं—निकाचित की, तु—और, उक्कोसा—उत्कृष्ट ।

गाथार्थ—तीर्थकरनाम और आहारकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति अन्तःकोडाकोडी सागरोपम है और इन दोनों की निकाचित उत्कृष्ट स्थिति अनुक्रम से अन्तःकोडाकोडी के संख्यातवें भाग से लेकर तेतीस सागरोपम और पत्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण है।

विशेषार्थ—यहाँ तीर्थकरनाम और आहारकद्विक की सामान्य से और निकाचित अवस्था की अपेक्षा उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है—

अनिकाचित अवस्था की अपेक्षा तो तीर्थकर नामकर्म और आहारकद्विक—आहारकशरीर, आहारक-अंगोपांग की उत्कृष्ट स्थिति अन्तःकोडाकोडी सागरोपम की है, अन्तर्मुहूर्त अबाधाकाल है और अबाधाकाल से हीन निषेकरचनाकाल है। लेकिन निकाचितापेक्षा इन दोनों की उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार जानना चाहिये कि तीर्थकरनामकर्म की

अन्तःकोडाकोडी सागरोपम के संख्यातवें भाग से लेकर कुछ न्यून दो पूर्व कोडी अधिक तेतीस सागरोपम प्रमाण एवं आहारकद्विक की पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण है ।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि तीर्थकरनाम और आहारकद्विक की अन्तःकोडाकोडी सागरोपम के संख्यातवें भाग की स्थिति से लेकर निकाचित करना प्रारम्भ करे और जब पूर्ण रूप से गाढ़ निकाचित हो जाये तब तीर्थकरनाम की उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम दो पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागरोपम होती है । जो इस प्रकार समझना चाहिये—

जिस भव में तीर्थकर होना है उस भव से तीसरे भव में पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाला कोई मनुष्य तीर्थकर नामकर्म को निकाचित करे, वहाँ से तेतीस सागरोपम की आयु वाला अनुत्तर विमानवासी देव हो और वहाँ से च्यवकर चौरासी लाख पूर्व की आयु वाला तीर्थकर हो । इस प्रकार पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाला निकाचित बंध करे और वहाँ से अनुत्तर विमान में उत्कृष्ट आयु से उत्पन्न हो और उत्कृष्ट आयु से तीर्थकर हो तो ऊपर कहे अनुसार निकाचित तीर्थकरनामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति सम्भव है^१ और आहारकद्विक की अन्तःकोडाकोडी सागरोपम के संख्यातवें भाग से लेकर पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति गाढ़ निकाचित होती है । इस तरह इन दोनों^२ प्रकृतियों

१ तीर्थकरनाम की उपर्युक्त गाढ़ निकाचित उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले मनुष्य की अपेक्षा से जानना चाहिए । जो तेतीस सागरोपम की आयु से अनुत्तर विमान में उत्पन्न होकर फिर वहाँ से च्यवकर चौरासी लाख पूर्व की आयु से तीर्थकर हो । यदि पूर्वकोटि वर्ष से कम आयु वाला बाँधे और कम आयु वाले वैमानिक देवों या तारकों में उत्पन्न हो और तीर्थकरभव में कम आयु हो तो उपर्युक्त स्थिति से कम भी गाढ़ निकाचित स्थिति सम्भव है ।

२ यहाँ तीर्थकरनाम तथा आहारक शरीर आहारक-अंगोपांग को आहारक-द्विक नाम से एक प्रकृति रूप में गिनकर 'दोनों' शब्द का प्रयोग किया है ।

की स्थिति अनिकाचित, अल्प-निकाचित और गाढ़निकाचित^१ इस प्रकार तीन तरह की है। इनकी अनिकाचित उत्कृष्ट स्थिति अन्तः-कोडाकोडी सागरोपम और अल्प-निकाचित अन्तःकोडाकोडी का संख्यातवां भाग और गाढ़निकाचित ऊपर कहे अनुसार तेतीस सागरोपम आदि है।^२

इस प्रकार से तीर्थकरनाम और आहारकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति का कथन करने के साथ सभी उत्तरप्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध का वर्णन पूर्ण होता है। अब अनिकाचित अवस्था में जो तीर्थकरनाम-कर्म की अन्तःकोडाकोडी सागरोपमरूप उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है, उसके बारे में प्रस्तुत एक शंका का समाधान करते हैं।

तीर्थकरनाम की उत्कृष्ट स्थिति सम्बन्धी प्रश्न

अंतोकोडाकोडी ठिइए वि कहं न होइ ? तित्थयरे ।

संते कित्थिकालं तिरिओ अह होइ उ विरोहो ॥४३॥

शब्दार्थ—अंतोकोडाकोडी—अन्तःकोडाकोडी, ठिइए—स्थिति वाला, वि—भी, कहं—क्यों, न—नहीं, होइ—होता है, तित्थयरे—तीर्थकर में, संते—सत्ता में, कित्थिकालं—कुछ काल तक, तिरिओ—तिर्यंच, अह—यदि, होइ—होता है, उ—तो, विरोहो—विरोध ।

१ अनिकाचित ऐसी स्थिति का नाम है, जिसमें उद्वर्तन-अपवर्तन सम्भव है और कदाचित् सत्ता से भी निकल जाये। अल्पनिकाचित करणसाध्य है और गाढ़निकाचित करण असाध्य है। अल्पनिकाचित स्थिति की अपवर्तना होकर कम हो सकती है और गाढ़निकाचित जितनी स्थिति होगी, उतनी बराबर भोगी जायेगी। विद्वज्जन एतद् विषयक विशेष स्पष्टीकरण करने की कृपा करें।

२ तीर्थकरनाम की निकाचित स्थिति का बंध तीसरे भव में ही होता है। लेकिन आहारकद्विक के लिए ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं है कि तीसरे भव में ही निकाचित स्थिति का बंध हो। आहारकद्विक की स्थिति पत्योपम का असंख्यातवां भाग गाढ़निकाचित होती है।

गाथार्थ—अन्तःकोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाला तीर्थकर-
नाम सत्ता में होने पर भी इतने काल तक तिर्यच क्यों नहीं होता है ?
यदि कुछ काल तक होता है तो आगम से विरोध आता है ।

विशेषार्थ—गाथा में पूर्वपक्ष के रूप में शंका प्रस्तुत की गई है—

अन्तःकोडाकोडी सागरोपम की स्थितिवाला तीर्थकरनाम जब
सत्ता में हो तब क्या उतने काल पर्यन्त तिर्यच नहीं होता है ? कदा-
चित् यह कहो कि नहीं होता है, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है ।
क्योंकि त्रसकाय की उत्कृष्ट स्वकाय स्थिति दो हजार सागरोपम की
है और उसके बाद जीव मोक्ष में न जाये तो अवश्य स्थावर होता है ।
इसलिये तिर्यच गये बिना उतनी स्थिति पूर्ण हो नहीं सकती है और
यदि यह कहा जाये कि कुछ काल के लिये तिर्यच में जाता है तो
आगम-विरोध होता है । क्योंकि आगम में यह कहा गया है कि तीर्थकर-
नामकर्म की सत्ता वाला तिर्यच में नहीं जाता है ।

यह शंका का पूर्वपक्ष है । जिसके समाधानार्थ ग्रन्थकार आचार्य
बतलाते हैं—

जमिह निकाइय तित्थं तिरियभवे तं निसेहियं संतं ।

इयरमि नत्थि दोसो उवट्ठणवट्ठणासज्जे ॥४४॥

शब्दार्थ—जमिह—यहाँ जो, निकाइय—निकाचित, तित्थं—तीर्थकर
नामकर्म, तिरियभवे—तिर्यचभव में, तं—उसकी, निसेहियं—निषेध की है,
संतं—सत्ता, इयरमि—इतर—अनिकाचित में, नत्थि—नहीं है, दोसो—
दोष, उवट्ठणवट्ठणासज्जे—उद्वर्तना अपवर्तना साध्य में ।

गाथार्थ—यहाँ जो निकाचित तीर्थकरनामकर्म है, उसकी सत्ता
का तिर्यचभव में निषेध किया है किन्तु इतर में अर्थात् उद्वर्तना
अपवर्तना साध्य अनिकाचित सत्ता में कोई दोष नहीं है ।

विशेषार्थ—शंका का समाधान करते हुए आचार्य स्पष्ट करते हैं
कि जमिह—अर्थात् यहाँ—जिन प्रवचन में जिस तीर्थकरनामकर्म

का तीसरे भव में निकाचित बंध किया है यानी अवश्य भोगा जाये इस रीति से व्यवस्थित किया है, उसकी स्वरूप सत्ता का तिर्यचभव में निषेध किया है परन्तु जिसकी उद्वर्तना और अपवर्तना हो सकती है ऐसे अनिकाचित तीर्थकरनाम की सत्ता का तिर्यचभव में निषेध नहीं किया है। अनिकाचित तीर्थकरनाम की सत्ता तिर्यचभव में हो तो उसमें कोई दोष नहीं है। यह कथन स्वकल्पित नहीं है किन्तु अन्य आचार्यों ने भी इसी प्रकार बतलाया है। विशेषीणवती ग्रन्थ में कहा है—

तिरिएसु नत्थि तित्थयरनाम सत्तन्ति देसिथं समए ।

कह य तिरिओ न होहो, अयरोरम कोडिओडोए ॥ १ ॥

तं पि सुनिकाइयस्सेव तइयभवभाविणो विणिहिठ्ठं ।

अणिकाइयम्मि वचवइ सव्वगईओ वि न विरोहो ॥ २ ॥

अर्थात् तीर्थकरनाम की सत्ता तिर्यचभव में नहीं है, ऐसा जिन-प्रवचन में कहा है, परन्तु तीर्थकरनाम की उत्कृष्ट स्थिति अन्तः-कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण कही है, उतनी स्थिति में तीर्थकरनाम-कर्म की सत्तावाला तिर्यच क्यों नहीं होता है ? उतनी स्थिति में तिर्यच अवश्य होता ही है। क्योंकि तिर्यच भव में भ्रमण किये बिना उतनी स्थिति की पूर्णता होना अशक्य ही है।

इसका उत्तर यह है—तीर्थकरनामकर्म की सत्ता तिर्यच में नहीं होती है, ऐसा जो सिद्धान्त में कहा गया है वह तीसरे भव में होने वाली सुनिकाचित तीर्थकरनामकर्म की सत्ता की अपेक्षा कहा गया है, किन्तु सामान्य सत्ता की अपेक्षा नहीं कहा गया है। इसलिये अनिकाचित तीर्थकरनाम की सत्ता होने पर सभी चारों गतियों में जाये, इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। अर्थात् अनिकाचित बंध होने पर तिर्यचभव की भी प्राप्ति होती है तो इसमें कोई दोष नहीं है।

इस प्रकार यथायोग्य स्पष्टीकरण के साथ समस्त उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण जानना चाहिये ।^१

अब उत्तर प्रकृतियों की जघन्य स्थिति बतलाते हैं किन्तु उससे पूर्व जघन्य स्थिति के प्रमाण का सुगमता से बोध कराने के लिये तत्सम्बन्धी नियम का निर्देश करते हैं ।

उत्तर प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का नियम

पुव्वकोडीपरओ इगि विगलो वा न बंधए आउं ।

अंतोकोडाकोडीए आरउ अभवसन्ती उ ॥४५॥

शब्दार्थ—पुव्वकोडीपरओ—पूर्वकोटि से अधिक, इगि विगलो—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, वा—और, न—नहीं, बंधए—बांधते हैं, आउं—आयु, अंतोकोडाकोडीए—अंतःकोडाकोडी सागरोपम से, आरउ—न्यून-कम, अभव-सन्ती—अभव्य संज्ञी, उ—तु (अधिक अर्थसूचक अव्यय) ।

गाथार्थ—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय पूर्वकोटि से अधिक आयु नहीं बांधते हैं और अभव्य संज्ञी अंतःकोडाकोडी से कम सात कर्मों की स्थिति का बंध नहीं करते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय आदि के आयुबंध के सम्बन्ध में नियम बतलाया है कि एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव एक पूर्वकोटि से अधिक परभव की आयु का बंध नहीं करते हैं । अर्थात् एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय परभव की उत्कृष्ट आयु एक करोड़ पूर्व^२

१ दिगम्बर पंचसंग्रह शतक अधिकार गा. ३६१ से ४०८ तक में भी मूल एवं उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण बतलाया है । जो सामान्य-तया वहाँ किये गये वर्णन से मिलता है ।

२ पूर्व का परिमाण इस प्रकार बतलाया है—

पुव्वस्स उ परिमाणं सयरी खलु होंति कोडिलक्खाओ ।

छद्धान्नं च सहस्सा बोद्धव्वा वाम कोडीणं ॥

—→

वर्ष की बांधते हैं तथा गाथा में आगत 'तु' शब्द अधिक अर्थ का सूचक होने से यह अर्थ हुआ कि अभव्य संज्ञी आयु को छोड़कर शेष सातों कर्मों की स्थिति अन्तःकोडाकोडी सागरोपम से हीन-हीनतर नहीं बांधता है, परन्तु जघन्य से भी अंतःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति ही बांधता है।

इस प्रकार से विभिन्न जीवापेक्षा स्थितिबंध का नियम जानना चाहिए। अब उत्तर प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का प्रमाण बतलाते हैं।

उत्तर प्रकृतियों की जघन्य स्थिति

सुरनारयाउयाणं दसवाससहस्स लघु सत्तिथाणं ।

इयरे अंतमुहुत्तं अंतमुहुत्तं अबाहाओ ॥४६॥

शब्दार्थ—सुरनारयाउयाणं—देव और नरक आयु की, दसवाससहस्स—दस हजार वर्ष, लघु—जघन्य, सत्तिथाणं—तीर्थकरनाम सहित, इयरे—इतर-दो आयु की, अंतमुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त, अंतमुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त, अबाहाओ—अबाधा ।

गाथार्थ—तीर्थकरनाम सहित देव और नरक आयु की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है और इतर दो आयु की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और अन्तर्मुहूर्त अबाधाकाल है ।

विशेषार्थ—गाथा में आयुकर्म की चारों उत्तर प्रकृतियों और तीर्थकरनाम की जघन्य स्थिति एवं उनका जघन्य अबाधाकाल बतलाया है कि—

अर्थात् सत्तरलाख छप्पनहजार करोड़ वर्ष का एक पूर्व होता है ।

यह गाथा सर्वार्थसिद्धि और ज्योतिष्करण्डक में भी पाई जाती है ।

ज्योतिष्करण्डक में 'कोडिलवखाओ' की जगह 'सयसहस्साई' पाठ है ।

किन्तु आशय में कोई अन्तर नहीं है ।

देवायु, नरकायु और तीर्थकरनाम की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष प्रमाण है^१ तथा इयरे-इतर मनुष्यायु और तिर्यचायु की जघन्य स्थिति क्षुल्लकभव^२ रूप अन्तर्मुहूर्त है।

अब इनका अबाधाकाल बतलाते हैं कि चारों आयु और तीर्थकरनाम की अबाधा अन्तर्मुहूर्त है और अबाधाकाल से हीन निषेकरचना काल है। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अबाधाकाल में दलिकरचना नहीं होती है, किन्तु उसके बाद के स्थितिस्थान से प्रारम्भ होती है। तथा—

पुंवेए अट्ठवासा अट्ठमुहुत्ता जसुच्चगोयाणं ।

साए बारसहारगविग्घावरणाण किचूणं ॥४७॥

१ यहाँ तीर्थकरनाम की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष प्रमाण कोई अप्रचलित मतविशेष का संकेत है। क्योंकि कर्मप्रकृतिचूणि, शतकचूणि एवं दिग्म्बर कर्मग्रन्थों में सर्वत्र तीर्थकरनाम की जघन्य स्थिति अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण बतलाई है। जो अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति से संख्यात गुणहीन जानना चाहिये। इस सम्बन्धी पाठ है—

‘आहारगतिस्थयरनामाणं उक्कोसओ ठिइबंधो भणिओ, तओ उक्कोसाओ ठिइबंधओ जहन्सओ ठिइबंधो संखेज्जगुणहीणो, सोवि जहन्सओ अंतोकोडाकोडी चेव ।’
—कर्मप्रकृतिचूणि

‘आहारगसरीर आहारग-अंगोवंगतिस्थयरनामाणं जहण्णो ठिइबंधो अंतोमागरोपमकोडाकोडी, अन्तोमुहुत्तमबाहा, उक्कोसाओ संखेज्जगुणहीणो जहन्तो ठिइबंधो इति ।’
—शतकचूणि

तित्थहाराणं तो कोडाकोडी जहण्णं द्विदिवंधो ।

—गो कर्मकांड १४१

२ निगोदिया जीवों के भव को क्षुल्लकभव या क्षुद्रभव कहते हैं। यह भव मनुष्य और तिर्यच पर्याय में ही होता है। क्षुल्लकभव का प्रमाण दो सौ छप्पन आवलिका है और असंख्यात समय का एक आवलिका होती है।

शब्दार्थ—‘पुंवेए—पुरुषवेद, अट्ठवासा—आठ वर्ष, अट्ठमुहुत्ता—आठ मुहूर्त, जमुच्चगोयाणं—यशःकीर्ति, उच्चगोत्र की, साए—सातावेदनीय की, बारस—बारह मुहूर्त, हारगविघावरणाण—आहारकद्विक, अन्तरायपंचक और आवरणद्विकों की, किच्चूणं—कुछ कम मुहूर्त अर्थात् अन्तर्मुहूर्त ।

गाथार्थ—पुरुषवेद की जघन्य स्थिति आठ वर्ष की, यशः कीर्ति और उच्चगोत्र की आठ मुहूर्त की, सातावेदनीय की बारह मुहूर्त की, आहारकद्विक, अन्तरायपंचक एवं आवरणद्विकों-ज्ञानावरणपंचक तथा दर्शनावरणचतुष्क की कुछ कम मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त की जघन्य स्थिति है ।

विशेषार्थ—गाथा में पुरुषवेद आदि बीस प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का निर्देश किया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

‘पुंवेए अट्ठवासा’—अर्थात् पुरुषवेद की जघन्य स्थिति आठ वर्ष प्रमाण है और अन्तर्मुहूर्त अबाधाकाल है । यशःकीर्तिनामकर्म और उच्चगोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त-अट्ठमुहुत्ता, सातावेदनीय की बारह मुहूर्त, आहारकद्विक-आहारकशरीर, आहारक-अंगोपांग, अन्तरायकर्म की दानान्तराय आदि पांच और मतिज्ञानावरण आदि ज्ञानावरणपंचक तथा चक्षुदर्शनावरण आदि दर्शनावरणचतुष्क कुल मिलाकर इन सोलह प्रकृतियों की जघन्य स्थिति कुछ कम मुहूर्त यानी अन्तर्मुहूर्त है ।^१ अन्तर्मुहूर्त प्रत्येक का अबाधाकाल है तथा अबाधाकाल से हीन शेष निषेकरचनाकाल है ।

इस प्रकार से बीस प्रकृतियों की जघन्य स्थिति जानना चाहिये । अब पूर्व और इस गाथा में कही गई प्रकृतियों से शेष रही प्रकृतियों की जघन्य स्थिति को बतलाते हैं—

१ यहाँ आहारकद्विक की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति अज्ञात मतान्तर विशेष की अपेक्षा समझना सागर चाहिए । अन्यथा सभी कर्मसिद्धान्त एवं कर्मग्रन्थों में अन्तःकोडाकोडी प्रमाण बतलाई है । जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है ।

दो मास एग अर्द्ध अंतमुहूर्त च कोहपुष्वाणं ।

सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईए जं लद्धं ॥४८॥

शब्दार्थ—दो मास—दो माह, एग—एक, अर्द्ध—अर्धमास, अंतमुहूर्त—अंतमुहूर्त, च—और, कोहपुष्वाणं—(संज्वलन) क्रोधपूर्वक शेष कषायों की, सेसाण—शेष प्रकृतियों की, उक्कोसाओ—उत्कृष्ट स्थिति में, मिच्छत्तठिईए—मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर, जं—जो, लद्धं—लब्ध प्राप्त हो ।

गाथार्थ—संज्वलन क्रोध पूर्वक चारों कषायों की अनुक्रम से दो माह, एक माह, अर्धमास और अंतमुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति है और शेष प्रकृतियों की उन उनकी उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतनी-उतनी जघन्य स्थिति जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—गाथा में अनुक्रम से चारों संज्वलन कषायों की जघन्य स्थिति बतलाने के अनन्तर अवशिष्ट प्रकृतियों की जघन्य स्थिति जानने के सामान्य नियम का निर्देशन किया है ।

संज्वलन क्रोधादि में से संज्वलन क्रोध की जघन्य स्थिति दो मास, संज्वलन मान की एक मास, संज्वलन माया की अर्धमास और संज्वलन लोभ की अन्तमुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति है । इसका तात्पर्य यह है कि नौवें अनिवृत्तिवादरसम्परायगुणस्थान में जहाँ-जहाँ इनका बंधविच्छेद होता है, वहाँ बंधविच्छेद के समय क्षपकश्चेणि में संज्वलन क्रोध की दो मास, संज्वलन मान की एक मास, संज्वलन माया की अर्धमास और संज्वलन लोभ की अन्तमुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति बंधती है । इससे कम स्थिति का बंध अन्य किसी भी गुणस्थान में नहीं होता है । इसीलिये यह दो मास आदि संज्वलन क्रोधादि की जघन्य स्थिति बताई है । प्रत्येक का अन्तमुहूर्त अबाधाकाल है और अबाधाकाल से हीन शेष निषेकरचनाकाल है ।

पृथक्-पृथक् नामोल्लेख पूर्वक बताई गई प्रकृतियों की जघन्य स्थिति से शेष रही प्रकृतियों की जघन्य स्थिति जानने का सामान्य नियम यह है कि उन उनकी उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर जो लब्ध आये वह उन-उनकी जघन्य स्थिति है—‘सेसाणु-क्कोसाओ मिच्छत्तईए जं लद्ध’। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

निद्रा आदि निद्रापंचक और असातावेदनीय इनकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उसमें मिथ्यात्व की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने और ‘शून्यं शून्येन पातयेत्’ नियम के अनुसार शून्य को शून्य से काट देने पर ३/७ सागरोपम लब्ध आता है, उतनी निद्रापंचक और असातावेदनीय की जघन्य स्थिति है।

इसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय की ७/७ सागरोपम यानि एक सागरोपम प्रमाण जघन्य स्थिति समझ लेना चाहिए।

संज्वलन के सिवाय शेष बारह कषायों की ४/७ सागरोपम जघन्य स्थिति है तथा सूक्ष्मत्रिक और विकलजातित्रिक की उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उसमें मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने और शून्य को शून्य से काटने पर ऊपर अठारह और नीचे सत्तर रहे। इन दोनों संख्याओं में दो से भाग देने पर ऊपर नौ और नीचे पैंतीस शेष रहेंगे। इसलिए ६/३५ सूक्ष्मत्रिक और विकल-जातित्रिक इन छह प्रकृतियों की जघन्य स्थिति जानना चाहिये।

स्त्रीवेद और मनुष्यद्विक की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उसको मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने और शून्य को शून्य से काटने के बाद ऊपर नीचे की संख्याओं को पांच से काटने पर ३/१४ सागरोपम प्रमाण स्त्रीवेद और मनुष्यद्विक इन तीन प्रकृतियों की जघन्य स्थिति जानना चाहिए।

हास्य, रति और यशःकीर्ति को छोड़कर शेष स्थिरादिपंचक, शुभविहायोगति, सुरभिगंध, शुक्लवर्ण, मधुररस, मृदु, लघु, स्निग्ध

और उष्णस्पर्श, आद्य संस्थान (समचतुरस्रसंस्थान), आद्य संहनन (वज्र-
ऋषभनाराचसंहनन) इन सत्रह प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति दस
कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। जिसको मिथ्यात्व की उत्कृष्ट
स्थिति से भाग देने और ऊपर नीचे के समान शून्यों को काटने पर
 $१/७$ सागरोपम प्रमाण इन हास्यादि सत्रह प्रकृतियों की जघन्य स्थिति
जानना चाहिये।

द्वितीय संहनन और द्वितीय संस्थान की उत्कृष्ट स्थिति बारह
कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उसमें मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति
से भाग देने और समान शून्यों को काटने एवं ऊपर नीचे की संख्याओं
को दो से काटने पर $६/३५$ द्वितीय संहनन (वज्रनाराचसंहनन) और
द्वितीय संस्थान (न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान) की जघन्य स्थिति जानना
चाहिये।

तृतीय संस्थान और संहनन की उत्कृष्ट स्थिति चौदह कोडाकोडी
सागरोपम प्रमाण है। उसमें मिथ्यात्वमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति
से भाग देकर समान शून्यों को काट देने के बाद ऊपर नीचे की
संख्याओं में चौदह से भाग देने पर $१/५$ सागरोपम प्रमाण तृतीय
संस्थान और संहनन की जघन्य स्थिति समझना चाहिये।

चतुर्थ संस्थान और संहनन की उत्कृष्ट स्थिति सोलह कोडाकोडी
सागरोपम की है। उसमें मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने
और समान शून्यों को काट देने के बाद ऊपर नीचे की संख्या में दो से
भाग देने पर प्राप्त $८/३५$ सागरोपम प्रमाण चतुर्थ संस्थान और
संहनन की जघन्य स्थिति है।

पंचम संस्थान और संहनन की उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी
सागरोपम प्रमाण है। उसे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देकर
समान शून्यों को काटने के बाद ऊपर नीचे की संख्या में दो से भाग
देने पर $९/३५$ सागरोपम प्रमाण दोनों की जघन्य स्थिति जानना
चाहिये।

वस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अगुहलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, तिर्यचद्विक, औदारिकद्विक, हारिद्र, लोहित, नील, कृष्णवर्ण, दुरभिगन्ध, कषाय, अम्ल, कटुक और तिक्तरस, गुरु, कर्कश, रुक्ष और शीतस्पर्श, एकेन्द्रिय-जाति, पंचेन्द्रियजाति, निर्माण, आतप, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, हुंडकसंस्थान, सेवार्तसंहनन, तैजस, कर्मण, नीचगोत्र, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, नपुंसकवेद और स्थावर, इन अड़तालीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उसमें मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देकर समान संख्या वाले शून्यों को काटने के बाद २/७ सागरोपम प्रमाण इन अड़तालीस प्रकृतियों की जघन्य स्थिति जानना चाहिये।

यद्यपि हारिद्र और रक्तवर्णादि की उत्कृष्ट स्थिति साडे बारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उसमें मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर कुछ अधिक ६/३५ सागरोपम जघन्य स्थिति प्राप्त होती है। परन्तु प्राचीन शास्त्रों में वर्णादि प्रत्येक भेद की २/७ सागरोपम प्रमाण ही जघन्य स्थिति बतलाई है। इसलिए यहाँ भी हारिद्र आदि वर्णादि की उतनी ही जघन्यस्थिति बतलाई है।

इस प्रकार निद्रापंचक से लेकर सभी प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का प्रमाण मतान्तर की अपेक्षा से ग्रन्थकार आचार्य ने बताया है। क्योंकि कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थों में दूसरे प्रकार से भी जघन्य स्थितिबंध का निर्देश किया है। संक्षेप में जो इस प्रकार है—

कर्मप्रकृति में निद्रापंचक आदि की जघन्य स्थिति का प्रमाण बतलाने के लिये निम्नलिखित गाथासूत्र कहा है—

वगुक्कोसठिईणं, मिच्छत्तुक्कोसगेण जं लद्धं ।

सेसाणं तु जहन्नो, पल्लासंखेज्जामेणूणो ॥

—कर्मप्रकृति, बंधनकरण ७६

अर्थात् अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर प्राप्त लब्ध, उसमें से पत्य के असंख्यातवें भाग को कम करने पर जो बाकी रहे, उतना शेष प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध है। विस्तार से जिसका विवेचन इस प्रकार है—

वर्ग—स्वजातीय कर्मप्रकृतियों के समूह को कहते हैं। जैसे ज्ञानावरण की पांच प्रकृतियों का समूह ज्ञानावरणवर्ग, दर्शनावरण की नौ प्रकृतियों का समूह दर्शनावरणवर्ग, वेदनीय की दो प्रकृतियों का समूह वेदनीयवर्ग, दर्शनमोहनीय की प्रकृतियों का समुदाय दर्शनमोहनीयवर्ग, चारित्रमोहनीय की प्रकृतियों (कषायमोहनीय प्रकृतियों) का समुदाय चारित्रमोहनीयवर्ग, नोकषायमोहनीय प्रकृतियों का समुदाय नोकषायमोहनीयवर्ग, नामकर्म की प्रकृतियों का समुदाय नामवर्ग, गोत्रकर्म की प्रकृतियों का समुदाय गोत्रकर्मवर्ग और अन्तरायकर्म की पांचों प्रकृतियों का समुदाय अन्तरायवर्ग। इन वर्गों में मात्र मोहनीय-कर्म के तीन वर्ग हैं और शेष ज्ञानावरण आदि का एक-एक वर्ग है।

इन वर्गों में जो तीस कोडाकोडी सागरोपम आदि प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है, उसको मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी से भाग देने पर जो लब्ध आये उसमें से पत्योपम का असंख्यातवां भाग कम करने पर जो रहे, वह निद्रा आदि शेष प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध समझना चाहिये। जैसे कि—

दर्शनावरण और वेदनीय कर्म की तीस कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें मिथ्यात्व की स्थिति से भाग देने और शून्य को शून्य से हटाने पर जो ३/७ सागरोपम प्राप्त होते हैं वे पत्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून निद्रापंचक और असातावेदनीय की जघन्य स्थिति हैं। इसी प्रकार मिथ्यात्वमोहनीय की पत्योपम के असंख्यातवें भाग से न्यून एक सागरोपम जघन्य स्थिति है। संज्वलनचतुष्क के सिवाय बारह कषाय की पत्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून ४/७ सागरोपम जघन्य स्थिति है, पुरुषवेद के अतिरिक्त शेष आठ नोकषाय

तथा वैक्रियषट्क, आहारकद्विक, तीर्थकरनाम और यशःकीर्ति के सिवाय नामकर्म की सभी प्रकृतियों एवं नीचगोत्र की पत्योपम के असंख्यातवें भाग से न्यून २/७ सागरोपम जघन्य स्थिति है आदि ।

प्रकृतियों की जघन्य स्थिति के निर्देश में वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति को नहीं बताया है, इसलिए अब उसकी स्थिति का पृथक् से कथन करते हैं ।

वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति

वेउव्विच्छविक तं सहसताडियं जं असन्निणो तेसिं ।

पलियासंखंसूणं ठिई अब्बाहूणि य निसेगो ॥४६॥

शब्दार्थ—वेउव्विच्छविक—वैक्रियषट्क की, तं—पूर्वोक्त, सहसताडियं—हजार से गुणा करने पर, जं—जो, असन्निणो—असंज्ञियों को, तेसिं—उनके, पलियासंखंसूणं—पत्योपम का असंख्यातवां भाग न्यून, ठिई—स्थिति, अब्बाहूणि—अबाधान्यून, य—और, निसेगो—निषेकरचना ।

गाथार्थ—वैक्रियषट्क की उत्कृष्ट स्थिति को मिथ्यात्व की स्थिति द्वारा भाग देने पर जो भाग प्राप्त हो, उसको हजार से गुणित करने पर जो लब्ध आये वह पत्योपम का असंख्यातवां भाग न्यून वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति है । क्योंकि उसके बंधक असंज्ञी पंचेन्द्रिय हैं और अबाधाकाल हीन निषेकरचनाकाल है ।

विशेषार्थ—कर्मों की जघन्य स्थिति बताने के पूर्वोक्त नियम से वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति प्राप्त नहीं होती है । अतः कारण सहित इस गाथा में उसका पृथक् से निर्देश किया है—

देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रियशरीर और वैक्रिय-अंगोपांग रूप वैक्रियषट्क की उत्कृष्ट स्थिति को मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति द्वारा भाग देने पर जो २/७ सागरोपम लब्ध प्राप्त

होता है, उसको हजार से गुणित करके पत्योपम का असंख्यातवां भाग न्यून करने पर प्राप्त समय प्रमाण वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति का प्रमाण जानना चाहिये ।^१

यद्यपि वैक्रियद्विक और नरकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम प्रमाण है । इसलिए उसको मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर २/७ सागरोपम प्राप्त होते हैं और देवद्विक की उत्कृष्ट स्थिति दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है, जिसे मिथ्यात्व की स्थिति द्वारा भाग देने पर १/७ सागरोपम प्राप्त होते हैं । लेकिन इस सम्बन्ध में यह जानना चाहिये कि देवद्विक की उत्कृष्ट स्थिति दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण होते हुए भी उसकी जघन्य स्थिति का प्रमाण प्राप्त करने के लिए बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति की विवक्षा की है । क्योंकि अनिष्ट अर्थ में शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती है, ऐसा पूर्व पुरुषों का वचन है । इसलिये २/७ सागरोपम को एक हजार से गुणित करके पत्योपम का असंख्यातवां भाग न्यून करने पर जो शेष रहे उतनी देवद्विक की भी जघन्य स्थिति है । इसीलिये यहाँ वैक्रियशरीर आदि छहों प्रकृतियों के लिए बीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम को मिथ्यात्व की स्थिति से भाग देने का संकेत किया है । शतकचूणि में भी इसी प्रकार बताया है—

‘देवगई.....नरयाणपुब्बीणं जहन्नओ ठिइबंधो सागरो-
वमस्स सत्तभागा सहस्सगुणिघागलिओवसासंखेज्जभागेणूयया ।’

प्रश्न—वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति का इतना प्रमाण बतलाने का क्या कारण है ?

उत्तर—वैक्रियषट्क रूप छह प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध असंजी पंचेन्द्रिय जीव करते हैं और वे इन प्रकृतियों की इतनी ही स्थिति बांधते हैं, इससे न्यून नहीं बांधते हैं । किसी भी कर्मप्रकृति का

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में भी वैक्रियषट्क की स्थिति इसी प्रकार बताई है ।

—दि पंचसंग्रह शतक अधिकार गाथा ४१८

अमुक प्रमाण वाला जघन्य स्थितिबंध तभी घटित हो सकता है, जब कि कोई जीव उतनी स्थिति का बंधक हो। यदि अमुक कर्मप्रकृति का अमुक प्रमाण जघन्य स्थितिबंध कहा जाये और उसका कोई बांधने वाला जीव न हो तो उसे स्थितिबंध के रूप में नहीं माना जा सकता है। वैक्रियषट्क की २/७ सागरोपम प्रमाणस्थिति का बंधक तो अन्य कोई जीव नहीं है, परन्तु उसको हजार से गुणित करके पत्योपम का असंख्यातवां भाग न्यून करने पर जो रहता है, उतना जघन्य स्थितिबंध असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव बांधते हैं, इसीलिए वैक्रियषट्क की जघन्यस्थिति के लिये हजार से गुणा करने के लिये कहा गया है। सारांश यह हुआ कि पत्योपम का असंख्यातवां भाग न्यून २८५, ५/७ सागरोपम वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति है। इसके बंधक असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव ही होते हैं।

इस प्रकार से समस्त प्रकृतियों की जघन्यस्थिति का प्रमाण जानना चाहिये^१ तथा इन समस्त कर्मप्रकृतियों की जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति अपनी-अपनी अबाधा से न्यून निषेकदलरचना की विषयभूत समझना चाहिये। यानी जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति का जितना अबाधाकाल हो उतना काल छोड़कर शेष स्थिति-समयों में कर्मदलिकों की निषेकरचना होती है,^२ अबाधा के समयों में नहीं होती है।

इस प्रकार से मूल और उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति का प्रमाण, उनके अबाधाकाल का प्रतिपादन करने के बाद अब निषेक^३ का विचार करते हैं। उसके विचार के दो द्वार हैं—१

१ प्रकृतियों की जघन्य स्थिति के सम्बन्ध में विभिन्न ग्रन्थों के दृष्टिकोण परिशिष्ट में देखिए।

२ अबाहूणिया कम्मठिई कम्मनिसेगो।

—भगवतीसूत्र

३ अबाधाकाल के बाद प्रतिसमय उदय आने योग्य द्रव्य के प्रमाण को निषेक कहते हैं।

अनन्तरोपनिधा^१ और २ परम्परोपनिधा^२ उनमें से पहले अनन्तरोपनिधा से निषेक का विचार करते हैं ।

अनन्तरोपनिधा से निषेकविचार

मोत्तुमबाहासमए बहुगं तयणंतरे रयइ दलियं ।

तत्तो विसेसहीणं कमसो नेयं ठिई जावः ॥५०॥

शब्दार्थ—मोत्तुमबाहासमए—अवाधा के समयों को छोड़कर, बहुगं—अधिक द्रव्य, तयणंतरे—उसके बाद के समय में, रयइ—रचना होती है, दलियं—दलिक की तत्तो—तत्पश्चात्, विसेसहीणं—विशेष-विशेष हीन, कमसो—अनुक्रम से, नेयं—जानना चाहिये, ठिई—स्थिति, जाव—पर्यन्त ।

गाथार्थ—अवाधा के समयों को छोड़कर उसके बाद के समय में अधिक दलिक-पुद्गलद्रव्य की रचना होती है और तत्पश्चात् उत्तरोत्तर समयों में अनुक्रम से विशेष-विशेष हीन । इस प्रकार बध्यमान स्थिति के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—यहाँ आचार्य ने अनन्तरोपनिधा से कर्मदलिकों की स्थापना का निर्देश किया है ।

१ पूर्व समय, स्थान आदि से अनन्तरवर्ती उत्तर समय, स्थान आदि में प्राप्त द्रव्यप्रमाण का विचार, मार्गण, गवेषण करना अनन्तरोपनिधा कहलाती है ।

२ प्रथम समय, स्थान आदि की अपेक्षा मध्य के समयों आदि का अन्तराल देकर प्राप्त स्थान के द्रव्यप्रमाण का विचार, मार्गण, गवेषण करने को परंपरोपनिधा कहते हैं ।

३ तुलना कीजिये—

मोत्तूण सगमबाहे, पढमाए ठिईए बहुतरं दव्वं ।

एत्तो विसेसहीणं जावुक्कोसं ति सव्वेसि ॥

—कर्मप्रकृति, बंधनकरण, गा. ८२

किसी भी विवक्षित समय में बंधते हुए किसी भी प्रकृति रूप में जितनी कार्मणवर्गणायें परिणत हों वे वर्गणायें उस समय उस प्रकृति की जितनी स्थिति बंधे, उतनी स्थिति पर्यन्त क्रमशः फल देने के लिये व्यवस्थित रीति से स्थापित की जाती हैं, उसे निषेक कहते हैं। मात्र अबाधाकाल में दलरचना नहीं होती है। क्योंकि इस प्रकार की रचना न हो तो अबाधाकाल बीतने के बाद कितनी और कौन सी वर्गणाओं के फल का अनुभव करना, यह निश्चित नहीं हो सकता है और उससे अव्यवस्था हो जायेगी और अव्यवस्था होने से अमुक प्रमाण में बंधी हुई स्थिति का कुछ भी अर्थ नहीं रहेगा। किन्तु बंध समय में बंधी हुई वर्गणाओं की निश्चित रूप से रचना होने से किञ्चिन्मात्र भी अव्यवस्था नहीं होती है।

वह रचना जिस प्रकार से होती है, अब यह स्पष्ट करते हैं—

जब किसी भी कर्म का बंध हो, तब उसकी जितनी स्थिति का बंध हो और उस स्थिति के प्रमाण में जितना अबाधाकाल हो, उस अबाधाकाल के समयों को छोड़कर दलरचना होती है—‘मोत्तुमबाहासमए’ और अबाधा के समयों को छोड़कर होने वाली दलरचना का क्रम इस प्रकार जानना चाहिये कि अबाधाकाल की समाप्ति के अनन्तर के प्रथम समय में प्रभूत दलिक की स्थापना की जाती है—‘बहुगं तयणंतरे रयइ दलियं’ और उसके बाद के उत्तरोत्तर समयों में अनुक्रम से विशेषहीन-विशेषहीन दलिकरचना होती है। यह क्रम विवक्षित समय में बंधी हुई स्थिति के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये—कमसो नेयं ठिई जाव’।

उक्त कथन का तात्पर्य यह हुआ कि इस प्रकार से रचना होने से अबाधाकाल के अनन्तरवर्ती पहले समय में प्रभूत दलिक का फलानुभव होता है, उसके बाद के दूसरे समय में विशेषहीन दलिक के फल का अनुभव होता है। इस प्रकार उत्तर-उत्तर के समय में पूर्व-पूर्व के समय की अपेक्षा हीन-हीन दलिक के फल का अनुभव किया जाता है। इसी

प्रकार प्रत्येक किसी विवक्षित समय में बंधी हुई स्थिति के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये। जिस समय जितने रस वाली और जितनी वर्गणायें फलदान के लिये नियत हुई हों, उस समय उतने रस वाली और उतनी वर्गणायें फल देती हैं और फल देकर आत्मप्रदेशों से छूट जाती हैं। परन्तु यह नियम करणों (आत्म-अध्यवसाय, परिणाम) की प्रवृत्ति न होने से पूर्व तक ही समझना चाहिये। क्योंकि करणों के द्वारा अनेक प्रकार के परिवर्तन हो सकते हैं।

इस प्रकार की रचना का उक्त कथन आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की दलिकरचना के विषय में समझना चाहिये। आयुकर्म इसका अपवाद है। अतः उसमें सम्बन्धित विशेष को स्पष्ट करते हैं—

आउस्स पढम समया परभविया जेण तस्स उ अबाहा।

शब्दार्थ—आउस्स—आयु के, पढमसमया—प्रथम समय से ही, परभविया—परभव सम्बन्धी, जेण—क्योंकि, तस्स—उसकी, अबाहा—अबाधा।

गाथार्थ—आयु के प्रथम समय से ही दलरचना होती है।
क्योंकि उसकी अबाधा परभव की आयु सम्बन्धी होती है।

विशेषार्थ—गाथा के पूर्वार्ध में चारों आयुओं में से किसी भी आयु का बंध होने पर प्रथम समय से ही पूर्व क्रमानुसार दलरचना होने का स्पष्टीकरण किया है कि प्रथम समय में अधिक दलिक स्थापित किया जाता है, दूसरे समय में विशेषहीन, तीसरे समय में उससे विशेषहीन दलिक स्थापित किया जाता है। इस प्रकार बध्यमान आयु के चरम समय तक जानना चाहिये।

आयुकर्म में अन्य सात कर्मों की तरह अबाधाकाल को छोड़कर रचना न होकर प्रथम समय से ही दलिक रचना होने का कारण यह है कि 'परभविया जेण तस्स अबाहा' अर्थात् बध्यमान आयु की अबाधा परभव सम्बन्धी-अनुभूयमान आयु सम्बन्धी है, जिसमें वह अबाधा उस बध्यमान आयु की सत्ता की विषयभूत नहीं कहलाती है, जबकि दूसरे

कर्मों में अबाधा उस बध्यमान कर्म की सत्ता की अंग है। इसी कारण बध्यमान आयु के उदय के प्रथम समय से लेकर ही दलिकों की निषेक-विधि कही है और बध्यमान आयु की अबाधा परभव सम्बन्धी होने का कारण यह है—

बध्यमान आयु की अबाधा अनुभूयमान आयु के अधीन है, किन्तु बध्यमान आयु के अधीन नहीं है। क्योंकि आयु का ऐसा स्वभाव है। जिससे जब तक अनुभूयमान भव की आयु उदय में वर्तमान हो तब तक बध्यमान भव की आयु सर्वथा प्रदेशोदय या रसोदय से उदय में नहीं आती है, परन्तु अनुभूयमान भव की आयु पूर्ण होने के बाद ही उदय में आती है तथा किसी समय अनुभूयमान भव की आयु का तीसरा भाग शेष हो तब, कभी नौवां भाग शेष हो तब, कभी सत्ताईसवां भाग शेष हो तब और किसी समय अन्तर्मुहूर्त शेष हो तब परभव की दीर्घस्थिति वाली भी आयु का बंध होता है। जिससे दीर्घस्थिति वाली परभवायु की भी भुज्यमान आयु के शेष भाग के अनुसार जितना भाग शेष हो उतनी-उतनी अबाधा प्रवर्तित होती है, जो परभव सम्बन्धी कहलाती है, बध्यमान आयु सम्बन्धी नहीं। अर्थात् भुज्यमान भव में जब परभव की आयु बंधी तो उस भुज्यमान भव तक उस अबाधा का सम्बन्ध रहता है, बध्यमान आयु से उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता है। भवान्तर में जाते ही उस बध्यमान आयु का उदय प्रारम्भ हो जाता है। इसीलिए बध्यमान आयु के उदय के प्रथम समय से ही दलरचना होने का निर्देश किया है।

इस प्रकार से अनन्तरोपनिधा द्वारा निषेकरचना का विचार जानना चाहिये। अब परम्परोपनिधा से निषेकरचना का विचार करते हैं।

परम्परोपनिधा से निषेकरचना का विचार

पल्लासंखिय भागं गंतुं अद्धद्धयं दलियं ॥५१॥

१ तुलना कीजिय—पल्लासंखियभागं गंतुं दुगणूणमेव मुक्कोसा।

—कर्मप्रकृति, बंधनकरण गा. ८४

शब्दार्थ—पल्लासंख्यभाग—पल्योपम के असंख्यातवें भाग, गंतु—जाने पर, अद्वय—अर्ध-अर्ध, दलियां—दलिक ।

गाथार्थ—पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने स्थानों के जाने पर अर्ध-अर्ध दलिक प्राप्त होते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा के इस उत्तरार्ध में परम्परोपनिधा से दलिकों की प्राप्ति का निर्देश किया है—

समस्त कर्मों में अबाधा के अनन्तर पहले समय में जो दलिकों की रचना होती है, उसकी अपेक्षा दूसरे आदि समयों में विशेषहीन-विशेषहीन दलिकों की रचना होते-होते पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिस्थानों का अतिक्रमण होने के अनन्तर प्राप्त स्थानों में आधे-आधे दलिक प्राप्त होते हैं । अर्थात् अबाधा के बाद के समयों में इस प्रकार के क्रम से हीन-हीन दलिकों की रचना होती है कि पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिस्थानों का अतिक्रमण करने के बाद प्राप्त स्थान में प्रथम स्थान की अपेक्षा आधे दलिक प्राप्त होते हैं ।

तत्पश्चात् आगे के स्थानों में भी विशेषहीन-विशेषहीन दलिकों की रचना होते होते जिस स्थान में आधे दलिक हुए थे, उसकी अपेक्षा पुनः पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थानों का अतिक्रमण होने के बाद जो स्थान प्राप्त होता है, उसमें आधे दलिक होते हैं ।

उससे पुनः पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थानों का अतिक्रमण होने के बाद प्राप्त होने वाले स्थान में आधे दलिक होते हैं । इस प्रकार पुनः-पुनः पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थानों का अतिक्रमण होने के बाद प्राप्त स्थान में जिस स्थान में आधे दलिक हुए थे, उसकी अपेक्षा आधे होते हैं ।

इस प्रकार से उतने-उतने स्थानों का अतिक्रमण करके अर्ध-अर्ध-हीन दलिक वहाँ तक जानना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है ।

जिस-जिस समय उत्कृष्ट, मध्यम या जघन्य जितनी स्थिति बंधती है, उस-उस समय में उसके भाग में जो वर्गणायें आती हैं, उनकी अबाधाकाल को छोड़कर उत्कृष्ट, मध्यम या जघन्य स्थिति के चरम समय पर्यन्त जिस रीति से व्यवस्थित रचना होती है, यह उसका रूपक जानना चाहिये। इस रचना के अनुसार और परिवर्तन होने पर उसके अनुसार भोग होता है। प्रति समय कर्मबंध होने से रचना भी प्रति समय होती है।

इस प्रकार परम्परोनिधा से निषेकरचना का विचार जानना चाहिये। अब दलरचना में अर्ध-अर्ध हानि के सम्भव स्थानों का निरूपण करते हैं।

अर्ध-अर्ध हानि के सम्भव स्थान

पलिओवमस्स मूला असंखभागम्मि जत्तिया समया ।

तावइया हाणीओ ठिइबंधुक्कोसए नियमा ॥५२॥

शब्दार्थ—पलिओवमस्स—पल्योपम के, मूला—मूल, असंखभागम्मि—असंख्यातवें भाग में, जत्तिया—जितने, समया—समय, तавइया—उतने, हाणीओ—हानि के, ठिइबंधुक्कोसए—उत्कृष्ट स्थितिबंध में, नियमा—नियम से।

गाथार्थ—उत्कृष्ट स्थितिबंध में पल्योपम के मूल के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, नियम से उतने अर्ध-अर्ध हानि (द्विगुणहानि) के स्थान हैं।

विशेषार्थ—उत्कृष्ट स्थितिबंध में प्राप्त होने वाले द्विगुणहानि के स्थानों का गाथा में निर्देश किया है—

‘ठिइबंधुक्कोसए’ अर्थात् किसी भी कर्मप्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबंध होने पर उसमें निषेकापेक्षा पूर्वोक्त क्रमानुसार होने वाली अर्ध-अर्ध हानि की संख्या पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग में

‘जित्तिया समया’— जितने समय होते हैं, उतनी होती है—‘तावइया हाणीओ’ ।

निषेकापेक्षा पूर्वोक्त क्रमानुसार प्राप्त होने वाली अर्ध-अर्ध हानि को आधार बनाकर शंकाकार अपनी शंका प्रस्तुत करता है—

शंका—मिथ्यात्वमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होने से उसमें तो निषेकापेक्षा पूर्व कथनानुसार उतने द्विगुणहानि स्थान सम्भव हैं, परन्तु आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तो मात्र तेतीस सागरोपम प्रमाण होने से उसमें उतने स्थान कैसे सम्भव हैं ? और सामान्यतः वे सभी स्थान एक जैसे ही प्रतीत होते हैं ?

समाधान — यद्यपि सामान्यतः सभी द्विगुणहानि स्थान एक जैसे ज्ञात होते हैं, परन्तु यह असंख्यातवां भाग असंख्य भेद वाला है । क्योंकि यह नियम है कि संख्यात के संख्यात, असंख्यात के असंख्यात और अनन्त के अनन्त भेद होते हैं । अतएव असंख्यात के असंख्यात भेद होने से आयुकर्म के विषय में पल्योपम के प्रथम वर्गमूल का असंख्यातवां भाग अत्यन्त अल्पतर ग्रहण करना चाहिये । जिससे किसी भी प्रकार के विरोध का अवसर नहीं रहता है । यहाँ यह जानना चाहिए कि यदि स्थिति छोटी है तो द्विगुणहानियां कम होती हैं और जैसे-जैसे स्थिति अधिक हो तो द्विगुणहानियां अधिक बार होती हैं । इसलिए स्थिति छोटी हो तो पल्योपम के प्रथम मूल का असंख्यातवां भाग छोटा और जैसे-जैसे स्थिति अधिक हो, वैसे-वैसे बड़ा लेना चाहिए ।

सभी अर्धहानिस्थान सख्या की अपेक्षा स्तोक हैं । क्योंकि वे पल्योपम के पहले वर्गमूल के असंख्यातवें भाग मात्र हैं, जिससे दो हानि के अन्तराल में जो निषेकस्थान हैं, यानि जितने स्थानों का अतिक्रमण करने के पश्चात् उत्तरवर्ती स्थान में अर्ध दलिक होते हैं वे स्थान असंख्यातगुणे हैं । क्योंकि वे पल्योपम के असंख्यातवें भाग में रहे हुए समय प्रमाण हैं ।

इस प्रकार से प्रत्येक कर्म के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध में प्राप्त होने वाले अर्ध-अर्धहानि के स्थान के बारे में और उसके साथ ही निषेकरचना के क्रम के बारे में भी समझ लेना चाहिए। अब क्रमप्राप्त अबाधा और कंडक की प्ररूपणा करते हैं।

अबाधा, कंडक प्ररूपणा

उक्कोसठिईबन्धा पल्लासंखेज्जभागमित्तेहि ।

हसिएहि समएहि हसइ अबाहाए इगसमओ ॥५३॥

शब्दार्थ—उक्कोसठिईबन्धा—उत्कृष्ट स्थितिबन्ध से, पल्लासंखेज्जभाग-मित्तेहि—पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र, हसिएहि—कम होने पर, समएहि—समयों के, हसइ—कम होता है, अबाहाए—अबाधा का, इगसमओ—एक समय ।

गाथार्थ—उत्कृष्ट स्थितिबन्ध से प्रारम्भ कर पल्योपम के असंख्यातवें भागमात्र समयों के कम होने पर अबाधा का एक समय कम होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में बताया है कि अबाधा के समयों में किस क्रम से समय कम होता है—

‘उक्कोसठिईबन्धा’ अर्थात् उत्कृष्ट स्थितिबन्ध से लेकर पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र समयों के कम होने पर उत्कृष्ट अबाधा का एक समय कम होता है अर्थात् उत्कृष्ट अबाधा एक समय न्यून होती है—‘हसइ अबाहाए इगसमओ’ । इस क्रम से हीन-हीन अबाधा तब तक जानना चाहिए जब जघन्य स्थिति की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य अबाधा हो जाये ।

इस विषय में सैद्धान्तिक-शास्त्रीय निर्देश इस प्रकार है कि चारों आयु को छोड़कर शेष समस्त कर्मों की उत्कृष्ट अबाधा में जीव वर्तमान हो तब उत्कृष्ट-परिपूर्ण स्थिति का बन्ध करे अथवा एक समय हीन अथवा दो समय हीन स्थिति का बन्ध करे, इस प्रकार यावत् समय-समय न्यून

करते-करते पल्योपम के असंख्यातवें भाग हीन स्थिति का बंध करे, तब तक उत्कृष्ट अबाधा रहती है। तात्पर्य यह हुआ कि उत्कृष्ट अबाधा तब तक होती है कि उत्कृष्ट स्थितिबंध पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून तक बंधे। दूसरी रीति से ऐसा भी कह सकते हैं कि पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून उत्कृष्ट स्थितिबंध होने तक उत्कृष्ट अबाधा होती है।

जब उत्कृष्ट अबाधा एक समय न्यून हो तब अवश्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून उत्कृष्ट स्थिति का बंध होता है, इसी नियम का संकेत करने के लिए ग्रन्थकार आचार्य ने कहा है—‘उक्कोसठिईबंधा...’ उत्कृष्ट स्थितिबंध में से पल्योपम के असंख्यातवें भागमात्र समय कम होने पर अबाधा का एक समय कम होता है और इस प्रकार कहने का अर्थ यह हुआ कि जब जीव एक समय न्यून उत्कृष्ट अबाधा में वर्तमान हो तब अवश्य ही पल्योपम के असंख्यातवें भाग हीन उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है।

इसी प्रकार आगे के स्थितिबंध में भी इसी नियम का अनुसरण करना चाहिये कि एक समय न्यून उत्कृष्ट अबाधा में वर्तमान जीव पल्योपम के असंख्यातवें भाग हीन उत्कृष्ट स्थिति को बांधता है। अथवा समयाधिक पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून उत्कृष्ट स्थिति को अथवा दो समयाधिक पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून उत्कृष्ट स्थिति को यावत् पल्योपम के दो असंख्यातवें भाग न्यून स्थिति को बांधता है।

अब जब दो समय न्यून उत्कृष्ट अबाधा में वर्तमान हो तब पल्योपम के असंख्यातवें भाग रूप दो कंडक न्यून यानि पल्योपम के दो असंख्यातवें भाग न्यून उत्कृष्ट स्थिति बांधता है, वह भी एक समय न्यून अथवा दो समय न्यून बांधे यावत् तीसरी बार पल्योपम का असंख्यातवा भाग न्यून स्थिति हो वहाँ तक की स्थिति बांधे। इस प्रकार जितने समय अबाधा न्यून हो उतने पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण कंडक से हीन स्थिति-

बंध होता है और इस तरह अबाधा का समय और स्थितिबंध का पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण कंडक कम करते हुए वहाँ तक कहना चाहिये कि जघन्य अबाधा में वर्तमान जीव जघन्य स्थितिबंध करे ।

उक्त कथन का सारांश यह हुआ कि जीव अनेक हैं । कोई उत्कृष्ट स्थिति बांधते हैं, कोई एक समय न्यून, कोई दो समय न्यून यावत् कोई पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून और कोई उससे भी न्यून बांधते हैं । इनके अबाधाकाल का नियम यह है कि उत्कृष्ट स्थितिबंध करे तब उत्कृष्ट अबाधा, समय न्यून करे तब भी उत्कृष्ट अबाधा, दो समय न्यून करे तब भी उत्कृष्ट अबाधा, यावत् जहाँ तक पल्योपम के असंख्यातवें भाग से न्यून बंध न करे वहाँ तक उत्कृष्ट अबाधा होती है और पल्योपम का असंख्यातवां भाग न्यून बंध करे तब समय न्यून उत्कृष्ट अबाधा होती है । वह वहाँ तक कि दूसरी बार पल्योपम का असंख्यातवां भाग बंध में से कम न हो । दूसरी बार पल्योपम का असंख्यातवां भाग कम उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है तब दो समय न्यून उत्कृष्ट अबाधा होती है । इस प्रकार प्रत्येक पल्योपम के असंख्यातवें भाग में अबाधा का एक-एक समय न्यून करने पर एक ओर जघन्य स्थितिबंध और दूसरी ओर जघन्य अबाधा का प्रमाण आता है ।

इस प्रकार से अबाधा के समय की हानि करने के द्वारा स्थिति के कंडक की हानि को जानना चाहिये । अब एकेन्द्रियादि के जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रमाण का विचार करते हैं ।

एकेन्द्रियादि का जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध

जा एगिदि जहन्ना पल्लासंखंस संजुया सा उ ।

तेसि जेट्ठा सेसाणसखंभागहिय जासन्नी ॥५४॥

पणवीसा पन्नासा सय दससय ताडिया इगिदिठिई ।

विगलासन्नीण कमा जायइ जेट्ठा व इयरा वा ॥५५॥

शब्दार्थ—जा—जो, एगिदि—एकेन्द्रिय की, जहुन्ना—जघन्य स्थिति, पल्लासंखसंजुया—पल्योपम के असंख्यातवें भाग से युक्त करने से, सा—वह, उ—और, तेसि—उनकी, जेठ्ठा—उत्कृष्ट, सेसाण—शेष द्वीन्द्रिय आदि की, संखभागहिय—असंख्यातवें भाग अधिक, जासन्नी—असंज्ञी पर्यन्त ।

पणवीसा—पच्चीस, पन्नासा—पचास, सयं—सौ, दससय—दस सौ-हजार, ताडिया—गुणा करने पर, इगिदिठिई—एकेन्द्रिय की स्थिति में, विगलासन्नीणं—विकलेन्द्रियों और असंज्ञी की, कमा—क्रम से, जायइ—होती है, जेठ्ठा—उत्कृष्ट, व—और, इपरा—इतर-जघन्य, वा—और ।

गाथार्थ—एकेन्द्रिय की जघन्य स्थिति को पल्योपम के असंख्यातवें भाग के समयों से युक्त करने पर उसकी उत्कृष्ट स्थिति होती है तथा शेष द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी तक की एकेन्द्रिय की जघन्य स्थिति में व पल्योपम का असंख्यातवां भाग मिलाकर उसे क्रमशः पच्चीस, पचास, सौ और हजार से गुणा करने पर द्वीन्द्रियादि की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति होती है ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असंज्ञी जीवों के जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थितिबंध का प्रमाण बतलाया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

एकेन्द्रिय जीव निद्रा आदि प्रकृतियों की जो जघन्य स्थिति बांधते हैं, उसमें पल्योपम के असंख्यातवें भाग को मिलाने पर जो हो उतनी एकेन्द्रिय जीव उत्कृष्ट स्थिति बांधते हैं और एकेन्द्रिय जीव कितनी जघन्य स्थिति बांधते हैं ? तो वह इस प्रकार जानना चाहिये—

कर्मप्रकृतिकार के मत से अपनी मूल प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की सत्तर कोडाकोड़ी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति द्वारा भाग देने पर जो प्राप्त हो, उसमें से पल्योपम के असंख्यातवें भाग को कम करने पर जो शेष रहे, उतनी जघन्य स्थिति एकेन्द्रिय जीव बांधते हैं । वह इस प्रकार है—

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है, जिसमें मिथ्यात्व की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति द्वारा भाग देने पर $3/7$ सागरोपम प्राप्त होते हैं। उसमें से पल्योपम के असंख्यातवें भाग को कम करने पर यानी पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून $3/7$ सागरोपम प्रमाण ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, वेदनीयद्विक और अन्तराय-पंचक की जघन्य स्थिति एकेन्द्रिय जीव बांधते हैं, उससे कम नहीं बांधते हैं। इसी प्रकार मिथ्यात्व की पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून एक सागरोपम प्रमाण, कषायमोहनीय की पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून $4/7$ सागरोपम प्रमाण, नोकषायमोहनीय तथा वैक्रिय-षट्क, आहारकद्विक और तीर्थकरनाम रहित शेष नामकर्म की प्रकृतियों और गोत्रद्विक को पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून $2/7$ सागरोपम प्रमाण जघन्य स्थिति बांधते हैं।

किन्तु पंचसंग्रहकार के मतानुसार तो निद्रापंचक आदि प्रकृतियों की जो पूर्व में $3/7$ सागरोपम प्रमाण आदि जघन्य स्थिति कही है वही एकेन्द्रिय योग्य जघन्य स्थिति समझना चाहिए तथा ज्ञानावरण-पंचकादि प्रकृतियों की अन्तर्मुहूर्त आदि जघन्य स्थिति कर्मप्रकृतिचूर्णिकार आदि सम्मत जो पूर्व में कही है, वही जघन्य स्थिति पंचसंग्रहकार के मत से भी समझना चाहिये।

अब कर्मप्रकृतिचूर्णिकार के मतानुसार एकेन्द्रिय योग्य उत्कृष्ट स्थिति को बतलाते हैं।

कर्मप्रकृतिचूर्णिकार के मत से एकेन्द्रियों की जो जघन्य स्थिति कही है, उसमें पल्योपम का असंख्यातवां भाग मिलाने पर एकेन्द्रियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। जो इस प्रकार है—ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, वेदनीयद्विक और अन्तरायपंचक का $3/7$ सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व का एक सागरोपम प्रमाण, कषायमोहनीय का $4/7$ सागरोपम प्रमाण, नोक-

षायमोहनीय और वैक्रियषट्क, आहारकद्विक एवं तीर्थकरनाम छोड़कर शेष नामकर्म की प्रकृतियों और गोत्रद्विक का २/७ सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है ।

लेकिन पंचसंग्रहकार के मतानुसार तो निद्रापंचक आदि की जो पूर्व से ३/७ सागरोपम प्रमाण आदि जघन्य स्थिति बताई है, उसमें पत्योपम का असंख्यातवां भाग जोड़ने पर एकेन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति होती है ।

इस प्रकार से एकेन्द्रिय के जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध का विचार करने के पश्चात् अब द्वीन्द्रिय आदि के जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध का विचार करते हैं ।

पंचसंग्रहकार के मत से पूर्व में निद्रा आदि प्रकृतियों की ३/७ सागरोपम प्रमाण आदि जघन्य स्थिति बतलाई है, उसमें पत्योपम का असंख्यातवां जोड़कर अनुक्रम से पच्चीस, पचास, सौ और हजार से गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त हो, वह क्रमशः द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति जानना चाहिये । जिसका तात्पर्य इस प्रकार है—

द्वीन्द्रिय आदि की उत्कृष्ट स्थिति जानना हो तब पूर्वोक्त एकेन्द्रिय की जघन्य स्थिति को पत्योपम के असंख्यातवें भाग से अधिक करके उसे पच्चीस आदि संख्याओं से गुणा करके जो लब्ध प्राप्त हो उतनी जानना चाहिए । जैसे कि पच्चीस से गुणा करने पर जो आये उतनी द्वीन्द्रिय की, पचास से गुणा करने पर जो आये उतनी त्रीन्द्रिय की, सौ से गुणा करने पर जो आये उतनी चतुरिन्द्रिय की और हजार से गुणा करने पर जो आये उतनी असंज्ञी पंचेन्द्रिय की जघन्य स्थिति है तथा उस पूर्वोक्त एकेन्द्रिय की जघन्य स्थिति में पत्योपम के असंख्यातवें भाग को मिलाकर उसको पच्चीस से गुणा करने पर जो आये उतनी द्वीन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति होती है । पचास से गुणा करने पर त्रीन्द्रिय

की, सौ से गुणा करने पर चतुरिन्द्रिय की और हजार से गुणा करने पर असंज्ञी पंचेन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति होती है ।

इस विषय में कर्मप्रकृतिकार आदि का मन्तव्य इस प्रकार है—

एकेन्द्रिय के उत्कृष्ट स्थितिबंध को पच्चीस से गुणा करने पर जो आये, उतना द्वीन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है । इसी प्रकार पचास से गुणाकार करने पर त्रीन्द्रिय का, सौ से गुणा करने पर चतुरिन्द्रिय का और हजार से गुणा करने पर जो आये उतना असंज्ञी पंचेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है और द्वीन्द्रियादि का अपना-अपना जो उत्कृष्ट स्थितिबंध है, उसमें से पल्योपम का असंख्यातवां भाग कम करने पर जो रहे, उतना उनका जघन्य स्थितिबंध है । विशेष अतिशय ज्ञानियों द्वारा गम्य है ।

इस प्रकार से एकेन्द्रिय आदि के जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध का प्रमाण जानना चाहिये ।^१ अब क्रम प्राप्त स्थितिस्थानों की प्ररूपणा करते हैं ।

स्थितिस्थान प्ररूपणा

ठिइठाणाइं एगिंदियाण थोवाइं होति सव्वाणं ।

बेंदीण असंखेज्जाणि संखगुणियाणि जह उप्पि ॥५६॥

शब्दार्थ—ठिइठाणाइं—स्थितिस्थान, एगिंदियाण—एकेन्द्रियों के, थोवाइं—स्तोक-अल्प, होति—होते हैं, सव्वाणं—सभी, बेंदीण—द्वीन्द्रियों के, असंखेज्जाणि—असंख्यातगुणे, संखगुणियाणि—संख्यातगुणे, जह—तथा, उप्पि—ऊपर, आगे ।

गाथार्थ—एकेन्द्रियों के सभी स्थितिस्थान स्तोक हैं, उनसे

१ उत्तर कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट, जघन्य स्थिति एवं एकेन्द्रियादि जीवों का उत्कृष्ट, जघन्य स्थितिबंधादि का दर्शक प्रारूप परिशिष्ट में देखिये ।

द्वीन्द्रिय के असंख्यातगुण हैं तथा उससे आगे त्रीन्द्रिय आदि के संख्यातगुण हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में स्थितिस्थानों का विचार किया गया है कि जीवों के कितने स्थितिस्थान होते हैं । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

एक समय में एक साथ जितनी स्थिति का बंध हो, उसे स्थिति-स्थान कहते हैं । जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति के चरम समय पर्यन्त समय-समय की वृद्धि करते-करते जितने समय हों उतने स्थिति-स्थान होते हैं । यथा—कोई जीव जघन्य स्थिति का बंध करे, वह पहला स्थितिस्थान, समयाधिक जघन्य स्थिति का बंध दूसरा स्थिति-स्थान, दो समयाधिक जघन्य स्थिति का बंध तीसरा स्थितिस्थान, इस प्रकार एक-एक समय बढ़ाते हुए यावत् उत्कृष्ट स्थिति का बंध वह अन्तिम स्थितिस्थान ।^१

१ स्थितिस्थान के दो प्रकार हैं—बद्धस्थितिस्थान और सत्तास्थितिस्थान । एक समय में एक साथ जितनी स्थिति का बंध हो, वे बद्धस्थितिस्थान हैं । जैसे कोई जघन्य स्थिति का बंध करे वह पहला स्थितिस्थान, कोई समयाधिक जघन्य स्थिति का बंध करे वह दूसरा स्थितिस्थान । इसी प्रकार कोई तीन, चार, संख्यात, असंख्यात समयाधिक स्थिति का बंध करे यावत् कोई उत्कृष्ट स्थिति का बंध करे वह चरम स्थितिस्थान । यह तो बद्ध-स्थितिस्थानों की चर्चा हुई ।

अब दूसरे सत्तागत स्थितिस्थानों का विचार करते हैं । एक समय में जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट जितनी स्थिति बंधी हो, उसके भाग में आई वर्गणाओं के अबाधाकाल को छोड़कर जितने समयों में रचना हो, वे सब सत्तागत स्थितिस्थान कहलाते हैं । सत्तागत स्थितिस्थान अर्थात् एक समय में एक साथ कालभेद से जितने समयों के बंधे हुए और जितनी वर्गणाओं के फल का अनुभव हो ।

अब यदि इस प्रकार के स्थितिस्थानों का समस्त एकेन्द्रियों की अपेक्षा विचार किया जाये तो वे सबसे स्तोक थोड़े हैं—‘एगिंदियाण थोवाइं होंति’ । क्योंकि उनके जघन्य स्थितिबंध और उत्कृष्ट स्थिति-बंध के बीच में पत्योपम के असंख्यातवें भाग का ही अन्तर है । अर्थात् उनका जितना जघन्य स्थितिबंध है, उससे उत्कृष्ट स्थितिबंध पत्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक है, जिससे उनके स्थितिस्थान पत्योपम के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतने ही होते हैं । इसीलिए ‘थोवाइं होंति सव्वाण’—सबसे स्तोक-अल्प होते हैं ।

एकेन्द्रियों के स्थितिस्थानकों में ‘बेदीण असंखेज्जाणि’—द्वीन्द्रियों के स्थितिस्थान असंख्यातगुणे होते हैं और उसके बाद उत्तरोत्तर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों पर्यन्त स्थितिस्थान संख्यातगुणे-संख्यातगुणे जानना चाहिये—‘संखगुणियाणि जह उप्पिं’ । जिसका तात्पर्य यह हुआ—

१-४ सूक्ष्म अपर्याप्त एकेन्द्रिय के स्थितिस्थानक सबसे अल्प हैं । उससे ‘अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय के संख्यातगुणे हैं । उससे सूक्ष्म पर्याप्त एकेन्द्रिय के संख्यातगुणे हैं । उससे पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय के संख्यातगुणे हैं । ये सभी मिलकर पत्योपम के असंख्यातवें भाग गत समय प्रमाण हैं ।^१

यहाँ यह समझना चाहिये कि संक्लेश और विशुद्धि का आधार योग है । योगव्यापार की अल्पाधिकता के अनुसार विशुद्धि या संक्लेश अल्पाधिक होता है । स्थितिबंध का आधार संक्लेश या विशुद्धि है । जैसे-जैसे संक्लेश अधिक हो वैसे-वैसे स्थिति का बंध अधिक और संक्लेश कम एवं विशुद्धि अधिक तो स्थिति का बंध अल्प होता है । एकेन्द्रियों में बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय का योग सबसे अधिक है, उससे सूक्ष्म पर्याप्त का, उसके बादर अपर्याप्त का और उससे सूक्ष्म अपर्याप्त का अल्प है । संक्लेश और विशुद्धि में भी यही क्रम है ।

१ पत्योपम का असंख्यातवां भाग बड़ा-बड़ा लेने से उपर्युक्त अल्पबहुत्व सम्भव है ।

बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय का संक्लेश या विशुद्धि अन्य एकेन्द्रियों से अधिक है, जिससे उसको स्वयोग्य कम-से-कम और अधिक-से-अधिक स्थितिबंध हो सकता है। उससे सूक्ष्म पर्याप्त को संक्लेश भी कम और विशुद्धि भी कम, जिससे वह बादर पर्याप्त जितनी जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति नहीं बांध सकता है। यथा—बादर पर्याप्त उत्कृष्ट सौ वर्ष और जघन्य पांच वर्ष की स्थिति बांधता हो तो सूक्ष्म पर्याप्त जघन्य पन्द्रह और उत्कृष्ट नब्बे बांधेगा। जिससे जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के बीच में अन्तर कम-कम रहता है। जिससे बादर पर्याप्त से सूक्ष्म पर्याप्त के स्थितिस्थान कम होते हैं। इसी प्रकार बादर अपर्याप्त आदि के लिये भी समझना चाहिये।

५—६ पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय के स्थितिस्थानों से अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के स्थितिस्थान असंख्यातगुणे हैं। असंख्यातगुणे होने का कारण यह है कि अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के स्थितिस्थान पत्योपम के संख्यातवें भाग के समय प्रमाण हैं। क्योंकि उनकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के बीच में इतना ही अन्तर है और पिछले एकेन्द्रिय के स्थितिस्थान पत्योपम के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण हैं। पत्योपम का संख्यातवां भाग असंख्यातवें भाग से संख्यात गुणा-बड़ा होने से अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के स्थितिस्थान एकेन्द्रिय के स्थितिस्थानों से असंख्यातगुणे होते हैं। उनसे पर्याप्त द्वीन्द्रिय के स्थितिस्थान संख्यातगुणे हैं।

७—८ उनसे अपर्याप्त त्रीन्द्रिय के स्थितिस्थान संख्यातगुणे हैं। उनसे पर्याप्त त्रीन्द्रिय के संख्यातगुणे हैं।

९—१० उनसे अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय के स्थितिस्थान संख्यातगुणे हैं। उनसे पर्याप्त चतुरिन्द्रिय के संख्यातगुणे हैं।

११—१२ उनसे अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय के स्थितिस्थान संख्यातगुणे हैं। उनसे पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय के संख्यातगुणे हैं।

१३—१४ उनसे अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय के स्थितिस्थान संख्यात-

गुणे हैं और उनसे भी पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के स्थितिस्थान संख्यातगुणे जानना चाहिये ।

यहाँ असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तक के प्रत्येक भेद में जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के बीच पल्योपम के संख्यातवें भाग का अन्तर होने से उतने स्थितिस्थान बतलाये हैं और पल्योपम का संख्यातवां भाग क्रमशः बड़ा होने से उपर्युक्त अल्पबहुत्व घटित होता है और अपर्याप्त संज्ञी का जघन्य स्थितिबंध अंतःकोडाकोडी सागरोपम और उत्कृष्ट भी अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है । किन्तु जघन्य से उत्कृष्ट संख्यात गुणबड़ा होने से संख्यातगुण घटित होता है और पर्याप्त संज्ञी के मिथ्यात्वगुणस्थान में जघन्य स्थितिबंध अंतःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है और उत्कृष्ट प्रत्येक प्रकृति का जितना-जितना उत्कृष्ट स्थितिबंध पहले कहा जा चुका है, उतना है, जिससे उसे भी संख्यातगुणत्व घटित होता है ।

इस अल्पबहुत्व में अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के स्थितिस्थान असंख्यातगुणे और शेष समस्त संख्यातगुणे हैं ।

इस प्रकार से एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक के स्थिति-स्थानों को जानना चाहिए ।

इन स्थितिस्थानों के हेतु हैं जीव से संक्लेश और विशुद्धि वाले परिणाम । अतः प्रासंगिक होने से अब संक्लेशस्थानों और विशोधि-स्थानों का विचार करते हैं ।

संक्लेश और विशुद्धिस्थान प्ररूपणा

ये दोनों प्रकार के अर्थात् संक्लेश और विशुद्धि के स्थान उत्तरोत्तर प्रत्येक जीवभेद में असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे होते हैं । जो इस प्रकार समझना चाहिए—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त के संक्लेशस्थान सबसे अल्प हैं, उनसे अपर्याप्त बादर के असंख्यातगुणे हैं, उनसे सूक्ष्म पर्याप्त के असंख्यातगुणे हैं, उनसे बादर पर्याप्त के असंख्यातगुणे हैं । उनसे अपर्याप्त

पर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय के उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे जानना चाहिए ।

प्रश्न—यह किस युक्ति से जाना जाये कि अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि समस्त जीवभेदों में उत्तरोत्तर संक्लेश के स्थान असंख्यातगुण-असंख्यातगुणे होते हैं ।

उत्तर—अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय के जघन्य स्थितिबंध के आरम्भ में प्राप्त जो संक्लेश के स्थान हैं, उनकी अपेक्षा समयाधिक जघन्य स्थितिबंध के आरम्भ में जो संक्लेशस्थान हैं वे विशेषाधिक होते हैं, उनसे भी दो समयाधिक जघन्य स्थितिबंध के आरम्भ में प्राप्त संक्लेशस्थान विशेषाधिक होते हैं । इस प्रकार पूर्व पूर्व स्थितिबंध से उत्तरोत्तर के स्थितिबंध में अधिक-अधिक संक्लेश के स्थान अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक अर्थात् अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय के उत्कृष्ट स्थितिबंध पर्यन्त कहना चाहिए ।

जब यहाँ ही उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रारम्भ में प्राप्त संक्लेशस्थान जघन्य स्थितिबंध के संक्लेशस्थान की अपेक्षा असंख्यातगुणे हैं यानि अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय के अपने ही जघन्य स्थितिबंध योग्य संक्लेश-स्थानों से उत्कृष्ट स्थितिबंध योग्य संक्लेशस्थान असंख्यातगुणे हैं तब उनसे अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय के संक्लेशस्थान तो स्वयमेव सरलता से असंख्यातगुणे होंगे ही । जो इस प्रकार जानना चाहिए—

अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय के स्थितिस्थानों की अपेक्षा अपर्याप्त बादर के स्थितिस्थान संख्यातगुणे हैं, यह पहले बताया जा चुका है और स्थितिस्थान की वृद्धि से संक्लेशस्थान की वृद्धि होती है, यह भी पूर्व में कहा है । इसलिये जब अपर्याप्त सूक्ष्म के अत्यल्प स्थिति-स्थानों में भी जघन्य स्थितिस्थान सम्बन्धी संक्लेशस्थान की अपेक्षा उत्कृष्ट स्थितिस्थान के संक्लेशस्थान असंख्यातगुण होते हैं तब सूक्ष्म अपर्याप्त एकेन्द्रिय से बादर अपर्याप्त एकेन्द्रिय के स्थितिस्थानों में असंख्यातगुणे संक्लेशस्थान तो स्वयमेव हो ही जायेंगे । इसी युक्ति से उत्तरोत्तर असंख्यातगुणत्व समझ लेना चाहिये ।

कदाचित् यह कहा जाये कि स्थिति के स्थान जब संख्यातगुणे हैं, तब संक्लेश के स्थान संख्यातगुणे न होकर असंख्यातगुणे क्यों होते हैं ? इसका उत्तर यह है कि अमुक-अमुक स्थानों का अतिक्रमण करने अनन्तर जो द्विगुणवृद्धि होती है, वह इस रीति से होती है कि वह असंख्यातगुणी हो जाती है। इसका कारण यह है कि पूर्व-पूर्व की वृद्धि से उत्तर-उत्तर की वृद्धि दुगुनी होती है और वह वृद्धि उन स्थानों में इतनी अधिक बार होती है कि जिससे उक्त कथन की संगति सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार से संक्लेशस्थानों का विचार कर लेने के बाद अब विशुद्धिस्थानों का निरूपण करते हैं कि जैसे प्रत्येक के संक्लेशस्थान असंख्यात-असंख्यात गुणे बतलाये हैं, उसी प्रकार विशुद्धिस्थान भी प्रत्येक के असंख्यातगुणे जानना चाहिये। क्योंकि संक्लिष्ट परिणाम वालों के जो संक्लेशस्थान हैं वे ही विशुद्ध परिणाम वाले के विशुद्धि-स्थान होते हैं। जिसका विस्तार से आगे विचार किया जा रहा है। इसलिए यहाँ तो इतना ही समझ लेना चाहिये कि पूर्व में जिस क्रम से संक्लेश के स्थान असंख्यातगुणे कहे हैं उसी क्रम से विशुद्धि के स्थान भी असंख्यातगुणे कहना चाहिये। इसका कारण यह है—

संक्लेश और विशुद्धि सापेक्ष है। जो संक्लेश के स्थान हैं, वे ही विशुद्धि के सम्भव हैं। जैसे कि दस स्थान हैं। विशुद्धि में पहले से सारा, दूसरे से तीसरा, इस प्रकार उत्तरोत्तर प्रवर्धमान है, उसी प्रकार दसवें से नौवां, नौवें से आठवां, इस प्रकार पश्चानुपूर्वी से संक्लेश में पतनोन्मुखी है। जो चढ़ते विशुद्धि का स्थान, वही उतरते ए अविशुद्धि का सम्भव है। जैसे कोई दो जीव चौथे गुणस्थान में। उनमें से एक चौथे से पांचवें में और एक चौथे से तीसरे में जाने वाला है। यद्यपि अभी तो दोनों जीव एक स्थान पर हैं, लेकिन चढ़ने वाले की अपेक्षा शुद्ध और वही गिरने वाले की अपेक्षा अशुद्ध हैं। इस कारण संक्लेश और विशुद्धि सापेक्ष है। जितने संक्लेश के उतने ही विशुद्धि के स्थान हैं।

इस प्रकार से स्थितिस्थानों और प्रसंगोपात्त संक्लेश एवं विशुद्धि स्थानों का कथन जानना चाहिये । उक्त समग्र कथन का दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

क्रम	जीवभेद	स्थितिस्थान	संक्लेशस्थान	विशुद्धिस्थान
१	सूक्ष्म एके. अप.	पत्योपम असं. भाग	सर्वस्तोक	सर्वस्तोक
२	बादर एके. अप.	प्रमाण सर्वस्तोक	असंख्यातगुण	असंख्यातगुण
३	सूक्ष्म एके. पर्याप्त	उससे "	"	"
४	बादर एके. पर्याप्त	उससे "	"	"
५	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	उससे असंख्यातगुण	"	"
६	" पर्याप्त	उससे संख्यातगुण	"	"
७	त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	उससे "	"	"
८	" पर्याप्त	उससे "	"	"
९	चतुरिन्द्रिय अप.	उससे "	"	"
१०	" पर्याप्त	उससे "	"	"
११	असं. पंचे. अप.	उससे "	"	"
१२	" " पर्याप्त	उससे "	"	"
१३	संज्ञी पंचे. अप.	उससे "	"	"
१४	" पर्याप्त	उससे "	"	"

अब एक स्थितिस्थान के बंध में हेतुभूत नाना जीवों की अपेक्षा कितने अध्यवसाय होते हैं ? इसका समाधान करते हैं ।

अध्यवसायस्थानप्रमाण प्ररूपणा

सर्वजहन्ना वि ठिई असंखलोगप्पएसतुल्लेहि ।

अज्झवसाएहि भवे विसेसअहिएहि उवरुवरि ॥५७॥

शब्दार्थ—सर्वजहन्ना—सर्व जघन्य, वि—भी, ठिई—स्थिति, असंख-लोगप्पएसतुल्लेहि—असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, अज्झवसाएहि—अध्यवसायों द्वारा, भवे—होती है (बंधती है), विसेसअहि—विशेषाधिक-विशेषाधिक, एहि—इससे, उवरुवरि—ऊपर-ऊपर की ।

गाथार्थ—सर्व जघन्य स्थिति भी असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अध्यवसायों से बंधती है और इससे ऊपर-ऊपर की स्थिति के स्थान विशेषाधिक-विशेषाधिक अध्यवसायों द्वारा बंधते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में स्थिति के बंध होने के अध्यवसायों के प्रमाण का निर्देश किया है—

आयु को छोड़कर शेष ज्ञानावरण आदि सातों कर्मों की जो सर्व-जघन्य स्थिति है वह भी अनेक जीवों की अपेक्षा असंख्य लोकाकाश प्रदेशप्रमाण अध्यवसायों द्वारा बंधती है । अर्थात् सर्वजघन्य स्थिति-बंध होने में भी असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अध्यवसाय हेतु हैं । कोई जीव किसी अध्यवसाय द्वारा, कोई किसी अध्यवसाय द्वारा वह-वह जघन्य स्थिति बांधता है । स्थिति का स्थान एक ही है किन्तु उसके बंध में हेतुभूत अध्यवसाय^१ असंख्य हैं । तात्पर्य यह हुआ कि त्रिकालवर्ती अनेक जीवों की अपेक्षा वह एक ही जघन्य स्थिति असंख्य

- १ तीव्र, तीव्रतर, मन्द, मन्दतर कषाय के उदय से उत्पन्न हुए आत्मपरिणामों को अध्यवसाय कहते हैं—अध्यवसायश्च तीव्र-तीव्रतरमन्द-मन्दतररूपाः कषाग्रोदयविशेषा अवसेयाः ।

लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अध्यवसायों द्वारा बंधती है और उससे ऊपर के स्थितिस्थान विशेषाधिक-विशेषाधिक अध्यवसायों द्वारा बंधते हैं—
 'विसेसाअहिंएहि उवरवरि' । यानी आयुकर्म को छोड़कर शेष सातों कर्मों की जो जघन्य स्थिति है, वह त्रिकालवर्ती अनेक जीवों की अपेक्षा असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अध्यवसायों द्वारा बंधती है, उसके बाद की दूसरी स्थिति विशेषाधिक अध्यवसायों द्वारा बंधती है, उसके बाद की तीसरी स्थिति पूर्व से भी विशेषाधिक अध्यवसायों द्वारा बंधती है । इस प्रकार उत्तर-उत्तर यावत् उत्कृष्ट स्थिति तक के प्रत्येक स्थान पूर्व-पूर्व से अधिक अध्यवसायों द्वारा बंधते हैं ।

ज्ञानावरण आदि सात कर्मों की स्थिति के बंध के लिए तो उक्त प्रकार से समझना चाहिये और आयुकर्म के लिये यह जानना कि आयु-कर्म की जघन्यस्थिति भिन्न-भिन्न अनेक जीवों की अपेक्षा असंख्य-लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अध्यवसायों द्वारा बंधती है । समयाधिक दूसरी स्थिति पूर्व से असंख्यातगुणे अध्यवसायों द्वारा, दूसरी से तीसरी स्थिति उससे भी असंख्यातगुणे अध्यवसायों द्वारा बंधती है । इस प्रकार पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर के स्थितिस्थान असंख्यातगुणे अध्यवसायों द्वारा बंधते हैं । इस प्रकार से तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है ।

अब इसी का कुछ विशेष स्पष्टीकरण के साथ विचार करते हैं—

असंख लोगखपएसतुल्लया हीणमज्झमुक्कोसा ।

ठिईबंधज्झवसाया तीए विसेसा असंखेज्जा ॥५८॥

शब्दार्थ—असंख लोगखपएसतुल्लया—असंख्य लोकाकाश प्रदेश तुल्य-प्रमाण, हीणमज्झमुक्कोसा—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, ठिईबंधज्झवसाया—स्थितिबंध के अध्यवसाय, तीए—उनके, विसेसा—विशेष, असंखेज्जा—असंख्याता ।

गाथार्थ—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थितिबंध के हेतु-

भूत अध्यवसाय असंख्य लोकाकाश प्रदेश तुल्य-प्रमाण हैं। क्योंकि उन जघन्यादि स्थितियों के असंख्यात विशेष होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में स्थितिबन्ध के हेतुभूत अध्यवसायों के असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होने के कारण का निर्देश किया है कि 'हीणमज्झिमुक्कोसा' अर्थात् जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के हेतुभूत असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अध्यवसाय हैं। क्योंकि उन एक-एक जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थितिस्थानों में असंख्यात विशेष हैं और वे विशेष स्थितिबन्ध में हेतुभूत अध्यवसाय की विचित्रता में देश, काल, रस विभाग के वैचित्र्य द्वारा कारण होते हैं।

जिसका आशय यह है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, अनुभाग आदि अनेक कारणों का आत्मा पर असर होता है और उसके कारण अध्यवसायों की भिन्नता होती है। अनेक जीवों के एक सरीखी स्थिति बांधने पर भी वे जीव एक ही क्षेत्र में, एक ही काल में या एक ही प्रकार के समान संयोगों में अनुभव नहीं करते हैं। किन्तु भिन्न-भिन्न क्षेत्र-कालादि और भिन्न-भिन्न संयोगों में अनुभव करते हैं।

इसका कारण भिन्न-भिन्न क्षेत्र, काल और अनुभाग आदि द्वारा निष्पन्न अध्यवसायों की विचित्रता कारण है। इस तरह भिन्न-भिन्न क्षेत्र, काल आदि असंख्य कारण भिन्न-भिन्न अध्यवसायों के होने में कारण हैं। क्षेत्रादि के असंख्य होने से अध्यवसाय भी असंख्य हैं। इन असंख्य अध्यवसायों द्वारा एक सरीखी स्थिति बांधने पर भी एक सरीखे संयोगों में अनुभव नहीं की जाती है। किसी भी एक स्थितिबन्ध का एक अध्यवसाय रूप एक ही कारण हो तो उस स्थिति को एक जीव जिस सामग्री को प्राप्त कर अनुभव करे उसी सामग्री को प्राप्त कर उस स्थिति को बांधने वाले सभी जीवों को अनुभव करना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता है। एक सरीखी स्थिति बांधने वाले अनेक जीवों में से एक जीव उस स्थिति को अमुक क्षेत्र या अमुक काल में

अनुभव करता है, दूसरा जीव उस स्थिति को दूसरे क्षेत्र या काल में अनुभव करता है। इस कारण एक ही स्थितिबंध होने में अनेक अध्यवसाय रूप अनेक कारण हैं। उन अनेक कारणों द्वारा स्थितिबंध एक सरीखा होता है। मात्र उसमें भिन्न-भिन्न संयोगों में अनुभव करने रूप एवं अनेक कारणों द्वारा परिवर्तन होने रूप विचित्रता रही हुई है।

अथवा जघन्य स्थिति असंख्य समय प्रमाण है। इसी प्रकार प्रत्येक मध्यम और उत्कृष्ट स्थिति भी असंख्य समय प्रमाण है। ये जघन्य स्थिति समय-समय प्रमाण कम होते जाने से प्रति समय अन्यथाभाव के—भिन्न-भिन्न प्रकार के—भेद को प्राप्त करती है। इसी प्रकार मध्यम और उत्कृष्ट स्थितियां भी समय-समय मात्र कम होने के द्वारा भिन्नता को प्राप्त करती हैं। इस प्रकार उन जघन्यादि स्थितियों में असंख्य विशेष रहे हुए हैं कि जिन विशेषों के कारण भी असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अध्यवसाय हैं।

इस प्रकार से अध्यवसायस्थान प्ररूपणा का भाव जाना चाहिये। अब क्रम प्राप्त सादि-अनादि प्ररूपणा का निर्देश करते हैं। इस प्ररूपणा के दो प्रकार हैं—१ मूल प्रकृति विषयक, २ उत्तर प्रकृति विषयक। उनमें से पहले मूल प्रकृति विषयक सादि-अनादि का विचार करते हैं।

मूल प्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा

सण्तहं अजन्नो चउहा ठिइबंधु मूलपगईणं ।

सेसा उ साइअधुवा चत्तारि वि आउए एवं ॥५६॥

शब्दार्थ—सण्तहं—सात, अजह्णो—अजघन्य, चउहा—चार प्रकार का, ठिइबंधु—स्थितिबंध, मूलपगईणं—मूल प्रकृतियों का, सेसा—शेष बंध, उ—और, साइअधुवा—सादि और अध्रुव, चत्तारि—चारों, वि—भी, आउए—आयु के, एवं—इसी प्रकार के।

गाथार्थ—सातों मूल प्रकृतियों का अजघन्य स्थितिबंध चार प्रकार का है और शेष बंध सादि, अध्रुव हैं तथा आयु के चारों ही बंध इसी प्रकार के अर्थात् सादि और अध्रुव हैं।

विशेषार्थ—गाथा में मूलकर्मों के स्थिति के सादित्व आदि चारों बंधप्रकारों का निरूपण किया है कि आयुर्कर्म को छोड़कर शेष ज्ञानावरण आदि सातों मूलकर्मों का अजघन्य स्थितिबंध चार प्रकार का है—‘अजहन्तो चउहा’—सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मोहनीयकर्म के सिवाय छह मूलकर्मों का जघन्य स्थितिबंध क्षपकश्रेणि में सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में होता है। वह जघन्य बंध चरम समय में मात्र एक समय तक ही होने से सादि है और दूसरे समय में उन प्रकृतियों के बंधविच्छेद के साथ उस जघन्य बंध का भी विच्छेद होने से सांत है। इस जघन्य स्थितिबंध से अन्य सभी स्थितिबंध अजघन्य है। वह अजघन्य स्थितिबंध उपशांतमोहगुणस्थान में नहीं होता है, किन्तु वहाँ से पतन होने पर होता है, जिससे सादि है, उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, उनको अनादिकाल से अजघन्य बंध होता आ रहा है, जिससे अनादि है, भव्य के कालान्तर में अजघन्य बंध का विच्छेद सम्भव होने से अध्रुव और अभव्य के किसी भी समय विच्छेद सम्भव नहीं होने से ध्रुव है।

मोहनीय का जघन्य स्थितिबंध क्षपक के अनिवृत्तिवाटरसंपरायगुणस्थान के चरम समय में होता है। एक समय मात्र होने से वह सादि-सान्त है, उसके सिवाय अन्य शेष समस्त बंध अजघन्य कहलाता है। जो उपशमश्रेणि के सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में नहीं होता है। किन्तु वहाँ से पतन होने पर होता है, जिससे सादि है। उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया उनकी अपेक्षा अनादि और भव्य-अभव्य की अपेक्षा क्रमशः अध्रुव, ध्रुव जानना चाहिये।

यद्यपि वेदनीय का द्विसामयिक अतिजघन्य स्थितिबंध उपशांत-मोह आदि गुणस्थानों में होता है, परन्तु वह सांपरायिक बंध^१ नहीं है। यहाँ सांपरायिक बंध की अपेक्षा सादि आदि भंगों का विचार किया जा रहा है। इसलिए उस असांपरायिक बंध को ग्रहण नहीं किया है।

सात कर्मों के उक्त अजघन्य बंध को छोड़कर शेष जघन्य, उत्कृष्ट और अनुकृष्ट स्थितिबंधप्रकारों को सादि और सांत जानना चाहिये। उनके जघन्य स्थितिबंध की सादिता और सांतता का विचार पूर्व में किया जा चुका है और उत्कृष्ट स्थितिबंध सर्व संक्लिष्ट संज्ञी मिथ्यादृष्टि जीव के कितनेक काल तक ही^२ होता है और उसके बाद उसी को अनुत्कृष्ट होता है तथा कालान्तर में संक्लिष्ट परिणाम हों तब उत्कृष्ट बंध होता है। इस प्रकार ये दोनों क्रमशः होने से सादि-सांत हैं।

आयुर्कर्म के जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ये चारों प्रकार के स्थितिबंध सादि और अध्रुव जानना चाहिये। क्योंकि आयु का बंध भुज्यमान आयु के दो भाग बीतने के बाद तीसरे आदि भागों के प्रारम्भ में अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है। इसलिये जब जघन्यादि आयुबंध की शुरुआत हो तब सादि और आयु का बंध पूर्ण हो तब सांत। इस प्रकार आयुर्कर्म के चारों बंधप्रकारों में सादि और अध्रुव ये दोनों भंग घटित होते हैं।^३

१ जन्म-मरण रूप संसार के कारणभूत बंध को सांपरायिक बंध कहते हैं।

२ उत्कृष्ट स्थितिबंध अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त होता है, उससे अधिक समय नहीं हो सकता।

३ दिगम्बर कर्मसाहित्य में भी इसी प्रकार से मूल कर्म प्रकृतियों के स्थिति-बंध की सादि-अनादि प्ररूपणा की है। देखिये पंचसंग्रह, शतक अधिकार गाथा ४२०।

इस प्रकार से मूलकर्म विषयक सादि आदि भगों का विचार जानना चाहिये । अब उत्तर प्रकृति विषयक सादि आदि बंधभगों का विचार करते हैं ।

उत्तर प्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा

नाणंतरायदंसणचउवकसंजलणठिई अजहन्ना ।

चउहा साई अधुवा सेसा इयराण सव्वाओ ॥६०॥

शब्दार्थ—नाणंतराय—ज्ञानावरण व अंतराय पंचक, दंसणचउवक—दर्शनाचतुष्क, संजलण—संज्वलनकषाय, ठिई—स्थिति, अजहन्ना—अजघन्य, चउहा—चार प्रकार की, साई—सादि, अधुवा—अध्रुव, सेसा—शेष, इयराण—इतर, सव्वाओ—समस्त, सभी ।

गाथार्थ—ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरण-चतुष्क और संज्वलन कषायों की अजघन्य स्थिति चार प्रकार की है और शेष उत्कृष्ट आदि सादि और अध्रुव है एवं इतर सभी प्रकृतियों की उत्कृष्ट आदि सभी स्थितियां भी सादि, अध्रुव है ।

विशेषार्थ—गाथा में उत्तर प्रकृतियों के स्थितिबंध की सादि-अनादि प्ररूपणा की है कि मतिज्ञानावरण आदि पांच ज्ञानावरण, दानान्तराय आदि पांच अन्तराय, चक्षुदर्शनावरण आदि दर्शनावरण-चतुष्क और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ इन अठारह प्रकृतियों का अजघन्य स्थितिबंध चार प्रकार का—सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और अंतरायपंचक इन चौदह प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध क्षपक को सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में और संज्वलनचतुष्क का जघन्य स्थितिबंध क्षपक को अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान में उनके बंधविच्छेद के समय होता है । उसका काल मात्र एक समय का है । इसलिए वह जघन्य

स्थितिबंध सादि-सान्त है। उसके सिवाय शेष समस्त स्थितिबंध अजघन्य कहलाता है। वह अजघन्य स्थितिबंध उपशांतमोहगुणस्थान में नहीं होता है, वहाँ से पतन होने पर पुनः होता है, इसलिए सादि है। उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया है, उनको अनादि तथा अभव्य, भव्य की अपेक्षा क्रमशः अध्रुव और अध्रुव है।

उक्त अठारह प्रकृतियों के शेष जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट स्थितिबंध सादि, अध्रुव हैं। इनमें से जघन्य का विचार तो ऊपर किया जा चुका है और उत्कृष्ट एवं अनुत्कृष्ट बंध संज्ञी मिथ्यादृष्टि को एक के बाद दूसरा इस तरह बदल-बदल कर होते हैं। जिसका कारण यह है—

जिस-जिस समय सर्व संक्लिष्ट परिणाम होते हैं, उस-उस समय उत्कृष्ट स्थिति का बंध और मध्यम परिणाम में अनुत्कृष्ट स्थिति का बंध होता है। इस प्रकार मिथ्यात्वगुणस्थान क्रमपूर्वक प्रवर्तित होने से वे दोनों सादि, अध्रुव हैं तथा उपर्युक्त अठारह प्रकृतियों के सिवाय शेष सभी (१०८) प्रकृतियों की जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट स्थितियाँ सादि और सांत—अध्रुव हैं। जो इस प्रकार जानना चाहिए—

निद्रापंचक, मिथ्यात्व, आदि की बारह कषायें, भय, जुगुप्सा, तैजस, कार्मण, वर्णादि चतुष्क, अगुरुलघु, उधघात, निर्माण इन उनतीस प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध स्वयोग्य सर्वविशुद्ध पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीव को अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त होता है। उसके बाद उसी जीव के अध्यवसायों का परावर्तन होने से जब मंद परिणाम होते हैं तब अजघन्य स्थितिबंध होता है, पुनः कालान्तर में या अन्य भव में विशुद्ध परिणाम हों, तब जघन्य स्थितिबंध होता है। इस प्रकार बदल-बदल कर होने से वे दोनों सादि, अध्रुव हैं और उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट स्थितिबंध संज्ञी पंचेन्द्रिय को क्रम पूर्वक होते हैं। सर्व संक्लिष्ट परिणामों के होने पर उत्कृष्ट और मध्यम परिणामों के होने पर अनुत्कृष्ट होता है। जिससे वे दोनों सादि और अध्रुव हैं।

जिन प्रकृतियों के जघन्य या उत्कृष्ट स्थितिबंध पहले गुणस्थान में होते हैं, उनके अजघन्य और अनुत्कृष्ट स्थितिबंध में, उन दोनों के परावर्तित क्रम से होने के कारण सादि, सांत यही दो भंग घटित होते हैं तथा जिन प्रकृतियों के जघन्य अथवा उत्कृष्ट बंध ऊपर के गुणस्थानों में होते हों उनके अजघन्य या अनुत्कृष्ट पर चार भंग घटित होते हैं। क्योंकि ऊपर के गुणस्थान में आरोहण नहीं किये हुए, आरोहण नहीं करने वाले और आरोहण करके गिरने वाले जीव होते हैं। जिससे भंगों की योजना तदनुसार करना चाहिए।

शेष अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के चारों विकल्प उनके अध्रुवबंधिनी होने से सादि और अध्रुव जानना चाहिये।

अब पूर्वोक्त गाथा में कहे गये जघन्यादि विकल्पों को सामान्य बुद्धि वाले शिष्यों को सरलता से समझाने के लिये विशेषता के साथ स्पष्ट करते हैं—

अट्ठारसण्ह खवगो बायरएंगिदि सेसधुवियाणं ।

पज्जो कुणइ जहन्नं साई अध्रुवो अओ एसो ॥६१॥

शब्दार्थ—अट्ठारसण्ह—अठारह प्रकृतियों का, खवगो—क्षपक, बायर-एंगिदि—बादर एकेन्द्रिय, सेसधुवियाणं—शेष ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का, पज्जो—पर्याप्त, कुणइ—करता है, जहन्न—जघन्य, साई अध्रुवो—सादि, अध्रुव, अओ—इस कारण, एसो—इनका।

गाथार्थ—ज्ञानावरणपंचक आदि अठारह प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध क्षपक और शेष ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीव करता है। इस कारण वे सादि और अध्रुव विकल्प वाली हैं।

विशेषार्थ—गाथा में ज्ञानावरणपंचक आदि अठारह प्रकृतियों एवं

शेष ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध के सादि और अध्रुव होने के कारण का विचार किया है ।

ज्ञानावरणपंचक, अंतरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और संज्वलन-चतुष्क इन अठारह प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध क्षपक जीव उन-उन प्रकृतियों के बन्धविच्छेद के समय करता है । उनमें से संज्वलन-चतुष्क का अनिवृत्तिबादरगुणस्थान में और शेष प्रकृतियों का सूक्ष्म-संपरायगुणस्थान में बन्धविच्छेद करता है । क्योंकि ये सभी प्रकृतियाँ अशुभ हैं और अशुभ प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध विशुद्ध परिणामों के होने पर होता है । क्षपक जीव अत्यन्त विशुद्ध परिणाम वाला है, इसलिए पूर्वोक्त अठारह प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध क्षपक को ही होता है, अन्यत्र नहीं होता है । उनका काल एक समय का है, इसलिये वह सादि और सांत है ।

‘सेसधुवियाण’—अर्थात् शेष ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों का जघन्य स्थिति-बन्ध तद्योग्य विशुद्ध परिणाम वाले पर्याप्त पृथ्वीकाय, अप्काय और प्रत्येक वनस्पति रूप बादर एकेन्द्रिय जीव कितनेक काल तक करते हैं । शेष एकेन्द्रिय जीव तथास्वभाव के कारण नहीं करते हैं । अन्तर्मुहूर्त के बाद वे ही जीव अजघन्य स्थितिबन्ध करते हैं । अतः क्रमपूर्वक उनके होने से वे दोनों सादि-सांत हैं ।

इस प्रकार से जघन्यबन्ध के सादि, सांत होने के कारण को जानना चाहिए ।

अब पूर्वोक्त अठारह प्रकृतियों के अजघन्य स्थितिबन्ध के चार प्रकारों का और शेष ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों के उत्कृष्टादि के सादि और सांत विकल्पों का एवं अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों के चारों प्रकारों के सादि और सांत ये दो विकल्प होने का विचार करते हैं ।

अट्ठाराणञ्जहन्तो उवसमसेढीए परिवडंतस्स ।

साई सेसवियप्पा सुगम अधुवा धुवाणंपि ॥६२॥

शब्दार्थ—अट्टाराण—अठारह प्रकृतियों का, अजहन्नो—अजघन्य स्थिति-
बंध, उपसमसेडीए—उपशमश्रेणि से, परिवडंतस्स—पतन करने वाले को,
साई—सादि, सेसवियप्पा—शेष विकल्प, सुगमा—सरल हैं, अधुवा—अध्रुव,
धुवाणपि—ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के भी ।

गाथार्थ—अठारह प्रकृतियों का अजघन्य स्थितिबंध उपशमश्रेणी
से पतन करने—गिरने वाले के होने से सादि है तथा उनके शेष विकल्प
एवं अध्रुव और ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के सभी विकल्प सुगम हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में ज्ञानावरणपंचक आदि अठारह प्रकृतियों के
अजघन्य स्थितिबंध एवं शेष ध्रुव, अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के जघन्य
आदि स्थितिबंधों के सादि आदि विकल्पों का विचार किया गया है—

‘अट्टाराणजहन्नो’ अर्थात् ज्ञानावरणपंचक आदि अठारह प्रकृतियों
के अजघन्य स्थितिबंध का आरम्भ उपशमश्रेणि से गिरते समय होता
है, जिससे वह चारों विकल्पों वाला होता है । जो इस प्रकार जानना
चाहिए—उपशमश्रेणि से गिरने पर सादि, उस स्थान को जिन्होंने
प्राप्त नहीं किया, उनकी अपेक्षा अनादि, अभव्य की अपेक्षा ध्रुव और
भव्य की अपेक्षा अध्रुव है ।

इन्हीं अठारह प्रकृतियों के शेष जघन्यादि विकल्प तथा इन अठारह
प्रकृतियों के सिवाय शेष ध्रुवबंधिनी एवं अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के
जघन्यादि चारों विकल्प सादि एवं अध्रुव हैं । जिनका स्पष्टीकरण यथा-
प्रसंग पूर्व में किया जा चुका है ।

इस प्रकार से मूल एवं उत्तर प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा
जानना चाहिये ।^१ अब इसी का विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए
स्वामित्व प्ररूपणा करते हैं ।

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में भी मूल एवं उत्तर प्रकृतियों के स्थितिबंध की
सादि-अनादि प्ररूपणा की है । देखिये पंचसंग्रह, शतक अधिकार गा.
४२०-४२३।

स्वामित्व प्ररूपणा

सव्वाणवि पगईणं उक्कोसं सन्निणो कुणंति ठिइं ।

एगिंदिया जहन्नं असन्निखवगा य काणंपि ॥६३॥

शब्दार्थ—सव्वाणवि—सभी, पगईणं—प्रकृतियों का, उक्कोसं—उत्कृष्ट, सन्निणो—संज्ञी, कुणंति—करते हैं, ठिइं—स्थितिबंध, एगिंदिया—एकेन्द्रिय, जहन्नं—जघन्य, असन्निखवगा—असंज्ञी और क्षपक, य—और, काणं—कितनी ही का, पि—भी ।

गाथार्थ—सभी प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध संज्ञी और जघन्यस्थितिबंध एकेन्द्रिय जीव करते हैं और कितनी ही प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध असंज्ञी एवं क्षपक जीव भी करते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में सामान्य से समस्त प्रकृतियों के स्थितिबंध के स्वामियों का निर्देश किया है—

शुभ-अशुभ सभी प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध संज्ञी जीव करते हैं—‘उक्कोसं सन्निणो कुणंति’ । लेकिन यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि तीर्थकरनाम, आहारकद्विक और देवायु को छोड़कर शेष एक सौ सोलह प्रकृतियों का संज्ञी मिथ्यादृष्टि एवं तीर्थकरनाम आदि चारों प्रकृतियों का सम्यग्दृष्टि आदि संज्ञी जीव करते हैं ।

तीर्थकरनाम आदि चार प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध सम्यग्दृष्टि आदि को करने का कारण यह है कि तीर्थकरनाम का बंधहेतु सम्यक्त्व और आहारकद्विक का विशिष्ट संयम है^१ तथा देवायु की उत्कृष्ट स्थिति सर्वार्थसिद्ध विमान में है और वहाँ विशिष्ट संयम के निमित्त से उत्पत्ति होती है । यानी उसके स्थितिबंध में भी संयम हेतु है । इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव को इन प्रकृतियों का बंध मूलतः असंभव होने से सम्य-

१ सम्मत्तगुणनिमित्तं तित्थयरं संजमेण आहारं ।

ग्रहण आदि जीवों को इन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति का बंध जानना चाहिए । मात्र देवायु के सिवाय उन प्रकृतियों के बंधकों में जो संकिलष्ट परिणामी जीव हैं, वे उन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बांधते हैं ।^१

इन तीर्थकरनाम आदि प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंधक जीवों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पहले जिसने नरकायु का बंध किया ऐसा कोई असंयत मनुष्य क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करके तीर्थकरनाम के बंध के विशेष बीस हेतुओं की आराधना द्वारा तीर्थकरनाम का निकाचित बंध करे किन्तु जब वह अन्तर्मुहूर्त आयु रहे और नरक में जाने के अभिमुख हो तब सम्यक्त्व का वमन कर देता है । जिस समय सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त करने के उन्मुख हो उस समय चतुर्थ गुणस्थान के अन्तिम समय में तीर्थकरनाम का उत्कृष्ट स्थितिबंध करता है । तीर्थकरनाम के बंधकों में ऐसा जीव ही सर्वोत्कृष्ट संकिलष्टपरिणाम वाला होता है । किन्तु जो जीव क्षायिक सम्यक्त्व सहित नरक में जाता है, वह सम्यक्त्व का वमन करने वाला न होने से विशुद्ध परिणाम वाला होता है । जिससे उसे तीर्थकरनाम का उत्कृष्ट स्थितिबंध नहीं होता है ।^२

यहाँ क्षायोपशमिक सम्यक्त्वों को ग्रहण करने का कारण यह है कि कर्मग्रन्थिकों के मत से नरक में जाने वाला जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व साथ में लेकर नहीं जाता है । अतः जब नरकों में जाने के लिए अभिमुख हो, तब उसका वमन कर देता है । जिससे चौथे से पहले

१ इसका कारण सहित स्पष्टीकरण आगे गाथा ६४ में किया जा रहा है ।

२ तित्थयरनामस्स उक्कोसटिहं मणुस्सो असंजमो वेयसम्मदिट्ठी पुब्बं नरगबद्धाउणो नरगाभिमुहो मिच्छत्तं पडिविज्जही इति अंतिमे ठिहंबंधे वट्टमाणो बंधइ, तट्बंधगेसु अइसंकिलिट्ठो त्ति काउं ।

—क्षतकचूर्ण

गुणस्थान में जाते हुए चौथे गुणस्थान के चरम समय में संक्लिष्ट परिणामों में तीर्थंकरनाम का स्थितिबंध होता है और वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्वो करता है ।

प्रमत्तभाव के सन्मुख हुआ अप्रमत्तासंयत आहारकद्विक का उत्कृष्ट स्थितिबंध करता है । क्योंकि उनके बंधकों में वही उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाला है ।

देवायु का भी पूर्वकोटि की आयु वाला पूर्वकोटि के तीसरे भाग के आद्य समय में वर्तमान अप्रमत्तभाव के सन्मुख हुआ प्रमत्ता संयत उत्कृष्ट स्थितिबंध करता है । एकांत सर्वविशुद्ध परिणाम वाला अप्रमत्ता संयत आयु के बंध को प्रारम्भ ही नहीं करता है, मात्र प्रमत्तासंयत गुणस्थान में प्रारम्भ किये हुए बंध को अप्रमत्ता पूर्ण करता है ।^१ जिसका आशय यह है कि देवायु का उत्कृष्ट स्थितिबंध पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाला पूर्वकोटि के तीसरे भाग के प्रथमसमय में एक समय पर्यन्त करता है । उसके बाद के समय में अबाधा की हानि संभव होने से और उस समय प्रमत्तागुणस्थान होने से उत्कृष्ट स्थितिबंध नहीं होता है तथा आयु का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशुद्ध परिणामों से होता है, इसलिये अप्रमत्तभाव के सन्मुख हुए प्रमत्ता जीव को आयु की उत्कृष्ट स्थिति का बंधक कहा है ।

पूर्वोक्त से शेष रही शुभ अथवा अशुभ समस्त कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति का बंधक सर्व संक्लिष्ट संज्ञी मिथ्यादृष्टि जीव है । परन्तु इसमें जो विशेषता है, वह इस प्रकार है—

देवायु के सिवाय शेष तीन आयु, नरकद्विक, देवद्विक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, वैक्रियद्विक, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन पन्द्रह प्रकृतियों का तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट परिणाम वाले मिथ्या-

१ अपमत्तो बंधिउं नाढवेइ पमत्तेणाढत्तमप्पमत्तो बंधेइ ।

दृष्टि तिर्यच और मनुष्य उत्कृष्ट स्थितिबंध करते हैं। क्योंकि देव और नारकों के इनके बंध का अभाव है। जिसका कारण यह है कि तिर्यचायु और मनुष्यायु को छोड़कर शेष प्रकृतियों को देव और नारक भव-स्वभाव से ही नहीं बांधते हैं तथा तिर्यचायु और मनुष्यायु का उत्कृष्ट स्थितिबंध देवकुरु और उत्तारकुरु के युगलियों की आयु बंध करते समय होता है। देव और नारक तथास्वभाव से वहाँ उत्पन्न होते नहीं हैं। इसलिए तिर्यच और मनुष्य आयु के उत्कृष्ट स्थितिबंधक देव और नारक नहीं हैं। परन्तु तिर्यच और मनुष्य ही होते हैं और उनमें भी जो पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले पूर्वकोटि के तीसरे भाग के प्रथम समय में वर्तमान मिथ्यादृष्टि और तत्प्रायोग्य विशुद्ध परिणाम में वर्तमान हों वे ही होते हैं।^१ क्योंकि सम्यग्दृष्टि तिर्यच, मनुष्यों के तिर्यच और मनुष्य आयु का बंध ही नहीं होने से तत्प्रायोग्य विशुद्ध परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि को ग्रहण किया है।

नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति के बंधक भी तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि तिर्यच और मनुष्य होते हैं। अत्यन्त संक्लिष्ट परिणाम वालों के आयु का बंध होना असंभव होने से तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट परिणामी को ग्रहण किया है। तथा—

तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी, औदारिकशरीर, औदारिक-अंगोपांग, उद्योत और सेवार्तसंहनन इन छह प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति अत्यन्त संक्लिष्ट परिणाम वाले देव अथवा नारक बांधते हैं। इन छह प्रकृ-

१ अत्यंत विशुद्ध एवं अत्यन्त संक्लिष्ट परिणामों के होने पर आयुबंध नहीं होता है। इसलिये यहाँ अत्यंत विशुद्ध परिणाम वाला न कहकर तत्प्रायोग्य विशुद्ध परिणाम वाले को ग्रहण किया है—तत्प्रायोग्यविशुद्धिस्थानोपेता वेदितव्याः नात्यंत विशुद्धः, अत्यंतविशुद्धानामायुर्बन्धामावात्। अत्यंतसंक्लिष्टानामायुर्बन्धसम्भवात्।

तियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध अत्यन्त तीव्र संक्लेश होने पर होता है। यद्यपि तिर्यच और मनुष्यों के इन छह प्रकृतियों का बंध होता है, परन्तु वे माध्यमिक स्थिति बांधते हैं। क्योंकि जिस संक्लेशस्थिति में देव और नारक उपर्युक्त छह प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बांधते हैं, उस प्रकार के संक्लेश की स्थिति में मनुष्य और तिर्यच नरकप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध करते हैं, परन्तु तिर्यच या मनुष्य प्रायोग्य प्रकृतियों का बंध नहीं करते हैं। इसीलिये देव अथवा नारकों को इन छह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंधक कहा है।

एकेन्द्रियजाति, स्थावर और आतप इन तीन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति उत्कृष्ट संक्लेश वाले ईशानस्वर्ग तक के देव बांधते हैं। अन्य जीव इनके बंधक न होने का कारण यह है कि नारक और सनत्कुमार आदि स्वर्गों के देवों को भवस्वभाव से ही इन प्रकृतियों का बंध होना असम्भव है और अति संक्लिष्ट परिणाम वाले तिर्यच, मनुष्यों के नरकगतिप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध होता है और मन्द संक्लेश में उत्कृष्ट स्थिति के बंध का होना असम्भव है। इसलिए इन तीन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के बंधक मात्र ईशानस्वर्ग तक के देव ही बताये हैं।

पूर्वोक्त से शेष रही समस्त प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के बंधक चारों गति के सर्व संक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि जीव हैं।^१

इस प्रकार से उत्कृष्ट स्थिति के बंधकों का विचार करने के पश्चात् अब जघन्य स्थिति के बंधस्वामित्व का निर्देश करते हैं—

‘एगिदिया जहन्न’..... अर्थात् एकेन्द्रिय जघन्य स्थिति को बांधते हैं। मात्र कितनी ही प्रकृतियों की असंज्ञी और क्षपक जीव भी जघन्य स्थिति बांधते हैं। जिसका तात्पर्य इस प्रकार है—

- १ इसी प्रकार से दिगम्बर कर्मग्रंथों में भी उत्कृष्ट स्थितिबंधस्वामित्व का कथन किया है। देखिये पंचसंग्रह शतक अधिकार गाथा ४२५-४३२।

देवत्रिक, नरकत्रिक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, तीर्थकरनाम, पुरुषवेद, संज्वलनचतुष्क, ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, उच्चगोत्र, सातावेदनीय और यशःकीर्तिनाम इन तेतीस प्रकृतियों को छोड़कर शेष सतासी (८७) प्रकृतियों^१ की जघन्य स्थिति तत्प्रायोग्य विशुद्ध परिणाम वाले एकेन्द्रिय पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय, अप्काय और प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीव बांधते हैं तथा उक्त देव-त्रिक आदि तेतीस प्रकृतियों में से—

देवत्रिक, नरकत्रिक और वैक्रियद्विक इन आठ प्रकृतियों की असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव जघन्य स्थिति बांधते हैं। आहारकशरीर, आहारक-अंगोपांग और तीर्थकरनाम की जघन्य स्थिति क्षपक अपूर्वकरणवर्ती जीव बांधते हैं तथा संज्वलनक्रोधादिचतुष्क और पुरुषवेद की क्षपक अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव और ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, सातावेदनीय, उच्चगोत्र और यशः-कीर्तिनाम इन सत्रह प्रकृतियों की जघन्य स्थिति क्षपक सूक्ष्मसंपराय-गुणस्थानवर्ती जीव बांधते हैं। जिसका स्पष्टीकरण पूर्व में जघन्य बंध-प्रकार के प्रसंग में विशेषता के साथ किया जा चुका है।^२

१ सतासी प्रकृतियों में मनुष्यायु और तिर्यचायु इन दोनों आयुओं का भी ग्रहण है। परन्तु उन दो आयु का दो सौ छप्पन आवलिका प्रमाण जघन्य बंध तो तत्प्रायोग्य संक्लेश में वर्तमान देव और नारक को छोड़कर एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव कर सकते हैं, यह संभव है।

दिगम्बर पंचसंग्रह पेज २५६ पर आयु के जघन्य स्थितिबंधक के लिये लिखा है—आयुषां चतुर्णां जघन्यस्थिति संज्ञी वा असंज्ञी वा बध्नाति । जिसका आशय स्पष्ट करते हुए लिखा है—

देवायु और नरकायु का जघन्य स्थितिबंध कोई एक संज्ञी या असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव करता है। मनुष्यायु और तिर्यचायु का जघन्य स्थितिबंध कर्मभूमिज मनुष्य या तिर्यच करते हैं।

२ दिगम्बर कर्मग्रंथों में भी कुछ भिन्नता और अधिकतम समानता के साथ इसी प्रकार जघन्य स्थितिबंधस्वामित्व का वर्णन किया है। देखिये पंच-संग्रह शतक अधिकार गाथा ४३३ से ४४० तक।

उक्त उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबंध के स्वामित्व को निम्नलिखित प्रारूप द्वारा सरलता से समझा जा सकता है—

क्रम	प्रकृतियों के नाम	उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामी	जघन्य स्थितिबंध के स्वामी
१	ज्ञानावरणचपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शना-वरणचतुष्क	अति संक्लिष्ट परिणामी संज्ञी पर्याप्त मिथ्यादृष्टि	क्षपक सूक्ष्मसंपराय चरमसमयवर्ती
२	निद्रापंचक	"	विशुद्ध पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय
३	मिथ्यात्व और आदि की बारह कषाय	"	"
४	संज्वलनचतुष्क	"	क्षपक, स्वबंध चरम समयवर्ती
५	हास्य-रति	तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट संज्ञी मिथ्यादृष्टि	विशुद्ध पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय
६	अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, नपुंसकवेद	अतिसंक्लिष्ट परिणामी संज्ञी मिथ्यादृष्टि	" "
७	स्त्रीवेद	तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट परिणामी संज्ञी मिथ्यादृष्टि	" "
८	पुरुषवेद	" "	क्षपक स्वबंध चरम-समयवर्ती
९	सातावेदनीय	" "	" "
१०	असातावेदनीय	अतिसंक्लिष्ट परिणामी संज्ञी मिथ्यादृष्टि	विशुद्ध बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय
११	देवायु	तत्प्रायोग्य विशुद्ध अप्रमत्ताभिमुख प्रसन्न यति	तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट पर्याप्त संज्ञी असंज्ञी मिथ्यादृष्टि

क्रम	प्रकृतियों के नाम	उत्कृष्ट स्थितिवंध के स्वामी	जघन्य स्थितिवंध के स्वामी
१२	मनुष्यायु, तिर्यंचायु	मिथ्यादृष्टि तत्प्रायोग्य, विशुद्ध पर्याप्त मनुष्य, तिर्यंच	तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच
१३	नरकायु	तत्प्रायोग्य सं. प. संज्ञी मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच	तत्प्रायोग्य विशुद्ध मिथ्यादृष्टि पर्याप्त असंज्ञी और संज्ञी
१४	देवद्विक	तत्प्रायोग्य सं. पर्याप्त मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच	सर्वविशुद्ध पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय
१५	वैक्रियद्विक	अतिसंक्लिष्ट पर्याप्त मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच	सर्वविशुद्ध पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय
१६	नरकद्विक	अतिसंक्लिष्ट पर्याप्त मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच	तत्प्रायोग्य विशुद्ध पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय
१७	मनुष्यद्विक, आद्य पांच संहनन, आद्य पांच संस्थान, शुभविहायोगति, स्थिरपंचक	तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि पर्याप्त संज्ञी	विशुद्ध पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय
१८	तिर्यंचद्विक औदारिक शरीर, उद्योत	अतिसंक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि नारक तथा सहसारांत देव	विशुद्ध पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय
१९	एकेन्द्रिय, स्थावर आत्मा	अतिसंक्लिष्ट ईशा-नांत देव	" "

क्रम	प्रकृतियों के नाम	उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामी	जघन्य स्थितिबंध के स्वामी
२०	श्रीदारिक अंगोपांग, सेवार्त संहनन	अति सं. मिथ्या- नारक, सनत्कुमार से सहस्रार तक के देव	विशुद्ध पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय
२१	विकलत्रिक, सूक्ष्मत्रिक	तत्प्रायोग्य सं. मिथ्या- दृष्टि मनुष्य, तिर्यच	" "
२२	पंचेन्द्रियजाति, तैजस, कार्मण हुंडकसंस्थान, वर्णचतुष्क, अशुभ- विहायोगति, पराधात, उच्छ्वास, अगुरुलघु, निर्माण, उपधात, त्रस- चतुष्क, अस्थिरषट्क	अतिसंक्लिष्ट मिथ्या- दृष्टि पर्याप्त संज्ञी	" "
२३	आहारकद्रिक	प्रमत्ताभिमुख अप्रमत्त यति	क्षपक स्वबंधविच्छेद समयवर्ती
२४	तीर्थकरनाम	मिथ्यात्व-नरबाभिमुख श्रायोपशमिक सम्य- क्त्वी चरम समयवर्ती मनुष्य	" "
२५	यशःकीर्ति, उच्चगोत्र	तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट पर्याप्त मिथ्यादृष्टि संज्ञी	क्षपक सूक्ष्मसंपरा चरम समयवर्ती
२६	नीचगोत्र	अतिसंक्लिष्ट मिथ्या- दृष्टि पर्याप्त संज्ञी	विशुद्ध पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय

इस प्रकार से स्थितिबंध के स्वामित्व की प्ररूपणा जानना चाहिए। अब उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबंध की शुभाशुभरूपता की प्ररूपणा करते हैं।

शुभाशुभत्व प्ररूपणा

सव्वाण ठिई असुभा उक्कोसुक्कोससंकिलेसेणं ।

इयरा उ विसोहीए सुरनरतिरिआउए मोत्तुं ॥६४॥^१

शब्दार्थ—सव्वाण—सभी प्रकृतियों की, ठिई—स्थिति, असुभा—अशुभ, उक्कोस—उत्कृष्ट, उक्कोससंकिलेसेणं—उत्कृष्ट संक्लेश से, इयरा—इतर-जघन्य, उ—और, विसोहीए—विशुद्धि से, सुरनरतिरिआउए—देव-मनुष्य-तिर्यचायु को, मोत्तुं—छोड़कर ।

गाथार्थ—देव, मनुष्य और तिर्यच इन तीन आयु को छोड़कर शेष सभी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति उत्कृष्ट संक्लेश से बंधने के कारण अशुभ है और इतर—जघन्य स्थिति विशुद्धि से बंधने के कारण शुभ है ।

विशेषार्थ—गाथा में सभी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के अशुभ होने के कारण को स्पष्ट किया है ।

शुभ या अशुभ समस्त कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति अशुभ है—‘सव्वाण ठिई असुभा उक्कोस’ । इसका कारण यह है कि जब उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम होते हैं तब उत्कृष्ट स्थिति का बंध होता है—‘उक्कोस-संकिलेसेणं’ । जैसे-जैसे संक्लेश की वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे स्थिति-बंध में वृद्धि होती है ।

कषाय के उदय से उत्पन्न हुए अशुभ अध्यवसायों को संक्लेश कहते हैं । अतएव संक्लेश अध्यवसाय रूप कारण अशुद्ध होने से तज्जन्य उत्कृष्ट स्थिति का बंध रूप कार्य भी अशुभ होता है तथा अप्रशस्त कर्म में जैसे-जैसे संक्लेश की वृद्धि होती है, वैसे रस की वृद्धि होती है । इस हेतु से भी उत्कृष्ट स्थिति अशुभ है । तथा—

१ तुलना कीजिये—

सव्वाओ वि ठिदीओ सुहासुहाणं पि होति असुहाओ ।

माणुस-तिरिक्ख-देवाउगं च मोत्तूण सेसाणं ॥

—दि. पंचसंग्रह शतक अधिकार गाथा ४२४

प्रशस्त कर्मप्रकृतियों में जैसे-जैसे संक्लेश बढ़ता है वैसे-वैसे उनकी स्थिति की वृद्धि और रस-हानि होती जाती है। स्वयोग्य उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणाम होते हैं तब उनकी भी उत्कृष्ट स्थिति बंधती है, उस-उस समय रस का अत्यन्त अल्प बंध होता है, इसलिए उनकी उत्कृष्ट स्थिति भी जिसके अन्दर से रस निकाल लिया है, ऐसे नीरस ईख के समान होने से अप्रशस्त है।

अब जिसके द्वारा उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थिति बंधती है उस हेतु का निरूपण करते हैं—

समस्त कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति उत्कृष्ट संक्लेश द्वारा बंधती है, इसलिये जो-जो संक्लेश जिस-जिस प्रकृति के बंध में हेतु है, उसमें जो उत्कृष्ट संक्लेश है, वह संक्लेश उस-उस प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति में हेतु है तथा समस्त प्रकृतियों की जघन्य स्थिति विशुद्ध अध्यवसायों द्वारा बंधती है, यानि जो विशुद्ध परिणाम जिस प्रकृति के बंध में हेतु हैं, उनमें जो सर्व विशुद्ध परिणाम हैं, वे उस प्रकृति की जघन्य स्थिति उत्पन्न करते हैं। लेकिन एतद् विषयक अपवाद भी हैं—

‘सुरनरतिरिआउए मोत्तु’ अर्थात् देव, मनुष्य और तिर्यच आयु को छोड़ देना चाहिए। इन तीन आयु के बंधक जीवों में जो सर्व-संक्लिष्ट परिणाम वाले हैं वे इन तीन आयु की जघन्य स्थिति बांधते हैं और सर्वविशुद्ध परिणाम वाले उत्कृष्ट स्थिति बांधते हैं तथा जैसे-जैसे उनकी स्थिति की वृद्धि होती है, वैसे वैसे रस की भी वृद्धि होती है और जैसे-जैसे अल्पस्थिति का बंध होता है, वैसे-वैसे रस भी हीन बंधता है। इस प्रकार इन तीन आयु का शेष प्रकृतियों से विपरीत क्रम है।

आयु के स्थितिबंध के सन्दर्भ में इतना विशेष है कि घोलमान परिणामों में आयु का बंध होता है। अतः आयुबंध हो सके, तत्प्रमाण सर्वसंक्लिष्ट और सर्वविशुद्ध परिणाम ग्रहण करना चाहिये। किन्तु अत्यन्त संक्लिष्ट या विशुद्ध परिणाम नहीं जानना चाहिए।

इस प्रकार से स्थितिबंध के स्वरूप का विवेचन समाप्त हुआ।

अनुभागबंध

अत्र रसबंध (अनुभागबंध) का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हैं। इसके तीन अनुयोगद्वार है—१ सादि-अनादि प्ररूपणा, २ स्वामित्व प्ररूपणा और, ३ अल्पबहुत्व प्ररूपणा। सादि-अनादि प्ररूपणा भी दो प्रकार की है—मूल प्रकृति-सम्बन्धी और उत्तर प्रकृति-सम्बन्धी। इनमें से पहले मूल प्रकृति-सम्बन्धी सादि-अनादि प्ररूपणा करते हैं।

मूल प्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा

अणुभागोणुक्कोसो नामतइज्जाण घाइ अजहन्तो ।

गोयस्स दोवि एए चउव्विहा सेसया दुविहा ॥६५॥

शब्दार्थ—अणुभागोणुक्कोसो—अनुत्कृष्ट अनुभाग, नामतइज्जाण—नाम और तृतीय वेदनीय कर्म का, घाई—घातिकर्मों का, अजहन्तो—अजघन्य, गोयस्स—गोत्र के, दोवि—दोनों, एए—ये, चउव्विहा—चार प्रकार के, सेसया—शेष, दुविहा—दो प्रकार के।

गाथार्थ—नाम और तीसरे वेदनीय कर्म का अनुत्कृष्ट अनुभागबंध, घातिकर्मों का अजघन्य अनुभागबंध और गोत्रकर्म के ये दोनों बंध चार प्रकार के हैं और शेष बंध दो प्रकार के हैं।

विशेषार्थ—गाथा में ज्ञानावरण आदि मूलकर्मों के अनुभागबंध की सादि-अनादि प्ररूपणा का निरूपण किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

‘नामतइज्जाण’ अर्थात् नामकर्म और वेदनीयकर्म का ‘अणुभागोणुक्कोसो’ अनुत्कृष्ट अनुभागबंध ‘चउव्विहा’—चार प्रकार का है। जो इस प्रकार जानना चाहिए—

नाम और वेदनीय कर्म का उत्कृष्ट अनुभागबंध क्षपक को सूक्ष्म-संपरायगुणस्थान के चरम समय में होता है और उसके बाद दूसरे समय में विच्छिन्न हो जाता है। यह उत्कृष्ट बंध एक समय मात्र का होने से सादि, सान्त है। इसके सिवाय शेष अनुभागबंध अनुत्कृष्ट है। वह उपशांतमोहगुणस्थान में नहीं होता है। वहाँ से गिरने पर

होता है, अतः सादि है। उस स्थान को प्राप्त नहीं करने वालों के अनादि, भव्य की अपेक्षा अध्रुव और अभव्य की अपेक्षा ध्रुव है।

‘घाई अजहन्नो चउव्विहा’—घातिकर्मों का अजघन्य अनुभागबंध चार प्रकार का है। मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय ये चार घातिकर्म हैं। इनमें से मोहनीयकर्म का जघन्य अनुभागबंध क्षपक को अनिवृत्तिवादरसंपरायगुणस्थान के चरम समय में तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का क्षपक को सूक्ष्मसंपराय-गुणस्थान के चरम समय में होता है। उसको एक समय मात्र का ही होने से सादि-सांत है। इसके सिवाय शेष समस्त अनुभागबंध अज-घन्य है। मोहनीय का अजघन्य अनुभागबंध उपशमश्रेणि में सूक्ष्म-संपरायगुणस्थान में और ज्ञानावरणादि तीन का उपशांतमोहगुण-स्थान में नहीं होता है, किन्तु वहाँ से गिरने पर होता है, इसलिए सादि है। उस स्थान को प्राप्त नहीं करने वालों के अनादि तथा भव्या-भव्य की अपेक्षा क्रमशः अध्रुव और ध्रुव है।

‘गोयस्स दोवि एए चउव्विहा’ अर्थात् गोत्रकर्म के ये दोनों—अजघन्य और अनुत्कृष्ट अनुभागबंध सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चारों प्रकार के हैं। जो इस प्रकार जानना चाहिये कि गोत्र-कर्म का उत्कृष्ट अनुभागबंध क्षपक को सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में होता है। जो समय मात्र होने से सादि और सांत है। उसके सिवाय शेष समस्त अनुभागबंध अनुत्कृष्ट है। वह अनुत्कृष्ट अनुभागबंध उपशांतमोहगुणस्थान में नहीं होता है, किन्तु वहाँ से पतन होने पर होता है, जिससे सादि है। उस स्थान को प्राप्त नहीं करने वालों की अपेक्षा अनादि तथा ध्रुव, अध्रुव क्रमशः अभव्य एवं भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये। तथा—

गोत्रकर्म का जघन्य अनुभागबंध औपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न करते हुए सप्तम पृथ्वी के नारक को अनिवृत्तिकरण में अन्तरकरण करके मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति का अनुभव करते-करते जब क्षय होता है, तब उस प्रथम स्थिति के चरम समय में नीचगोत्र सम्बन्धी

होता है। जिसको एक समय मात्र का होने से सादि-सांत है। उसके अलावा शेष जब तक उत्कृष्ट न हो, तब तक का समस्त अनुभागबंध अजघन्य है। वह अजघन्य अनुभागबंध औपशमिक सम्यक्त्व का लाभ हो तब उच्चगोत्र की अपेक्षा से है, इसलिये सादि है। उस स्थान को प्राप्त नहीं करने वालों की अपेक्षा अनादि और भव्य-अभव्य की अपेक्षा क्रमशः अध्रुव और ध्रुव जानना चाहिये।

इन पूर्वोक्त सात कर्मों के उक्त प्रकारों से व्यतिरिक्त शेष समस्त दुविहा—सादि और अध्रुव इस तरह दो प्रकार के हैं। जो इस तरह जानना चाहिए—

वेदनीय और नामकर्म के उत्कृष्ट अनुभागबंध के सादि, अध्रुव विकल्पों का विचार पूर्व में किया जा चुका है। जघन्य और अजघन्य बंध मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यग्दृष्टि को क्रम से होते हैं। जो इस तरह से जानना चाहिए कि जब परावर्तन मध्यम परिणाम होते हैं तब मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यग्दृष्टि को जघन्य अनुभागबंध और संक्लिष्ट अथवा विशुद्ध परिणाम होने पर अजघन्य अनुभागबंध होता है। इस प्रकार क्रमपूर्वक होने से वे दोनों सादि, अध्रुव हैं। इसी प्रकार घातिकर्मों के जघन्य अनुभागबंध के सादि और अध्रुव विकल्पों का पूर्व में विचार किया जा चुका है और उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट मिथ्यादृष्टि के अनुक्रम से होता है। जिस समय सर्वसंक्लिष्ट परिणाम होते हैं तब उत्कृष्ट और मध्यम परिणाम होने पर अनुत्कृष्ट बंध होता है। इसलिये वे दोनों सादि, अध्रुव हैं।

गोत्रकर्म के भी जघन्य और उत्कृष्ट इन दोनों के सादि-अध्रुव विकल्पों का विचार पूर्व में किया जा चुका है तथा आयुकर्म अध्रुव-बंधि होने से उसके अजघन्य अनुभागबंध आदि चारों विकल्प सादि-अध्रुव होना प्रसिद्ध ही है।

सरलता से समझने के लिए इस सादि-अनादि प्ररूपणा का सारांश दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

वेदनीय और नामकर्म

घातिचतुष्क

बंधप्रकार	बंधविकल्प				बंधप्रकार	बंधविकल्प			
	सादि	अनादि	ध्रुव	अध्रुव		सादि	अनादि	ध्रुव	अध्रुव
जघन्य	„	×	×	„	जघन्य	„	×	×	„
अजघन्य	„	×	×	„	अजघन्य	„	अनादि	ध्रुव	„
उत्कृष्ट	„	×	×	„	उत्कृष्ट	„	×	×	„
अनुत्कृष्ट	„	अनादि	ध्रुव	„	अनुत्कृष्ट	„	×	×	„

गोत्रकर्म

आयुर्कर्म

बंधप्रकार	बंधविकल्प				बंधप्रकार	बंधविकल्प			
	सादि	अनादि	ध्रुव	अध्रुव		सादि	अनादि	ध्रुव	अध्रुव
जघन्य	„	×	×	„	जघन्य	„	×	×	„
अजघन्य	„	अनादि	ध्रुव	„	अजघन्य	„	×	×	„
उत्कृष्ट	„	×	×	„	उत्कृष्ट	„	×	×	„
अनुत्कृष्ट	„	अनादि	ध्रुव	„	अनुत्कृष्ट	„	×	×	„

इस प्रकार मूल प्रकृतियों-सम्बन्धी सादि-अनादि प्ररूपणा जानना चाहिए ।^१ अब उत्तर प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा करते हैं ।

उत्तर प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा

सुभधुवियाणणुक्कोसो चउहा अजहन्न असुभधुवियाणं ।
साई अधुवासेसा चत्तारिवि अधुवबंधीणं ॥६६॥

शब्दार्थ—सुभधुवियाण—शुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का, अणुक्कोसो—अनुत्कृष्ट, चउहा—चार प्रकार का, अजहन्न—अजघन्य, असुभधुवियाणं—अशुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का, साई—सादि, अधुवा—अध्रुव, सेसा—शेष, चत्तारि—चारों प्रकार, वि—भी, अधुवबंधीणं—अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के ।

गाथार्थ—शुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट और अशुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का अजघन्य अनुभागबंध चार प्रकार का है । शेष बंध सादि और अध्रुव हैं तथा अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के चारों प्रकार भी सादि और अध्रुव हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में बंधप्रकृतियों के शुभ और अशुभ ऐसे दो विभाग करके उनकी सादि-अनादि प्ररूपणा की है । उनमें से पहले शुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का विचार करते हैं—

‘सुभधुवियाण’ अर्थात् शुभ ध्रुवबंधिनी—तैजस, कामण, प्रशस्त वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु और निर्माण इन आठ प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट अनुभागबंध चउहा—सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव, इस तरह चार प्रकार का है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उक्त आठों प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबंध क्षपक के अपूर्वकरण में तीस प्रकृतियों का जिस समय बंधविच्छेद होता है, उस समय एक

१ इसी प्रकार से दिग्म्बर कर्मग्रंथों में मूल कर्मप्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा की गई है । देखिये पंचसंग्रह, शतक अधिकार गाथा ४४२-४४३ ।

समय मात्र ही होता है। एक समय मात्र ही होने से वह सादि और अध्रुव है। उसके सिवाय शेष समस्त अनुभागबंध अनुत्कृष्ट है। वह उपशमश्रेणि में बंधविच्छेद होने के बाद नहीं होता है किन्तु वहाँ से गिरने पर होता है, इसलिये सादि है। उस स्थान को प्राप्त नहीं करने वाले की अपेक्षा अनादि और ध्रुव, अध्रुव क्रमशः अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिए।

‘अजहन्न असुभध्रुवियाण’ अर्थात् अशुभ ध्रुवबंधिनी ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय, जुगुप्सा, उपघात, अशुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श^१ और अंतरायपंचक इन तेतालीस प्रकृतियों का अजघन्य अनुभागबंध सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार जानना चाहिये—

ज्ञानावरणपंचक, अंतरायपंचक और दर्शनावरणचतुष्क इन चौदह प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध क्षपक को सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में, संज्वलनकषायचतुष्क का अनिवृत्तिबादरगुणस्थान में वर्तमान क्षपक के उस-उस प्रकृति के बंधविच्छेद के समय में तथा निद्रा, प्रचला, उपघात, भय, जुगुप्सा और अप्रशस्त वर्णचतुष्क इन नौ प्रकृतियों का क्षपकश्रेणि के अपूर्वकरणगुणस्थान में उन-उन प्रकृतियों के बंधविच्छेद के समय होता है।

प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क का जघन्य अनुभागबंध संयम को प्राप्त करने के अभिमुख देशविरति को स्वगुणस्थान के चरम समय में रहते हुए, अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क का क्षायिक सम्यक्त्व और

१ वर्णचतुष्क का शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों में ग्रहण करने से शुभ ध्रुवबंधिनी आठ और अशुभ ध्रुवबंधिनी तेतालीस प्रकृतियों की संख्या बतलाई है। वैसे सामान्य से ४७ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियाँ हैं।

संयम इन दोनों को एक साथ एक समय में ही प्राप्त करने वाले अविरतसम्यग्दृष्टि जीव को होता है। क्योंकि उनके बांधने वालों में वे ही अति विशुद्ध अध्यवसाय वाले हैं।

स्त्यानद्वित्रिक, मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधिकपायचतुष्क इन आठ प्रकृतियों का सम्यक्त्व और संयम इन दोनों को युगपत् एक ही समय में प्राप्त करने के इच्छुक मिथ्यादृष्टि को चरम समय में जघन्य अनुभाग-बंध होता है। क्योंकि उन-उन प्रकृतियों के बंधकों में वे ही अतिनिर्मल परिणाम वाले हैं, इसलिये वे ही जघन्य अनुभागबंध के स्वामी हैं। वह जघन्य अनुभागबंध मात्र एक समय होने से सादि और अध्रुव है। उसके सिवाय शेष समस्त अनुभागबंध अजघन्य है।

ज्ञानावरणपंचक, अंतरायपंचक और दर्शनावरणचतुष्क इन चौदह प्रकृतियों का अजघन्य अनुभागबंध उपशांतमोहगुणस्थान में नहीं होता है। इसी प्रकार संज्वलनचतुष्क का उपशमश्रेणि के सूक्ष्म-संपरायगुणस्थान में, निद्रा, प्रचला, उपघात, अप्रशस्त वर्णचतुष्क, भय और जुगुप्सा का उपशमश्रेणि के अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान में, प्रत्याख्यानावरणचतुष्क का प्रमत्तसंयत के, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क का देशविरतादि गुणस्थान में और स्त्यानद्वित्रिकादि का मिश्रादि गुणस्थान में बांधविच्छेद होने के कारण नहीं होता है, किन्तु वहाँ से गिरने पर होता है। इसलिये सादि है, उस स्थान को प्राप्त नहीं करने वालों की अपेक्षा अनादि तथा ध्रुव, अध्रुव अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिए।

इस प्रकार से शुभ और अशुभ ध्रुवबांधिनी प्रकृतियों के क्रमशः अनुत्कृष्ट और अजघन्य विकल्पों से शेष रहे विकल्प सादि और अध्रुव है। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

तैजस आदि शुभ आठ ध्रुवबांधिनी प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग-बंध के सादि, अध्रुव विकल्पों का विचार पूर्व में अनुत्कृष्ट विकल्प के प्रसंग में किया जा चुका है और जघन्य, अजघन्य संज्ञी मिथ्यादृष्टि को क्रमपूर्वक होते हैं। जो इस प्रकार हैं कि उत्कृष्ट संक्लेश में रहते जघन्य

और विशुद्ध परिणामों में रहते अजघन्य अनुभागबंध होता है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के क्रमपूर्वक होने से जघन्य, अजघन्य प्रकार सादि और अध्रुव हैं।

तेतालीस अशुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के जघन्य अनुभागबंध के विकल्पों का ऊपर विचार किया जा चुका है और उत्कृष्ट अनुभागबंध पर्याप्त सर्व संक्लिष्ट संज्ञी मिथ्यादृष्टि के एक अथवा दो समय पर्यन्त होता है, उसके बाद मंद परिणाम होने पर अनुत्कृष्ट बंध होता है। इसलिए ये दोनों भी सादि, अध्रुव हैं।

अध्रुवबंधिनी (७३) प्रकृतियों के जघन्यादि चारों विकल्प उनके अध्रुवबंधिनी होने से ही सादि और अध्रुव जानना चाहिए।^१

उक्त सादि-अनादि प्ररूपणा का सरलता से बोध कराने वाला प्रारूप इस प्रकार है—

शुभ ध्रुवबंधिनी तैजस आदि आठ प्रकृति

बंधप्रकार	बंधविकल्प				
	सादि	अनादि	ध्रुव	अध्रुव	
जघन्य	„	×	×	„	२
अजघन्य	„	×	×	„	२
उत्कृष्ट	„	×	×	„	२
अनुत्कृष्ट	„	अनादि	ध्रुव	„	४

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में भी इसी प्रकार से बंधयोग्य १२० उतर प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा का निर्देश किया है। देखिये पंचसंग्रह शतय अधिकार गाथा ४४४-४४८।

अशुभ ध्रुवबंधिनी ज्ञानावरणपंचक आदि तेतालीस प्रकृति

बंधप्रकार	बंधविकल्प				
	सादि	अनादि	ध्रुव	अध्रुव	
जघन्य	॥	×	×	॥	२
अजघन्य	॥	अनादि	ध्रुव	॥	४
उत्कृष्ट	॥	×	×	॥	२
अनुत्कृष्ट	॥	×	×	॥	२

अध्रुवबंधिनी तिहत्तर प्रकृति

बंधप्रकार	बंधविकल्प				
	सादि	अनादि	ध्रुव	अध्रुव	
जघन्य	॥	×	×	॥	२
अजघन्य	॥	×	×	॥	२
उत्कृष्ट	॥	×	×	॥	२
अनुत्कृष्ट	॥	×	×	॥	२

इस प्रकार से अनुभागबंध सम्बन्धी सादि-अनादि प्ररूपणा का आशय स्पष्ट करने के पश्चात् अब उस प्ररूपणा को विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिये स्वामित्व प्ररूपणा करते हैं।

स्वामित्व प्ररूपणा

असुभधुवाण जहणं बंधग चरमा कुणंति सुविसुद्धा ।

समयं परिवडमाणा अजहणं साइया दोवि ॥६७॥

शब्दार्थ—असुभधुवाण—अशुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का, जहणं—जघन्य अनुभागबंध, बंधग—बंधक, चरमा—चरमसमय में, कुणंति—करता है, सुविसुद्धा—सुविशुद्ध, समयं—समय, परिवडमाणा—गिरने पर, अजहणं—अजघन्य, साइया—सादि, दोवि—दोनों ही ।

गाथार्थ—अशुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग-बंध सुविशुद्ध परिणाम वाला बंधक बंध के चरम समय में रहते एक समय मात्र करता है और वहाँ से गिरने पर अजघन्य अनुभाग बंध करता है । जिससे वे दोनों ही सादि हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में अशुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के स्वामित्व का निर्देश किया है—

पूर्व में कही गई अशुभ ध्रुवबंधिनी तेतालीस प्रकृतियों का अत्यंत विशुद्ध परिणाम वाला बंध के चरम समय में वर्तमान यानी जिस-जिस गुणस्थान में जिस-जिस समय उनका बंधविच्छेद होता है, उस समय में वर्तमान क्षणक एक समय मात्र जघन्य अनुभागबंध करता है और उपशमश्रेणि में उपशमक उस उस प्रकृति का बंधविच्छेद करके आगे उपशांतमोहगुणस्थान में जाकर वहाँ से गिरता है, तब अजघन्य अनुभागबंध करता है । इसलिये जघन्य और अजघन्य ये दोनों सादि हैं तथा अजघन्य अनुभागबंध समस्त संसारी जीवों को होता है, इस लिये जो बंधविच्छेदस्थान को प्राप्त नहीं करते हैं, उनकी अपेक्षा अनादि, अभव्य को ध्रुव और भव्य को अध्रुव जानना चाहिये ।

इस प्रकार से अशुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के जघन्य और अजघन्य अनुभागबंध के स्वामियों को जानना चाहिये । अब शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबंध के स्वामियों का निर्देश करते हैं ।

सयलसुभाणुक्कोसं एवमणुक्कोसगं च नायव्वं ।

वन्नाई सुभ असुभा तेणं तेयाल धुव असुभा ॥६८॥

शब्दार्थ—सयलसुभाणुक्कोसं—समस्त शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट, एवं—इसी प्रकार, अणुक्कोसगं—अनुत्कृष्ट, च—और, नायव्वं—जानना चाहिये, वन्नाई—वर्णादि, सुभ असुभा—शुभ और अशुभ, तेणं—इस कारण, तेयाल—तेतालीस, धुव—ध्रुवबंधिनी, असुभा—अशुभ ।

गाथार्थ—समस्त शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबंध के स्वामी भी इसी प्रकार जानना चाहिये । वर्णादि-चतुष्क शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होने से ध्रुवबंधिनी अशुभ प्रकृतियां तेतालीस होती हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में ध्रुवबंधिनी शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट बंध के प्रकारों का स्वामित्व एवं अशुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के तेतालीस होने के कारण को स्पष्ट किया है । पहले ध्रुवबंधिनी शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबंधप्रकारों के स्वामित्व का स्पष्टीकरण करते हैं—

सातावेदनीय, तिर्यचायु, मनुष्यायु, देवायु, मनुष्यद्विक, देवद्विक, पंचेन्द्रियजाति, शरीरपंचक, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, अंगोपांगत्रिक, प्रशस्त वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रसदशक, निर्माण, तीर्थकर- । ।म और उच्चगोत्र रूप समस्त ब्यालीस शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबंध भी पूर्व में जिस प्रकार से कहा गया है, उसी प्रकार से जानना चाहिये । अर्थात् उन प्रकृतियों के बंधकों में अत्यन्त विशुद्ध परिणाम वाले उत्कृष्ट अनुभागबंध और मंद परिणाम वाले अनुत्कृष्ट अनुभागबंध करते हैं ।

वर्णादिचतुष्क का शुभ और अशुभ समुदाय में ग्रहण करने के कारण अशुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां तेतालीस होती हैं और शुभ ध्रुव-

बन्धिनी आठ हैं। किन्तु वर्णादि को सामान्य के गिनने पर ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियां सैंतालीस होती हैं।

इस प्रकार सामान्य से प्रकृतियों के उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनु-भागबंध के स्वामियों को जानना चाहिये। अब अनन्तरोक्त शुभ प्रकृतियों से कितनी ही प्रकृतियों का विशेष निर्णय करने के लिये कतिपय शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागबंध के स्वामियों को बतलाते हैं।

उत्कृष्ट अनुभागबंध स्वामित्व

सयलासुभायवाणं उज्जोमतिरिक्खमणुयआऊणं ।

सन्नी करेइ मिच्छो समयं उक्कोस अणुभागं ॥६६॥

शब्दार्थ—सयलासुभ—समस्त अशुभ प्रकृतियों, आयवाणं—आतप का, उज्जोमतिरिक्खमणुयआऊणं—उद्योत, तिर्यंच और मनुष्य आयु का, सन्नी—संजी जीव, करेइ—करता है, मिच्छो—मिथ्यादृष्टि, समयं—समयमात्र, उक्कोस—उत्कृष्ट, अणुभागं—अनुभागबंध को।

गाथार्थ—समस्त अशुभ प्रकृतियों, आतप, उद्योत, तिर्यंचायु और मनुष्यायु रूप प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागबंध को संजी मिथ्यादृष्टि जीव एक समय मात्र करता है।

विशेषार्थ—गाथा में समस्त अशुभ प्रकृतियों एवं कतिपय शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागबंध के स्वामियों का निर्देश किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

‘सयलासुभ’ अर्थात् ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, असाता-वेदनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नव नोकषाय, नरकत्रिक, तिर्यंचद्विक, आदि को छोड़कर शेष पांच संहनन और पांच संस्थान, एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क, स्थावरदशक, अप्रशस्त वर्णचतुष्क, उपधात, अप्रशस्त-विहायोगति, नीचगोत्र और अन्तरायपंचक रूप सभी वियासी (८२)

अप्रशस्त-अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबंध अति संक्लिष्ट परिणामी संज्ञी मिथ्यादृष्टि एक समय मात्र करता है—‘सन्नी करेइ मिच्छो समयं उक्कोस अणुभाग’। इस सामान्य कथन का विशद अर्थ इस प्रकार है—

नरकत्रिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन नौ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबंध अति संक्लिष्ट परिणाम वाला मिथ्यादृष्टि संज्ञी तिर्यच अथवा मनुष्य करता है।^१ क्योंकि देव और नारक भवस्वभाव से ही इन प्रकृतियों का बंध नहीं करते हैं।

एकेन्द्रियजाति और स्थावर इन दो प्रकृतियों का भवनवासी से लेकर ईशान स्वर्ग तक के वैमानिक देव ही उत्कृष्ट अनुभागबंध करते हैं। क्योंकि उनके बंधकों में यही अति संक्लिष्ट परिणाम वाले हैं। यदि वैसे परिणाम मनुष्यों और तिर्यचों के हों तो वे नरकगति-प्रायोग्य प्रकृतियों को बांधते हैं और जब मन्द संक्लेश हो तब उनके अशुभ होने से उत्कृष्ट अनुभागबंध सम्भव नहीं है तथा नारक और ईशान स्वर्ग से ऊपर के वैमानिक देव भवस्वभाव से ही इन प्रकृतियों को बांधते ही नहीं हैं। इसलिए इन दो प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग-बंध के स्वामी उक्त अतिसंक्लिष्ट परिणामी देव हैं।

तिर्यचद्विक और सेवार्तसंहनन, इन तीन प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागबंधक अतिसंक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि देव अथवा नारक हैं। अतिसंक्लिष्ट परिणामी मनुष्य-तिर्यचों के नरकगतिप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध होने से वे उक्त प्रकृतियों का बंध ही नहीं कर सकते हैं। तथा—

पूर्वोक्त से शेष रही ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, असातावेद-

१ उत्कृष्ट अनुभागबंध-स्वामित्व के वर्णन में अतिसंक्लिष्ट से तत्तत् प्रकृति-बंधप्रायोग्य संक्लिष्ट परिणाम ग्रहण करना चाहिये।

नीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नपुंसकवेद, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, हुंडकसंस्थान, अप्रशस्त वर्णचतुष्क, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भंग, दुःस्वर, अशुभ, अस्थिर, अनादेय, अयशःकीर्ति, नीचगोत्र और अन्तरायपंचक इन छप्पन प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबंध अति संक्लिष्ट परिणामी चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं तथा हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, आदि और अन्त को छोड़कर मध्यम संस्थानचतुष्क और मध्यम संहननचतुष्क इन बारह प्रकृतियों का तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट परिणामी जीव उत्कृष्ट अनुभागबंध करते हैं।

इस प्रकार से समस्त अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागबंध के स्वामियों का निर्देश करने के बाद गायोक्त आतप आदि शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागबंध के स्वामियों को बतलाते हैं—

आतप, उद्योत, तिर्यचायु और मनुष्यायु इन चार शुभ प्रकृतियों का 'सयलसुभाणुक्कोस' अर्थात् समस्त शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबंध विशुद्ध परिणामी जीव करते हैं, के नियमानुसार सुविशुद्ध संज्ञी मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट अनुभागबंध करते हैं।

इन चार प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागबंध को मिथ्यादृष्टि जीव के करने परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं करने का कारण यह है कि तिर्यचायु, आतप और उद्योत इन तीन प्रकृतियों को तो सम्यग्दृष्टि जीव बांधते ही नहीं हैं। जिससे सम्यग्दृष्टि के लिए उनके अनुभागबंध का विचार ही नहीं किया जा सकता है और मनुष्यायु का उत्कृष्ट अनुभागबंध उसका तीन पल्योपम प्रमाण आयु बांधने वाले के होता है, किन्तु उससे न्यून बांधने वाले अन्य किसी को होता नहीं है। सम्यग्दृष्टि तिर्यच अथवा मनुष्य तो मनुष्यायु का बंध नहीं करते हैं। क्योंकि वे तो मात्र देवायु का ही बंध करते हैं। यद्यपि सम्यग्दृष्टि देव अथवा नारक मनुष्यायु को बांधते हैं किन्तु कर्मभूमियोग्य संख्यात वर्ष प्रमाण ही आयु बांधते हैं। अकर्मभूमियोग्य असंख्यात वर्ष की नहीं बांधते हैं। क्योंकि भवस्वभाव से देव और नारक वहाँ उत्पन्न नहीं होते हैं। इसलिये मनुष्यायु आदि चार प्रकृतियों के

उत्कृष्ट अनुभागबंध के स्वामी मिथ्यादृष्टि जीव ही हैं, सम्यग्दृष्टि जीव नहीं ।

इस विषय में और भी विशेष रूप से विचार किया जाये तो आतप का तत्प्रायोग्य विशुद्ध परिणामी मिथ्यादृष्टि देव उत्कृष्ट अनुभागबंध करते हैं, अन्य कोई जीव नहीं । इसका कारण यह है कि विशुद्ध परिणाम वाले देव जिन परिणामों से आतप के उत्कृष्ट अनुभाग बंध को करते हैं, उन परिणामों में वर्तमान मनुष्य और तिर्यच को आतप का बंध असम्भव है । क्योंकि वैसे परिणामों के होने पर एकेन्द्रिय योग्य कर्मबंध होता नहीं है और नारक तथास्वभाव से इसका बंध करते ही नहीं हैं ।

उद्योतनामकर्म का सप्तम पृथ्वी में वर्तमान औपशमिक सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाला नारक यथाप्रवृत्तादि तीन करण पूर्वक अन्तरकरण करके मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति अनुभव करते हुए उसके चरम समय में उत्कृष्ट अनुभागबंध करता है । क्योंकि उद्योत के बंधकों में वही अत्यन्त शुद्ध परिणाम वाला है । सातवीं पृथ्वी के नारक भवस्वभाव से तिर्यचगतिप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध करते हैं और तिर्यचगतिप्रायोग्य कर्मप्रकृतियों का बंध करने पर उनके साथ उद्योतनामकर्म का बंध हो सकता है । क्योंकि ऐसे विशुद्ध परिणाम वाले आदि के छह नारक के नारक और देव मनुष्यप्रायोग्य एवं मनुष्य, तिर्यच देवप्रायोग्य प्रकृतिबंध करते हैं । अतएव अनिवृत्तिकरण के चरम समय में वर्तमान सप्तम पृथ्वी का नारक उद्योतनामकर्म के उत्कृष्ट अनुभाग का बंधाधिकारी है ।

तिर्यचायु और मनुष्यायु का तत्प्रायोग्य विशुद्ध परिणामवाला मिथ्यादृष्टि तीन पत्योपम प्रमाण भोगभूमिज की आयु बांधने पर उत्कृष्ट अनुभागबंध करता है ।

अगुस्लघु, तैजस, कार्मण, निर्माण, प्रशस्त वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, देवद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, पंचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसंस्थान, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, तीर्थकरनाम और यशः-

कीर्ति के सिवाय त्रसादिनवक, इस प्रकार कुल मिलाकर उनतीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबंध मोहनीयकर्म को सर्वथा क्षय करने की योग्यता वाला अपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती जीव जहाँ उनका बंध-विच्छेद होता है, वहाँ करता है।

मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक और प्रथम संहनन इन पांच प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागबंध को अविरतसम्यग्दृष्टि देव करते हैं तथा प्रमत्तगुणस्थान में देवायु के बंध को प्रारम्भ करके अप्रमत्तगुणस्थान में गया हुआ जीव तीव्र विशुद्धि के योग में उसका उत्कृष्ट अनुभाग-बंध करता है और सातावेदनीय, उच्चगोत्र तथा यशःकीर्ति इन तीन प्रकृतियों का क्षपक सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव अत्यन्त तीव्र विशुद्धि के योग में उत्कृष्ट अनुभागबंध करता है।^१

१ तीर्थकर आदि प्रकृतियों का आठवें और यशःकीर्ति आदि का दसवें गुणस्थान में उत्कृष्ट रसबंध होने से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आठवें से नौवें एवं दसवें से ग्यारहवें गुणस्थान में अत्यन्त विशुद्ध परिणामों के होने पर भी वहाँ इन प्रकृतियों का उत्कृष्ट रसबंध क्यों नहीं होता है ?

इसका उत्तर यह है कि अल्पातिअल्प सीमा से लेकर अधिक-से-अधिक अमुक सीमा तक के विशुद्ध और संक्लिष्ट परिणामों से अमुक पुण्य एवं अमुक पाप प्रकृति बंधती हैं। इस प्रकार बंध में अपनी-अपनी कम-से-कम और अधिक-से-अधिक विशुद्धि या संक्लेश की मर्यादा है। उसकी अपेक्षा वह घट या बढ़ जाये तो उस प्रकृति का बंध नहीं होता है। इसी कारण यह कहा गया है कि अमुक प्रकृति अमुक गुणस्थान तक बंधती है। यदि इन प्रकार की मर्यादा न हो और उत्तरवर्ती गुणस्थानों में भी बंध होता रहे तो फिर बंध का अंत नहीं आयेगा, जिस से कोई जीव मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसी कारण तीर्थकर आदि प्रकृतियों का



इस प्रकार से विशेष रूप में शुभ और अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागबंध के स्वामित्व को जानना चाहिये ।^१ अब शुभ-अशुभ प्रकृतियों के जघन्य अनुभागबंध के स्वामियों का कथन करते हैं ।

जघन्य अनुभागबंध स्वामित्व

आहार अप्पमत्तो कुणइ जहन्नं पमत्तयाभिमुहो ।

नरतिरिय चोद्दसण्हं देवाजोगाण साऊण ॥७०॥

शब्दार्थ—आहार—आहारकद्विक, अप्पमत्तो—अप्रमत्त, कुणइ—करता है, जहन्नं—जघन्य, पमत्तयाभिमुहो—प्रमत्तपने के अभिमुख, नरतिरिय—मनुष्य और तिर्यच, चोद्दसण्हं—चौदह प्रकृतियों का, देवाजोगाण—देवों के अयोग्य, साऊण—अपनी आयु का ।

गाथार्थ—आहारकद्विक का जघन्य अनुभागबंध प्रमत्तपने के अभिमुख हुआ अप्रमत्त करता है और देवों के अयोग्य चौदह प्रकृतियों तथा अपनी आयु का मनुष्य और तिर्यच जघन्य अनुभागबंध करते हैं ।

विशेषार्थ—इस गाथा से जघन्य अनुभागबंध के स्वामित्व का विचार प्रारम्भ किया है—

आठवें और यशःकीर्ति आदि का दसवें गुणस्थान में उत्कृष्ट रसबंध बताया है । क्योंकि उनके बंधयोग्य उत्कृष्ट विशुद्ध परिणाम वहीं हैं, आगे के गुणस्थानों में उनकी बंधयोग्य सीमा से अधिक निर्मल परिणाम हैं । जिससे वहाँ उनका बंध नहीं होता है । इसी प्रकार प्रत्येक प्रकृति के लिये समझना चाहिए ।

- १ दिगम्बर पंचसंग्रह, शतक अधिकार गाथा ४५१ से ४६६ तक उत्कृष्ट अनुभागबंध के स्वामियों का वर्णन किया है । जो यहाँ से प्रायः मिलता है ।

‘आहार अप्पमत्तो कुणइ’ अर्थात् आहारकद्विक—आहारकशरीर, आहारक-अंगोपांग का प्रमत्तसंयतगुणस्थान के अभिमुख हुआ अर्थात् अनन्तर समय में प्रमत्तभाव को प्राप्त होने के अभिमुख जघन्य अनु-भागबंध करता है। इसका कारण यह है कि इनके बांधने वालों में वही संक्लिष्ट परिणामी है और पतनोन्मुखी जीव के क्लिष्ट परिणाम होते हैं तथा क्लिष्ट परिणाम होने पर ही पुण्य—शुभ प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग का बंध होता है। तथा

‘देवाजोगाण’ अर्थात् देवों के बंध के अयोग्य ऐसी नरकत्रिक, देवत्रिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, सूक्ष्म, अपयप्ति, साधारण और वंक्रियद्विक रूप चौदह प्रकृतियों के तथा तिर्यचायु और मनुष्यायु के जघन्य अनुभागबंध के स्वामी तत्प्रायोग्य विशुद्ध और संक्लिष्ट परिणाम वाले मनुष्य और तिर्यच हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

नरकत्रिक का दस हजार वर्ष प्रमाण नरकायु को बांधते समय तत्प्रायोग्य विशुद्ध^१ मनुष्य और तिर्यच जघन्य अनुभागबंध करते हैं। क्योंकि अतिविशुद्ध परिणाम वाले के नरकप्रायोग्य बंध संभव ही नहीं है तथा तीन आयु की अपनी-अपनी जघन्य स्थिति को बांधते हुए तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट परिणामी जघन्य अनुभाग का बंध करता है। अति-संक्लिष्ट परिणाम होने पर उसका बंध असम्भव है।

वंक्रियद्विक का नरकगति योग्य बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति को बांधते हुए अति संक्लिष्ट परिणाम के योग में तथा

- १ यद्यपि नरकप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध करने पर क्लिष्ट परिणाम होते हैं। परन्तु दस हजार वर्ष से अधिक आयुबंधक की अपेक्षा दस हजार वर्ष प्रमाण आयु बांधने वाला शुद्ध है। उससे अधिक शुद्ध परिणाम होने पर नरकप्रायोग्य बंध ही नहीं होता है, इसलिये यहाँ ‘तत्प्रायोग्य विशुद्ध’ यह कहा है।

देवद्विक का दस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति को बांधते समय तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट परिणाम होने पर जघन्य अनुभागबंध होता है। उनके बंधकों में ऐसे जीव ही अतिसंक्लिष्ट परिणाम वाले हैं तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति, सूक्ष्म, अपर्याप्ति और साधारण इन छह प्रकृतियों का तत्प्रायोग्य विशुद्ध परिणामी जीव अनुभागबंध करता है। क्योंकि अधिक विशुद्धि वाले के तो इन प्रकृतियों का बंध ही असम्भव है।

इन सोलह प्रकृतियों को देव और नारक भवस्वभाव से ही नहीं बांधते हैं, इसीलिये मनुष्य और तिर्यच का ग्रहण किया है। यद्यपि मनुष्य और तिर्यच आयु को देव और नारक बांधते हैं, परन्तु उनकी मध्यम आयु को बांधते हैं। जघन्य आयु को नहीं बांधते हैं। तथा—

ओरालियतिरियदुगे नीउज्जोयाण तमतमा छण्हं ।

मिच्छ नरयाणभिमुहो सम्मद्दिठी उ तित्थस्स ॥७१॥

शब्दार्थ—ओरालियतिरियदुगे—औदारिकद्विक, तिर्यचद्विक, नीउज्जोयाण—नीचगोत्र, उद्योत का, तमतमा—तमस्तमा नामक सप्तम नरक का नारक, छण्हं—छह का, मिच्छनरयाणभिमुहो—मिथ्यात्व और नरक के अभिमुख, सम्मद्दिठी—सम्यग्दृष्टि, उ—और, तित्थस्स—तीर्थकरनामकर्म का।

गाथार्थ—औदारिकद्विक, तिर्यचद्विक, नीचगोत्र और उद्योत-नाम इन छह प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध तमस्तमा नामक सातवीं पृथ्वी के नारक करते हैं तथा मिथ्यात्व और नरक के अभिमुख हुआ सम्यग्दृष्टि तीर्थकरनाम का जघन्य अनुभागबंध करता है।

विशेषार्थ—गाथा में कुछ शुभ और कुछ अशुभ प्रकृतियों के जघन्य अनुभागबंध के स्वामियों को बतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

शुभ की सहचारी शुभ प्रकृतियाँ और अशुभ की सहचारी अशुभ प्रकृतियाँ होती हैं। इसलिये शुभ के साथ शुभ प्रकृतियों का और अशुभ के साथ अशुभ प्रकृतियों का योग करके औदारिकद्विक के साथ उद्योत का और तिर्यचद्विक के साथ नीचगोत्र का संयोग करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि 'व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिः व्याख्यान—विस्तृत टीका द्वारा विशेष अर्थ का ज्ञान होता है' इस न्यायवचन के अनुसार औदारिकद्विक और उद्योतनाम इन तीन प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग-बंध के स्वामित्व का विचार करने के संदर्भ में यद्यपि 'तमतमा' पद द्वारा सप्तम पृथ्वी का नारक जीव ही लिया है, लेकिन यहाँ यह अर्थ भी ग्रहण करना चाहिये कि देव अथवा नारक तिर्यचगति की उत्कृष्ट संक्लेश से बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बांधते हुए जघन्य अनुभागबंध करते हैं। क्योंकि उन प्रकृतियों के बंधकों में वे ही सर्व संक्लिष्ट अध्यवसाय वाले हैं। किन्तु इस प्रकार के अति-संक्लिष्ट परिणामी तिर्यच, मनुष्य को नरकगतियोग्य प्रकृतियों का बंध सम्भव होने से उनको उपर्युक्त प्रकृतियों का बंध होना असम्भव है। इसमें भी औदारिक-अंगोपांग के बंधक ईशानस्वर्ग से आगे के देव होते हैं। इसका कारण यह है कि अतिसंक्लिष्ट परिणामों में ईशान स्वर्ग तक के देवों के तो एकेन्द्रिय योग्य प्रकृतियों का बंध सम्भव होने से उस समय उनको औदारिक-अंगोपांगनामकर्म का बंध नहीं होता है। तथा—

तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी और नीचगोत्र का सप्तम नरक पृथ्वी में वर्तमान औपशमिक सम्यक्त्व को उत्पन्न करता हुआ नारक यथा-प्रवृत्तादि तीन करण करने पूर्वक अन्तरकरण करके प्रथमस्थिति को विपाकोदय द्वारा अनुभव करते हुए प्रथम स्थिति के चरम समय में मिथ्यादृष्टि होता हुआ जघन्य अनुभागबंध करता है। इन प्रकृतियों

के गंधकों में उसी के उत्कृष्ट विशुद्धि है ।^१ इस प्रकार इन छह प्रकृतियों का मिथ्यादृष्टि जघन्य अनुभागबंध का स्वामी है । तथा—

‘मिच्छन्तरयाणभिमुहो’ इत्यादि अर्थात् मिथ्यात्व और नरक के अभिमुख अविरत, वेदक सम्यग्दृष्टि जीव तीर्थकरनाम के जघन्य अनुभागबंध का स्वामी है । चौथे गुणस्थान से पहले गुणस्थान में जाते हुए चौथे गुणस्थान के चरम समय में तीर्थकरनाम का उत्कृष्ट स्थिति-बंध और जघन्य अनुभागबंध करता है । क्योंकि इसके जघन्य अनु-भागबंध के योग्य वही सर्वसंक्लिष्ट परिणाम वाला है । तथा—

सुभधुवतसाइचतुरो परघाय पणिंदिसासचउगइया ।

उक्कडमिच्छा ते च्चिय थीअपुमाणं विसुज्झंता ॥७२॥

शब्दार्थ—सुभधुव—शुभ ध्रुवबंधिनी, तसाइचतुरो—त्रसादि चार, परघाय—पराघात, पणिंदि—पंचेन्द्रिय जाति, सास—उच्छ्वासनाम, चउगइया—चारों गति के जीव, उक्कडमिच्छा—उत्कृष्ट मिथ्यादृष्टि, ते—वे, च्चिय—ही, थीअपुमाणं—स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का, विसुज्झंता—विशुद्ध परिणाम वाले ।

गाथार्थ—शुभ ध्रुवबंधिनी आठ, त्रसादि चार, उपघात, पंचेन्द्रियजाति, उच्छ्वास इन पन्द्रह प्रकृतियों का जघन्य अनु-भागबंध चारों गति के संक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव तथा

१ (क) तिरियगति तिरियाणुपुच्चि नियागोयाणं अहेसत्तमपुढविनेरइओ सम्मत्ताभिमुहो करणाइं करेतु चरमसमयमिच्छदिट्ठीमवपच्चएण ताओ तिन्नि बंधइ, जाव मिच्छत्तभावो ताव तस्स सव्वजहन्नोणुभागो हवइ, तव्वंधगेसु अच्चन्तविमुद्धोत्ति काउं ।

—शतकचूर्णि

(ख) तिरियदुयं णिच्चं पि य तमतमा जाण तिण्णेदे ।

—दि. पंचसंग्रह, शतक अधि. ४७५

कुछ विशुद्ध परिणामों में वर्तमान जीव स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का जघन्य अनुभागबंध करते हैं।

विशेषार्थ—शुभ वर्णादि चतुष्क, अगुरुलघु, तैजस, कामर्ण और निर्माण रूप शुभ ध्रुवबंधिनी तथा त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक रूप त्रसचतुष्क और पराघात, पंचेन्द्रियजाति और उच्छ्वास कुल मिलाकर इन पन्द्रह प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध 'चउगइया' चारों गति में वर्तमान संक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।^१ जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

नरकगति की उत्कृष्ट स्थिति बांधने वाले अतिक्लिष्ट परिणामी तिर्यच और मनुष्य उपर्युक्त प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध करते हैं। क्योंकि नरकगतिप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध करते समय भी ये प्रकृतियां बंधती हैं तथा नरकगतिप्रायोग्य उत्कृष्ट स्थिति को बांधते हुए सर्वोत्कृष्ट संक्लेश भी है। इसीलिये इन सभी पुण्य प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध होता है। तथा—

ईशानस्वर्ग तक के देवों के सिवाय तीसरे से आठवें देवलोक तक के संक्लिष्ट परिणामी देव अथवा नारक तिर्यचगति और पंचेन्द्रियजाति की उत्कृष्ट स्थितियों को बांधते हुए इन प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध करते हैं। क्योंकि ईशान तक के सर्वोत्कृष्ट संक्लेश में वर्तमान देव तो पंचेन्द्रियजाति और त्रसनाम को छोड़कर शेष तेरह प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध करते हैं। सर्वसंक्लिष्ट परिणाम होने पर एकेन्द्रियजाति और स्थावरनामकर्म का बंधकरने वाले होने से उनके पंचेन्द्रियजाति और त्रसनामकर्म का बंध होना असम्भव है। तथा—

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में भी इन पन्द्रह प्रकृतियों के जघन्य अनुभागबंधकों के लिए इसी प्रकार बताया है। देखिये पंचसंग्रह, शतक अधिकार गाथा ४७८, ४७९।

चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव कुछ विशुद्ध परिणाम में रहते स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का जघन्य अनुभागबंध करते हैं—‘थीअपु-माणं विसुज्झन्ता’। किन्तु इतना विशेष जानना चाहिए कि मात्र कुछ अल्प विशुद्ध परिणाम वाले नपुंसकवेद का और उससे अधिक विशुद्ध परिणाम वाले स्त्रीवेद का जघन्य अनुभागबंध करते हैं और उससे भी अधिक विशुद्ध परिणाम वाले तो पुरुषवेद को बांधते हैं। इसीलिये उक्त दो वेदों के बंधकों में अल्प विशुद्धि वाले जीवों का ग्रहण किया है। वेद पापप्रकृति होने से उसके जघन्य अनुभागबंध में विशुद्ध परिणाम हेतु हैं। तथा—

थिरसुभजससायाणं सपडिवक्खाण मिच्छ सम्मो वा ।

मज्झिमपरिणामो कुणइ थावरेगिदिए मिच्छो ॥७३॥

शब्दार्थ—थिरसुभजससायाणं—स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति और सातावेदनीय का, सपडिवक्खाण—अपनी प्रतिपक्षी प्रकृतियों का, मिच्छो—मिथ्यादृष्टि, सम्मो—सम्यग्दृष्टि, वा—अथवा, मज्झिमपरिणामो—मध्यमपरिणाम-परावर्तन परिणाम वाला, कुणइ—करता है, थावरेगिदिए—स्थावर, एकेन्द्रिय का, मिच्छो—मिथ्यादृष्टि ।

गाथार्थ—अपनी प्रतिपक्षी प्रकृतियों के साथ स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति और सातावेदनीय का मध्यम परिणाम—परावर्तमान परिणाम वाला मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यग्दृष्टि तथा स्थावर और एकेन्द्रिय का मिथ्यादृष्टि जघन्य अनुभागबंध करता है ।

विशेषार्थ—अपनी प्रतिपक्षी अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति और असातावेदनीय के साथ स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति और सातावेदनीय कुल आठ प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध मध्यम परिणाम-परावर्तमान परिणाम में वर्तमान सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं—मिच्छ-सम्मो वा ।^१

१ सम्माइट्ठी य मिच्छो वा । दि. पंचसंग्रह, शतक अधिकार गा. ४८१

इसका कारण यह है कि जिस स्थितिस्थान से जिस स्थितिस्थान पर्यन्त उक्त प्रकृतियां परावर्तन रूप से बंधती हैं, उतने स्थानों में वर्तमान जीव उन प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध करते हैं। क्योंकि सर्वविशुद्ध परिणाम होने पर तो केवल सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों का और संक्लिष्ट परिणाम होने पर केवल असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग का बंध होता है। इसी कारण मध्यम परिणाम युक्त सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि सप्रतिपक्षी उक्त प्रकृतियों अर्थात् सातावेदनीय, असातावेदनीय आदि आठ प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध करते हैं। तथा—

स्थावर और एकेन्द्रियजाति का भी जघन्य अनुभागबंध मध्यम परिणाम वाले जीव करते हैं। लेकिन इतनी विशेषता है कि नरक के बिना शेष तीन गति के मिथ्यादृष्टि मध्यम परिणामों में वर्तमान जीव इनके जघन्य अनुभागबंध के स्वामी हैं।^१ क्योंकि सर्वविशुद्ध परिणाम में वर्तमान जीव पंचेन्द्रियजाति और त्रसनामकर्म का और सर्व संक्लिष्ट परिणाम होने पर एकेन्द्रियजाति और स्थावरनामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बांधते हैं। इसीलिए मध्यम परिणाम युक्त जीव को इन दोनों प्रकृतियों के जघन्य अनुभागबंध का स्वामी कहा है।

आतप प्रकृति एकेन्द्रियप्रायोग्य है। यद्यपि गाथा में उसका उल्लेख नहीं किया है, तथापि वर्णनक्रम से उसका भी ग्रहण कर लेना चाहिए कि आतपनामकर्म के जघन्य अनुभागबंध के स्वामी सर्वसंक्लिष्ट परिणाम वाले ईशानस्वर्ग तक के मिथ्यादृष्टि देव स्वामी हैं।^२ क्योंकि उसके बंधकों में वे ही सर्वसंक्लिष्ट परिणाम वाले होते हैं। तथा—

१ दि. पंचसंग्रह, शतक अधिकार गा. ४७६

२ दि. पंचसंग्रह, शतक अधिकार गा. ४७७

सुसुराइतित्रि दुगुणा संठिइसंघयणमणुयविहजुयले ।

उच्चे चउगइमिच्छा अरईसोगाण उ पमत्तो ॥७४॥

शब्दार्थ—सुसुराइतित्रि—सुस्वरादि तीन, दुगुणा—द्विगुणित, संठिइसंघ-
यण—संस्थानषट्क और संहननषट्क, मणुयविहजुयले—मनुष्यद्विक और
विहायोगतिद्विक, उच्चे—उच्चगोत्र, चउगइ—चारों गति के, मिच्छा—
मिथ्यादृष्टि, अरईसोगाण—अरति और शोक के, उ—और, पमत्तो—प्रमत्त ।

गाथार्थ—द्विगुणित सुस्वरादि तीन तथा संस्थानषट्क और
संहननषट्क, मनुष्यद्विक, विहायोगतिद्विक और उच्चगोत्र के
जघन्य अनुभागबंध के स्वामी चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव
तथा अरति और शोक के जघन्य अनुभागबंध के स्वामी प्रमत्त
जीव हैं ।

विशेषार्थ—द्विगुणित सुस्वरादि तीन अर्थात् सुस्वरत्रिक—सुस्वर,
सुभग और आदेय तथा इनके प्रतिपक्षी दुःस्वर, दुर्भग और अनादेय
इस प्रकार छह प्रकृतियों तथा समचतुरस्र आदि छह संस्थानों, वज्र-
ऋषभनाराचादि छह संहननों एवं युगलशब्द का मनुष्य और विहायो-
गति दोनों के साथ सम्बन्ध होने से मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी रूप
मनुष्ययुगल तथा शुभ और अशुभ विहायोगति रूप विहायोगतियुगल
तथा उच्चगोत्र रूप तेईस प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग का बंध मध्यम
परिणाम वाले चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं । क्योंकि ये
समस्त प्रकृतियां जब अपनी-अपनी प्रतिपक्षी प्रकृतियों के साथ परा-
वर्तित-परावर्तित होकर बंधती हैं, उस समय उनके जघन्य अनुभाग
का बंध होता है । इसका कारण यह है कि जब परावर्तन भाव होता
है तब परिणामों में तीव्रता नहीं होती है, जिससे जघन्य अनुभाग का
बंध हो सकता है । इसी कारण इनके जघन्य अनुभाग के बंध में परा-
वर्तमान परिणामों को बंधहेतु के रूप में कहा है ।^१

सम्यग्दृष्टि जीवों के तो इन प्रकृतियों का परावर्तन होने के द्वारा बंध नहीं होता है। इसका कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि देव अथवा नारक मनुष्यद्विक और वज्रऋषभनाराचसंहनननामकर्म के बंधक होते हैं तथा भवस्वभाव से वे देवद्विक का बंध नहीं करते हैं और सम्यग्दृष्टि तिर्यच आदि देवद्विक को बांधते हैं, मनुष्यद्विक और वज्रऋषभनाराचसंहनन का बंध नहीं करते हैं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि होने से वे उक्त प्रकृतियों की विरोधी अन्य प्रकृतियों को भी नहीं बांधते हैं तथा समुचतुरस्रसंस्थान, प्रशस्तविहायोगति, सुभग, सुस्वर, आदेय और उच्चगोत्र की प्रतिपक्षी प्रकृतियां सम्यग्दृष्टि जीव को बंधती ही नहीं हैं। इसलिये उपर्युक्त तेईस प्रकृतियों के जघन्य अनुभागबंध के स्वामी मिथ्यादृष्टि जीव हैं। तथा—

अरति और शोक का प्रमत्तसंयत प्रमत्त से अप्रमत्तसंयत गुण-स्थान में जाते समय अतिविशुद्ध परिणामी होने से जघन्य अनुभाग-बंध करते हैं।^१

इस प्रकार से गाथा में स्पष्टरूप से निर्दिष्ट प्रकृतियों के जघन्य अनुभागबंध के स्वामियों को बतलाने के बाद गाथोक्त 'तु' शब्द द्वारा पूर्वोक्त से शेष रही प्रकृतियों के जघन्य अनुभागबंधकों का विचार करते हैं—

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और अन्तरायपंचक, इन चौदह प्रकृतियों का सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में वर्तमान क्षपक बंध-विच्छेद के समय एक समय मात्र जघन्य अनुभागबंध करता है। क्यों कि वही इन प्रकृतियों के बंधकों में अत्यन्त विशुद्ध परिणाम वाला है।

१ प्रमत्तसुद्धो दु अरइ सोयाणं ।

—दि. पंचसं. शतक अधिकार, ४७३

पुरुषवेद और संज्वलनचतुष्क का अनिवृत्तिबादर-संपरायगुण-स्थान में वर्तमान क्षपक उनके बंधकों में अत्यन्त विशुद्ध परिणाम वाला होने से उन-उन प्रकृतियों का बंधविच्छेद के समय एक समय मात्र जघन्य अनुभागबंध करता है ।

अप्रशस्त वर्णचतुष्क, निद्रा, प्रचला, उपघात, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा रूप ग्यारह प्रकृतियों का क्षपणा के योग्य अपूर्वकरण में वर्तमान जीव उन-उनके बंधविच्छेद के समय एक समय मात्र जघन्य अनुभागबंध करता है । क्योंकि इनके जघन्य अनुभागबंधकों में वही परम विशुद्धि वाला है ।

स्त्यानद्धिचिक, मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क इन आठ प्रकृतियों का सम्यक्त्व और संयम दोनों को युगपत् एक साथ प्राप्त करने वाला मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्वगुणस्थान के चरम समय में जघन्य अनुभागबंध करता है ।

अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क का संयम को प्राप्त करने वाला अविरतसम्यग्दृष्टि, प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क का सर्वविरति को प्राप्त करने की ओर अग्रसर देशविरत जघन्य अनुभागबंध करता है ।

इस प्रकार से समस्त उत्तर प्रकृतियों के जघन्य अनुभागबंध के स्वामियों को जानना चाहिये और इसके साथ ही उत्कृष्ट जघन्य अनुभागबंध के स्वामित्व का विचार पूर्ण होता है ।^१ सरलता से समझने के लिये जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

१. दिगम्बर पंचसंग्रह शतक अधिकार गाथा ४६७-४८२ तक जघन्य अनुभागबंध के स्वामियों का वर्णन किया है ।

क्रम	प्रकृतियाँ	उत्कृष्ट अनुभागबंध के स्वामी	जघन्य अनुभागबंध के स्वामी
१	जानावरणपंचक, दर्श- नावरणचतुष्क, अंत- रायपंचक	मिथ्यादृष्टि अति संकलिष्ट पर्याप्त संजी	सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान वाला क्षपक चरम समयवर्ती
२	निद्रा, प्रचला	"	क्षपक, अपूर्वकरण- वर्ती स्वबंधविच्छेद के समय
३	स्थानद्वित्रिक, मिथ्या- त्व, अनस्तानुबंधचतुष्क	"	अनन्तर समय में क्षायिक समयवत्त्व तथा समय को प्राप्त करने वाला मिथ्यात्वी
४	अप्रत्याख्यानावरण- कषायचतुष्क	"	अनन्तर समय में संयम को प्राप्त करने वाला अविरतसम्यग्- दृष्टि
५	प्रत्याख्यानावरणकषाय- चतुष्क	"	अनन्तर समय में सर्वविरति प्राप्त करने वाला देश- विरति
६	संज्वयनकषायचतुष्क	"	अनिवृत्तिबाधरसंपराधी क्षपक, बंधविच्छेद के समय
७	हास्य, गति	तत्प्रायोग्य संकलिष्ट मिथ्यात्वी पर्याप्त संजी	क्षपक अपूर्वकरण चरमसमयवर्ती
८	अरति, शोक	अति संकलिष्ट मिथ्या. पर्याप्त संजी	अप्रमत्ताभिमुख प्रमत्त यति

क्रम	प्रकृतियां	उत्कृष्ट अनुभागबंध के स्वामी	जघन्य अनुभागबंध के स्वामी
६	भय, जुगुप्सा	अति संक्लिष्ट मिथ्या- त्वी पर्याप्त संज्ञी	क्षपक अपूर्वकरण चरम समयवर्ती
१०	नपुंसकवेद	"	तद्योग्य विशुद्ध मिथ्या- दृष्टि
११	स्त्रीवेद	तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट मिथ्यात्वी पर्याप्त संज्ञी	"
१२	पुरुषवेद	"	अनिवृत्तिबाधरसंप- रायी क्षपक बंध- विच्छेद के समय
१३	असातावेदनीय	अति संक्लिष्ट मिथ्या- त्वी पर्याप्त संज्ञी	परावर्तमान मध्यम परिणामी
१४	सातावेदनीय	सूक्ष्मसंपराय चरम समयवर्ती क्षपक	"
१५	देवायु	तद्योग्य विशुद्ध अप्र- मत्त यति	तत्प्रायोग्य सं. मिथ्या- त्वी पर्याप्त पंचे. तिर्यंच, मनुष्य
१६	मनुष्यायु, तिर्यचायु	तत्प्रायोग्य मिथ्यादृष्टि पर्याप्त मनुष्य, तिर्यंच	तत्प्रायोग्य सं. मिथ्या- त्वी तिर्यंच, मनुष्य
१७	नरकायु	तत्प्रायोग्य सं. मिथ्या- त्वा पर्याप्त मनुष्य, तिर्यंच	तत्प्रायोग्य विशुद्ध मिथ्यात्वी पर्याप्त मनुष्य तथा पंचे. तिर्यंच

क्रम	प्रकृतियां	उत्कृष्ट अनुभागबंध के स्वामी	जघन्य अनुभागबंध के स्वामी
१८	देवद्विक, वैक्रियद्विक	क्षपक अपूर्वकरण में स्वबंधविच्छेद समय-वर्ती	अति संक्लिष्ट मिथ्या-त्वी पर्याप्त मनुष्य, पंचेन्द्रिय तिर्यंच
१९	मनुष्यद्विक	अतिविशुद्ध सम्यग्दृष्टि देव	परावर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यात्वी
२०	तिर्यंचद्विक	अति संक्लिष्ट मिथ्या-त्वी नारक तथा सहस्रांगत देव	उपशमसम्यक्त्व प्राप्त करने वांछा मिथ्यात्व चरमसमयवर्ती सप्तमपृथ्वी नारक
२१	नारकद्विक	अति संक्लिष्ट मिथ्या-त्वी पर्याप्त मनुष्य, तिर्यंच	तत्प्रायोग्य विशुद्ध मिथ्यात्वी पर्याप्त मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच
२२	आहारकद्विक	क्षपक अपूर्वकरण में बंधविच्छेद के समय	प्रमत्ताभिमुख अप्रमत्त यति
२३	औदारिकद्विक	अतिविशुद्ध सम्यग्दृष्टि देव	अति संक्लिष्ट मिथ्या-दृष्टि देव, नारक
२४	तैत्रस, कार्मण, शुभ वर्णवतुष्क, पंचेन्द्रिय-जाति, पराधात, उच्छ-वास, अगुरुतष्टु, निर्माण, असच्चतुष्क	क्षपक अपूर्वकरणवर्ती स्वबंधविच्छेद के समय	अति संक्लिष्ट चारों गति के मिथ्यादृष्टि

क्रम	प्रकृतियां	उत्कृष्ट अनुभागबंध के स्वामी	जघन्य अनुभागबंध के स्वामी
२५	सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक	तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यच	तत्प्रायोग्य विशुद्ध मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यच
२६	एकेन्द्रिय, स्थावर	अति संक्लिष्ट मिथ्या-दृष्टि ईशानान्त देव	नरक के सिवाय तीन गति के मिथ्यादृष्टि मध्यम परिणामी जीव
२७	वज्रऋषभनाराच संहनन	सर्वविशुद्ध सम्यग्दृष्टि देव	परावर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि
२८	मध्यम चार संहनन, चार संस्थान	तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि	परावर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि
२९	सेवार्तसंहनन	अति संक्लिष्ट मिथ्या-दृष्टि नारक तथा ईशानान्त देव	परावर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि
३०	समचतुरस्रसंस्थान, स्थिर-पंचक, शुभविहायोगति	क्षपक अपूर्वकरण स्वबंधविच्छेदवर्ती	परावर्तमान मध्यम परिणामी
३१	हुंडकसंस्थान, अशुभ-विहायोगति, अस्थिर-षट्क	अति संक्लिष्ट मिथ्या-दृष्टि पर्याप्त संज्ञी	" "
३२	अशुभवर्णचतुष्क, उपघात	" "	अपूर्वकरणवर्ती क्षपक स्वबंधविच्छेद के समय
३३	आतप	तत्प्रायोग्य विशुद्ध ईशानान्त देव	अति संक्लिष्ट मिथ्या-दृष्टि ईशानान्त देव

क्रम	प्रकृतियां	उत्कृष्ट अनुभागबंध के स्वामी	जघन्य अनुभागबंध के स्वामी
३४	उद्योत	उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला मिथ्यात्वी चरम समयवर्ती सप्तम पृथ्वी का नारक	अति संक्लिष्ट नारक तथा सहस्रारांत देव
३५	तीर्थकरनाम	अपूर्वकरणवर्ती क्षपक स्वबंधविच्छेद के समय	मिथ्यात्व तथा नरका-भिमुख, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चरम समयवर्ती मनुष्य
३६	यशःकीर्ति	सूक्ष्मसंपराय चरम-समयवर्ती क्षपक	परावर्तमान मध्यम परिणामी
३७	उच्चगोत्र	सूक्ष्मसंपराय चरम-समयवर्ती क्षपक	परावर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि
३८	नीचगोत्र	अति संक्लिष्ट मिथ्या-दृष्टि पर्याप्त संज्ञी	उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला मिथ्यात्वी चरम समयवर्ती सप्तम पृथ्वी का नारक

अब अनुभागबंध के अध्यवसायों और अनुभाग के अविभाग प्रतिच्छेदों के प्रमाण का निरूपण करने के लिये अल्पबहुत्व का विचार करते हैं।

अल्पबहुत्व प्ररूपणा

सेढिअसंखेज्जंसो जोगट्ठाणा तओ असंखेज्जा ।

पयडीभेआ तत्तो ठिइभेया होंति तत्तोवि ॥७५॥

ठिइबंधज्जवसाया तत्तो अणुभागबंधठाणाणि ।

तत्तो कम्मपएसाणंतगुणा तो रसच्छेया ॥७६॥

शब्दार्थ—सेढिअसंखेज्जंसो—श्रेणि के असंख्यातवें भागप्रमाण, जोग-ट्ठाणा—योगस्थान, तओ—उनसे, असंखेज्जा—असंख्यातगुणें, पयडीभेया—प्रकृति के भेद, तत्तो—उनसे, ठिइभेया—स्थिति के भेद, होति—होते हैं, तत्तोवि—उनसे भी, ठिइबंधज्जवसाया—स्थितिबंधाध्यवसायस्थान, तत्तो—उनसे, अनुभागबंधठाणाणि—अनुभागबंधाध्यवसायस्थान, तत्तो—उनसे, कम्मपएसा—कर्म के प्रदेश, णंतगुणा—अनन्तगुणें, तो—उनसे, रसच्छेया—रसच्छेद-रमाण ।

गाथार्थ—श्रेणि के असंख्यातवें भाग में वर्तमान आकाश-प्रदेशप्रमाण योगस्थान हैं, उनसे प्रकृति के भेद असंख्यातगुणें, उनसे असंख्यातगुणें स्थिति के भेद हैं, उनसे असंख्यातगुणें स्थिति-बंधाध्यवसायस्थान हैं, उनसे असंख्यातगुणें अनुभागबंधाध्यवसाय-स्थान हैं, उनसे अनन्तगुणें कर्मप्रदेश हैं और उनसे भी रसच्छेद-रमाण अनन्तगुणें हैं ।

विशेषार्थ—बंध के निरूपण में विचार के केन्द्रबिन्दु दो हैं—एक बंध और दूसरा उसके कारण । यद्यपि प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से बंध चार हैं, किन्तु उनके कारण तीन हैं । क्योंकि प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध का कारण एक ही है । अतः बंध-विचार के प्रसंग में उनके परिकर के रूप में सात बातें ग्रहण की जाती हैं—(१) प्रकृतिभेद (२) स्थितिभेद (३) कर्मस्कध-प्रदेशभेद और (४) रसच्छेद अर्थात् अनुभागभेद और उनके कारण के रूप में (५) योगस्थान (६) स्थितिबंधाध्यवसायस्थान तथा (७) अनुभागबंधाध्यवसायस्थान ।

इन दो गाथाओं में इन्हीं सातों का अल्पबहुत्व बतलाया है । अर्थात् यह बताया है कि इन सातों में किसकी संख्या परिमाण कम है और और किसकी संख्या अधिक है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सात राजू प्रमाण धनीकृत लोकाकाश की एक प्रादेशिकी पंक्ति अर्थात् एक-एक प्रदेश की जो पंक्ति उसे श्रेणि, सूचिश्रेणि कहते हैं । उस श्रेणि के असंख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश हैं, उतने योग-स्थान हैं—‘सेढिअसंखेज्जंसो जोगट्ठाणा’ ।

इन योगस्थानों से असंख्यातगुणे ज्ञानावरणादि प्रकृतियों के भेद हैं—‘तओ असंखेज्जा पयडीभेया’ । इसका कारण यह है कि यद्यपि मूल प्रकृतियां आठ हैं और उत्तर प्रकृतियां एक सौ अड़तालीस बताई गई हैं । किन्तु बंध की विचित्रता से एक-एक प्रकृति के असंख्यात भेद हो जाते हैं । ये भेद एक-एक प्रकृति की तीव्र और मंदरूपता द्वारा उत्पन्न हुए विशेषों की अपेक्षा से माने जाते हैं । उदाहरण के लिये अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण को ले लीजिये कि इन के असंख्यात लोकाकाश प्रदेशप्रमाण भेद हैं । क्योंकि उन भेदों के विषय रूप क्षेत्र और काल के तारतम्य द्वारा क्षयोपशम के उतने भेद शास्त्र में बताये गये हैं तथा चारों आनुपूर्वीनामकर्म के बंध और उदय की विचित्रता से लोक के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाशप्रदेशप्रमाण भेद हैं ।

इसी प्रकार शेष प्रकृतियों के भी उस-उस प्रकार के द्रव्य, क्षेत्र, और स्वरूपादि रूप सामग्री की विचित्रता की अपेक्षा असंख्यात भेद समझ लेना चाहिये । इसलिए योगस्थानों से असंख्यातगुणे प्रकृति के भेद होते हैं । क्योंकि एक-एक योगस्थान में बंध की अपेक्षा प्रकृति के समस्त भेद घटित होते हैं, यानी एक-एक योगस्थान में वर्तमान अनेक जीवों द्वारा अथवा कालभेद से एक जीव द्वारा ये सभी प्रकृतियां बंधती हैं ।

इन प्रकृति के भेदों से स्थिति के भेद—स्थितिविशेष असंख्यातगुणे हैं—‘तत्तो ठिइभेया होंति’ । जघन्य स्थिति से प्रारम्भ कर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त जितने समय होते हैं, उतने स्थितिविशेष हैं ।

एक साथ जितनी स्थिति का बंध हो उसे स्थितिस्थान अथवा स्थितिविशेष कहते हैं । जो इस प्रकार जानना चाहिये—जघन्य स्थिति यह पहला स्थितिस्थान, समयाधिक जघन्य स्थिति यह दूसरा स्थितिस्थान, दो समयाधिक जघन्य स्थिति यह तीसरा स्थितिस्थान, इस तरह एक-एक समय की वृद्धि करते-करते उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये, यह अन्तिम स्थितिस्थान है । इस प्रकार असंख्याता स्थिति-

विशेष होते हैं। ये स्थितिविशेष प्रकृति के भेदों से असंख्यातगुणे हैं। क्योंकि एक-एक प्रकृति असंख्यात तरह की स्थितियों को लेकर बंधती है। जैसे एक जीव एक ही प्रकृति को कभी अन्तर्मुहूर्त की स्थिति से बांधता है, कभी एक समय अधिक अन्तर्मुहूर्त की स्थिति के साथ बांधता है। इस प्रकार जब एक प्रकृति और एक जीव की अपेक्षा से ही स्थिति के असंख्याता भेद होते हैं तब सब प्रकृतियों और सब जीवों की अपेक्षा से प्रकृति के भेदों से स्थिति के भेदों का असंख्यातगुणा होना स्पष्ट ही है। अतः प्रकृतिभेदों से स्थिति के भेद असंख्यातगुणे बताये हैं।

इन स्थिति के भेदों से भी स्थितिबंध में हेतुभूत अध्यवसाय—स्थिति-बंधाध्यवसायस्थान असंख्यातगुणे हैं—‘तत्तो वि ठिइबंधज्जवसाया’। कषाय के उदय से होने वाले जीव के जिन परिणामविशेषों से स्थिति-बंध होता है, उन परिणामों को स्थितिबंधाध्यवसाय कहते हैं। एक-एक स्थितिबंध के कारणभूत ये अध्यवसाय—परिणाम अनेक होते हैं। क्योंकि सबसे जघन्य स्थिति का बंध भी असंख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण अध्यवसायों से होता है। जब एक जीव की अपेक्षा ही यह स्थिति बनती है तब अनेक जीवों की अपेक्षा से असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थितिबंधाध्यवसायस्थानों का होना स्वतः सिद्ध है। अतः स्थिति के भेदों से स्थितिबंधाध्यवसायस्थान असंख्यातगुणे होते हैं।

इन स्थितिबंधाध्यवसायस्थानों से भी अनुभागबंधाध्यवसायस्थान—अनुभागबंध में हेतुभूत अध्यवसाय असंख्यातगुणे हैं—‘तत्तो अणुभाग-बंधठाणाणि’। इसका तात्पर्य यह है कि अनुभागबंध में आश्रयभूत, हेतु-भूत कषायोदयमिश्रित लेश्याजन्य जीव के परिणामविशेष जो कि जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से आठ समय रहने वाले होते हैं, वे परिणाम स्थितिबंध के हेतुभूत अध्यवसायों से असंख्यातगुणे हैं। इसका कारण यह है कि स्थितिबंध के हेतुभूत एक-एक अध्यवसाय में तीव्र और मंद आदि भेदरूप कृष्णादि लेश्या के परिणाम जो कि अनुभाग-

बंध में हेतु हैं, असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं। इसलिये स्थितिबंध के हेतुभूत अध्यवसायों से अनुभागबंध के हेतुभूत अध्यवसाय असंख्यातगुणे होते हैं।

इन अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों से अनन्तगुणे कर्मस्कंध हैं। अर्थात् किसी भी विवक्षित एक समय में एक अध्यवसाय से ग्रहण किये कर्मदलिक के परमाणु अनन्तगुणे हैं—‘तत्तो कम्मपएसणंतगुणा’। क्योंकि एक जीव द्वारा एक समय में ग्रहण किये गये कर्मदलिक की एक-एक वर्गणा में अभव्य से अनन्तगुणे परमाणु होते हैं और एक जीव एक समय में अभव्यराशि से अनन्तगुणे और सिद्धराशि के अनन्तवें भाग प्रमाण कर्मस्कंधों को ग्रहण करता है। अतः अनुभागबंधाध्यवसाय-स्थानों से जिनका प्रमाण असंख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण बतलाया है, उनसे अनन्तगुणे कर्मस्कंध स्वतः सिद्ध हो जाते हैं।

इन कर्मप्रदेशों से भी अनन्तगुणे रसच्छेद या रस से अविभागी प्रतिच्छेद, रसाणु (अनुभागाणु) हैं—‘तो रसच्छेया’। इसका कारण यह है कि अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों के द्वारा कर्मपुद्गलों में रस-अनुभाग-शक्ति पैदा होती है। यदि एक परमाणु में विद्यमान रस-अनुभागशक्ति को केवलज्ञान के द्वारा छेदा जाये तो उसमें समस्त जीवराशि से अनन्तगुणे अविभाग प्रतिच्छेद—रसच्छेद पाये जाते हैं और समस्त जीवराशि अनन्त है। इसीलिये कहा है कि समस्त कर्मस्कन्धों के प्रत्येक परमाणु में समस्त जीवराशि से अनन्तगुणे रसच्छेद होते हैं। इस प्रकार बंध और उनके कारणों का अल्पबहुत्व जानना चाहिये।^१

इस प्रकार से अनुभागबंध के स्वरूप का विवेचन जानना चाहिये।

१ इसी प्रकार दि. कर्मग्रंथों में भी योगस्थानादि का अल्पबहुत्व बताया है। देखिये दि. पंचसंग्रह शतक अधिकार गाथा—५१६-५१६।

प्रदेशबंध

अब क्रम प्राप्त प्रदेशबंध के स्वरूप का विचार प्रारम्भ करते हैं। उसके विचार के तीन अनुयोगद्वार हैं—१ भाग-विभागप्रमाण, २ सादि-अनादि प्ररूपणा, ३ स्वामित्व प्ररूपणा। इनमें से पहले भाग-विभागप्रमाण का विचार प्रारम्भ करने के प्रसंग में सर्वप्रथम आकाश प्रदेशों पर रही हुई कर्मवर्गणाओं को जिस तरह जीव ग्रहण करता है, उसको बतलाते हैं।

जीव द्वारा कर्मवर्गणाओं के ग्रहण करने की प्रक्रिया

एगपएसोगाढे सव्वपएसेहि कम्मणोजोगे ।

जीवो पोग्गलदव्वे गिण्हइ साई अणाई वा ॥७७॥

शब्दार्थ—एगपएसोगाढे—एक आकाशप्रदेश में अवगाढ रूप से रहे हुए, सव्वपएसेहि—सर्व प्रदेशों से, कम्मणोजोगे—कर्म के योग्य, जीवो—जीव, पोग्गलदव्वे—पुद्गलद्रव्य को, गिण्हइ—ग्रहण करता है, साई—सादि, अणाई—अनादि, वा—अथवा ।

गाथार्थ—अभिन्न एक आकाश में अवगाढ रूप से रहे हुए कर्म के योग्य पुद्गलद्रव्य को जीव अपने सर्व प्रदेशों से ग्रहण करता है। वह पौद्गलिक ग्रहण सादि अथवा अनादि होता है।

विशेषार्थ—गाथा में सकर्मा जीव द्वारा पुद्गलद्रव्य के ग्रहण की प्रक्रिया बतलाई है—

जगत में पुद्गल द्रव्य दो प्रकार के हैं। एक तो वे जो कर्मरूप से

१ तुजना कीजिये—

एयक्खेत्तो गाढं सव्वपदेसेहि कम्मणो जोगं ।

बंधइ जहुत्तहेउं सादिय महण्णादियं चावि ॥

दि. पंचसंग्रह शतक अधिकार ४६४

परिणत हो सकें और दूसरे वे जो कर्मरूप में परिणत न हो सकें। उनमें परमाणु और दो प्रदेशों से बने हुए स्कन्धों से लेकर मनोवर्गणा के बाद की अग्रहण प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा^१ तक के समस्त स्कन्ध कर्म-अयोग्य हैं, यानी जीव वैसे स्कन्धों को ग्रहण करके उन्हें ज्ञानावरण आदि कर्मरूप में परिणत नहीं कर सकता है। लेकिन उसके बाद के एक-एक अधिक परमाणु से बने हुए स्कन्धों से लेकर उन्हीं की उत्कृष्ट वर्गणा तक के स्कन्ध ग्रहण योग्य हैं। वैसे स्कन्धों को ग्रहण करके उन्हें ज्ञानावरणादि रूप में परिणत कर सकता है। तत्पश्चाद्वर्ती एक-एक अधिक परमाणु से बने हुए स्कन्धों से लेकर महास्कन्ध वर्गणा तक के सभी स्कन्ध कर्म के अयोग्य हैं।

इस प्रकार के पुद्गल द्रव्यों में से कर्मयोग्य पुद्गल द्रव्यों को कर्म रूप से परिणत करने के लिए जीव जिस प्रकार से ग्रहण करता है, अब उसको बतलाते हैं—

‘एगपएसोगाढे’ अर्थात् एकप्रदेशावगाढ पुद्गलों को ग्रहण करता है। तात्पर्य यह हुआ कि एकप्रदेशावगाढ यानी जिन आकाश प्रदेशों में आत्मा के प्रदेश अवगाही रूप से रहे हुए हैं, उन्हीं आकाश प्रदेशों में जो कर्म योग्य पुद्गलद्रव्य अवगाही रूप से विद्यमान हैं, उन पुद्गल-द्रव्यों को जीव ग्रहण करता है। अन्य प्रदेशों में रहे हुए पुद्गलद्रव्यों को ग्रहण नहीं करता है। इसका आशय यह हुआ कि जिन आकाश प्रदेशों में अवगाहन करके जीव रहा हुआ है, उन्हीं आकाश प्रदेशों में अवस्थित कर्मयोग्य वर्गणाओं को ग्रहण करके वह उनको कर्मरूप से परिणत कर सकता है। किन्तु जिन आकाश प्रदेशों में जीव का अवगाह नहीं, उन आकाश प्रदेशों में अवगाहित कर्मयोग्य वर्गणाओं को

१ वर्गणाओं का वर्णन पंचम कर्मग्रंथ में विस्तार से किया गया है। देखिये गाथा ७५, ७६, ७७।

ग्रहण करने और कर्मरूप में परिणमित करने की शक्ति उसमें असम्भव है ।

कर्मबंध करने वाले प्रत्येक जीव के लिए यह सामान्य स्थिति है कि कोई भी जीव स्वयं जिन आकाश प्रदेशों में अवगाहित है—अवस्थित है, उन्हीं आकाश प्रदेशों का अवगाहन करके रही हुई कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करके उन्हें कर्मरूप से परिणमित करता है । जिसको अत्यधिक समानता होने से अग्नि के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं कि जैसे अग्नि जलाने योग्य अपने क्षेत्र में रहे हुए काष्ठ आदि पुद्गल द्रव्यों को ही अग्नि रूप में परिणमित कर सकती है किन्तु पर क्षेत्र में रहे हुए पदार्थों को परिणत नहीं करती है । उसी प्रकार जीव भी स्वप्रदेशावगाढ कर्मयोग्य पुद्गल द्रव्यों को ही ग्रहण करने और कर्मरूप में परिणत करने में समर्थ है, परन्तु स्वयं जिन आकाशप्रदेशों का अवगाहन करके नहीं रहता है, उन आकाश प्रदेशों का अवगाहन करके रहे हुए कर्मपुद्गलों को ग्रहण कर, कर्मरूप में परिणमित करने में समर्थ नहीं है । क्योंकि वे उसके अधिकार क्षेत्र से बाहर रहे हुए हैं ।

इस प्रकार जीव एकप्रदेशावगाढ कर्मयोग्य पुद्गलद्रव्यों को ग्रहण करता है । उनको ग्रहण करने की प्रक्रिया यह है कि 'सव्वपए-सेहि'—अपने समस्त आत्मप्रदेशों द्वारा उन कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है । जिसका तात्पर्य इस प्रकार है—

जीव के समस्त प्रदेश शृंखला से अवयवों की तरह परस्पर शृंखलित हैं—परस्पर सांकल की कड़ी से कड़ी की तरह एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं । इसलिये जीव का एक प्रदेश जब स्वक्षेत्रावगाढ कर्मयोग्य पुद्गलद्रव्य को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है तब अन्य प्रदेश भी उन पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण करने के लिये अनन्तर और परम्परा रूप से प्रयत्न करते हैं । यह अवश्य होता है कि उनके प्रयत्न मंद, मंदतर और मंदतम हों । जैसे घटादि किसी वस्तु को ग्रहण करने के लिये हाथ प्रयत्न करता है, तब वहाँ अधिक क्रिया होती है और दूर रहे

हुए मणिबंध, कोहनी, कन्धा आदि में अनुक्रम से अल्प-अल्प क्रिया होती है। यानी क्रिया में अल्पाधिकता हो सकती है परन्तु प्रयत्न समस्त प्रदेशों में होता है।

इस प्रकार जब समस्त जीवप्रदेश स्वक्षेत्रावगाढ कर्मयोग्य द्रव्यों को ग्रहण करने के लिये प्रयत्न करते हैं तब समस्त जीवप्रदेश अनन्तर और परम्परा से संपूर्णतया प्रयत्न करते हैं। ऐसा नहीं होता है कि कोई प्रदेश तो योग्य पुद्गलों को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है और अन्य प्रदेश प्रयत्न नहीं करते हैं, परन्तु प्रत्येक समय समस्त जीव प्रदेश प्रयत्न करते हैं। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये ग्रन्थकार आचार्य ने कहा है कि सर्वप्रदेशों द्वारा ग्रहण करता है।

उक्त समग्र कथन का सारांश यह है कि समस्त लोक पुद्गलद्रव्य से ठसाठस भरा हुआ है और वह पुद्गलद्रव्य अनेक वर्गणाओं में विभाजित है। उक्त वर्गणाओं में से कर्मवर्गणाओं को जीव ग्रहण करता है। किन्तु प्रत्येक जीव उन्हीं कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करता है जो उसके अत्यन्त निकट होती हैं—एकक्षेत्रावगाही हैं। जैसे अग्नितप्त लोहे के गोले को पानी में डाल देने पर वह उसी जल को ग्रहण करता है, जो उसके गिरने के स्थान पर है, उसे छोड़कर अन्यत्र दूरवर्ती जल को ग्रहण नहीं करता है। इसी प्रकार जीव भी जिन आकाशप्रदेशों में स्थित है, उन्हीं आकाशप्रदेशों में विद्यमान कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करता है तथा वह तपा हुआ गोला जल में गिरने पर चारों ओर से पानी को खींचता है, उसी तरह जीव भी सर्व आत्मप्रदेशों से कर्मों को ग्रहण करता है। ऐसा नहीं होता है कि आत्मा के अमुक भाग से ही कर्मों का ग्रहण करता हो। इस प्रकार से जीव द्वारा कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करने की प्रक्रिया जानना चाहिये।

अब यदि जीव द्वारा ग्रहण किये जाते उन कर्मयोग्य पुद्गलद्रव्यों का नियत देश, काल और स्वरूप की दृष्टि से विचार किया जाये तो ग्रहण की अपेक्षा वे सादि हैं। क्योंकि वैसे स्वरूप वाले वे पुद्गलद्रव्य

उसी समय ही ग्रहण किये गये हैं और यदि मात्र कर्मरूपपरिणाम की दृष्टि से प्रवाहापेक्षा विचार किया जाये तो अनादि हैं। क्योंकि संसारी जीव अनादिकाल से कर्मपुद्गलों को ग्रहण करते रहते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि कर्म प्रतिसमय बंधते रहने की अपेक्षा सादि हैं और प्रवाह की अपेक्षा अनादि हैं।

इस प्रकार से भाग-विभाग प्ररूपणा करने की पूर्वभूमिका के रूप में जीव द्वारा कर्मप्रदेशों को ग्रहण करने की प्रक्रिया का विचार किया।^१ अब एक अध्यवसाय द्वारा ग्रहण किये गये कर्मदलिक के भाग-विभाग की प्ररूपणा करते हैं।

कर्मदलिक भाग-विभाग प्ररूपणा

कमसो बुड्ढठिईणं भागो दलियस्स होइ सविसेसो ।

तइयस्स सव्वजेट्ठो तस्स फुडत्तां जओ णप्पे ॥७८॥

शब्दार्थ—कमसो—क्रमशः, बुड्ढठिईणं—अधिक स्थिति वाले कर्मों का, भागो—भाग, दलियस्स—दलिक का, होइ—होता है, सविसेसो—सविशेष, अधिक, तइयस्स—तीसरे वेदनीयकर्म का, सव्वजेट्ठो—सबसे अधिक, तस्स—उसका, फुडत्तां—स्फुटत्व, व्यक्तवेदन, जओ—क्योंकि, णप्पे—अल्प होने पर नहीं होता है।

गाथार्थ—अधिक स्थितिवाले कर्मों का दलिक-भाग क्रमशः अधिक होता है। मात्र तीसरे वेदनीयकर्म का भाग सबसे ज्येष्ठ-अधिक होता है, क्योंकि अल्प भाग होने पर उसका स्फुटत्व-व्यक्त-वेदन नहीं हो सकता है।

१ इसी प्रकार कर्मप्रकृति बंधनकरण गा. २१ में कथन किया है—

एगमाव गहणदब्बं सव्वप्पणयाए जीवदेसम्मि ।

सव्वप्पणयासव्व-त्थवावि सव्वे गहणखंठे ॥

विशेषार्थ—बध्यमान कर्मों को प्राप्त होने वाले दलिकों के भाग-विभाग के नियम का माथा में निर्देश किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जिस प्रकार पेट में जाने के बाद भोजन रस, रुधिर आदि रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार जीव द्वारा किसी भी विवक्षित समय में एक अध्यवसाय द्वारा ग्रहण किये गये दलिक—कर्मपरमाणुओं का समूह—उसी समय उतने हिस्सों में बंट जाता है, जितने कर्मों का बंध उस समय उस जीव ने किया है। उस ग्रहीत कर्मपरमाणुओं के समूह में से जिस-जिस कर्म की स्थिति अधिक होती है, उस स्थिति की अधिकता के अनुसार अनुक्रम से उस-उस कर्मप्रकृति को अधिक-अधिक दलिकभाग प्राप्त होता है। अर्थात् अधिक-अधिक स्थिति वाले कर्म का भाग अनुक्रम से विशेष-विशेष होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस कर्म की स्थिति अधिक है, उस क्रम से उसका भाग भी अधिक होता है और जिसकी स्थिति अल्प हो उसका भाग भी अल्प।

स्थितिबंधप्ररूपणा के प्रसंग में यह बताया जा चुका है कि दूसरे समस्त कर्मों की अपेक्षा आयुकर्म की स्थिति सबके अल्प—मात्र तेतीस सागरोपम प्रमाण है। अतः आयुकर्म का भाग सबसे अल्प होता है। उससे नाम और गोत्र कर्म का विशेषाधिक है। क्योंकि उनकी स्थिति उत्कृष्ट से बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। किन्तु इन दोनों की स्थिति समान होने से उन्हें हिस्सा भी बराबर मिलता है। अर्थात् जितना भाग नामकर्म का होता है, उतना ही भाग गोत्रकर्म का है।

नाम और गोत्र की अपेक्षा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का भाग विशेषाधिक है। क्योंकि इन तीनों की उत्कृष्ट स्थिति तीस-तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। अतः नाम और गोत्र से इन तीनों कर्मों को अधिक भाग प्राप्त होता है। लेकिन इन तीनों कर्मों की स्थिति समान है, अतः स्वस्थान में इनका भाग बराबर-बराबर है।

मोहनीयकर्म की स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होने से इन तीनों कर्मों से भी उसका भाग अधिक है ।

स्थिति के अनुसार कर्मों को अपना-अपना भाग प्राप्त करने का उक्त सामान्य नियम है ।^१ लेकिन उसमें वेदनीयकर्म अपवाद रूप है । यद्यपि तीसरे वेदनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों के समान तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है । जो मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति से आधी भी नहीं है । फिर भी उसका भाग सबसे अधिक है और उसका भाग सबसे अधिक होने का कारण यह है कि तीसरे वेदनीयकर्म के हिस्से में यदि अल्प दलिक आयें तो सुख-दुःखादि का स्पष्ट अनुभव नहीं हो सकता है । यानि वेदनीयकर्म द्वारा जो स्पष्ट रूप से सुख-दुःख का अनुभव होता है वह यदि उसके भाग में अल्प दलिक आयें तो न हो । वह अधिक पुद्गल मिलने पर ही अपना कार्य करने में समर्थ है । अल्पदल होने पर वेदनीय प्रगट ही नहीं होता है । इसी कारण उसे सबसे अधिक भाग मिलता है—‘तस्स फुडत्तं जओ णप्पे’ ।

मूलकर्मों को भाग प्राप्त होने का उक्त विचार एक अध्यवसाय द्वारा ग्रहण की गई कर्मवर्गणाओं की अपेक्षा समझना चाहिये । जिसका कारण उस एक अध्यवसाय का विचित्रतागर्भित होना है । यदि ऐसा न हो तो कर्म में विद्यमान विचित्रता सिद्ध ही न हो । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिये—

यदि अध्यवसाय एक ही स्वरूप वाला हो तो उसके द्वारा ग्रहण किया गया कर्म भी एक स्वरूप वाला ही होना चाहिये । क्योंकि कारण

-
- १ स्थिति और प्रदेश बंध के हेतु क्रमशः कषाय और योग हैं । अतएव यहाँ यह समझना चाहिए कि कषायोदय से अनुरजित योगप्रवृत्ति द्वारा स्थिति में वृद्धि होने के साथ-साथ अधिक कर्मप्रदेशों का बंध होता है । तभी उस-उस कर्म को अधिक कर्मप्रदेशों की प्राप्ति संभव है ।

के भेद के बिना कार्य का भेद नहीं होता है। यदि कारण के भेद बिना कार्य का भेद हो तो अमुक कार्य का अमुक कारण है, यह नियत सम्बन्ध नहीं बन सकता है। यहाँ ज्ञानावरणादि के भेद से कर्म में अनेक प्रकार की विचित्रता है, इसलिये उसके हेतुभूत अध्यवसाय को भी शुद्ध एक स्वरूप वाला नहीं परन्तु अनेक स्वरूप वाला मानना चाहिये। वह चित्रतागर्भित^१ एक अध्यवसाय उस उस प्रकार की द्रव्य, क्षेत्र, कालादि सामग्री के आधार से संक्लेश अथवा विशुद्धि को प्राप्त होते हुए भी किसी समय आठ कर्म का बंधहेतु होता है, किसी समय सात कर्म का, किसी समय छह कर्म का और किसी समय एक कर्म का ही बंधहेतु होता है।

एक अध्यवसाय से ग्रहण किये गये कर्मदलिक का ज्ञानावरणादिक आठ कर्मों के बंधरूपेण परिणत होने का कारण यह है कि आत्मा का अध्यवसाय ही उस प्रकार का होता है, जिसके द्वारा एक अध्यवसाय से ग्रहण किया गया कर्मदलिक आठ आदि प्रकार के बंध रूप से परिणत होता है। जैसे कुम्भकार मिट्टीपिण्ड के द्वारा सराब आदि अनेक आकृतियों को परिणत करता है। क्योंकि उसका उस प्रकार का परिणाम है। इसी प्रकार एक परिणाम द्वारा बांधा गया कर्मदलिक भी ज्ञानावरणादिक आठ कर्मबंध रूप परिणाम को प्राप्त करता है।

- १ जिसमें अनेक प्रकार के कार्य करने रूप विचित्रता रही हुई हो, उसे चित्रतागर्भ करते हैं। यहाँ अध्यवसाय को चित्रतागर्भ कहने का अर्थ यह हुआ कि अनेक प्रकार के विचित्र कार्य उत्पन्न करे ऐसा वह है। यदि ऐसा न हो तो कर्म में अल्पाधिक स्थिति, रस, दलिक प्राप्ति होने रूप विचित्रता न हो और शुद्ध एक अध्यवसाय हो तो एक जैसा—सदृश कार्य ही हो। चित्रतागर्भ अध्यवसाय के होने में कर्म का उदय कारण है। प्रति समय आठों कर्म का उदय हो तो वे समान स्थिति एवं रस वाले नहीं होते हैं। उनका एवं विचित्र द्रव्य-क्षेत्रादि का असर आत्मा पर होता है। जिससे अध्यवसाय विचित्र होता है और उससे कर्मबंध रूप कार्य भी विचित्र होता है।

इस प्रकार से आठ प्रकार के कर्मबंध की भाग-विभाग की विधि जानना चाहिये । यह विधि सात प्रकार के कर्मबंध में और छह के बंध में भी समझ लेना चाहिये । अर्थात् उन सात अथवा छह प्रकार के कर्मों का बंध होने पर जिसकी स्थिति अधिक हो उसका भाग अधिक और जिसकी स्थिति कम हो उसका भाग कम समझना ।^१

अब इसी बात को ग्रन्थकार आचार्य विशेषता के साथ स्पष्ट करते हैं—

जं समयं जावइयाइं बंधए ताण एरिसविहीए ।

पत्तोयं पत्तोयं भागे निव्वत्तए जीवो ॥७६॥

१ यहाँ सामान्य से विभाग का क्रम बताया है कि अमुक कर्म को अधिक और अमुक को कम भाग मिलता है । किन्तु गो. कर्मकाण्ड में इस क्रम को बताने के साथ-साथ विभाग करने की रीति भी बतलाई है—

बहुभागे समभागो अट्ठण्हं होदि एक भागम्हि ।

उत्तकमो तत्थवि बहुभागे बहुगस्स देओ दु ॥१६५॥

अर्थात् बहुभाग के समान आठ भाग करके आठों कर्मों को एक-एक भाग देना चाहिये । शेष एक भाग का पुनः बहुभाग करके और वह बहु भाग बहुत हिस्से वाले कर्म को देना चाहिए ।

इस रीति के अनुसार एक समय में जितने पुद्गलद्रव्य का बंध हो, उसमें आवली के असंख्यातवें भाग से भाग देकर एक भाग को अलग रख शेष बहुभाग के आठ समान भाग कर आठों कर्मों को देना चाहिये । इसके बाद शेष एक भाग में पुनः आवली के असंख्यातवें भाग से भाग देकर एक भाग अलग रख बहु भाग वेदनीय कर्म को देना चाहिए । इसी रीति से आने बहु भाग उत्तरोत्तर अधिक स्थिति वाले कर्म को देना चाहिए और उनमें जो समान स्थिति वाले हों तो प्राप्त भाग उतने समान हिस्सों में बांट देना चाहिए ।

शब्दार्थ—जं समयं—जिस समय, जावइयाइ—जितने कर्मों को, बंधए—बांधता है, ताण—उनकी, एरिसविहीए—इस प्रकार की विधि से, पत्तेयं पत्तेयं—प्रत्येक को, एक-एक को, भागे—भाग, निव्वत्तए—निवर्तित करता है, जीवो—जीव ।

माथार्थ—जिस समय जितने कर्मों को बांधता है, उस समय इसी प्रकार की विधि से उनमें से प्रत्येक को जीव भाग देता है ।

विशेषार्थ—गाथा में कर्मदल के भाग-विभाग की प्ररूपणा का सरलता से बोध कराने के लिए विस्तार से विचार किया गया है—

‘जं समयं जावइयाइ’ अर्थात् जिस समय एक अध्यवसाय द्वारा जितनी कर्म प्रकृतियों का बंध होता है, उतनी कर्म प्रकृतियों में वह दलिक विभाजित हो जाता है और वह बद्ध दलिक अधिक से अधिक ज्ञानावरणादि आठ मूलकर्म प्रकृतियों में बांटा जाता है ।

पूर्व में यह बताया जा चुका है कि आयुकर्म का बंध सर्वदा नहीं होता है और जब होता है तो अन्तर्मुहूर्त तक होता है, उसके बाद नहीं होता है । अतः जिस समय जीव आयुकर्म का बंध करता है, उस समय जो कर्मदल ग्रहण किया जाता है, उसके आठ भाग हो जाते हैं । किन्तु जिस समय आयुकर्म का बंध नहीं होता, उस समय जो कर्मदल ग्रहण करता है, उसका बटवारा आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों में होता है और जब दसवें सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में आयु और मोहनीय कर्म के सिवाय शेष छह कर्मों का बंध करता है, उस समय ग्रहण किये गये कर्मदल के छह भाग हो जाते हैं और जिस समय एक (वेदनीय) कर्म का ही बंध करता है, उस समय गृहीत कर्मदल उस एक कर्मरूप हो जाता है । जो इस प्रकार जानना चाहिये—

सर्वत्र वेदनीयकर्म का भाग सर्वाधिक होता है और शेष कर्मों का भाग स्थिति की वृद्धि के अनुरूप अधिक-अधिक होता है । अर्थात्

जिसकी स्थिति अधिक, उसको भाग अधिक और जिसकी स्थिति थोड़ी, उसका भाग अल्प होता है। जब आठ प्रकार के कर्मबंध में हेतुभूत अध्यवसाय प्रवर्तमान होता है, तब उसके कारण गृहीत दलिक को जीव आठ भागों में विभाजित करता है। जिसका विस्तार से विचार पूर्व में किया जा चुका है।

अब सात कर्मों के भाग-विभाग का विचार करते हैं कि जब सात कर्म के बंध में हेतुभूत अध्यवसाय प्रवर्तमान होता है, तब उसके कारण ग्रहण किया गया कर्मदलिक सात कर्मों में विभाजित करता है। उसमें नाम और गोत्र कर्म का भाग सबसे अल्प किन्तु स्वस्थान में परस्पर तुल्य है। उनसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का भाग अधिक है। क्योंकि नाम और गोत्र से उनकी स्थिति अधिक है। किन्तु स्वस्थान में परस्पर एक-दूसरे का भाग समान है। उनसे भी मोहनीय का भाग विशेषाधिक है। क्योंकि ज्ञानावरणादि से भी उसकी स्थिति अधिक है और उससे भी वेदनीय का भाग विशेषाधिक है। वेदनीयकर्म का सर्वोत्कृष्ट भाग होने के कारण को पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है।

अब छह कर्मों के भाग-विभाग को बतलाते हैं कि छह कर्म के बंध में हेतुभूत अध्यवसाय के कारण बांधे गये कर्मदलिक के छह भाग होते हैं। यानी उसको छह भागों में विभाजित कर देता है। उसमें भी भाग-विभाग का विचार पूर्व के समान जानना चाहिए। यथा नाम और गोत्र का भाग अल्प किन्तु परस्पर तुल्य। उनसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का भाग अधिक किन्तु स्वस्थान में इन तीनों का परस्पर तुल्य और इनसे भी वेदनीय का भाग अधिक है।

लेकिन जब मात्र एक वेदनीयकर्म का बंध हो तब योगवशान् बांधा गया जो कुछ भी कर्मदलिक हो, वह सबका सब उस बंधने वाले सातावेदनीय रूप ही परिणमित होता है।

उक्त समग्र कथन का तात्पर्य यह हुआ कि जैसे-जैसे जीव अल्प अल्प प्रकृतियों को बांधे तो उन बध्यमान प्रकृतियों का भाग अधिक होता है और यदि अधिक-अधिक प्रकृतियों को बांधे तो अल्प-अल्प भाग होता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जह जह य अप्पपगईण बंधगो तहतहत्ति उक्कोसं ।

कुव्वइ पएसबंधं जहन्नयं तस्स वच्चासा ॥८०॥

शब्दार्थ—जह जह—जैसे-जैसे, अप्पपगईण—अल्प प्रकृतियों का, बंधगो—बंधक, तहतहत्ति—वैसे-वैसे, उक्कोसं—उत्कृष्ट, कुव्वइ—करता है, पएसबंधं—प्रदेशबंध, जहन्नयं—जघन्य, तस्स—उसके, वच्चासा—विपरीत-पने से।

गाथार्थ—जैसे-जैसे जीव अल्प प्रकृतियों का बंधक होता है वैसे-वैसे उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है और उसके विपरीतपने से विपरीत अर्थात् जघन्य प्रदेशबंध करता है।

विशेषार्थ—‘जह जह य अप्पपगईण’ अर्थात् जैसे-जैसे जीव मूल या उत्तर प्रकृतियों में से अल्प प्रकृतियों का बंधक होता है, वैसे-वैसे बध्यमान उन प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है। क्योंकि जैसे-जैसे अल्प-अल्प प्रकृतियों को बांधे तो जो-जो प्रकृतियां उस समय बंधती नहीं हैं, उनका भाग भी बध्यमान उन-उन प्रकृतियों को प्राप्त होता है। इसलिए अल्प प्रकृतियों का बंध होता हो तब उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है। लेकिन—

‘जहन्नयं तस्स वच्चासा’ अर्थात् पूर्व में जो कहा गया है, उसके विपरीतपने से जघन्य प्रदेशबंध करता है। अर्थात् जैसे-जैसे अधिक मूल या उत्तर प्रकृतियों का बंध करने वाला होता है, तो जघन्य प्रदेशबंध करता है। क्योंकि प्रकृतियों की अधिकता से भाग अधिक हो जाने के कारण उन उनको अल्प-अल्प भाग मिलता है।

इस प्रकार कारण सहित उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध की संभावना को जानना चाहिए। अब जिन प्रकृतियों का स्वतः—अन्य प्रकृ-

तियों का भाग प्राप्त हुए बिना, परतः—अन्य प्रकृतियों का भाग प्राप्त होने से और उभयतः—दोनों प्रकारों से उत्कृष्ट प्रदेशबंध सम्भव है, उसका विचार करते हैं ।

स्वतः परतः उभयतः संभव उत्कृष्ट प्रदेशबंध

नानंतराइयाणं परभागा आउगस्स नियगाओ ।

परमो एसबंधो सेसाणं उभयओ होइ ॥८१॥

शब्दार्थ—नानंतराइयाणं—ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म का, परभागा—परभाग से, आउगस्स—आयुर्कर्म का, नियगाओ—स्वतः, परमो—उत्कृष्ट, एसबंधो—प्रदेशबंध, सेसाणं—शेष कर्मों का, उभयओ—उभयतः, होइ—होता है ।

गाथार्थ—ज्ञानावरण और अन्तराय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध परतः—अन्यकर्म का भाग प्राप्त होने से, आयुर्कर्म का स्वतः—अपने भाग से ही और अवशिष्ट प्रकृतियों का उभयतः उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है ।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार आचार्य ने यहाँ उन-उन कर्मों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध होने की सामग्री का निर्देश किया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

‘नानंतराइयाणं परभागा’ अर्थात् ज्ञानावरण और अन्तराय इन दो कर्मों की प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध परतः—अन्य प्रकृतियों के भाग का प्रवेश होने से होता है । इसका कारण यह है कि आयु और मोहनीय कर्म का बंधविच्छेद होता है तब उस-उस समय बंधी हुई कर्मणवर्गणाओं का मोहनीय और आयु रूप में परिणमन नहीं होता है । जिससे जितने कर्मों का बंध होता है उतने ही कर्म रूप में उनका परिणमन होता है । इसलिये इन दोनों कर्मों के भाग का प्रवेश होने से ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म की प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध होना बताया है, किन्तु स्वजातीय किसी भी उत्तर प्रकृति के भाग का

प्रवेश होने से इन दोनों कर्मों की प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध नहीं होता है। क्योंकि जानावरण और अन्तराय इन दोनों कर्मों की उत्तर प्रकृतियों का एक साथ बंधविच्छेद होता है। तथा—

‘आउगस्स नियगाओ’ अर्थात् आयु का अपनी स्वजातीय प्रकृति को प्राप्त भाग के प्रवेश द्वारा ही उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है। जो इस प्रकार समझना चाहिये—आयुकर्म के बंध के समय जीव आठों मूल प्रकृतियों का बंधक होता है। इसलिये अन्य प्रकृति के भाग का प्रवेश होने से उसका उत्कृष्ट प्रदेशबंध नहीं होता है। किन्तु स्वजातीय प्रकृति द्वारा लभ्य भाग के प्रवेश द्वारा ही होता है। इसका कारण यह है कि आयु-कर्म के अवान्तर भेद चार हैं और तथाप्रकार का जीवस्वभाव होने से एक समय चार में से किसी भी एक आयु का ही बंध होता है, अधिक का बंध नहीं होता है। जिससे शेष तीन आयु का भाग भी बध्यमान किसी एक ही आयु को प्राप्त होता है। इसलिये स्वकीय—स्वजातीय प्रकृति द्वारा लभ्य-प्राप्त करने योग्य भाग के प्रवेश द्वारा ही उसका उत्कृष्ट प्रदेशबंध संभव है। तथा—

‘सेसाणं उभयओ होइ’ अर्थात् पूर्वोक्त से शेष रहे दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, नाम और गोत्र इन पांच कर्मों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध स्वकीय—अपनी स्वजातीय और परकीय—अन्य प्रकृतियों के भाग का प्रवेश होने से, इस प्रकार दोनों रूप से होता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मोहनीयकर्म की कुछ एक प्रकृतियों का आयुबंध के विच्छेदकाल में उस आयु के भाग का प्रवेश होने से उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है और कितनी ही प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध स्वजातीय प्रकृतियों का बंध-विच्छेद होने के बाद उन विच्छन्न हुई प्रकृतियों के भाग का प्रवेश होने से होता है। इसी प्रकार दर्शनावरण, वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के लिये भी समझ लेना चाहिये।

उक्त कथन का सारांश यह हुआ कि ज्ञानावरण और अन्तराय के सिवाय प्रत्येक कर्म में स्वजातीय अबद्धमान प्रकृति के भाग के दलिकों की प्राप्ति द्वारा एवं अन्य नहीं बंधने वाले कर्म के भाग के दलिकों की प्राप्ति द्वारा प्रदेशबंध में वृद्धि होती है। ज्ञानावरण और अन्तराय की पांच-पांच प्रकृतियां होने और एक साथ उनका बंधविच्छेद होने से सजातीय प्रकृति के भाग के दलिकों की प्राप्ति द्वारा तो नहीं किन्तु परप्रकृति के भाग के दलिकों की प्राप्ति द्वारा ही प्रदेशबंध में वृद्धि होती है। जब आयुर्कर्म सहित आठों कर्मों का बंध होता हो, उस समय मोहनीय, वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु में सजातीय नहीं बंधने वाली प्रकृति के भाग के दलिकों के आने से और आयु का बंध न होता हो तब नहीं बंधने वाली स्व तथा पर प्रकृति के भाग के दलिकों की प्राप्ति द्वारा प्रदेशबंध में वृद्धि होती है। दर्शनावरणकर्म की जब सभी नौ प्रकृतियों का बंध होता हो तब तो स्वजातीय प्रकृतियों का भाग प्राप्त नहीं होता है किन्तु जब छह या चार का बंध होता है, तभी स्वजातीय भाग प्राप्त होता है।

पूर्वोक्त प्रकार से प्रदेशबंध में वृद्धि होने की प्रक्रिया का निर्देश करने के बाद अब आयु के विषय में शंकाकार की शंका और उसका समाधान प्रस्तुत करते हैं—

उक्कोसमाइयाणं आउम्मि न संभवो विसेसाणं ।

एवमिणं किंतु इमो नेओ जोगट्ठइविसेसा ॥८२॥

शब्दार्थ—उक्कोसमाइयाणं—उत्कृष्ट आदि की, आउम्मि—आयुर्कर्म में, न संभवो—संभावना नहीं है, विसेसाणं—विशेषों की, एवमिणं—यह इसी प्रकार है, किंतु—किन्तु, इमो—यह, नेओ—जानना चाहिये, जोगट्ठइविसेसा—योग और स्थिति के विशेष से।

गाथार्थ—उत्कृष्ट आदि विशेषों की आयुर्कर्म में संभावना नहीं है। यह इसी प्रकार है, किन्तु योग और स्थिति के विशेष से यह जानना चाहिये।

विशेषार्थ— गाथा के पूर्वार्ध में शंकाकार की शंका और उत्तरार्ध में उसके समाधान का प्रतिपादन किया गया है ।

शंका का रूप इस प्रकार है—

शंका—‘उत्कोसमाइयाणं आउम्मि न संभवो विसेसाणं’ अर्थात् आयुकर्म के सम्बन्ध में उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य रूप विशेष-भेद सम्भव नहीं हैं । इसका कारण यह है कि जब आयुकर्म का बंध होता है तब आठों कर्मों का बंध होने से, उसके बंधकाल में मूल कर्मप्रकृतियों की अपेक्षा उसे सदैव आठवां भाग प्राप्त होता है । अतः न्यायदृष्टि से विचार किया जाये तो सर्वदा उसके भाग में समान ही वर्गणायें प्राप्त होती हैं किन्तु अल्पाधिक नहीं । तो फिर उत्कृष्ट आदि विशेषों की संभवता कैसे हो सकती है ? किस रीति से मानी जा सकती है ?

इस प्रकार से शंका प्रस्तुत किये जाने पर आचार्य उसका समाधान करते हैं—

समाधान—‘एवमिणं’ अर्थात् तुमने जो कहा है, वैसा ही है कि आयुबंध के समय आठों कर्मों का बंध होने से मूल प्रकृति की अपेक्षा सदैव आयु को आठवां भाग प्राप्त होता है । इसलिए उसकी अपेक्षा उत्कृष्ट आदि विशेषों का होना सम्भव नहीं है । हम भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि मात्र आठवां भाग प्राप्त होने की अपेक्षा उसमें तुल्यरूपता—एक-जैसापन है, हीनाधिकता नहीं है । फिर भी आयुकर्म में उत्कृष्टादि रूप जो विशेष हैं वे योग और स्थिति के भेद से समझना चाहिये—‘इमो नेओ जोगट्ठिइविसेसा’ । जिसका स्पष्ट आशय इस प्रकार है—

जब जीव उत्कृष्ट योग में वर्तमान होता है, तब उत्कृष्ट प्रदेश—अधिक से अधिक वर्गणाओं को ग्रहण करता है, मध्यम योग में मध्यम और जघन्य योग में जघन्य—कम से कम वर्गणाओं को ग्रहण करता

है। इस प्रकार होने से आयुर्कर्म का उत्कृष्टादि रूप भाग भी उसके अनुसार ही होता है तथा जब अधिक स्थिति वाले आयुर्कर्म का बंध होता है, तब उसका भाग अधिक होता है और जघन्य स्थिति वाले के बंधने पर भाग भी जघन्य होता है। इस प्रकार योग और स्थिति के भेद से आयुर्कर्म के उत्कृष्टादि रूप विशेष भंग होना सम्भव हैं।

इसी कारण पूर्व गाथा में आयुर्कर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबंध होने की प्रक्रिया का विचार किया गया है।

इस प्रकार से भाग-विभाग प्ररूपणा का विचार करने के अनन्तर अब सादि-अनादि प्ररूपणा करते हैं। वह दो प्रकार की है—१ मूल प्रकृति विषयक और २ उत्तर प्रकृति विषयक। दोनों में से अल्प वक्तव्य होने से पहले मूल प्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा करते हैं।

मूल प्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा

मोहाउयवज्जाणं अणुक्कोसो साइयाइओ होइ।

साई अधुवा सेसा आउमोहाण सव्वेवि ॥८३॥

शब्दार्थ—मोहाउयवज्जाणं—मोहनीय और आयु वर्जित कर्मों का, अण-क्कोसो—अनुत्कृष्ट, साइयाइओ—सादि आदि भेदों वाला, होइ—होता है, साई—सादि, अधुवा—अध्रुव, सेसा—शेष विकल्प, आउमोहाण—आयु और मोहनीय के, सव्वेवि—सभी।

गाथार्थ—मोहनीय और आयु वर्जित छह कर्मों का अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध सादि आदि चारों भेद वाला है और शेष जघन्यादि सादि, अध्रुव हैं तथा आयु और मोहनीय के सभी प्रकार भी सादि और अध्रुव हैं।

विशेषार्थ—उत्कृष्ट आदि बंधप्रकारों का पूर्व में निर्देश किया जा चुका है। प्रदेशबंध के सन्दर्भ में भी उन्हीं बंधप्रकारों के सादि-

अनादि आदि विकल्पों का विचार किया जा रहा है। मूल प्रकृतियों की अपेक्षा जो इस प्रकार है—

‘मोहाउयवज्जाण’ अर्थात् मोहनीय और आयु कर्म के सिवाय शेष रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय इन छह कर्मों का अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध ‘साइयाइओ होइ’ सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस प्रकार चारों तरह का होता है तथा उन्हीं छहों के अनुत्कृष्ट से शेष रहे उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य विकल्प सादि और अध्रुव हैं—‘साइ अध्रुवो सेसा’।

अब पूर्वोक्त छह कर्मों से शेष रहे मोहनीय और आयु कर्म के प्रदेश-बंध के बंधप्रकारों के विकल्पों को बतलाते हैं कि ‘आउमोहाण सव्वेवि’ अर्थात् आयु और मोहनीय कर्म के जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ये सभी भेद सादि और अध्रुव होते हैं।

इस प्रकार सामान्यतः मूल प्रकृतियों के उत्कृष्ट आदि भेदों के विकल्पों का निर्देश करने के बाद अब कारण सहित विस्तारपूर्वक बतलाते हैं। उसमें भी पहले मोहनीय और आयु को छोड़कर छह कर्मों के भेदों का विचार करते हैं—

छब्बंधगस्स उक्कस्स जोगिणो साइ अध्रुव उक्कोसो ।

अणुक्कोस तच्चुयाओ अणाइअध्रुवाध्रुवा सुगमा ॥८४॥

होइ जहन्नोऽपज्जत्तागस्स सुहुमनिगोय जीवस्स ।

तस्समउप्पन्नग सत्ताबंधगस्सप्पविरियस्स ॥८५॥

एकं समयं अजहन्नो तओ साइ अद्ध्रुवा दोवि ।

शब्दार्थ—छब्बंधगस्स—इन छह कर्मों के बंधक के, उक्कस्स जोगिणो—उत्कृष्ट योगी के, साइ—सादि, अध्रुव—अध्रुव, उक्कोसो—उत्कृष्ट, अणुक्कोस—अनुत्कृष्ट, तच्चुयाओ—वहाँ से गिरने पर, अणाइ—अनादि, अध्रुवा—अध्रुव, ध्रुवा—ध्रुव, सुगमा—सुगम हैं।

होइ—होता है, जहन्नी—जघन्य, अपज्जत्तगस्स—अपर्याप्तक के, सुहमनि-
गोयजीवस्स—सूक्ष्म निगोदिया जीव के, तस्समउप्पन्न—उसी समय उत्पन्न
के, सत्तबंधगस्स—सात कर्म के बंधक के, अप्पविरियस्स—अल्प वीर्य वाले,
जघन्य योगी के ।

एक्कं—एक, समयं—समय, अजहन्नी—अजघन्य, तओ—तत्पश्चात्,
साइ—सादि, अध्रुवा—अध्रुव, दोवि—दोनों ही ।

गाथार्थ—इन छह कर्मों के बंधक उत्कृष्ट योगी के उत्कृष्ट
प्रदेशबंध सादि, अध्रुव है । वहाँ से गिरने पर अनुत्कृष्ट होता
है तथा अनादि, अध्रुव और ध्रुव सुगम हैं ।

उसी समय—प्रथम समय—उत्पन्न जघन्य योगी सात कर्म
के बंधक अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के एक समय पर्यन्त
जघन्य प्रदेशबंध होता है, तत्पश्चात् अजघन्य होता है । ये दोनों
सादि, अध्रुव हैं ।

विशेषार्थ—उक्त गाथाओं में आयु और मोहनीय कर्म को छोड़कर
शेष ज्ञानावरण आदि छह कर्मों के उत्कृष्ट आदि चारों बंधप्रकारों के
सादि आदि विकल्प होने के कारण का निर्देश किया है । जिसका
सविस्तार स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

‘छब्बंधगस्स’ अर्थात् मोहनीय और आयु के सिवाय ज्ञानावरणादि
छह कर्मों के बंधक उत्कृष्ट योगी सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानवर्ती क्षपक
अथवा उपशमक जीव के एक अथवा दो समय पर्यन्त मोह और आयु
के बिना छह कर्मों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है । उसके उसी समय
होने से सादि और दूसरे या तीसरे समय विच्छिन्न होने से अध्रुव-
सांत है ।

उक्त उत्कृष्ट प्रदेशबंध के अतिरिक्त अन्य सब प्रदेशबंध अनु-
त्कृष्ट है । वह अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध उत्कृष्ट प्रदेशबंध करके वहाँ से गिरने
पर होता है । जिससे वह सादि है । अथवा उपशांतमोहगुणस्थान में

बंधविच्छेद होने के पश्चात् वहाँ से गिरने पर मन्द योगस्थान में वर्तमान जीव को होता है। इस तरह वह सादि है और अनादि, ध्रुव और अध्रुव तो सुगम हैं। जो इस प्रकार जानना चाहिए कि बंधविच्छेद-स्थान को अथवा उत्कृष्ट प्रदेशबंधस्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया उनके अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध अनादि है और ध्रुव, अध्रुव क्रमशः अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

इस प्रकार आयु और मोहनीय कर्म के बिना शेष छह कर्मों के उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध का विचार करने के बाद जघन्य-अजघन्य का विचार करते हैं।

तत्समयोत्पन्न यानि उत्पत्ति के प्रथम समय में वर्तमान सबसे अल्प वीर्य वाले, सात कर्मों के बंधक अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव को मोहनीय और आयु के बिना शेष छह कर्म का, सामर्थ्य^१ से मात्र एक समय ही जघन्य प्रदेशबंध होता है। अनन्तरवर्ती समय में अजघन्य होता है। तत्पश्चात् कालान्तर में पुनः भी जघन्य-अजघन्य प्रदेशबंध होता है। इस प्रकार एक के बाद दूसरा इस क्रम से होते रहने से दोनों सादि और अध्रुव हैं।

उक्त समय कथन का संक्षिप्त सारांश यह है कि ज्ञानावरणादि छह कर्मों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध मोहनीयकर्म का बंधविच्छेद होने के बाद सूक्ष्मसंपरायणस्थान में उत्कृष्ट योग में वर्तमान क्षपक अथवा उपशमक को एक या दो समय पर्यन्त होता है। इसलिए उत्कृष्ट प्रदेशबंध तो सादि-सांत ही है। इसके सिवाय शेष रहा अन्य समस्त प्रदेश

-
- १ यहाँ सामर्थ्य से एक समय कहने का कारण यह है कि सभी अपर्याप्त जीव अपर्याप्तावस्था में पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर समय में असंख्य-असंख्य गुण बढ़ते हुए योगस्थान में जाते हैं। जिससे जघन्य योग मात्र पहले समय में होता है, दूसरे आदि समयों में नहीं। इसीलिये जघन्य प्रदेशबंध भी एक समय होना बताया है।

बंध अनुत्कृष्ट है। वह अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध उत्कृष्ट प्रदेशबंध करके वहाँ से गिरने अथवा उपशांतमोहगुणस्थान में बंधविच्छेद होने के अनन्तर वहाँ से गिरने पर मन्द योगस्थानवर्ती जीव को होने से सादि है। उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया है, उनकी अपेक्षा अनादि तथा अभव्य एवं भव्य की अपेक्षा क्रमशः ध्रुव और अध्रुव जानना चाहिए। तथा—

इन छह कर्मों के जघन्य और अजघन्य विकल्प सादि-सांत हैं। जघन्य प्रदेशबंध तो उत्पत्ति के प्रथम समय में वर्तमान सबसे अल्प वीर्य वाले और सात कर्म के बंधक सूक्ष्म निगोदिया जीव को एक समय मात्र होता है और दूसरे समय में उसी को अजघन्य प्रदेशबंध होता है तथा पुनः संख्यात अथवा असंख्यात काल बीतने के बाद जघन्य योग और अपर्याप्त सूक्ष्म निगोद अवस्था प्राप्त होने पर प्रथम समय में जघन्य और उसके बाद के समय में अजघन्य प्रदेशबंध होता है। इस प्रकार संसारी जीव के अनेक बार जघन्य और अजघन्य प्रदेशबंध में परावर्तमान होते रहने से दोनों सादि-सांत हैं।

इस प्रकार से मोहनीय और आयु के सिवाय शेष ज्ञानावरण आदि छह कर्मों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध आदि चारों प्रकारों की सादि-अनादि प्ररूपणा जानना चाहिए। अब मोहनीय और आयु कर्म के उत्कृष्ट प्रदेश-बंध आदि प्रकारों की सादि-अनादि प्ररूपणा करते हैं।

मोहेवि इमे एवं आउम्मि य कारणं सुगमं ॥८६॥

मोहस्स अइकिलिट्ठे उक्कोसो सत्तबंधए मिच्छे ।

एक्कं समयणुक्कोसओ तओ साइअधुवाओ ॥८७॥

शब्दार्थ—मोहेवि—मोहनीयकर्म के भी, इमे—ये, एवं—इसी प्रकार, आउम्मि—आ, में, य—और, कारणं—कारण, सुगमं—सुगम है।

मोहस्स—मोहनीय का, अइकिलिट्ठे—अति संक्लिष्ट, उक्कोसो—उत्कृष्ट, सत्तबंधए—सात का बंध करने वाले, मिच्छे—मिथ्यादृष्टि, एक्कं—एक,

समय—समय, गुणकोसओ—अनुत्कृष्ट, तओ—इसके बाद, साइअधुवाओ—सादि, अध्रुव ।

गाथार्थ—मोहनीयकर्म के भी ये दोनों (जघन्य, अजघन्य) इसी प्रकार जानना चाहिये तथा आयु के सम्बन्ध में तो कारण सुगम है ।

अति संक्लिष्ट परिणामी सात कर्मों का बंध करने वाले मिथ्यादृष्टि (अथवा सम्यग्दृष्टि) के एक समय पर्यन्त उत्कृष्ट और उसके बाद अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है, इसलिए ये दोनों सादि, अध्रुव हैं ।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार आचार्य ने इस डेढ़ गाथा में मोहनीय और आयु कर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबंध आदि चारों प्रकारों के सादि आदि विकल्पों का प्रतिपादन किया है ।

सर्वप्रथम मध्यदीपकन्याय से पूर्व में आये जघन्य, अजघन्य पद को यहाँ ग्रहण करके बताया है कि 'मोहेवि इमे एव'—अर्थात् मोहनीयकर्म के जघन्य और अजघन्य प्रदेशबंध को भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए । यानी पूर्व में जैसे ज्ञानावरण आदि छह कर्मों के जघन्य और अजघन्य प्रदेशबंध के सादित्व और अध्रुवत्व का विचार किया है कि जघन्य प्रदेशबंध उत्पत्ति के प्रथम समय में वर्तमान सबसे अल्प वीर्य वाले और सात कर्म के बंधक सूक्ष्म निगोदिया जीव को एक समय मात्र होता है और दूसरे समय उसी को अजघन्य होता है, इत्यादि उसी प्रकार से यहाँ भी समझ लेना चाहिए तथा आयुकर्म के तो जघन्य आदि चारों विकल्प सादि, अध्रुव ही जानना चाहिए । क्यों कि आयु अध्रुवबंधिनी प्रकृति है और अध्रुवबंधिनी प्रकृति सादि, अध्रुव होती है । इसलिए उसके उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य ये चारों विकल्प सादि और अध्रुव हैं ।

इस प्रकार ग्रन्थलाघव की अपेक्षा प्रसंगोपात्त आयुकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबंध आदि चारों प्रकारों के सादित्व का विचार करने के बाद

अब मोहनीयकर्म के शेष रहे उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध के सादित्व आदि विकल्पों को स्पष्ट करते हैं—

अति संक्लिष्ट परिणामी अर्थात् उत्कृष्ट योगस्थान में वर्तमान यानि अत्यन्त बलवान तथा सात कर्मों का बंध करने वाले मिथ्यादृष्टि अथवा उपलक्षण से सम्यग्दृष्टि जीव के एक अथवा दो समय उत्कृष्ट प्रदेशबंध और उसके बाद शेषकाल में अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है। पुनः इसी तरह कालान्तर में उत्कृष्ट और उसके बाद अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है। इस तरह क्रमशः एक के बाद दूसरे के होने से दोनों 'साइ अधुवाओ'—सादि, अध्रुव हैं।

इस प्रकार से मूल प्रकृतियों सम्बन्धी सादि-अनादि प्ररूपणा जानना चाहिए। अब क्रम प्राप्त उत्तर प्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा करते हैं।

उत्तर प्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा

नाणंतरायनिद्रा अणवज्जकसाय भयदुगंछाण ।

दंसणचउपयलाणं चउवि (वि) गप्पो अणुवकोसो ॥८८॥

निययअबंधचुयाणं णुवकोसो साइणाइ तमपत्ते ।

सेसा साइ अधुवा सव्वे सव्वाण सेसपगईणं ॥८९॥

साई अधुवोऽधुवबंधियाणऽधुवबंधणा चेव ।

शब्दार्थ—नाणंतराय—ज्ञानावरण, अन्तराय, निद्रा—निद्रा—अणवज्ज-कसाय—अनन्तानुबन्धी को छोड़कर शेष कषाय, भयदुगंछाण—भय और जुगुप्सा, दंसणचउ—दर्शनावरणचतुष्क, पयलाणं—प्रचला का, चउविगप्पो—चार प्रकार का, अणुवकोसो—अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध।

निययअबंधचुयाणं—अपने अबंधस्थान से गिरे हुआ को, णुवकोसो—अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध, साइ—सादि, णाइ—अनादि, तमपत्ते—उस स्थान की प्राप्ति

नहीं करने वाले के, सैसा—शेष प्रकार, साईं अध्रुवा—सादि, अध्रुव (सांत), सध्वे—सब, सव्वाण—सभी, सेसपगईण—शेष प्रकृतियों के ।

साईं—सादि, अध्रुवा—अध्रुव (सांत), अध्रुवबंधियाण—अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के, अध्रुवबंधणा चेव—अध्रुवबंधिनी होने से ही ।

गाथार्थ—ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, मिद्रा, अनन्तानु-बंधी को छोड़कर शेष बारह कषाय, भय, जुगुप्सा, दर्शनावरण-चतुष्क और प्रचला का अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध चार प्रकार का है ।

(पूर्वोक्त तीस प्रकृतियों का) अपने अबंधस्थान से गिरे हुएों को अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है जिससे वह सादि है और उस स्थान को प्राप्त नहीं करने वालों के अनादि है । उक्त प्रकृतियों के शेष विकल्प तथा शेष सभी प्रकृतियों के सब विकल्प सादि, अध्रुव (सांत) हैं ।

अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के अध्रुवबंधिनी होने से उनके उत्कृष्ट आदि विकल्प सादि, अध्रुव (सांत) हैं ।

विशेषार्थ—यहाँ प्रदेशबंध की अपेक्षा ध्रुवबंधिनी और अध्रुव-बंधिनी के क्रम में उत्तर प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा की है । ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां सैंतालीस और अध्रुवबंधिनी प्रकृतियां तिहत्तर हैं । सुगमता की दृष्टि से यह सादि-अनादि प्ररूपणा करने के लिए ध्रुव-बंधिनी प्रकृतियों के दो विभाग किये हैं । प्रथम विभाग में ज्ञानावरण-पंचक आदि भय, जुगुप्सा पर्यन्त तीस प्रकृतियां हैं और द्वितीय विभाग मिथ्यात्व आदि निर्माण पर्यन्त सत्रह प्रकृतियों का है ।

प्रथम विभाग की ज्ञानावरणपंचक आदि तीस प्रकृतियों के लिए संकेत किया है—‘चउविगप्पो अणुक्कोसो’ इनका अनुत्कृष्ट बंधप्रकार सादि आदि चारों भंग वाला है और साथ ही अनुत्कृष्ट बंध को सादि, अनादि भंग वाले होने के कारण को स्पष्ट किया है कि यह अनुत्कृष्ट बंध अपने अबंधस्थान से गिरने वालों की अपेक्षा सादि और उस

(अबंध) स्थान को प्राप्त नहीं करने वालों की अपेक्षा अनादि है—
‘निययअबंधनुयाणं णुक्कोसो साइणाइ तमपत्ते’ । यद्यपि ग्रन्थकार
आचार्य ने ध्रुव और अध्रुव होने के कारण का संकेत नहीं किया है,
लेकिन सुगम होने से स्वयं समझ लेना चाहिए तथा अनुत्कृष्ट से शेष
रहे उक्त प्रकृतियों के उत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य बंध एवं अन्य सत्रह
ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों तथा अध्रुवबंधिनी होने से अध्रुवबंधिनी प्रकृ-
तियों के उत्कृष्ट आदि चारों बंधप्रकार सादि-सांत (अध्रुव) विकल्प
वाले जानना चाहिये ।

उक्त सक्षिप्त कथन का विशेषता के साथ स्पष्टीकरण इस
प्रकार है—

मतिज्ञानावरण आदि ज्ञानावरणपंचक, दानान्तराय आदि अन्त-
रायपंचक, निद्रा, अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क को छोड़कर शेष बारह
कषाय, भय, जुगुप्सा, चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन रूप दर्शना-
वरणचतुष्क और प्रचला इन ध्रुवबंधिनी तीस प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट
प्रदेशबंध ‘चउविगण्पो’—सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह
चार प्रकार का है । जो इस प्रकार जानना चाहिए—

ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक और चक्षुदर्शनावरण आदि रूप
दर्शनावरणचतुष्क इन चौदह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध उत्कृष्ट
योग में वर्तमान क्षपक या उपशमक सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव
को एक समय या दो समय पर्यन्त होता है । क्योंकि उत्कृष्ट योग में
वर्तमान होने से वह अधिक दलिकों को ग्रहण करता है तथा आयु एवं
मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का बंधविच्छेद हो जाने कारण उनका
भाग भी इनको प्राप्त होता है एवं दर्शनावरणचतुष्क में तो स्वजातीय
नहीं बंधने वाली प्रकृतियों का भाग भी प्राप्त होता है । जो प्रतिनियत
एक या दो समय होने से सादि और सांत है ।

तत्पश्चात् समयान्तर में मन्द योगस्थान में वर्तमान उसी जीव
को अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है तब अथवा उपशांतमोहगुणस्थान में बंध-

विच्छेद होने के बाद वहाँ से पतन होने पर अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध करे तब उसकी सादि होती है। उस उत्कृष्ट प्रदेशबंध योग्य स्थान अथवा विच्छेदस्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, उनकी अपेक्षा अनादि तथा अभव्य को ध्रुव और भव्य को अध्रुव जानना चाहिये।

निद्रा और प्रचला का उत्कृष्ट प्रदेशबंध उत्कृष्ट योगस्थान में वर्तमान सात कर्मों का बंध करने वाले अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक के जीव को एक अथवा दो समय होता है। इसका कारण यह है कि उत्कृष्ट योगस्थान सम्भव होने से अधिक दलिकों को ग्रहण करता है एवं न बंधने वाली आयु एवं स्त्यानद्वित्रिक प्रकृतियों का भी भाग प्राप्त होता है। अतएव उत्कृष्ट के एक या दो समय पर्यन्त होने से सादि-सांत है।

उसके बाद समयान्तर में अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है, जिससे वह भी सादि है। अथवा बंधविच्छेदस्थान को प्राप्त करके वहाँ से गिरने पर मन्द योगस्थान में वर्तमान होने से अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है, जिससे वह सादि है। उत्कृष्ट प्रदेशबंध योग्य अथवा बंधविच्छेद-स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, उनको अनादि और ध्रुव, अध्रुव क्रमशः अभव्य और भव्य की अपेक्षा है।

अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क का उत्कृष्ट प्रदेशबंध उत्कृष्ट योग में वर्तमान अविरतसम्यग्दृष्टि जीव को एक या दो समय होता है। क्योंकि उत्कृष्ट योगस्थान में वर्तमान होने से अधिक दलिकों को ग्रहण करता है तथा स्वजातीय मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधिकषायों का बंध नहीं होने से उनके भाग का प्रवेश होता है। उस उत्कृष्ट योगस्थान से गिरे अथवा बंधविच्छेदस्थान को प्राप्त कर वहाँ से गिरे तब मन्द योगस्थान में रहते हुए अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध को प्रारम्भ करे तब उसकी सादि होती है। उत्कृष्ट बंधस्थान अथवा व्यवच्छेद-स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, उनको अनादि और अभव्य की अपेक्षा ध्रुव एवं भव्य की अपेक्षा अध्रुव जानना चाहिये।

प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क का उत्कृष्ट प्रदेशबंध उत्कृष्ट योग में वर्तमान देशविरति जीव के एक अथवा दो समय पर्यन्त होता है । क्योंकि उत्कृष्ट योगवशान् अधिक दलिकों को ग्रहण करता है तथा स्वजातीय मिथ्यात्व, अनन्तानुबंध और अप्रत्याख्यानावरण रूप कषायों का बंध न होने से उनका भाग भी प्राप्त होता है । उसके एक या दो समय ही होने से सादि-सांत है ।

उस उत्कृष्ट प्रदेशबंध से गिरने पर अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है तब अथवा बंधविच्छेदस्थान को प्राप्त कर वहाँ से पतन हो तब, मन्द योगस्थान में रहते हुए अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध होने पर उसकी सादि होती है । उस उत्कृष्ट बंधयोग्य स्थान अथवा बंधविच्छेदस्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, उनको अनादि और ध्रुव, अध्रुव अभव्य, भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये ।

भय और जुगुप्सा का उत्कृष्ट योगी अपूर्वकरणगुणस्थान में वर्तमान जीव को एक अथवा दो समय उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है । क्योंकि उत्कृष्ट योगवशान् वह अधिक वर्गणाओं को ग्रहण करता है एवं मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंध आदि अबध्यमान स्वजातीय प्रकृतियों के भाग का भी उनमें प्रवेश होता है ।^१ उसको उत्कृष्ट से भी मात्र दो समय होने से सादि-सांत है । उस उत्कृष्ट से अनुत्कृष्ट में जाने पर उस अनुत्कृष्ट की सादि है, अथवा बंधविच्छेदस्थान को प्राप्त कर वहाँ से गिर

- १ अबध्यमान मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंध आदि बारह कषायों का भाग मिलने से भय, जुगुप्सा के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी अपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती जीव बताया है । परन्तु अबध्यमान मिथ्यात्वादि तेरह प्रकृतियों का भाग प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान में भी मिलता है । जिससे इन दो गुणस्थानवर्ती जीवों को भी भय और जुगुप्सा के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी कहना चाहिये । परन्तु क्यों नहीं बताया ? यह विचारणीय है । विद्वज्जन इस पर विचार करें ।

कर अनुत्कृष्ट योगस्थान में रहते हुए अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध प्रारम्भ करे तब उसकी सादि होती है। उस उत्कृष्ट प्रदेशबंध योग्य स्थान अथवा बंधविच्छेदस्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, उनकी अपेक्षा अनादि एवं ध्रुव, अध्रुव क्रमशः अभव्य, भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

संज्वलन क्रोध का उत्कृष्ट प्रदेशबंध उत्कृष्ट योगस्थान में वर्तमान संज्वलनचतुष्क के बंधक अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव को एक या दो समय होता है। क्योंकि उत्कृष्ट योग के कारण वह अधिक दलिकों को ग्रहण करता है और मिथ्यात्वादि प्रकृतियों के तथा पुरुषवेद के भाग का प्रवेश होता है तथा संज्वलन मानादि तीन प्रकृतियों के बंधक उत्कृष्ट योगी उसी अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव के एक या दो समय संज्वलन मान का (संज्वलन क्रोध के भाग का भी प्रवेश होने के कारण) उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है और संज्वलन मायादि द्विविध बंधक उत्कृष्ट योगी उसी अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव के संज्वलन मान के भाग का भी प्रवेश होने से एक या दो समय संज्वलन माया का उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है तथा उत्कृष्ट योगी एवं संज्वलन लोभ प्रकृति के बंधक अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव के एक या दो समय संज्वलन लोभ का उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है। क्योंकि मोहनीय का समस्त भाग बध्यमान उस एक प्रकृति रूप ही परिणत होता है। इस प्रकार संज्वलनकषायचतुष्क की चारों प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध एक या दो समय ही होने के कारण सादि-सांत है।

उसके अतिरिक्त शेष समस्त प्रदेशबंध अनुत्कृष्ट है। जो उत्कृष्ट प्रदेशबंध योग्य स्थान से गिरने अथवा बंधविच्छेद के स्थान को प्राप्त करके वहाँ से पतन होने पर मन्द योगस्थानवर्ती जीव के होने से सादि है। उत्कृष्ट प्रदेशबंध योग्य स्थान अथवा बंधविच्छेदस्थान को प्राप्त नहीं करने वालों की अपेक्षा अनादि है और ध्रुव, अध्रुव क्रमशः अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

इस प्रकार से तीस ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध के विकल्पों को जानना चाहिए। अब उक्त तीस प्रकृतियों के एवं शेष रही प्रकृतियों के प्रदेशबंधविकल्पों को बतलाते हैं—

पूर्वोक्त तीस प्रकृतियों के शेष रहे जघन्य, अजघन्य और उत्कृष्ट रूप तीन प्रदेशबंधप्रकार सादि-अध्रुव (सांत) होते हैं। इनमें से उत्कृष्ट के सादि-सांत विकल्पों का विचार तो ऊपर किया जा चुका है। अतः तदनुसार समझ लेना चाहिये और जघन्य अत्यन्त अल्प वीर्य वाले, अपर्याप्त, भव के प्रथम समय में वर्तमान सूक्ष्म निगोदिया जीव के होता है। दूसरे समय में उसे ही अजघन्य होता है। पुनः संख्यात अथवा असंख्यात काल जाने पर उक्त स्वरूपवाली निगोदावस्था के प्राप्त होने पर जघन्य प्रदेशबंध होता है। अतः वे दोनों सादि, अध्रुव (सांत) हैं।

— इस प्रकार से सैंतालीस ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों में से तीस प्रकृतियों के बंधप्रकारों के विकल्पों का निर्देश करने के बाद शेष रही सत्रह प्रकृतियों के बंधप्रकारों के विकल्पों का विचार करते हैं कि मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क, स्त्यानद्धित्रिक, अगुहलघु, निर्माण, तैजस, कामण, उपधात और वर्णचतुष्क रूप सत्रह ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ये चारों प्रदेशबंधप्रकार सादि और अध्रुव विकल्प वाले होते हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

स्त्यानद्धित्रिक, मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क इन आठ प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध सातकर्म के बंधक, उत्कृष्ट योग-स्थान में वर्तमान मिथ्यादृष्टि को एक अथवा दो समय होता है। सम्यग्दृष्टि जीव इन आठ प्रकृतियों का बंध नहीं करते हैं। इसीलिये मिथ्यादृष्टि जीव बताया है। उत्कृष्ट योगस्थान से मध्यम योगस्थान में आने पर अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है। पुनः कालान्तर में उत्कृष्ट योगस्थान के प्राप्त होने पर उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है। इस प्रकार

मिथ्यादृष्टि के ये दोनों क्रमशः होते रहने के कारण सादि, अध्रुव (सांत) हैं। तथा—

तैजस, कार्मण, अगुसलघु, उपघात, वर्णचतुष्क और निर्माण, नाम-कर्म की इन नौ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध नामकर्म की तेईस प्रकृतियों^१ के बंधक उत्कृष्ट योग में वर्तमान मिथ्यादृष्टि के एक अथवा दो समय पर्यन्त होता है। इसके सिवाय नामकर्म की पच्चीस आदि प्रकृतियों के बंधक के अधिक भाग होने से उत्कृष्ट प्रदेशबंध नहीं होता है। तत्पश्चात् समयान्तर में अनुत्कृष्ट होता है तथा पुनः कालान्तर में उत्कृष्ट होता है। इस प्रकार क्रमशः होने के कारण दोनों सादि-अध्रुव (सांत) हैं।

जघन्य और अजघन्य प्रदेशबंध का विचार तीस प्रकृतियों के संदर्भ में जैसा पूर्व में किया गया है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये।

इस प्रकार से ध्रुवबंधिनी सैंतासीस प्रकृतियों के सादि आदि भगों का विचार जानना चाहिये।

अध्रुवबंधिनी समस्त प्रकृतियों के उत्कृष्ट आदि चारों विकल्प उनका अध्रुवबंध होने से ही सादि और अध्रुव-सांत जानना चाहिये।^२

प्रदेशबंध की अपेक्षा मूल एवं उत्तर प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा उक्त प्रकार से जानना चाहिये।

सादि-अनादि प्ररूपणा करने के अनन्तर अब क्रमप्राप्त स्वामित्व प्ररूपणा करते हैं। इस प्रदेशबंध-स्वामित्व के दो प्रकार हैं—१ उत्कृष्ट प्रदेशबंध-स्वामित्व २ जघन्य प्रदेशबंध-स्वामित्व। ये दोनों भी प्रत्येक

१. प्रत्येक कर्म की उत्तर प्रकृतियों के बंधस्थानों का निर्देश पूर्व में किया गया है।

२. दिगम्बर कर्मसाहित्य में की गई प्रदेशबंध की सादि-अनादि प्ररूपणा के लिये देविये पंचसंग्रह शतक अधिकार गाथा ४९८-५०१।

दो-दो प्रकार के हैं—मूल प्रकृति संबन्धी, उत्तर प्रकृति संबन्धी । इनमें से पहले मूल और उसके बाद उत्तर प्रकृति विषयक उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामित्व का विचार करते हैं ।

मूल प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध-स्वामित्व

जाण जहि बंधंतो उक्कोसो ताण तत्थेव ॥६०॥

शब्दार्थ - जाण—जिनका, जहि—जहाँ, बंधंतो—बंध का अंत होता है, उक्कोसो—उत्कृष्ट प्रदेशबंध, ताण—उनका, तत्थेव—वहीं ही ।

गाथार्थ—जिन प्रकृतियों के बंध का जहाँ अंत होता है, वहाँ उन प्रकृतियों का (प्रायः) उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है ।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार आचार्य ने उत्कृष्ट प्रदेशबंध स्वामित्व के लिये संक्षेप में जिस करणसूत्र का संकेत किया है, उसका विस्तार से स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

‘जाण जहि बंधंतो’ अर्थात् जिन प्रकृतियों का जिस स्थान में—गुणस्थान में बंधविच्छेद होता है, उन प्रकृतियों का प्रायः वहीं उत्कृष्ट प्रदेशबंध होना समझना चाहिये । तात्पर्य यह हुआ कि जिस गुणस्थान में जिस प्रकृति का बंधविच्छेद होता है, उस स्थान को प्राप्त हुए और उत्कृष्ट योगस्थान में वर्तमान जीव उस-उस प्रकृति के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामी हैं ।

उक्त सूत्रात्मक कथन का मूल प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध-स्वामित्व के प्रसंग में विस्तृत विवेचन इस प्रकार है—

आयुर्कर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामी मिथ्यादृष्टि, अविरत-सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन पांच गुणस्थानों में वर्तमान उत्कृष्ट योगसम्पन्न जीव हैं । क्योंकि इन सभी गुणस्थान वालों के उत्कृष्ट योगस्थान और आयु का बंध संभव है ।

प्रश्न—सासादनगुणस्थानवर्ती जीव आयु के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी क्यों नहीं है ?

उत्तर—तथास्वभाव मे सासादनगुणस्थानवर्ती जीव के उत्कृष्ट योगस्थान संभव नहीं होने से वह आयुकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी नहीं है और उसके उत्कृष्ट योगस्थान संभव नहीं होने का कारण यह है कि यदि सासादनगुणस्थानवर्ती जीव के उत्कृष्ट योग हो तो अनन्तानुबंधि का उत्कृष्ट प्रदेशबंध सासादन में ही घट सकता है। क्योंकि उस समय मिथ्यात्व के भाग की भी उसको प्राप्ति होती है और यदि ऐसा हो तो अनन्तानुबंधि का अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध सादि-आदि चार विकल्प रूप से घट सकता है। जो इस प्रकार है—

अनन्तानुबंधि का उत्कृष्ट प्रदेशबंध उक्त न्याय से सासादनगुण-स्थान में होता है, अन्यत्र नहीं होता है। उस सासादनगुणस्थान से च्युत होने पर जब मिथ्यात्व में आये तब अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है, इसलिये सादि है। जिन्होंने सासादनगुणस्थान प्राप्त नहीं किया, उनको अनादि, अभव्यों को ध्रुव और भव्यों को अध्रुव। इस प्रकार से अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध के चार विकल्प घट सकते हैं। परन्तु यह कथन शास्त्रकार को इष्ट नहीं है। क्योंकि यह पहले कहा जा चुका है कि अनन्तानुबंधि का अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध सादि और अध्रुव होता है। इस लिये सासादनगुणस्थान में उत्कृष्ट योग असंभव होने से सासादन-गुणस्थानवर्ती जीव आयुकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी नहीं है।

मिश्रगुणस्थान में तो आयु का बंध ही नहीं होने से उसका भी निषेध किया है।

मोहनीयकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामी सात कर्मों के बंधक मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिबाधरसंपराय इन सात गुणस्थानवर्ती जीव हैं।^१ क्योंकि इन सबके उत्कृष्ट योगस्थान और मोहनीय के बंध का सद्भाव पाया जाता है।

१. आचार्य शिविशर्मसूरि ने भी इसी प्रकार शतक में आयु और मोहनीय कर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबंधक गुणस्थानों का उल्लेख किया है—

आउक्कस्स पदेस्स पंच मोहस्स सत्त ठाणाणि ।--→

यद्यपि सासादनसम्यग्दृष्टि और मिश्रगुणस्थान में मोहनीय का सद्भाव है, लेकिन उत्कृष्ट योग न होने से उनके मोहनीय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध संभव नहीं है। क्योंकि ऐसा सिद्धान्त है—

सासनसम्माभिच्छेसुक्कोसो जोगो न हवइ ति ।

सासादन और मिश्रदृष्टि के उत्कृष्ट योग नहीं होता है। इसलिये उपर्युक्त सात गुणस्थान वाले ही मोहनीय के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामी हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय इन छह कर्मों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध उत्कृष्ट योगस्थान को प्राप्त सूक्ष्म-संपरायगुणस्थानवर्ती जीव के होता है। क्योंकि अबध्यमान मोहनीय और आयु का भाग भी उनको प्राप्त होता है।

इस प्रकार से मूल प्रकृति विषयक उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामित्व को जानना चाहिये। अब ध्रुवबंधिनी उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामित्व का विवेचन करते हैं।

ध्रुवबंधिनी उत्तर प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध-स्वामित्व

मतिज्ञानावरणादि रूप ज्ञानावरणपंचक, चक्षुदर्शनावरणादि रूप दर्शनावरणचतुष्क और दानान्तरायादि रूप अन्तरायपंचक इन चौदह प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी उत्कृष्ट योगस्थान प्राप्त सूक्ष्म-संपरायगुणस्थानवर्ती जीव है। इसका कारण यह है कि मोहनीय

दिगम्बर कर्मसाहित्य में पूर्वोक्त से भिन्नता है—

आउक्कस्स पदेसस्स छच्च मोहस्स णव दु ठाणाणि ।

—गो. कर्मकांड गा. २११

—दि. पंचसंग्रह शतक अधिकार ५०२

आयुर्कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध मिश्रगुणस्थान को छोड़कर प्रारम्भ के छह गुणस्थानों में तथा मोहकर्म का प्रारम्भ के तीनों गुणस्थान में होता है।

एतद् विषयक विशेष वक्तव्य परिशिष्ट में देखिये।

और आयुर्कर्म का भाग भी इनको प्राप्त होता है और दर्शनावरण-चतुष्क में स्वजातीय अबध्यमान निद्रापंचक के भाग का भी प्रवेश होता है। इसलिये इन चौदह प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव है।

उत्कृष्ट योगस्थान में वर्तमान और अनुक्रम से चार, तीन, दो और एक प्रकृति का बंध करने वाला अनिवृत्तिवासरसंपरायगुणस्थान-वर्ती जीव संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ के उत्कृष्ट प्रदेश-बंध का स्वामी है। क्योंकि बंध से विच्छिन्न हुई प्रकृतियों का भाग उन-उनको प्राप्त होता जाता है।

निद्राद्विक के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामी उत्कृष्ट योगस्थान में वर्तमान, सात कर्म के बंधक चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि-गुणस्थान से लेकर आठवें अपूर्वकरणगुणस्थान तक के जीव हैं। इन सभी गुणस्थानों में उत्कृष्ट योगस्थान और इन प्रकृतियों का बंध संभव है एवं स्त्यानद्विक और आयु के भाग का प्रवेश होता है।

भय और जुगुप्सा के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी उत्कृष्ट योग-स्थान में वर्तमान अपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती जीव है। क्योंकि उनका उत्कृष्ट प्रदेशबंध करते समय मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधि, अप्रत्याख्याना-वरण और प्रत्याख्यानावरणादि चतुष्क प्रकृतियों के भाग का भी उनमें प्रवेश होता है।

अप्रत्याख्यानावरणकषाय के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी सात-कर्मों का बंधक उत्कृष्ट योग में वर्तमान अविरतसम्यग्दृष्टि जीव है। क्योंकि आयु, मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधि के भाग का उसमें प्रवेश होता है।

प्रत्याख्यानावरणकषाय के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी सात का बंधक, उत्कृष्ट योगस्थान प्राप्त देशविरत है। क्योंकि मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधि, अप्रत्याख्यानावरण और आयु के भाग का भी इसमें प्रवेश हो जाता है।

तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, उपधात, वर्णचतुष्क और निर्माण इन नौ प्रकृतियों का सात कर्म का बंधक और उसमें भी नामकर्म की एकेन्द्रिय-प्रायोग्य तेईस प्रकृतियों को बांधने वाला, उत्कृष्ट योग में वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीव एक या दो समय पर्यन्त उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी है ।

मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी और स्त्यानद्वित्रिक रूप ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों और अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामित्व का विचार स्वयं ग्रन्थकार आगे करने वाले हैं । अतः यहाँ उनका विचार नहीं किया है ।

इस प्रकार ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध आदि चार प्रकारों के सादि आदि विकल्पों, मूल प्रकृतियों एवं ध्रुवबंधिनी उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामित्व और अध्रुवबंधिनी उत्तर प्रकृतियों के भी उत्कृष्टबंध आदि चारों प्रकारों के सादि आदि विकल्पों को बतलाने के बाद अब अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के उत्कृष्ट एवं सामान्य से सभी प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशबंध-स्वामित्व के सामान्य नियम के निर्देशपूर्वक स्वामित्व को बतलाते हैं ।

अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के स्वामित्व का नियम व स्वामी

अप्पतरपगइबंधे उक्कडजोगी उ सन्निपज्जत्तो ।

कुणइ पएसुक्कोसं जहण्णयं तस्स वच्चासे^१ ॥६१॥

शब्दार्थ—अप्पतरपगइबंधे—अल्पतर प्रकृतियों का बंध होने पर, उक्कडजोगी—उत्कृष्ट योग वाला, उ—और, सन्निपज्जत्तो—संज्ञी पर्याप्तक, कुणइ

१. तुलना कीजिये—

उक्कस्सजोग सण्णी पज्जत्तो पयडिबंध्यमप्पयरं ।

कुणइ पदेसुक्कस्सं जहण्णयं जाण विवरीयं ॥

—दि. पंचसंग्रह शतक अधिकार गाथा ५१०

—करता है, पण्डितकोसं—उत्कृष्ट प्रदेशबंध को, जहन्नयं—जघन्य, तस्स—उससे, बच्चासे—विपरीत स्थिति में ।

गाथार्थ—अल्पतर प्रकृतियों का बंध होने पर उत्कृष्ट योग वाला संज्ञी पर्याप्त जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है और उससे विपरीत स्थिति में जघन्य प्रदेशबंध होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के उत्कृष्ट व सामान्य से सभी बंध प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशबंधस्वामित्व के नियम का निर्देश किया है । उसमें से पहले अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंधस्वामित्व का प्रतिपादन करते हैं—

‘अप्यतरपगइबंधे’ अर्थात् जब मूल प्रकृतियों का अत्यल्प बंध हो रहा हो, तब उत्कृष्ट योग में वर्तमान पर्याप्त संज्ञी जीव के एक या दो समय अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है । अर्थात् किसी भी विवक्षित प्रकृति के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के विचार के प्रसंग में जब मूलकर्म एवं उसकी स्वजातीय प्रकृतियां यथासंभव कम से कम बंधती हों और योगस्थान उत्कृष्ट हो तब पर्याप्त संज्ञी जीव को उस प्रकृति का उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है । जो इस प्रकार समझना चाहिये—

सातावेदनीय, उच्चगोत्र और यशःकीर्ति इन तीन प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी छह मूलकर्मों का बंधक, उत्कृष्ट योगस्थान में वर्तमान सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव है । क्योंकि आयु और मोहनीय का भाग एवं यशःकीर्ति में अबध्यमान स्वजातीय प्रकृतियों के भाग का भी प्रवेश होता है ।

पुरुषवेद के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट योगी जीव स्वामी है । क्योंकि मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधि आदि प्रकृतियों के भाग का भी प्रवेश हो जाता है ।

देवगतिप्रायोग्य तीर्थकरनाम के साथ उनतीस प्रकृतियों को

बंधता हुआ अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान के छठे भाग तक उत्कृष्ट योग में वर्तमान जीव तीर्थकरनामकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी है तथा उत्कृष्ट योग में वर्तमान अप्रमत्तसंयत तथा अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव आहारकद्विक सहित देवगति योग्य तीस प्रकृतियों^१ का बंधक आहारकद्विक के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी है।^२

हास्य, रति, अरति और शोक इन मोहनीय कर्म की चार प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी उत्कृष्ट योग में वर्तमान अविरत-

१. देवगतिप्रायोग्य उनतीस और तीस प्रकृतिक बंधस्थान में समाविष्ट प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

देवद्विक, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियद्विक, तैजस, कार्पण, समचतुरस्र-संस्थान, त्रसवतुष्क, वर्णचतुष्क, अगुरुलघुचतुष्क, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, प्रशस्तविहायोगति, यश कीर्ति, आदेय, निर्माण और तीर्थकर=२६।

उक्त उनतीस प्रकृतिक स्थान में तीर्थकरनाम को कम करके आहारकद्विक—आहारकशरीर, आहारक-अंगोपांग को मिलाने पर तीस प्रकृतिक स्थान होता है।

२. 'आहारमप्पमत्तोति । आहारगस्स अप्पमत्तोत्ति, अप्पमत्ता अपुव्वकरणा य दोवि गहिया, तेसि उक्कंसजोगीणं देवगइणाउग्गं आहारगदुगसहियं तीसं बंधमाणणं उक्कोसएसबंधी हवइ, एक्कतीसे न लब्भइ, बहुगा भागा भवन्ति ति काळं ।

—शतकचूर्णि

लेकिन दिगम्बर कर्मसाहित्य में आहारकद्विक के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी अप्रमत्तसंयत को बतलाया है—

आहारमप्पमत्तो आहारकद्वयस्याप्रमत्तोमुनिरुत्कृष्टप्रदेशबंधं करोति ।

—दि. पं. सं. शतक अधिकार, गाथा ५०८

सम्यग्दृष्टिगुणस्थानवर्ती जीव है^१ तथा तिर्यचद्विक, असातावेदनीय^२, नीचगोत्र, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का सात कर्म का बंधक मिथ्यादृष्टि उ (वृ०) प्रदेशबंध का स्वामी है ।

हुंडकसंस्थान, स्थावर, अयशःकीर्ति, औदारिकशरीर, प्रत्येक, साधारण, सूक्ष्म, बादर, एकेन्द्रियजाति और अपर्याप्त नामकर्म इन सभी प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी एकेन्द्रियप्रायोग्य तेईस प्रकृतियों का बंधक, उत्कृष्ट योग में वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीव है तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जाति, सेवार्तसंहनन

१ यद्यपि यहाँ अविरतसम्यग्दृष्टि को उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी बताया है । जो विचारणीय है । क्योंकि कर्मग्रन्थ की टीका में अविरतसम्यग्दृष्टि से अपूर्वकरण गुणस्थान तक के उत्कृष्ट योग में वर्तमान जीवों को बताया है । दूसरा कारण यह है कि मोक्षनीय की सत्रह और तेरह प्रकृतियों के बंधक चौथे, पांचवें गुणस्थान वाले और नौ प्रकृतियों के बंधक छठे, सातवें और आठवें गुणस्थान वाले हैं । जिससे यथाक्रम से उनको अल्प-अल्प प्रकृतियों का बंध है और अबध्यमान मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधि, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायों का भाग भी प्राप्त होता है, जिससे उत्कृष्ट प्रदेशबंधकों में उनको ग्रहण किया जा सकता है ।

दिग्भ्रर कर्मसाहित्य में इन हास्यादि नोकषायों के उत्कृष्ट प्रदेश-बंधकों में अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यन्त जिन-जिन गुणस्थानों में बंध होता है, उन गुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट योगी को बतालाया है ।

२. यद्यपि यहाँ असातावेदनीय का उत्कृष्ट प्रदेशबंधक मिथ्यादृष्टि जीव बतलाया है । परन्तु सम्यक्त्वी जीव भी असातावेदनीय को बांधता है । अतएव उसे भी उसके उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी होना चाहिए । पंचम कर्मग्रन्थ में इसी प्रकार बताया है ।

दि. पंचसंग्रह शतक अधिकार गाथा ५०८ में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों को असातावेदनीय के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी कहा है ।

औदारिक अंगोपांग, मनुष्यद्विक और त्रसनामकर्म इन ती प्रकृतियों का अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि योग्य पच्चीस प्रकृतियों का बंधक^१ और उत्कृष्ट योग में वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी है ।

पराघात उच्छ्वास और पर्याप्त नामकर्म का एकेन्द्रिय योग्य पच्चीस प्रकृतियों का बंधक, उत्कृष्ट योग सम्पन्न मिथ्यादृष्टि स्वामी है और आतप व उद्योत का एकेन्द्रिय योग्य छब्बीस का बंधक स्वामी है ।

स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, समचतुरस्रसंस्थान, प्रशस्त-विहायोगति, देवद्विक, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय, अशुभ और अस्थिर^२

१. प्रकृत में पच्चीस प्रकृतिक स्थान में संकलित प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

तिर्यंचद्विक, शरीरत्रय—औदारिक, तैजस, कामर्ण—त्रिकलत्रय और पंचेन्द्रियजाति में से कोई एक, हुँडसंस्थान, औदारिक-अंगोपांग, वर्णचतुष्क, अर्याप्त, अगुहलधु, उपघात, त्रस, बादर, सेवार्त संहनन, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण ।

२. देवगतिप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतियों के बांधने पर दुर्भग और अनादेय का बंध नहीं होता है । परन्तु आचार्य मलयगिरि ने बताया है, जिसका आशय समझ में नहीं आया । क्योंकि इन दो प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंधक एकेन्द्रियप्रायोग्य तेईस प्रकृतियों को बांधने वाला मिथ्यादृष्टि अधिकारी है । अस्थिर और अशुभ के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का भी वही अधिकारी संभव है ।

पंचसंग्रह की स्वोपज्ञवृत्ति में इन दुर्भग आदि चारों का एकेन्द्रिय-प्रायोग्य तेईस का बंधक स्वामी बताया है—तिर्यंचद्विक-केन्द्रियजाति..... (दुःस्वरवर्ज) स्थावरादिनव.....एकेन्द्रियप्रायोग्यत्रयोविंशति बंधके ।

दि. पंचसंग्रह (शतक गाथा ५०८, ५०९) की टीका में इन चारों प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंधक मिथ्यादृष्टि जीव बताया है ।

विद्वज्जन इस मिन्नता को स्पष्ट करने की कृपा करें ।

इन पन्द्रह प्रकृतियों का देवगतिप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतियों का बंधक उत्कृष्ट योग में वर्तमान सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि तथा नरकद्विक, अप्रशस्तविहायोगति और दुस्वरनाम का नरकगतिप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतियों का बंधक उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी है।

मध्यम चार संहनन और चार संस्थान का तिर्यंच और मनुष्य-गतिप्रायोग्य उनतीस प्रकृतियों का बंधक और वज्रऋषभनाराच संहनन का मनुष्यगतियोग्य उनतीस प्रकृतियों का बंधक^१ उत्कृष्ट योग में वर्तमान मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी है।

देवायु का उत्कृष्ट योगस्थान प्राप्त अप्रमत्तसंयत तथा शेष तीन आयु^२ का उत्कृष्ट योगस्थानगत मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी है।

इस प्रकार से उत्तर प्रकृतियों सम्बन्धी उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामित्व जानना चाहिये।

जघन्य प्रदेशबंधस्वामित्व

अब जघन्य प्रदेशबंध के स्वामित्व का विचार करते हैं। तत्सम्बन्धी योग्यता विषयक नियम इस प्रकार है—

उत्कृष्ट प्रदेशबंधस्वामित्व के सम्बन्ध में जिस योग्यता का निर्देश किया है, उससे विपरीत योग्यता वाला जीव जघन्य प्रदेशबंध का स्वामी है—‘जहन्नयं तस्स वच्चारो’। जिसका तात्पर्य यह हुआ कि मनोलब्धि-सम्पन्न, उत्कृष्ट योगस्थान में वर्तमान समस्त पर्याप्तियों से पर्याप्त तथा अल्पसंख्या में मूल व उत्तर प्रकृतियों को बांधने वाला जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी है। क्योंकि मनोलब्धि सम्पन्न जीव की

१. पंचमकर्मग्रंथ में प्रथम संहनन के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का अधिकारी तिर्यंच-गति योग्य उनतीस प्रकृतियों का बंधक भी बतलाया है।

२. दिगम्बर कर्मग्रन्थों में देवायु और मनुष्यायु का उत्कृष्ट प्रदेशबंधक सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि और नरकायु, तिर्यंचायु का बंधक मिथ्या-दृष्टि बतलाया है।

चेष्टा—क्रिया, विचारपूर्वक क्रिया करने के कारण शेष जीवों की अपेक्षा अतिशय बलवती होती है। प्रबल चेष्टायुक्त वह जीव अधिक पुद्गलों को ग्रहण करता है तथा उसके साथ ही मनोलब्धि युक्त होने पर भी यदि अपनी भूमिका के अनुसार मंद-मंद योगस्थान वाला हो तो उत्कृष्ट प्रदेशबंध संभव नहीं है। यद्यपि संज्ञी अपर्याप्त के भी अपनी भूमिका के अनुसार उत्कृष्ट योग होता है। परन्तु उस उत्कृष्ट योग में उत्कृष्ट प्रदेशबंध नहीं हो सकने से वह भी यहाँ प्रयोजनभूत नहीं है, इसीलिए समस्त पर्याप्तियों से पर्याप्त इस विशेषण को ग्रहण किया है। साथ ही इन तीन विशेषणों से युक्त होने पर भी यदि बहुत सी मूल एवं उत्तर प्रकृतियों का बंधक हो तब भी उत्कृष्ट प्रदेशबंध नहीं हो सकेगा। क्योंकि दलिक अधिक भागों में विभाजित हो जायेंगे। अतः उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामित्व के विषय में सर्वत्र यह जानना चाहिये—‘अप्यतरपगइबंधे उक्कडजोगी सन्निपज्जत्तो कुणइ पएमुक्कोसं’ अर्थात् अल्पतर प्रकृति का बंधक उत्कृष्ट योग सम्पन्न संज्ञी पर्याप्तक जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है। यानी इस तरह की योग्यता वाला जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी है।

उत्कृष्ट प्रदेशबंधक की योग्यता तो उक्त प्रकार की है और उस में निर्दिष्ट योग्यता से विपरीत योग्यता वाला जीव प्रायः जघन्य प्रदेशबंध के स्वामित्व का अधिकारी है। अर्थात् मनोलब्धि से हीन, जघन्य योगस्थान में वर्तमान, लब्धि-अपर्याप्त, बहुत सी मूल और उत्तर प्रकृतियों को बांधने वाला जीव जघन्य प्रदेशबंध का स्वामी है।

इस प्रकार से जघन्य प्रदेशबंधक की योग्यता का निर्देश करने के बाद अब पहले मूल प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशबंध के स्वामित्व को बतलाते हैं।

मूलकर्मों का जघन्य प्रदेशबंधस्वामित्व

आयु के बिना ज्ञानावरणादि सात मूल प्रकृतियों के जघन्य प्रदेश-बंध का स्वामी उत्पत्ति के प्रथम समय में वर्तमान सबसे अल्पवीर्य वाला, लब्धि-अपर्याप्तक जीव है। उत्पत्ति के प्रथम समय के बजाय

दूसरे समय में वर्तमान उस सूक्ष्म निगोदिया जीव के जघन्य प्रदेशबंध का स्वामी न होने का कारण यह है कि पहले समय की अपेक्षा दूसरे समय के योगस्थान में असंख्यातगुणी वृद्धि हो जाती है। क्योंकि सभी अपर्याप्त जीव अपर्याप्त अवस्था में प्रतिसमय पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यातगुणी वृद्धि वाले योगस्थानों को प्राप्त करते हैं। इसलिये दूसरे समय में जघन्य प्रदेशबंध होना सम्भव नहीं है।^१

आयु का भी अन्य सूक्ष्म निगोदिया जीवों की अपेक्षा मदतम योग स्थानवर्ती वही लब्ध-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव अपनी आयु के तीसरे भाग के पहले समय में रहते जघन्य प्रदेशबंध करता है, परन्तु उसके बाद के समय में नहीं करता है। क्योंकि अपर्याप्त होने से उसके बाद के समय में असंख्यातगुण वृद्धि वाले योगस्थान को प्राप्त करता है। इसलिये वहाँ जघन्य प्रदेशबंध संभव नहीं होने से अपनी आयु के तीसरे भाग के पहले समय में जघन्य प्रदेशबंध करना कहा है।^२

१. अप्पज्जत्तगा सत्त्वेवि असंखिज्जगुणेणं जोगेणं समए सभए वड्ढंति त्ति,
विइय-समयाइमु जहन्नगोपएसबंधो न लभइ । —शतकचूर्णि

२. दिग्म्वर कर्मग्रन्थों में भी उसी प्रकार से आठों कर्मों के जघन्य प्रदेशबंध-स्वामित्व का निर्देश किया है—

सुहुमणिगोय अपज्जत्तयस्स पढमे जहण्णगे जोगे ।

सत्तहं पि जहण्णो आउगबंधे वि आउस्स ।।

—दि. पंचसंग्रह, शतक अधिकार ५०३

सूक्ष्म निगोदियालब्ध-अपर्याप्त जीव के अपनी पर्याय के प्रथम समय में जघन्य योग में वर्तमान होने पर आयु के बिना शेष सात कर्मों का तथा उमी जीव के त्रिभाग के प्रथम समय आयुबंध करने के प्रथम समय में आयुकर्म का जघन्य प्रदेशबंध होता है।

दो चार अक्षरों की भिन्नता के सिवाय दि. पंचसंग्रह की ऊपर कही गई गाथा शिवशर्मसूरि विरचित शतक ग्रन्थ में भी पाई जाती है—

सुहुमनिगोयापज्जत्तगो उ पढमे जहन्नगे जोगे ।

सत्तहंपि जहन्नं आउग बंधंमि आउस्स ।।

इस प्रकार से मूल प्रकृति विषयक जघन्य प्रदेशबंध का स्वामित्व जानना चाहिये । अब उत्तर प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशबंध के बंधकों—स्वामियों को बतलाते हैं ।

उत्तर प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबंधस्वामित्व

नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु और देवायु रूप चार प्रकृतियों का समस्त पर्याप्तियों से पर्याप्त, जघन्य योगस्थान में वर्तमान असंज्ञी पंचेन्द्रिय जघन्य प्रदेशबंध का स्वामी है । क्योंकि असंज्ञी पर्याप्त से संज्ञी पर्याप्त का जघन्य योग असंख्यातगुणा होने से उसे जघन्य प्रदेश-बंध संभव नहीं है तथा अपर्याप्त असंज्ञी के इन चार विवक्षित प्रकृतियों का बंध होता नहीं है । इसीलिए समस्त पर्याप्तियों से पर्याप्त जघन्य योग में वर्तमान असंज्ञी पर्याप्तक जीव को इन चार प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशबंध का स्वामी बताया है ।

आहारकद्विक के जघन्य प्रदेशबंध का स्वामी आठों मूलकर्मों और देवगतिप्रायोग्य इकतीस प्रकृतियों का बंधक जघन्ययोग में वर्तमान अप्रमत्तसंयत है ।

देवद्विक, वैक्रियद्विक और तीर्थकरनाम इन पांच प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशबंध का स्वामी भव के प्रथम समय में वर्तमान जघन्य योग वाला अविरतसम्यग्दृष्ट जीव है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

तीर्थकरनामकर्म का बंधक देव अथवा नारक अनुक्रम से देव अथवा नरक भव से च्यवित होकर मनुष्यभव में उत्पन्न होता हुआ उत्पत्ति के प्रथम समय में वर्तमान मनुष्य देवगतिप्रायोग्य तीर्थकर-नामकर्म सहित उनतीस प्रकृतियों का बंधक जघन्य योगवाला वैक्रिय-द्विक और देवद्विक का जघन्य प्रदेशबंध करता है ।

कदाचित् यह कहा जाये कि संज्ञी की अपेक्षा असंज्ञी में योग की अल्पता होने से उक्त चार प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबंध असंज्ञी को

क्यों नहीं होता है। तो इसका उत्तर यह है कि पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से असंज्ञी के दो प्रकार हैं, उनमें से अपर्याप्त संज्ञी के तो देव-गति अथवा नरकगति प्रायोग्य प्रकृतियों का बंध ही नहीं होता है, पर्याप्त के होता है और पर्याप्त असंज्ञी के अपर्याप्त संज्ञी के योग स्थान से असंख्यात गुणा योग होता है। इसलिये असंज्ञी में जघन्य प्रदेशबंध संभव नहीं होने से भव के प्रथम समय में वर्तमान अविरत-सम्यग्रदृष्टि मनुष्य वैक्रियद्विक और देवद्विकरूप इन चार प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशबंध का स्वामी है तथा तीर्थकरनाम का तीर्थकरनामकर्म को बांधने वाला मनुष्य मरकर देवों में उत्पन्न हो तब वहाँ भव के प्रथम समय में जघन्य योगस्थान में रहते तीर्थकरनाम सहित मनुष्य-प्रायोग्य तीस प्रकृतियों को बांधने वाले उस देव के जघन्य प्रदेशबंध होता है, अन्यत्र उसका जघन्य प्रदेशबंध संभव नहीं।^१

शेष रही एक सौ नौ प्रकृतियों का सबसे जघन्ययोग में वर्तमान लब्धि-अपर्याप्तक, उत्पत्ति के प्रथम समय से वर्तमान सूक्ष्म निगोदिया जीव जघन्य प्रदेशबंध का स्वामी है। उसमें भी अपर्याप्त, सूक्ष्म और साधारण नाम का नामकर्म की पच्चीस प्रकृतियों का बंधक, एकेन्द्रिय, आतप और स्थावर नामकर्म का एकेन्द्रियप्रायोग्य छब्बीस प्रकृतियों का बंधक, मनुष्यद्विक का उनतीस प्रकृतियों का बंधक तथा मनुष्यायु और तिर्यचायु का भी वही सूक्ष्म निगोदिया जीव अपनी आयु के तीसरे भाग के प्रथम समय में रहते जघन्य प्रदेशबंध का स्वामी है। अपनी आयु

-
१. यहां 'अन्यत्र.....संभव नहीं है' कहने का अर्थ यह हुआ कि तीर्थकरनामकर्म का बंध करके नरक में जाने वाले के तीर्थकरनामकर्म सहित मनुष्यप्रायोग्य तीस प्रकृतियों को बांधने पर तीर्थकरनामकर्म का जघन्य प्रदेशबंध नहीं होता है। इसका हेतु यह ज्ञात होता है कि देव की अपेक्षा नरकभव के प्रथम समय में भी योग अधिक होना चाहिये।

के तीसरे भाग के दूसरे समय आदि समयों में जघन्य प्रदेशबंध नहीं होने के कारण को पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है तथा शेष रही नाम-कर्म की प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशबंध का स्वामी पूर्वोक्त विशेषणों वाला सूक्ष्म निगोदिया जीव जानना चाहिये ।^१

अब सामान्य बुद्धि वाले शिष्य के लिये मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधि-चतुष्क और स्त्यानाद्वित्रिक इन आठ प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध तथा तैजस आदि नामकर्म की ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के जघन्य प्रदेश-बंध के स्वामित्व का विशेषता के साथ प्रतिपादन करते हैं—

सत्तविहबंधमिच्छे परमो अणमिच्छथीणगिद्धीणं ।

उक्कोससंकिलिट्ठे जहन्नओ नामधुवियाणं॥६२॥

शब्दार्थ—सत्तविहबंध—सात मूलकर्मों का बंधक, मिच्छे—मिथ्यादृष्टि, परमो—उत्कृष्ट प्रदेशबंध, अणमिच्छथीणगिद्धीणं—अनन्तानुबंधी, मिथ्यात्व और स्त्यानाद्वित्रिक का, उक्कोससंकिलिट्ठे—उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणामी, जहन्नओ—जघन्य, नामधुवियाणं—नामकर्म की ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का ।

गाथार्थ—उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणामी सात कर्म के बंधक मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबंधिचतुष्क, मिथ्यात्व और स्त्यानाद्वि-

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में भी इसी प्रकार से उत्तर प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशबंध का स्वामित्व बतलाया है । देखिये पंचसंग्रह शतक अधिकार गाथा ५११-५१२ व वृत्ति एवं गो. कर्मकाण्ड गाथा २१५-२१७ ।

गो. कर्मकाण्ड गाथा २१७ में शेष १०६ प्रकृतियों के बंधक सूक्ष्म निगोदिया जीव के बारे में कुछ विशेषता बतलाई है कि लब्धपर्याप्तक के ६०१२ भवों में से अन्त के भव में स्थित, विग्रहगति के तीन मोड़ों में से पहले मोड़ में स्थित हुआ सूक्ष्म निगोदिया जीव शेष प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबंध करता है ।

त्रिक का उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है तथा अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के नामकर्म की ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबंध होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में विशेष स्पष्टतापूर्वक मिथ्यात्व आदि आठ प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध और ध्रुवबंधिनी नामकर्म की प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशबंध के स्वामित्व का निरूपण किया है । पहले मिथ्यात्व आदि आठ प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामित्व को बतलाते हैं—

सर्वोत्कृष्ट योगस्थान में वर्तमान मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क, मिथ्यात्व, स्त्यानद्वित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानद्वि इन आठ प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है । अर्थात् सब पर्याप्तियों से पर्याप्त, सर्वोत्कृष्ट योगस्थान में वर्तमान, सात कर्मों का बंधक संज्ञी पंचेन्द्रिय पूर्वोक्त अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क आदि आठ प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी है ।

अब नाम-ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशबंध के स्वामी का निर्देश करते हैं—

तैजस, कामण, अगुरुलघु, उपघात, वर्णचतुष्क और निर्माण इन ध्रुवबंधिनी नामनवक प्रकृतियों का सात कर्म का बंधक, मिथ्यादृष्टि, अपर्याप्त, सर्व जघन्य योगस्थान में वर्तमान नामकर्म की तिर्यग्गति-योग्य तीस प्रकृतियों को बांधते हुए सूक्ष्म निगोदिया जीव जघन्य प्रदेशबंध का स्वामी है ।

इस प्रकार से बंधप्रकृतियों का उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध स्वामित्व जानना चाहिये । सरलता से समझने के लिए जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

क्रम	प्रकृतिधां	उत्कृष्ट प्रदेशबंध स्वामित्व	अधन्य प्रदेशबंध स्वामित्व
१	ज्ञानावरणपंचक, अंत- रायपंचक, दर्शना- वरणचतुष्क	सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान- वर्ती उत्कृष्ट योगी	सबसे अल्पदीर्घ वाला सन्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव भवाद्य समय
२	सातावेदनीय	"	"
३	असातावेदनीय	मिथ्यादृष्टि पर्याप्त संज्ञी	"
४	निद्रा, प्रचला	उत्कृष्ट योगी, सप्त- विध बंधक चौथे से आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग तक वर्त- मान जीव	"
५	स्थानद्वित्रिक, मिथ्या- त्व, अनन्तानुबंधिचतु- ष्क, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद	उत्कृष्ट योगी, सप्त- विध बंधक, पर्याप्त संज्ञी मिथ्यादृष्टि	"
६	अप्रत्याख्यानावरण- कषायचतुष्क	चतुर्थ गुणस्थानवर्ती	"
७	प्रत्याख्यानावरणकषाय- चतुष्क	पंचम गुणस्थानवर्ती	"
८	संज्वलनक्रोध	नौवें गुणस्थान का द्वितीय भागवर्ती	"
९	संज्वलन मान	नौवें गुणस्थान का तृतीय भागवर्ती	"

क्रम	प्रकृतियां	उत्कृष्ट प्रदेशबंध स्वामित्व	जघन्य प्रदेशबंध स्वामित्व
१०	संज्वलन माया	नौवें गुणस्थान का चतुर्थ भागवर्ती	सबसे अल्प वीर्य वाला लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव भवाद्य समय
११	संज्वलन लोभ	„ „ पंचम भागवर्ती	„
१२	हास्य, रति, शोक, अरति	अविरत सम्यग्दृष्टि	„
१३	भय, जुगुप्सा	अष्टम गुणस्थानवर्ती	„
१४	पुरुषवेद	नौवें गुणस्थान का प्रथम भागवर्ती	„
१५	देवायु	अप्रमत्तसंयत	जघन्य योगी, पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय
१६	मनुष्यायु, तिर्यचायु	मिथ्यादृष्टि पर्याप्त संज्ञी	सर्वाल्प वीर्यवंत, लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया स्वायु तृतीय भाग प्रथम समयवर्ती
१७	नरकायु	मिथ्यादृष्टि पर्याप्त संज्ञी	जघन्य योगी, पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय
१८	देवद्विक, वैक्रियद्विक	देवप्रायोग्य अट्ठाईस का बंधक	भवाद्य समय में देव- प्रायोग्य उनतीस का बंधक सम्य. मनुष्य
१९	नरकद्विक	नरकप्रायोग्य अट्ठाईस का बंधक	जघन्य योगी, पर्याप्त, असंज्ञी पंचेन्द्रिय आठ का बंधक

क्रम	प्रकृतियां	उत्कृष्ट प्रवेशबंध स्वामित्व	जघन्य प्रवेशबंध स्वामित्व
२०	मनुष्यद्विक	मनुष्य प्रायोग्य पच्चीस का बंधक	मनुष्य योग्य उनतीस का बंधक
२१	तिर्यचद्विक, वर्णचतु- ष्क, तैजस, कर्मण, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, औदारिक शरीर, हुंडकसंस्थान, प्रत्येक, बादर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भंग, अना- देय, अयशःकीर्ति	तेईस के बंधक मिथ्या- दृष्टि मनुष्य, तिर्यच	तिर्यचप्रायोग्य तीस का बंधक
२२	औदारिक-अंगोपांग, पंचेन्द्रियजाति, सेवार्त संहनन, अस	असप्रायोग्य पच्चीस का बंधक मनुष्य तिर्यच	तिर्यचप्रायोग्य तीस का बंधक
२३	पराघात, उच्छ्वास, पर्याप्त	एकेन्द्रियप्रायोग्य पच्चीस का बंधक नरक के बिना तीन गति के जीव	"
२४	विकलत्रिक	स्वप्रायोग्य पच्चीस का बंधक मनुष्य, तिर्यच	स्वप्रायोग्य तीस का बंधक
२५	एकेन्द्रिय, स्थावर	तेईस का बंधक मनुष्य, तिर्यच	एकेन्द्रियप्रायोग्य छब्बीस का बंधक
२६	आतप	छब्बीस के बंधक नरक के बिना तीन गति के जीव	"

क्रम	प्रकृतियां	उत्कृष्ट प्रदेशबंध स्वामित्व	अधन्य प्रदेशबंध स्वामित्व
२७	उद्योत	नरक बिना तीन गति के जीव एक प्रायोग्य छब्बीस के बंधक	तिर्यचप्रायोग्य तीस का बंधक
२८	मध्यमसंस्थान व संहनन चतुष्क	तिर्यच अथवा मनुष्य प्रायोग्य उनतीस का बंधक	"
२९	वज्रऋषभनाराच संहनन	मनुष्यप्रायोग्य उन- तीस का बंधक	"
३०	समचतुरस्रसंस्थान, शुभ विहायोगति, स्विर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय	देवप्रायोग्य अट्ठाईस का बंधक	"
३१	अशुभ विहायोगति, दुःस्वर	नरकप्रायोग्य अट्ठाईस का बंधक	"
३२	सूक्ष्म, साधारण	एकेन्द्रिययोग्य तेईस का बंधक	पर्याप्त एके. प्रायोग्य पच्चीस का बंधक
३३	अपर्याप्त	"	अपर्या. त्रसप्रायोग्य पच्चीस का बंधक
३४	यशःकीर्ति	सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान- वर्ति	तिर्यचप्रायोग्य तीस का बंधक
३५	आहारकद्विक	देवप्रायोग्य तीस का बंधक अप्रमत्त संयत	अष्टविध बंधक देव- प्रायोग्य इकतीस का बंधक अप्रमत्त यति

क्रम	प्रकृतियां	उत्कृष्ट प्रदेशबंध स्वामित्व	जघन्य प्रदेशबंध स्वामित्व
३६	तीर्थकरनाम	देवप्रायोग्य उत्तरीस का बंधक मनुष्य	मनुष्यप्रायोग्य तीस का बंधक सम्यग्- दृष्टि देव भवाद्य समय में
३७	उच्चगोत्र	सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान- वर्ती	भवाद्य समयवर्ती सर्वाल्प योगी, लब्धि- अपर्याप्त सूक्ष्म निगो- दिया जीव
३८	नीचगोत्र	मिथ्यादृष्टि	„

इस प्रकार से स्वामित्व प्ररूपणा करने के साथ यद्यपि प्रदेशबंध का विचार समाप्त होता है। किन्तु अभी तक यह नहीं बताया है कि कौन सी प्रकृति जघन्य, उत्कृष्ट से निरन्तर कितने काल पर्यन्त बंधती है ? अतः अब उनके बंधकाल का निरूपण करते हैं।

प्रकृतियों का निरन्तर बंधकाल

समयादसंखकालं तिरदुगनीयाणि जाव बज्जन्ति ।

वेउव्वियदेवदुगं पल्लतिगं आउ अन्तमुहू ॥६३॥

शब्दार्थ—समयादसंखकालं—एक समय और असंख्यकाल, तिरदुगनीयाणि—तिर्यचद्विक और नीचगोत्र, जाव—पर्यन्त, बज्जन्ति—बंध सकते हैं, वेउव्वियदेवदुगं—वैक्रियद्विक और देवद्विक, पल्लतिगं—तीन पल्लोपम, आउ—आयु, अन्तमुहू—अन्तमुहूर्त ।

गाथार्थ—तिर्यचद्विक और नीचगोत्र का जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असंख्यात काल पर्यन्त और आयु का अन्तमुहूर्त पर्यन्त निरन्तर बंध होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में प्रकृतियों के निरन्तर बंधकाल का कथन प्रारम्भ करते हुए बताया है—

‘तिरदुगनीयाणि’ अर्थात् तिर्यचगति और तिर्यचानुपूर्वी रूप तिर्यचद्विक और नीचगोत्र ये तीन प्रकृतियां जघन्य से एक समय बंधती हैं। क्योंकि दूसरे समय में तथाप्रकार के अध्यवसाय के योग से इनकी विरोधिनी प्रकृतियों का बंध सम्भव है तथा उत्कृष्ट से असंख्य लोकाकाश प्रदेश की संख्या प्रमाण समयों तक निरन्तर बंधती हैं। इसका कारण यह है कि तेजस्काय और वायुकाय गत जीवों के ये तीन प्रकृतियां बंधती हैं किन्तु तथाभवस्वभाव से इनकी विरोधिनी मनुष्यगति आदि प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। उन दोनों की स्वकायस्थिति उतनी ही है, जिससे उक्त तीन प्रकृतियों का उतना ही उत्कृष्ट निरन्तर बंधकाल बताया है। तथा—

वैक्रियद्विक—वैक्रियशरीर, वैक्रिय-अंगोपांग और देवद्विक—देव-गति, देवानुपूर्वी ये चार प्रकृतियां परावर्तमान प्रकृतियां हैं। अतः दूसरे समय में तथाप्रकार के अध्यवसाय के योग से इनकी विरोधिनी प्रकृतियां बंध सकती हैं और उत्कृष्ट से तीन पल्योपम पर्यन्त बंधती हैं। क्योंकि असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यच और मनुष्य जन्म से लेकर मरण पर्यन्त इन्हीं प्रकृतियों को बांधते हैं और भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यच उत्कृष्ट से तीन पल्योपम की आयु वाले होते हैं, जिससे इन चार प्रकृतियों का उत्कृष्ट से उतना—तीन पल्योपम निरन्तर बंध का काल जानना चाहिये।

‘आउ अन्तमुहू’ अर्थात् तथाप्रकार का जीवस्वभाव होने के कारण चारों आयु का उत्कृष्ट से निरन्तर अन्तमुहूर्त पर्यन्त ही बंध होता है। तथा—

देसूणपुव्वकोडी सायं तह असंखपोग्गला उरलं ।

परघाउस्सासतसचउपणिदि पणसीय अयरसयं ॥६४॥

शब्दार्थ—देसूणपुव्वकोडी—देशोन (कुछ कम) पूर्व कोटि, सायं—सातावेदनीय, तह—तथा, असंख्यपोगसा—असंख्य पुद्गल परावर्तन, उरलं—औदारिक शरीर, परघाय—पराघात, उरसास—उच्छ्वास, तसचउ—त्रसचतुष्क, पणिदि—पंचेन्द्रिय जाति, पणसीय—पचासी, अयर—सागरोपम, सयं—सौ।

गाथार्थ—उत्कृष्ट से सातावेदनीय का देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त, औदारिकशरीरनामकर्म का असंख्यातपुद्गलपरावर्तन पर्यन्त और पराघात, उच्छ्वास, त्रसचतुष्क एवं पंचेन्द्रिय जाति का एक सौ पचासी सागरोपम पर्यन्त निरन्तर बंध होता है।

विशेषार्थ—सर्वप्रथम गाथा में सातावेदनीय के निरन्तर बंधकाल का निर्देश किया है कि 'देसूणपुव्वकोडी सायं' अर्थात् सातावेदनीय का उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि पर्यन्त निरन्तर बंध होता है। इसका कारण यह है कि उत्कृष्ट से सयोगिकेवली गुणस्थान का इतना—देशोन पूर्वकोटि काल है और वहाँ मात्र सातावेदनीय का ही बंध होता है, असातावेदनीय का नहीं। इसी कारण सातावेदनीय का उत्कृष्ट से निरन्तर बंधकाल देशोन पूर्वकोटि प्रमाण बताया है। किन्तु जघन्य से सातावेदनीय का बंधकाल एक समय है। क्योंकि परावर्तमान प्रकृति होने से दूसरे समय में तथाप्रकार के अध्यवसायरूप सामग्री के कारण उसकी विरोधिनी प्रकृति का—असातावेदनीय का बंध हो सकता है। जिससे सातावेदनीय का जघन्य से बंधकाल एक समय मात्र है।^१

१. इसी प्रकार प्रत्येक परावर्तमान प्रकृति के लिए समझना चाहिए। जहाँ जिस किसी भी परावर्तमान प्रकृति का निरन्तर बंधकाल पल्योपम आदि कहा है, तो वहाँ उसकी विरोधिनी प्रकृति गुणप्रत्यय या भवप्रत्यय से नहीं बंधने के कारण समझना चाहिए। जहाँ विरोधी प्रकृति बंधती हो, वहाँ अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट निरन्तरकाल समझना और जघन्य एक समय।

औदारिकशरीरनामकर्म जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से असंख्यात पुद्गलपरावर्तन काल तक बंधता है।^१ इसका कारण यह है कि स्थावर जीव औदारिकशरीर ही बांधते हैं, वैक्रिय नहीं। क्योंकि भवस्वभाव से उनके उस शरीरनामकर्म के बंधयोग्य अध्यवसाय असम्भव हैं। स्थावर में गये हुए व्यवहारराशि के जीव उत्कृष्ट से उतने ही काल वहाँ रहते हैं।

पराघात, उच्छ्वास एवं त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक रूप त्रसचतुष्क और पंचेन्द्रिय जाति ये सात प्रकृतियाँ जघन्य से एक समय बंधती हैं और उत्कृष्ट से एक सौ पचासी सागरोपम पर्यन्त निरन्तर बंधती हैं। इन सात प्रकृतियों का निरन्तर उत्कृष्ट से एक सौ पचासी सागरोपम काल तक बंधने का कारण यह है—

छठवें नरक में रहे हुए नारकों की उत्कृष्ट से बाईस सागरोपम प्रमाण आयु है। जिससे उक्त सात प्रकृतियाँ भवस्वभाव से उतने काल पर्यन्त वहाँ बंधती हैं, किन्तु उनकी विरोधिनी प्रकृतियाँ नहीं बंधती हैं। वे नारक अपने भव के अन्त में सम्यक्त्व को प्राप्त कर इन प्रकृतियों को साथ लेकर मनुष्य में उत्पन्न हों तो वहाँ भी सम्यक्त्व के प्रभाव से

१ औदारिकशरीरनामकर्म का जो निरन्तर बंधकाल कहा है, वह निम्न-लिखित तीन प्रकार के निगोदिया जीवों में से तीसरे प्रकार के जीवों की अपेक्षा समझना चाहिए—

१ जो कभी निगोद से निकले नहीं और न निकलेंगे।

२ जो निगोद से पहले तो निकले नहीं, किन्तु अब निकलेंगे।

३ निगोद से निकलकर पुनः निगोद में गये।

पहले और दूसरे की अपेक्षा तो अनुक्रम से अनादि-अनन्त और अनादि-सात काल समझना चाहिए। सूक्ष्म निगोद भव को जिन्होंने कभी छोड़ा नहीं, वे जीव व्यवहारराशि और शेष सभी व्यवहारराशि के कहलाते हैं।

विवक्षित प्रकृतियों की प्रतिपक्षी प्रकृतियां नहीं बंधती हैं। अब यदि वह मनुष्य अनुत्तर संयम^१ का पालन कर इकतीस सागरोपम की आयु के साथ ग्रैवेयक में देवरूप से उत्पन्न हो और वह देव तथाप्रकार के अध्यवसायों के योग से जन्म होने के बाद तत्काल मिथ्यात्व भाव को प्राप्त करे और उसके बाद च्यवनकाल में पुनः सम्यक्त्व प्राप्त कर मनुष्य में आकर उत्तम श्रावकपने को प्राप्त कर बाईस-बाईस सागरोपम की आयु से तीन बार अच्युत देवलोक को जाने के द्वारा छियासठ सागरोपम काल पूर्ण करे तब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व निरन्तर इतने काल तक रह सकता है। उसके बाद अन्तर्मुहूर्त मिश्रगुणस्थान में आकर पुनः क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर दो बार तेतीस सागरोपम की आयु से विजयादि विमान में जाने के द्वारा छियासठ सागरोपम पूर्ण करे। इन स्थानों में इतने काल पर्यन्त भवप्रत्यय अथवा गुण-प्रत्यय से उक्त प्रकृतियों की विपक्षी प्रकृतियां नहीं बंधती हैं। इस प्रकार से विवक्षित प्रकृतियों का निरन्तर एक सौ पचासी सागरोपम प्रमाण काल घटित होता है।

यहाँ इतना विशेष है कि सम्यक्त्व सहित छठी नरकपृथ्वी से निकलकर मनुष्यभव को प्राप्त कर देशविरति की आराधना कर सम्यक्त्व सहित चार पत्योपम की आयु वाला देव होकर, वहाँ से मनुष्य में आकर सर्वविरति की आराधना कर इकतीस सागरोपम की आयु वाले ग्रैवेयक में उत्पन्न हो और वहाँ से च्युत होकर बीच-बीच में मनुष्यभव धारण करके तीन बाईस सागरोपम की आयु से अच्युत ज्वर्ग में उत्पन्न हो। तत्पश्चात् दो बार तेतीस सागरोपम की आयु सहित विजयादि विमानों में उत्पन्न हो। इस प्रकार चार पत्योपम

१ यहाँ अनुत्तर संयम से देशविरति संयम समझना चाहिए। क्योंकि छठी पृथ्वी से निकलकर मनुष्यभव में उत्पन्न जीव देशसंयम प्राप्त कर सकता है। देखिये बृहत्संग्रहणी।

अधिक एक सौ पचासी सागरोपम निरन्तर बंधकाल समझना चाहिए ।

चउरंसउच्चसुभखगइपुरिससुस्सरतिगाण छावट्ठी ।

बिउणा मणुदुगउरलंगरिसहतित्थाण तेतीसा ॥६५॥

शब्दार्थ—चउरस—समचतुरस्र, उच्च—उच्चगोत्र, सुभखगई—प्रशस्त-विहायोगति, पुरिस—पुरुषवेद, सुस्सरतिगाण—सुस्वरत्रिक, छावट्ठी—छियासठ, बिउणा—द्विगुण, मणुदुग—मनुष्यद्विक, उरलंग—औदारिक-अंगोपांग, रिसह—वज्रऋषभनाराचसंहनन, तित्थाण—तीर्थकरनाम का, तेतीसा—तेतीस सागरोपम ।

गाथार्थ—समचतुरस्रसंस्थान, उच्चगोत्र, प्रशस्तविहायोगति, पुरुषवेद, सुस्वरत्रिक का द्विगुण छियासठ सागरोपम काल तक तथा मनुष्यद्विक, औदारिक अंगोपांग, वज्रऋषभनाराच संहनन और तीर्थकर नामकर्म का तेतीस सागरोपम प्रमाण निरन्तर बंध काल है ।

विशेषार्थ—समचतुरस्रसंस्थान, उच्चगोत्र, प्रशस्तविहायोगति, पुरुषवेद तथा सुस्वर, सुभग और आदेय रूप सुस्वरत्रिक इन सात प्रकृतियों का निरन्तर बंधकाल परावर्तमान प्रकृति होने से जघन्यतः एक समय है और उत्कृष्ट से द्विगुणछियासठ सागरोपम है । ये सभी प्रकृतियां सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि-मिश्रदृष्टि जीवों के तो अवश्य बंधती हैं । क्योंकि इनकी विरोधिनी प्रकृतियों का सासादन-गुणस्थान में बंधविच्छेद होता है । यानी उत्कृष्ट से जितने काल तक जीव सम्यक्त्वादि गुणस्थान में रह सकता है, उतने काल तक उपर्युक्त सात प्रकृतियां निरन्तर बंधती रहती हैं ।

सम्यक्त्व का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मिश्र गुणस्थान के काल से अन्तरित एक सौ बत्तीस सागरोपम काल इस प्रकार से जानना चाहिए—

कोई एक मनुष्य क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करके उत्तम श्रावकपने का पालन कर बाईस सागरोपम की आयु से अच्युतस्वर्ग में जाये । वहाँ से च्यवकर पुनः मनुष्य हो उत्तम श्रावकपने का पालन कर अच्युतदेवलोक में जाये और वहाँ से च्यवकर पुनः मनुष्य हो अच्युतदेवलोक में जाये और वहाँ से च्यवकर मनुष्य हो । इस प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का बीच में होने वाले मनुष्यभव अधिक छियासठ सागरोपम का काल होने से अन्तर्मुहूर्त मिश्रगुणस्थान में जाकर पुनः क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर उत्तम मुनिधर्म का पालन कर त्तीस सागरोपम की आयु से विजयादि चार में से किसी महाविमान में उत्पन्न हो और वहाँ से च्यवकर मनुष्य हो अनुत्तर मुनिधर्म का पालनकर दूसरी बार विजयादि विमानों में उत्पन्न हो और वहाँ से च्यवकर मनुष्य हो । अब यदि उस भव में मोक्ष न जाये तो सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व में जायेगा । इस प्रकार बीच में होने वाले मनुष्य के भवों से अधिक और अन्तर्मुहूर्त मिश्रगुणस्थान के काल से अन्तरित एक सौ बत्तीस सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्वादि गुणस्थानों में रह सकता है और वहाँ उक्त सात प्रकृतियों को बांधता रहता है । तत्पश्चात् मोक्ष में न जाये तो सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व में जाकर उक्त सात प्रकृतियों की विरोधी प्रकृतियों को बांधता है ।

मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, औदारिक अंगोपांग और वज्रऋषभ-

नाराचसंहनन का जघन्य से एक समय^१ और तीर्थकरनामकर्म का जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से इन पांचों प्रकृतियों का तेतीस सागरोपम प्रमाण निरन्तर बंधकाल है । जो इस प्रकार जानना चाहिये—

अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुआ जीव तीर्थकरनामकर्म को छोड़ कर शेष प्रकृतियों का तो नियमपूर्वक बंध करता है और उसके बाद के जन्मों में तीर्थकर होने वाला कोई जीव तीर्थकरनामकर्म का भी बंध करता है । इसलिये इन पांच प्रकृतियों का उत्कृष्ट से उतना— तेतीस सागरोपम—प्रमाण बंधकाल कहा गया है । मात्र तीर्थकरनामकर्म का देशोन दो पूर्व कोटिसे अधिक^२ समझना चाहिये । तथा—

- १ यहाँ जघन्य से जो एक समय बंधकाल कहा है, वह जब तक विरोधिनी प्रकृतियाँ बंधती हो, वहाँ तक और उत्कृष्ट बंधकाल विरोधिनी प्रकृति का बंधविच्छेद होने के पश्चात् अकेली जब तक बंधे, तब तक समझना चाहिए । तीर्थकरनामकर्म जीदस्वभाव से जघन्यतः भी आयु की तरह अन्तर्मुहूर्त ही बंधता है ।
- २ तीसरे भव में निकाचित बंध करे, इस अपेक्षा तीर्थकरनाम का निरन्तर बंधकाल देशोन पूर्वकोटि अधिक बताया है । जो इस प्रकार जानना चाहिये—

अधिक से अधिक पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले किसी मनुष्य ने तीर्थकरनाम का निकाचित बंध किया, उसके बाद अनुत्तर विमानों में तेतीस सागरोपम की आयु वाला देव हुआ । तत्पश्चात् वहाँ से च्यवक उत्कृष्ट चौरासी लाख पूर्व की आयु से मनुष्य हुआ और वहाँ पर भी जब तक आठवें अपूर्वकरणगुणस्थान के छठे भाग से आगे नहीं गया तब तक निरन्तर बंध करता रहा । क्योंकि तीर्थकरनामकर्म निकाचित होने के बाद अपनी बंधयोग्य भूमिका में प्रति समय बंधता रहता है, ऐसा नियम है । इसीलिये कुछ वर्ष कम दो पूर्वकोटि अधिककाल बताया है ।

सेसाणंतमुहूर्तं समयं तित्थाउगाण अंतमुहूर्तं ॥

बंधो जहन्नओ वि हु भंगतिगं निच्चबंधीणं ॥६६॥

शब्दार्थ—सेसाणंतमुहूर्तं—शेष प्रकृतियों का अंतमुहूर्त, समय—समय, तित्थाउगाण—तीर्थकरनाम और आयुर्कर्म की प्रकृतियों का, अंतमुहूर्त—अन्तमुहूर्त, बंधो—बंध, जहन्नओ वि—जघन्य से भी, हु—निश्चित रूप से ही, भंगतिगं—तीन भंग, निच्चबंधीणं—ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के ।

गाथार्थ—शेष प्रकृतियों का एक समय से लेकर अन्तमुहूर्त पर्यन्त तथा जघन्य से भी तीर्थकरनाम एवं आयुचतुष्क का अन्तमुहूर्त ही बंध होता है और ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के तीन भंग होते हैं ।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त से शेष रही प्रकृतियों का निरन्तर बंधकाल बतलाते हुए गाथा में ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के बंधकाल के भंगों का निर्देश किया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पूर्व में जिन प्रकृतियों का निरन्तर बंधकाल कहा है, उनके सिवाय प्रथम संस्थान और संहनन को छोड़कर शेष संस्थानपंचक, संहननपंचक, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति, स्थावर-दशक, हास्य, रति, अरति, शोक, नरकद्विक, आहारकद्विक, आतप, उद्योत, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति असातावेदनीय और अप्रशस्तविहायोगति इन इकतालीस प्रकृतियों का जघन्य से समयमात्र बंधकाल है और उत्कृष्ट से अन्तमुहूर्त पर्यन्त बंधती हैं । क्योंकि ये प्रकृतियां अध्रुवबंधिनी होने से इनमें बंधापेक्षा अवश्य परावर्तन^१ होता है ।

- १ इन प्रकृतियों में हास्य, रति, अरति, शोक, आहारकद्विक, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति और असातावेदनीय के सिवाय शेष सभी प्रकृतियां आदि के दो गुणस्थानों तक बंधती हैं । वहाँ उन प्रकृतियों की विरोधिनी प्रकृतियों

(क्रमशः)

तीर्थकरनाम और आयुकर्म का जीवस्वभाव से जघन्यतः भी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निरन्तर बंध होता है और उत्कृष्ट से बंधकाल का प्रमाण पूर्व में कहा जा चुका है ।

इस प्रकार के समस्त बंध प्रकृतियों के बंधकाल को जानना चाहिये । अब ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की बंधकाल की अपेक्षा जो विशेषता है, उसके भंगों को बतलाते हैं कि 'भंगतिगं निच्चबंधीण' अर्थात् नित्य-बंधि—ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के बंधकाल की अपेक्षा तीन भंग जानना चाहिये—१ अनादि-अनन्त, २ अनादि-सांत, और ३ सादि-सांत । इनमें से अभव्य की अपेक्षा अनादि-अनन्त बंधकाल है । क्योंकि वे अनादि-काल से बंधती रहती हैं, जिससे अनादि हैं और भविष्यकाल में किसी भी समय बंध का विच्छेद होने वाला नहीं होने से अनंत हैं तथा जो भव्य अभी तक मिथ्यात्व से आगे बढ़े नहीं, किन्तु अब बढ़ेंगे और ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का बंधविच्छेद करेंगे, ऐसे भव्यों की अपेक्षा अनादि-सांत तथा उपशमश्रेणि से पतित हुए जीवों की अपेक्षा सादि-सांत है तथा अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के अध्रुवबंधिनी होने से उनका काल सादि-सांत जानना चाहिये ।

का बंध होने से एवं उनके परावर्तमान होने से अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय तक बंध नहीं सकती हैं तथा आहारकद्विक के सिवाय हास्य, रति आदि सभी प्रकृतियां छोड़े गुणस्थान तक अपनी प्रतिपक्षी प्रकृतियों के साथ परावर्तन रूप से बंधती रहती हैं और सातवें, आठवें गुणस्थानों का अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल नहीं है, जिससे आहारकद्विक का अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट बंधकाल है तथा उनका जो एक समय बंधकाल कहा गया है, वह सातवें या आठवें गुणस्थान में जाकर एक समय बंध करके मरण प्राप्त करने वाले की अपेक्षा समझना चाहिये ।

इस प्रकार से बंधप्रकृतियों का जघन्य और उत्कृष्ट से निरन्तर बंधकाल जानना चाहिये । सरलता से समझने के लिये तद्दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

क्रम	प्रकृतियां	उत्कृष्ट बंधकाल	जघन्य बंधकाल
१	ज्ञानावरणपंचक, दर्शना- वरणनवक, अन्तराय- पंचक, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय, जगुप्सा	अभय्याश्रयी अनादि- अनन्त, भव्याश्रयी अनादि सांत, पतिताश्रयी देशोन अर्धापुद्गल परावर्तन	अन्तर्मुहूर्त
२	हास्य, रति, अरति, शोक, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद	अन्तर्मुहूर्त	एक समय
३	पुरुषवेद	साधिक एक सौ बत्तीस सागरोपम	„
४	सातावेदनीय	देशोन पूर्वकोटि	„
५	असातावेदनीय	अन्तर्मुहूर्त	„
६	चार आयु	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
७	देवद्विक, वैक्रियद्विक	तीन पत्योपम	एक समय
८	मनुष्यद्विक, औदारिक अंगोपांग, वज्रऋषभ- नाराचसंहनन	तैतीस सागरोपम	„
९	तिर्यचद्विक	असंख्य उत्सर्पिणी अव- सर्पिणी	„

क्रम	प्रकृतिधां	उत्कृष्ट बंधकाल	जघन्य बंधकाल
१०	नरकद्विक, एकेन्द्रियादि- जातिचतुष्क, आहारक- द्विक, अंतिम पांच संहतन व संस्थान, अशुभ विहा- योगति, आतप, उद्धीत, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति, स्थावर दशक	अन्तर्मुहूर्त	एक समय
११	पंचेन्द्रियजाति, पराघात, उच्छ्वास, त्रसचतुष्क	साधिक चार पल्योपम सहित एक सौ पचासी सागरोपम	एक समय
१२	औदारिक शरीर	असंख्य पुद्गल परावर्तन	
१३	वर्णचतुष्क, नैजस, कर्मण, अगुरुलघु, निर्माण, उप- घात	अभयाश्रयी अनादि- अन्त, भयाश्रयी अनादि- सांत, पतिताश्रयी देशोन अर्ध पुद्गल परावर्तन	अन्तर्मुहूर्त
१४	समचतुरस्रसंस्थान, शुभ विहायोगति, सुभग, सुस्वर आदेय	साधिक एक सौ वत्तंस सागरोपम	एक समय
१५	तीर्थकरनामकर्म	देशोन दो पूर्ण कोटि वर्ष अधिक त्रेतीस सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
१६	उच्चगोत्र	साधिक एक सौ वत्तीस सागरोपम	एक समय
१७	नीचगोत्र	असंख्यात उत्सपिणी अवसपिणी	एक समय

इस प्रकार से प्रदेशबंध का वर्णन पूर्ण होने के साथ बंधविधि का विचार समाप्त हुआ और बंध के साथ उदय का क्रम जुड़ा हुआ है। क्योंकि प्रत्येक कर्मप्रकृति बंध होने के पश्चात् विपाक द्वारा अपना कार्य करके निर्जीर्ण होती है। विपाक के लिये उस-उस प्रकृति का उदय में आना आवश्यक है। अतः अब उदयविधि का प्रतिपादन करते हैं।

उदयविधि

उदयविधि का विचार प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम उदय के प्रकारों को बतलाते हैं—

होइ अणाई अणंतो अणाइसंतो ध्रुवोदयाणुदओ ।

साइसपज्जवसाणो अध्रुवाणं तह य मिच्छस्स ॥६७॥

शब्दार्थ—होइ—होता है, अणाइ अणंतो—अनादि-अनंत, अणाइसंतो—अनादि-सांत, ध्रुवोदयाणुदओ—ध्रुवोदया प्रकृतियों का उदय, साइसपज्जवसाणो सादि-सांत, अध्रुवाणं—अध्रुवोदया प्रकृतियों का, तह—तथा, य—और, मिच्छस्स—मिथ्यात्व का ।

गाथार्थ—ध्रुवोदया प्रकृतियों का उदय अनादि-अनन्त और अनादि-सांत इस तरह दो प्रकार का है और अध्रुवोदया प्रकृतियों तथा मिथ्यात्व का उदय सादि-सांत है ।

विशेषार्थ—बंध की तरह उदय में भी प्रकृतियां दो तरह की हैं—ध्रुवोदया और अध्रुवोदया । गाथा में इन दोनों तरह की प्रकृतियों के उदय के रूपों को बतलाया है ।

उदयविधि से लेकर बंधन आदि आठ करणों के स्वरूप का विचार कर्मप्रकृति के आधार से किया जायेगा । कर्मप्रकृति के कर्ता श्री शिव-

शर्मसूरि एकसौ अट्ठावन प्रकृतियां^१ मानते हैं। अतः उनके अभिप्रायानुसार ध्रुवोदया प्रकृतियां अड़तालीस होती हैं। जो इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपंचक, अंतरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क मिथ्यात्व-मोहनीय, वर्णादि बीस, तैजस-कर्मणसप्तक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, अगुरुलघु और निर्माण।

इन अड़तालीस प्रकृतियों का उदय 'होइ अणाइअणंतो अणाइसंतो' अनादि-अनन्त और अनादि-सांत इस तरह दो प्रकार का है। जो इस तरह से जानना चाहिए कि अभव्य की अपेक्षा उक्त प्रकृतियों का उदय अनादि-अनन्त है। क्योंकि अभव्यों के इन प्रकृतियों का अनादि काल से उदय है और किसी भी समय उदयविच्छेद संभव नहीं है तथा भव्यों की अपेक्षा अनादि-सांत है। क्योंकि मोक्ष में जाने पर इनका उदय-विच्छेद अवश्यभावी है। इन ध्रुवोदया अड़तालीस प्रकृतियों में से उदय की अपेक्षा मिथ्यात्व की विशेषता का स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है।

उक्त ध्रुवोदया प्रकृतियों से शेष रही अध्रुवोदया एक सौ दस प्रकृतियों का उदय सादि-सांत है—'साइसपज्जवसाणो अधुवाणं'। इसका कारण यह है ये सभी प्रकृतियां अध्रुवोदय होने से परावर्तित हो-होकर उदय में आती हैं। इसीलिये अध्रुवोदया प्रकृतियों का उदय सादि-सांत है तथा ध्रुवोदया होते हुए भी मिथ्यात्वमोहनीय का उदय भी सादि-सांत है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१. कर्मप्रकृतिकार के अभिप्राय से बंधननाम के पन्द्रह भेद होने से आठों कर्मों की उत्तर प्रकृतियां एक सौ अट्ठावन होती हैं किन्तु पंचसंग्रहकार पांच बंधन मानने वाले होने से एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियां मानते हैं। किन्तु यहाँ कर्मप्रकृतिकार के अभिप्रायानुसार वर्णन किये जाने से एकसौ अट्ठावन प्रकृतियां कही हैं। यह विवक्षाभेद है, मतान्तर नहीं है।

सम्यक्त्व से पतित हुए जीवों की अपेक्षा मिथ्यात्व के उदय की सादि और पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर मिथ्यात्व का उदयविच्छेद होने से अध्रुव-सांत । इस प्रकार अन्य ध्रुवोदया प्रकृतियों की अपेक्षा मिथ्यात्व के उदय की यह विशेषता है । अर्थात् मिथ्यात्व के उदय के तीन प्रकार हैं—अनादि-अनन्त, अनादि-सांत और सादि-सांत । इन तीन भंगों में से पहले दो भंग अनादि-अनन्त और अनादि-सांत तो मिथ्यात्व के ध्रुवोदया होने से और ध्रुवोदया प्रकृतियों के दो भंग बताये जाने से मिथ्यात्व के भी दो भंग उसी प्रकार समझ लेना चाहिए और तीसरे सादि-सांत भंग को ग्रन्थकार आचार्य ने 'तह य मिच्छस्स' पद द्वारा साक्षात् स्पष्ट बताया है ।

इस प्रकार से उदय प्रकृतियों के उदय प्रकारों को जानना चाहिये । अब उदय के भेदों को बतलाते हैं ।

उदय के भेद

पयडीठिइमाईया भेया पुव्वुत्तया इहं नेया ।

उदीरणउदयाणं जन्नाणत्तं तयं वोच्छं ॥६८॥

शब्दार्थ—पयडीठिइमाईया—प्रकृति, स्थिति आदि, भेया—भेद, पुव्वुत्तया—पूर्वोक्त—पूर्व में कहे गये, इहं—यहाँ, नेया—जानना चाहिए, उदीरण-उदयाणं—उदीरणा और उदय में, जन्नाणत्तं—जो भेद—भिन्नता है, तयं—उसको, वोच्छं—कहूँगा ।

गाथार्थ—प्रकृति, स्थिति आदि जो भेद पूर्व में कहे हैं, वे यहाँ भी जानना चाहिये । उदीरणा और उदय में जो भेद—भिन्नता है, उसको कहूँगा ।

विशेषार्थ—गाथा में उदय के भेदों का संकेत करते हुए उदय और उदीरणा में जो भेद है, उसको स्पष्ट करने का निर्देश किया है । सर्वप्रथम उदय के भेदों का निर्देश करते हैं—

‘पयडोठिइमाईया भेया’ अर्थात् जिस तरह से पहले बंधविधि के विचार प्रसंग में प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध इस तरह चार भेद बताये हैं वे सभी यहाँ उदयाधिकार में भी जानना चाहिये, किन्तु इतनी विशेषता है कि बंध के स्थान पर उदय शब्द का प्रयोग किया जाये। यथा—प्रकृत्युदय, स्थित्युदय, अनुभागोदय और प्रदेशोदय।

अब गाथा के उत्तरार्ध का आशय स्पष्ट करते हैं।

उदयविधि का यहाँ वर्णन करते हैं तथा उदीरणा का स्वरूप उदीरणाकरण में विस्तार से कहा जायेगा और उदीरणा के स्वरूप को आगे कहने का कारण यह है कि उदय और उदीरणा सहचारी होने से इन दोनों के स्वामित्व के विषय में प्रायः कोई भेद नहीं है। क्योंकि जिन प्रकृतियों का जहाँ तक उदय होता है वहीं तक उनकी उदीरणा होती है। इसी प्रकार जिन प्रकृतियों की जहाँ तक उदीरणा होती है, वहाँ तक उनका उदय भी होता है। ऐसी स्थिति में जिस प्रकार से प्रकृति आदि भेद और स्वामित्व आदि का विचार उदीरणाधिकार में किया जायेगा, वह सब यहाँ भी उसी तरह जान लेना चाहिए। अतः मात्र उदय और उदीरणा के प्रकृति आदि भेद के विषय में जो भिन्नता है, उसका यहाँ विचार किया जायेगा और शेष सब वर्णन उदीरणा की तरह समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार से उदय और उदीरणा में सामान्य से यथासंभव समानता और भिन्नता का संकेत करने के बाद अब उदय और उदीरणा में प्रकृतिभेद के विषय में भिन्नता बताने के लिये जिन प्रकृतियों का उदीरणा के सिवाय भी कुछ काल उदय होता है, उसको बतलाते हैं।

विशेष उदयवती प्रकृतियां

चरिमोदयमुच्चाणं अजोगिकालं उदीरणाविरहे ।

देसूणपुव्वकोडी मणुयाउ य सायसायाणं ॥६६॥

तद्वयन्वियपञ्जती जा ता निद्दाण होइ पंचण्हं ।

उदओ आवलिअंते तेबीसाए उ सेसाणं ॥१००॥

शब्दार्थ—चरिमोदय—चरमसमय में उदयवती, उच्चगोत्र—उच्चगोत्र, अजोगि काल—अयोगिकेवली गुणस्थान के काल पर्यन्त, उदीरणाविरहे—उदीरणा के बिना, देसुणपुब्बकोडो—देशोनपूर्वकोटि पर्यन्त, मनुयाउ—मनुष्यायु, य—और, सायसायाण—साता और असातावेदनीय का ।

तद्वयन्वियपञ्जती—तीसरी पर्याप्ति से, जा—जब तक, ता—तब तक निद्दाण—निद्राओं का, होइ—होता है, पंचण्हं—पांच, उदओ—उदय, आवलि—आवलिका, अंते—अंतिम, तेबीसाए—तेईस प्रकृतियों का, उ—और, सेसाणं—शेष ।

गाथार्थ—अयोगिकेवली गुणस्थान के चरम समय में उदयवती नामनवक प्रकृतियों और उच्चगोत्र का अयोगिकेवलीगुणस्थान के काल पर्यन्त, मनुष्यायु और साता-असातावेदनीय का देशोन पूर्व-कोटि पर्यन्त, पांच निद्राओं का तीसरी पर्याप्ति से पर्याप्त होने तक और शेष तेईस प्रकृतियों का अंतिम आवलिका काल पर्यन्त उदीरणा के सिवाय केवल उदय होता है ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में उन प्रकृतियों का उल्लेख है जिनका अपने-अपने योग्य स्थान में उदीरणा के सिवाय केवल उदय ही होता है । ऐसी प्रकृतियां इकतालीस हैं । कारण सहित जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय में जो प्रकृतियां केवल उदय में वर्तमान होती हैं, उन्हें चरमोदया प्रकृति कहते हैं । ऐसी प्रकृतियों के नाम हैं—मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, सुभगनाम, आदेयनाम, यशःकीर्तिनाम, तीर्थकरनाम और उच्चगोत्र । इनमें से आदि की नौ प्रकृतियां नामकर्म की हैं और अंतिम गोत्रकर्म की है । इन प्रकृतियों का अयोगिकेवलीगुणस्थान में उस

गुणस्थान के काल पर्यन्त उदीरणा के सिवाय केवल उदय ही होता है। तीर्थकरनामकर्म के विषय में इतना विशेष जानना चाहिये कि तीर्थकर भगवान के ही तीर्थकरनाम का उदय होता है, किन्तु सामान्य केवली भगवन्तों को उदय नहीं होता है। तथा—

‘मणुयाउ य सायसायाण’—अर्थात् मनुष्यायु, सातावेदनीय और असातावेदनीय इन तीन प्रकृतियों का प्रमत्तसंयत गुणस्थान से आगे शेष गुणस्थानों में वर्तमान जीवों के देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त उदीरणा के सिवाय केवल उदय ही होता है—‘देसूण पुव्वकोडी’। यह देशोनपूर्व-कोटिकाल सयोगिकेवलीगुणस्थान की अपेक्षा समझना चाहिये। क्योंकि शेष समस्त गुणस्थानों का काल तो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है।

इन मनुष्यायु आदि तीन प्रकृतियों की प्रमत्तसंयतगुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में उदीरणा न होने का कारण यह है कि उक्त तीन प्रकृतियों की उदीरणा संक्लिष्ट अध्यवसाय के योग से होती है और अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थान वाले जीवों के तो विशुद्ध, अतिविशुद्ध अध्यवसाय होते हैं। इसलिये उनके इन तीन प्रकृतियों की उदीरणा होना संभव नहीं है। तथा—

‘तइयच्चियपज्जत्ती’ अर्थात् जीव के शरीरपर्याप्ति से पर्याप्ति होने के अनन्तर समय से लेकर तीसरी इन्द्रियपर्याप्ति जिस समय पूर्ण होती है, वहाँ तक—उतने काल पर्यन्त पांचों निद्राओं की तथास्वभाव से उदीरणा नहीं होती है मात्र उदय ही होता है^१—‘निद्राण होइ ंचण्हं उदओ’। तथा—

१. कर्मप्रकृति और दिग्भ्रमर कर्मसाहित्य का भी यही मन्व्य है। लेकिन पंचसंग्रह की स्वोन्नवृत्ति में बताया है कि आहारपर्याप्ति से लेकर इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने तक पांचों निद्राओं का केवल उदय होता है, उदीरणा नहीं होती और उसके बाद उदय-उदीरणा साथ होती है। तत्सम्बन्धी पाठ इस प्रकार है—यावदाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तयस्तावन्निद्राणामुदयः एतदूर्ध्वं उदीरणासहचरो भवत्युदयाः।

‘आवलिअंते तेवीसाए उ सेसाण’ अर्थात् ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, अंतरायपंचक, संज्वलन लोभ, तीन वेद, सम्यक्त्व-मोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, नरकायु, तिर्यचायु और देवायु रूप इन तेईस प्रकृतियों का अंतिम आवलिका में केवल उदय ही होता है, किन्तु उदीरणा नहीं होती है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और अंतरायपंचक इन चौदह प्रकृतियों का बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान की चरम आवलिका में केवल उदय ही होता है, किन्तु उदीरणा नहीं होती है। इसका कारण यह है कि उस समय इन सभी चौदह प्रकृतियों की अंतिम एक उदयावलिका ही शेष रहती है। उदयावलिका से ऊपर कोई भी दलिक शेष रहा नहीं तथा उदयावलिका में कोई करण प्रवर्तमान नहीं होता है। इसलिये चरम आवलिका में इन चौदह प्रकृतियों की उदीरणा न होकर केवल उदय ही होता है।

इसी प्रकार क्षपकश्रेणि में सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान की पर्यन्तावलिका में संज्वलन लोभ का केवल उदय ही होता है। मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद इन चार प्रकृतियों का अंतरकरण करने के बाद प्रथम स्थिति की जब आवलिका शेष रहे तब केवल उदय ही होता है। क्षायिक सम्यक्त्व को उपार्जित करते समय सम्यक्त्वमोहनीय का क्षय करते जब अंतिम एक आवलिका शेष रहे तब सम्यक्त्वमोहनीय का भी केवल उदय होता है, उदीरणा नहीं होती है।

नरकायु, तिर्यचायु और देवायु इन तीन आयु का अपने-अपने भव की अंतिम आवलिका में केवल उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती है। क्योंकि उदयावलिका में प्राविष्ट समस्त कर्म उदीरणा के अयोग्य होते हैं।

मनुष्यायु का उदीरणा के बिना भी केवल उदयकाल देशोन-पूर्वकोटि प्रमाण पहले बताया जा चुका है। इसलिये मिथ्यादृष्टि

आदि गुणस्थान वालों के मनुष्यायु का उसकी अंतिम आवलिका में उदीरणा के अभाव में जो आवलिकामात्र उदयकाल है, उसका पृथक् से निर्देश नहीं किया है। परन्तु उसके अन्तर्गत उसे भी समझ लेना चाहिये। क्योंकि जब पूर्वकोटि का कथन किया तब आवलिका मात्र काल तो उसका एक अत्यल्प भाग रूप है। अतः पृथक् से नहीं कहे जाने पर भी सामर्थ्य से समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार उक्त इकतालीस प्रकृतियों के सिवाय शेष प्रकृतियों का जब तक उदीरणा हो तब तक उदय का क्रम चलता रहता है दोनों साथ ही प्रारम्भ होते हैं और साथ ही नष्ट होते हैं।

इस प्रकार से प्रकृत्युदय में उदीरणापेक्षा विशेषता बतलाने के बाद अब सादि आदि प्ररूपणा करते हैं। वह मूलप्रकृतिविषयक और उत्तरप्रकृतिविषयक इस तरह दो प्रकार की है। जिसका यहाँ विस्तार से वर्णन करते हैं।

प्रकृत्युदयापेक्षा सादि अनादि प्ररूपणा

मोहे चउहा तिविहोवसेस सत्तण्ह मूलपगईणं ।

मिच्छत्तुदओ चउहा अधुव धुवाणं दुविह तिविहो ॥१०१॥

शब्दार्थ—मोहे—मोहनीय का, चउहा—चार प्रकार का, तिविहो—तीन प्रकार का, अवसेस—शेष, सत्तण्ह—सात, मूलपगईणं—मूल प्रकृतियों, मिच्छत्तुदओ—मिथ्यात्व का उदय, चउहा—चार प्रकार का, अधुवधुवाणं—अधुव एवं ध्रुवोदया प्रकृतियों का, दुविह—दो प्रकार का, तिविहो—तीन प्रकार का।

गाथार्थ—मोहनीयकर्म का उदय चार प्रकार का और शेष सात मूल प्रकृतियों का उदय तीन प्रकार का है तथा मिथ्यात्व का उदय चार प्रकार का और अध्रुवोदया तथा शेष ध्रुवोदया प्रकृतियों का उदय अनुक्रम से दो और तीन प्रकार का है।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार आचार्य ने गाथा में मूल और उत्तर प्रकृतियों सादि आदि भंगों का निर्देश किया है। उसमें से पहले मूल प्रकृतियों सम्बन्धी सादि आदि भंगों को बतलाते हैं—

‘मोहे चउहा’ अर्थात् मोहनीयकर्म का उदय सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव, इस तरह चार प्रकार का है। जो इस तरह जानना चाहिये—उपशांतमोहगुणस्थान में मोहनीय का उदय होता नहीं, किन्तु वहाँ से गिरने पर होता है। इसलिये सादि है, ग्यारहवां उपशांतमोह गुणस्थान जिन्होंने प्राप्त नहीं किया उनकी अपेक्षा अनादि तथा ध्रुव, अध्रुव अनुक्रम से अभव्य और भव्य की अपेक्षा है। तथा—

मोहनीयकर्म से शेष रहे सात मूलकर्मों का उदय अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार का है—‘तिविहोवसेस सत्तण्ह मूल पमईणं।’ जो इस प्रकार जानना चाहिये कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त तथा वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुकर्म का चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त उदय होता है। उस-उस गुणस्थान में उन-उन कर्मों के उदय का क्षय होने के बाद वहाँ से पतन न होने से पुनः उनका उदय प्रारम्भ नहीं होता है। इसलिये इन सातों कर्मों का उदय अनादि है तथा भव्य जब क्षपकश्चेणि पर आरूढ़ होता है और उक्त गुणस्थानों को प्राप्त करता है तब उनका उदयविच्छेद हो जाने से अध्रुव-सान्त और अभव्य के किसी भी काल में पूर्वोक्त कर्मों का उदयविच्छेद नहीं होने से ध्रुव अनन्त है।

इस प्रकार मूलकर्म विषयक सादि आदि भंगों का विचार करने के बाद अब उत्तरप्रकृतियों सम्बन्धी सादि आदि भंगों का विचार करते हैं।

उत्तरप्रकृतियों के भंगों की प्ररूपणा

‘मिच्छत्तुदओ चउहा’ अर्थात् मिथ्यात्वमोहनीय का उदय सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव, इस तरह चार प्रकार का है। जो इस प्रकार जानना चाहिये—

सम्यक्त्व से च्युत होने वालों के मिथ्यात्व का उदय सादि है। उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया यानी अभी तक भी जिन्होंने सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं किया, उनकी अपेक्षा अनादि, अभव्य की अपेक्षा ध्रुव और भव्य की अपेक्षा अध्रुव है। तथा—

‘अध्रुव-ध्रुवाणं दुविह तिविहा’ अर्थात् अध्रुवोदया प्रकृतियों का उदय सादि और अध्रुव-सांत इस तरह दो प्रकार का और ध्रुवोदया प्रकृतियों का उदय अनादि ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार का है। इन दोनों प्रकार की प्रकृतियों में से अल्पवक्तव्य होने से पहले अध्रुवोदया प्रकृतियों के भगों का विचार करते हैं।

अध्रुवोदया प्रकृतियों का उदय स्थायी नहीं किन्तु अध्रुव होने से वे सभी प्रकृतियां सादि और अध्रुव उदयवाली जानना चाहिये। तथा—

मिथ्यात्वमोहनीय के सिवाय शेष सैंतालीस ध्रुवोदया प्रकृतियों का उदय अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार का है। जो इस प्रकार है—

ध्रुवोदया घातिकर्म की प्रकृतियों का क्षीणमोहगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त और नामकर्म की ध्रुवोदया प्रकृतियों का सयोगि-शुक्लीगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त उदय होता है। किन्तु उन-उन गुणस्थानों से पतन न होने से उन प्रकृतियों के उदय में सादि भंग संभव नहीं है। उन स्थानों को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया है उन समस्त संसारी जीवों के पूर्वोक्त ध्रुवोदया प्रकृतियों का उदय अनादि तथा ध्रुव और अध्रुव क्रमशः अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

इस प्रकार से प्रकृत्युदय की सादि अनादि प्ररूपणा करने के साथ प्रकृति-उदय का वर्णन समाप्त होता है। अब स्थित्युदय अर्थात् अधिक से अधिक और कम से कम स्थिति के उदय की प्ररूपणा करते हैं। इसके लिये पहले स्थिति-उदय के प्रकारों को बतलाते हैं।

स्थिति-उदय के प्रकार

उदओ ठिइक्खएणं संपत्तीए सभावतो पढमो ।

सति तम्मि भवे बीओ पओगओ दीरणा उदओ ॥१०२॥

शब्दार्थ—उदओ—उदय, ठिइक्खएणं—स्थिति का क्षय होने से, संपत्तीए—संप्राप्त, सभावतो—स्वभाव से, पढमो—पहला, सति—होते, तम्मि—उसमें, भवे—होता है, बीओ—दूसरा, पओगओ—प्रयोग से, दीरणा—उदीरणा, उदओ—उदय ।

गाथार्थ—स्थिति (अबाधाकाल रूप) का क्षय होने से संप्राप्त—प्राप्त होने वाला उदय पहला स्वभावोदय है और उस (स्वभावोदय) के होते हुए (उदीरणा रूप) प्रयोग से जो होता है, वह दूसरा उदीरणोदय है ।

विशेषार्थ—गाथा में स्थिति के उदय के स्वभावोदय और उदीरणोदय इन दो रूपों का स्वरूप बतलाया है । जो इस प्रकार जानना चाहिये—

‘ठिइक्खएणं’ अर्थात् स्थिति—अबाधाकाल रूप स्थिति का क्षय होने पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव रूप उदय के हेतुओं^१ के प्राप्त होने पर प्रयत्न के बिना स्वाभाविक रीति से होनेवाला उदय स्वभावोदय कहलाता है । इसके संप्राप्तोदय अथवा उदयोदय ये अपर नाम हैं । इस प्रकार से स्वभावोदय का स्वरूप जानना चाहिये ।

अब उदीरणोदय के स्वरूप का निर्देश करते हैं—स्वभावोदय के प्रवर्तमान होने पर उदीरणाकरणरूप प्रयोग द्वारा उदयावलिका से ऊपर के स्थानों में विद्यमान दलिकों को आकृष्ट करके उदयावलिका-

१ ये कारण प्रकृतियों के रसोदय में हेतु हैं । अर्थात् अबाधाकाल से ऊपर के स्थानों में जीव के जाने पर ऊपर बताये गये कारणों के अभाव में प्रदेशोदय होता है, किन्तु रसोदय तो ऊपर बताये गये कारणों के सद्भाव में होता है ।

गत दलिकों के साथ जो वेदन किया जाता है, उसे प्रयोग से किया जानेवाला उदय कहते हैं। इसके अपर नाम असंप्राप्तोदय अथवा उदीरणोदय भी हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अबाधाकाल का क्षय होने पर स्वाभाविक रीति से होने वाला उदय स्वभावोदय और वह स्वाभाविक उदय हो तब उदीरणाकरण रूप प्रयत्न द्वारा होने वाला उदय उदीरणोदय है। इस तरह उदय दो प्रकार से होता है।

यहाँ स्थिति-उदय का स्वरूप कहने के प्रसंग में उदय के दो प्रकार बताने का कारण यह है कि जितने स्थिति-स्थानों का उदीरणा से अनुभव किया जाता है, उसकी अपेक्षा उदय से अनुभव किये जाने वाले स्थान अधिक होते हैं।

सामान्यतया उस स्थिति का उदय जघन्य और उत्कृष्ट इस तरह दो प्रकार का है। स्थिति के उदय का अर्थ है उन-उन स्थानों में विद्यमान दलिकों का उदय। परन्तु इतना ध्यान रखना चाहिये कि जिन-जिन स्थानों में भोगने के लिये दलिकों की रचना हुई है, उनमें का कोई भी स्थान उदीरणा द्वारा खाली नहीं किया जा सकता है, किन्तु उन-उन स्थानों में के दलिकों को योगानुसार खींचकर उदयावलिका के स्थानों में रहे हुए दलिकों के साथ भोगने योग्य किया जाता है। उसमें अधिक से अधिक जितने स्थानों में के दलिकों का अनुभव किया जाता है उसे उत्कृष्ट स्थिति-उदय और कम से कम जितने स्थानों में के दलिकों का अनुभव किया जाता है उसे जघन्य स्थिति-उदय कहते हैं।

उदीरणाकरण द्वारा जितने स्थानों के दलिकों का अनुभव किया जाता है, उसकी अपेक्षा उदय से अनुभव किये जाने वाले दलिक अधिक होते हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उदीरणजोग्गाणं अब्भहियठिईए उदयजोग्गाओ ।

शब्दार्थ—उदीरणजोग्गाणं—उदीरणायोग्य स्थिति से, अब्भहियठिईए—एक स्थिति-स्थान से अधिक, उदयजोग्गाओ—उदययोग्यस्थिति ।

गाथार्थ—उदीरणायोग्य स्थिति से उदययोग्य स्थिति एक स्थिति-स्थान से अधिक है ।

विशेषार्थ—गाथा के पूर्वार्ध में उदीरणायोग्य स्थिति से उदय-योग्य स्थिति को अधिकता का निर्देश किया है । जिसका तात्पर्य इस प्रकार है—

उदीरणायोग्य उत्कृष्ट स्थितिवाली प्रकृतियों की उदीरणा योग्य जो स्थितियाँ हैं, उनसे उदययोग्य स्थितियाँ उदय प्राप्त एक स्थिति से अधिक हैं । अर्थात् उदीरणा के द्वारा अधिक से अधिक जितने स्थितिस्थानों में के दलिकों का अनुभव किया जाता है उनसे उदय द्वारा एक स्थितिस्थान के अधिक दलिकों का अनुभव किया जाता है । जो इस प्रकार जानना चाहिये कि उत्कृष्ट स्थिति जब बंधती है तब अबाधाकाल में भी पहले बंधे हुए या जिनका अबाधाकाल बीत गया वे दलिक हैं । क्योंकि अबाधाकाल तो विवक्षित समय में बंधी हुई कर्मप्रकृतियों का होता है, किन्तु सम्पूर्ण कर्मलता का नहीं होता है । उदाहरणार्थ—जिस समय उत्कृष्ट स्थिति वाले मतिज्ञानावरण कर्म का बंध हो तब उस समय से लेकर उसका तीन हजार वर्ष का अबाधा-काल होता है, परन्तु सम्पूर्ण मतिज्ञानावरण कर्म का नहीं होता है । क्योंकि पूर्व में बंधे हुए मतिज्ञानावरण का या जिसका अबाधाकाल बीत गया है, उसकी दलरचना तो विवक्षित समय में बंधे हुए मति-ज्ञानावरण के अबाधाकाल में भी होती है । अतः जब उत्कृष्ट स्थिति का बंध हो तब बंधावलिका के पूर्ण होने के बाद उसके पीछे के स्थिति-स्थानों को विपाकोदय द्वारा अनुभव करने वाला जीव उस समय से लेकर उदयावलिका से ऊपर के समस्त स्थितिस्थानों की उदीरणा करता है और उदीरणा करके अनुभव करता है । अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति का जिस समय बंध होता है, उस समय से लेकर बंधावलिका जिस समय पूर्ण होती है, उसके अनन्तरवर्ती स्थान को रसोदय से

अनुभव करता हुआ उदयावलिका से ऊपर के बंधावलिका^१ उदयावलिका^२ हीन उत्कृष्ट स्थिति के जितने समय होते हैं, उन समस्त स्थितिस्थानों में रहे हुए दलिकों को योग के प्रमाण में खींचकर उनको उदयावलिका के दलिकों के साथ मिलाकर अनुभव करता है ।

इस प्रकार होने से उदयावलिकाहीन शेष समस्त स्थिति की उदय और उदीरणा तुल्य है । क्योंकि जितने स्थितिस्थानों में से दलिकों को खींचा गया है उन प्रत्येक का अनुभव तो होना ही है, जिससे उन स्थानों की अपेक्षा तो उदय और उदीरणा तुल्य है, किन्तु मात्र उदय में एक स्थान अधिक है । क्योंकि जिस स्थितिस्थान का अनुभव करता हुआ उदयावलिका से ऊपर के स्थितिस्थानों की उदीरणा करता है, वे स्थान उदयावलिका के अन्तर्गत होने से, उनकी उदीरणा नहीं होती है, उनमें तो मात्र उदय ही प्रवर्तमान होता है । इसलिए उत्कृष्ट स्थिति की उदीरणा से उत्कृष्ट स्थिति का उदय वेद्यमान एक समय मात्र स्थिति से अधिक है ।

एक समय अधिक है, कहने का कारण यह है कि जीव प्रति समय उदयावलिका में के एक स्थान का ही अनुभव करता है । किन्तु किसी भी समय सम्पूर्ण उदयावलिका के स्थानों का एक साथ अनुभव नहीं करता है । बंधावलिका—उदयावलिकाहीन उत्कृष्ट स्थिति का उदय उदयबन्धोत्कृष्टा छियासी प्रकृतियों का समझना चाहिए और शेष

१ बंधावलिका अर्थात् जिस समय बंध हो, उस समय से लेकर आवलिका जितना काल ।

२ उदयवालिका—उदय समय से लेकर एक आवलिका प्रमाण काल में भोगी जा सके ऐसी दलरचना । जिस समय कर्म बंध होता है, उस समय से लेकर आवलिका पर्यंत उस बंधे हुए कर्म में कोई करण प्रवर्तित नहीं होता है । इसी प्रकार उदय समय से लेकर एक आवलिका काल में भोगने योग्य कर्मदल में भी कोई करण लागू नहीं होता है ।

प्रकृतियों का^१ तो सत्तागत स्थिति के अनुसार जानना चाहिए । परन्तु उनमें भी उक्त न्यायानुसार एक स्थितिस्थान से अधिक समझना चाहिए ।

इस प्रकार से उत्कृष्ट स्थिति—उदय विषयक विशेषता को बतलाने के बाद अब जघन्य स्थिति के उदय के सम्बन्ध में विशेष कहते हैं—

हस्सुदओ एगठिईणं निद्दुणा एगियालाए ॥ १०३ ॥

शब्दार्थ—हस्सुदओ—जघन्य उदय, एगठिईणं—एक स्थिति का, निद्दुणा—निद्राओं के बिना, एगियालाए—इकतालीस प्रकृतियों का ।

१. शेष प्रकृतियों का अर्थात् उदयसंक्रमोत्कृष्टा तीस प्रकृतियाँ । इनके नाम तीसरे अधिकार की ६२वीं गाथा में बतलाये हैं । इनमें से सम्यक्त्वमोहनीय के सिवाय उनतीस प्रकृतियों की अपने-अपने उदयकाल में अन्य प्रकृतियों के संक्रम से एक आवलिका न्यून अपने मूलकर्म की उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति सत्ता होती है और उस आवलिकान्यून हुई उत्कृष्ट स्थिति-सत्ता में से संक्रमावलिका व्यतीत होने के बाद उदयावलिका के ऊपर के सर्व स्थितिस्थानगत दलिक उदीरणायोग्य होने से तीन आवलिका न्यून (बंध, संक्रम, उदय आवलिका न्यून) अपने मूलकर्म के उत्कृष्ट स्थिति बंध प्रमाण उत्कृष्ट उदीरणा योग्य स्थितियाँ होती हैं ।

अनुदयबन्धोत्कृष्टा नरकगति आदि बीम एवं तीर्थकरनाम और आहारकसप्तक के बिना अनुदय संक्रमोत्कृष्टा मनुष्यानुपूर्वी आदि दस प्रकृतियों की उत्कृष्ट उदीरणायोग्य स्थितियाँ अन्तर्मुहूर्तन्यून अपने-अपने मूलकर्म के उत्कृष्ट स्थितिबंध के समान हैं । आहारकसप्तक की अंतर्मुहूर्त-न्यून अंतःकोडाकोडी सागरोपम और जिन नाम की पत्योपम के असंख्यातबे भाग प्रमाण उत्कृष्ट उदीरणायोग्य स्थितियाँ हैं । विस्तार से विवेचन आगे उदीरणाकरण अधिकार में किया गया है ।

गाथार्थ—पांच निद्राओं के बिना इकतालीस प्रकृतियों का अन्तिम जो एक स्थिति का उदय वह जघन्य उदय जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—पूर्व में जिन प्रकृतियों का उद्दीरणा के काल से उदय का काल अधिक कहा है उन इकतालीस प्रकृतियों में से पांच निद्राओं के सिवाय शेष रही मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थकरनाम, उच्चगोत्र, आयुचतुष्क, साता-असातावेदनीय, ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, अन्तराय-पंचक, संज्वलन लोभ, वेदत्रिक, सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीय इन छत्तीस प्रकृतियों की अन्तिम समयमात्र स्थिति रहे तब जघन्य स्थिति का उदय समझना चाहिए अर्थात् अयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय में जिनका उदय हो उन प्रकृतियों का तथा आयुचतुष्क, ज्ञानावरण-पंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, संज्वलन लोभ और सम्यक्त्व-मोहनीय इन समस्त प्रकृतियों की स्थिति का क्षय करते-करते सत्ता में अन्तिम एक स्थितिस्थान शेष रहे तब उसका वेदन करने पर उनकी जघन्यस्थिति का उदय समझना चाहिये ।

तीन वेद तथा मिथ्यात्वमोहनीय की प्रथम स्थिति का भोग करते-करते जब अन्तिम एक समय शेष रहे तब उसका भोग करते हुए उन प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का उदय जानना चाहिये ।

प्रश्न—यद्यपि निद्रापंचक का शरीरपर्याप्ति पूर्ण करने के बाद इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण न होने के अन्तरिम काल में केवल उदय ही होता है, उद्दीरणा नहीं होती है । इसलिये उत्तरे काल के अन्तिम समय में उस स्थान का अनुभव करने पर जघन्य स्थिति का उदय क्यों नहीं कहा है ?

उत्तर—उसे जघन्य स्थिति का उदय न कहने का कारण यह है कि यहाँ जघन्य स्थिति का उदय उसे कहा है कि कोई भी ऐसे एक स्थान का अनुभव करे कि जिसका वेदन करने पर उसके अन्दर उस समय में

दूसरे किसी भी स्थान के दलिक न मिल सकते हों। जैसे कि बारहवें गुणस्थान के चरम समय में ज्ञानावरणकर्म के अन्तिम स्थान का जब वेदन करता है तब उस समय उसमें अन्य किसी स्थान का दलिक नहीं मिलता है। किन्तु पांच निद्राओं^१ में तो यद्यपि शरीरपर्याप्ति पूर्ण करने के बाद केवल उदय होता है लेकिन सत्ता में बहुत-सी स्थिति होने से अपवर्तना द्वारा ऊपर के स्थान के दलिक मिल सकते हैं और उनका भी उदय होता है। शुद्ध एक स्थिति का उदय नहीं होता है। इसलिये उसका निषेध किया है।

उपर्युक्त प्रकृतियों के सिवाय शेष प्रकृतियों का उदय और उदीरणा साथ ही प्रारम्भ होती है और साथ ही रुकती है। इसलिये उन प्रकृतियों की जो जघन्य स्थिति उदीरणा है उसी को जघन्य स्थिति उदय समझना चाहिये। परन्तु वहाँ भी मात्र उदयप्राप्त एक स्थान अधिक लेना चाहिए।

इसी तरह सादि आदि की प्ररूपणा जो यहाँ नहीं कही गई है, वह सब स्थिति उदीरणा में निरूपित क्रमानुसार समझ लेना चाहिए। अतः पुनरावृत्ति न होने देने के विचार से उसका यहाँ कथन नहीं किया है।

इस प्रकार से स्थिति-उदय का स्वरूप जनना चाहिये। अब क्रम प्राप्त अनुभाग-उदय का विचार प्रारम्भ करते हैं।

अनुभागेदय विषयक विशेषता

अणुभागुदओवि उदीरणाए तुल्लो जहन्तयं नवरं ।

आवलिगंते सम्मत्तावेयखीणंतलोभाणं ॥१०४॥

१. जो निद्रा का उदय बारहवें गुणस्थान तक मानते हैं, उनके मतानुसार बारहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में निद्रा और प्रचला के अन्तिम स्थान अनुभव करते हुए उसका जघन्य स्थिति उदय संभव है।

शब्दार्थ—अणुभागुदओवि—अनुभागोदय भी, उदीरणाए—अनुभागोदीरणा के, तुल्लो—तुल्य, जघन्य—जघन्य; नवरं—किन्तु, आवलिगंते—आवलिका के चरम समय में, सम्मत्त—सम्यक्त्वमोहनीय, वेय—वेद, खीणंत—क्षीणमोहगुणस्थान में जिनका अन्त होने वाला है, लोभाणं—संज्वलन लोभ का।

गाथार्थ—अनुभागोदय भी अनुभागोदीरणा के तुल्य समझना चाहिये। किन्तु सम्यक्त्वमोहनीय, वेदत्रिक और क्षीणमोहगुणस्थान में अन्त होने वाली प्रकृतियों तथा संज्वलन लोभ के जघन्य रस का उदय उस-उस प्रकृति की अन्तिम आवलिका के चरम समय में जानना चाहिये।

विशेषार्थ—जिन प्रकृतियों के अनुभागोदय में अनुभागोदीरणा से विशेषता है, उसका उल्लेख गाथा में किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अनुभाग के उदय का स्वरूप अनुभाग की उदीरणा के समान समझना चाहिये। यानी जिस रीति से जघन्य, उत्कृष्ट रस की उदीरणा का विचार उदीरणाकरण में विस्तारपूर्वक किया जायेगा, उसी प्रकार से यहाँ अनुभाग-उदय में भी जघन्य, उत्कृष्ट रस का उदय भी जानना चाहिये 'अणुभागुदओवि उदीरणाए तुल्लो'। लेकिन इतना विशेष है—

सम्यक्त्वमोहनीय, वेदत्रिक—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद तथा क्षीणमोहगुणस्थान में उदयविच्छेद को प्राप्त होने वाली ज्ञानावरण-पंचक, दर्शनावरण-चतुष्क, और अंतरायपंचक इन चौदह प्रकृतियों और संज्वलन लोभ कुल मिलाकर उन्नीस प्रकृतियों के जघन्य रस का उदय उन-उनकी अन्तिम आवलिका के चरम समय में समझना चाहिए।

तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरण-चतुष्क, तीन वेद, संज्वलन लोभ और सम्यक्त्वमोहनीय इन उन्नीस

प्रकृतियों का अपने-अपने अन्तकाल में उदीरणा न होने के बाद सत्ता में जब एक आवलिका मात्र स्थिति शेष रहे तब उस आवलिका के चरम समय में जघन्य रस का उदय समझना चाहिये । क्योंकि उक्त प्रकृतियों के जघन्य स्थिति का और जघन्य रस का उदय एक साथ ही होता है ।

इस प्रकार अनुभागोदय का विवेचन जानना चाहिये । अब अन्तिम प्रदेशोदय का विचार प्रारम्भ करते हैं । उसके दो अर्थाधिकार हैं— १ सादि-अनादि प्ररूपणा और २ स्वामित्व-प्ररूपणा । सादि-अनादि विकल्पों की प्ररूपणा के दो प्रकार हैं—मूल प्रकृति सम्बन्धी और उत्तर-प्रकृति सम्बन्धी । इन दोनों में से पहले मूल प्रकृति सम्बन्धी सादि आदि विकल्पों की प्ररूपणा करते हैं ।

प्रदेशोदय की सादि आदि विकल्प प्ररूपणा

— अजहन्नोऽणुक्कोसो चउह तिहा छण्ह चउविहो मोहे ।

आउस्स साइ-अधुवा सेसविगप्पा य सव्वेसि ॥१०५॥

शब्दार्थ—अजहन्नोऽणुक्कोसो—अजघन्य और अनुत्कृष्ट, चउह—चार प्रकार का, तिहा—तीन प्रकार का, छण्ह—छह कर्मों का, चउविहो—चार प्रकार के, मोहे—मोहनीयकर्म के, आउस्स—आयु के, साइ-अधुवा—सादि अध्रुव, सेसविगप्पा—शेष विकल्प, य—और, सव्वेसि—सभी प्रकृतियों के ।

गाथार्थ—छह कर्मों का (आयु और मोहनीय को छोड़कर) अजघन्य प्रदेशोदय चार प्रकार का और अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय तीन प्रकार का है । मोहनीयकर्म के ये दोनों चार प्रकार के हैं तथा आयु के समस्त विकल्प और समस्त कर्मों के शेष विकल्प सादि और अध्रुव हैं ।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार आचार्य ने गाथा में मूलकर्मों के सादि-आदि विकल्पों का विवेचन किया है ।

मोहनीय और आयुकर्म के सिवाय शेष छह कर्मों का अजघन्य

प्रदेशोदय सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

कोई एक क्षपितकर्माश^१ जीव देवलोक में देव रूप से उत्पन्न हुआ और वहाँ संक्लिष्ट परिणाम वाला होकर उत्कृष्ट स्थिति को बांधते हुए बहुत से प्रदेशों की उद्वर्तना^२ करता है। उसके बाद बंध के अन्त में काल करके एकेन्द्रिय में उत्पन्न हो तो वहाँ पहले समय में ज्ञानावरणादि पूर्वोक्त छह कर्मों का जघन्य प्रदेशोदय होता है। वह जघन्य प्रदेशोदय एक समय मात्र का ही होने से सादि और अध्रुव-सांत हैं। उसके सिवाय अन्य सप्तस्त प्रदेशोदय अजघन्य है। वह अजघन्य प्रदेशोदय दूसरे समय में होने से सादि है। उस स्थान को प्राप्त नहीं करने वाले के अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव है।

यहाँ जो देवलोक में उत्पन्न हो आदि विशेषणों का उल्लेख किया है, उसका आशय यह है कि क्षपितकर्माश जीव सीधा एकेन्द्रिय में पैदा नहीं होता है, किन्तु देवलोक में जाता है। अतएव देवलोक में जाना कहा है। जघन्य प्रदेशोदय एकेन्द्रिय में होता है। क्योंकि अत्यन्त अल्प योग होने से वह अधिक उदीरणा नहीं कर सकता है, द्वीन्द्रियादि में योग अधिक होने से उदीरणा अधिक होती है। यानी अधिक प्रमाण में भोगे जाने से जघन्य प्रदेशोदय नहीं होता है। इसीलिये देवलोक से एकेन्द्रिय में जाने का उल्लेख है। नीचे के स्थानों के दलिक जब ऊपर के स्थानों में स्थापित किये जाते हैं तब नीचे के स्थानों में दलिक कम रहते हैं, उससे जघन्य प्रदेशोदय हो सकता है। इसीलिये उद्वर्तना

१. क्षपितकर्माश यानी अल्पात्यल्प कर्माश की सत्ता वाला जीव। वह भव्य ही होता है। क्षपितकर्माश का विस्तार से स्वरूप संक्रमकरण अधिकार में बताया जा रहा है।

२. नीचे के स्थानों में रहे हुए दलिकों को ऊपर के स्थानों में स्थापित करने को यहाँ उद्वर्तना समझना चाहिये।

करना बताया । जिन कर्म दलिकों का बंध हो और वे उद्वर्तित हों; उनकी अगर आवलिका पूर्ण हो तो वे उदीरणायोग्य होते हैं । और यदि उदीरणा हो तो भी जघन्य प्रदेशोदय नहीं होता है । इसी-लिये उसके होने के पहले और अल्प योग प्रथम समय में होता है, जिससे प्रथम समय में जघन्य प्रदेशोदय होना कहा है ।

इन्हीं छह कर्मों का अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय अनादि, ध्रुव और अध्रुव के विकल्प से तीन प्रकार का है । जो इस प्रकार जानना चाहिये ।

इन छह कर्मों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय गुणितकर्मांश^१ जीव के अपने-अपने उदय के अन्त में गुणश्रेणिशीर्ष भाग^२ में रहते होता है । वह

१. गुणित कर्मांश अर्थात् अधिक से अधिक कर्मांश की सत्ता वाला जीव ।

२. गुणश्रेणिशीर्ष भाग उसे कहते हैं जिस स्थान में अधिक से अधिक दलिक स्थापित हों । सम्यक्त्वादि प्राप्त करने पर अन्तर्मुहूर्त समय प्रमाण स्थानों में पूर्व-पूर्व के समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्य-असंख्य गुणाकार रूप से दल रचना होती है । इस क्रम से अन्तर्मुहूर्त के अन्तिम समय में जो सबसे अधिक दलिक स्थापित किये जाते हैं, उसे गुणश्रेणिशीर्षभाग कहते हैं ।

बारहवें गुणस्थान के संख्यात भाग जाने पर जब एक भाग शेष रहे तब जानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय की स्थिति को सर्वापवर्तना द्वारा अवर्तित कर बारहवें गुणस्थान की जितनी स्थिति शेष रही, उतनी करे, और ऊपर के दलिकों को उतारकर उस अन्तर्मुहूर्त में गुणश्रेणि के क्रम से स्थापित करे तो उस अन्तर्मुहूर्त का चरम समय गुणश्रेणि का शिर है और यही बारहवें गुणस्थान का चरम समय है । वहीं उत्कृष्ट प्रदेशोदय घटित होता है । इसी प्रकार नाभ, गोत्र और वेदनीय कर्म की तीरहवें गुणस्थान के चरम समय में चौदहवें गुणस्थान के काल प्रमाण गुणश्रेणि करे तो चौदहवें गुणस्थान का अन्तिम समय इन तीन कर्मों का गुणश्रेणिशीर्ष है, जिससे उस समय उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है ।

उत्कृष्ट प्रदेशोदय मात्र एक समय ही होने से सादि है। उसके सिवाय शेष समस्त उदय अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय है। जो सर्वदा प्रवर्तमान होने से अनादि है। क्योंकि जब तक जीव ने, जिस गुणस्थान के जिस समय में उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है, उस गुणस्थान को प्राप्त नहीं किया, वहां तक अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है तथा अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव है।

‘चउविहोमोहे’ अर्थात् मोहनीयकर्म के अजघन्य और अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव, इस तरह चार प्रकार के हैं। जो इस प्रकार जानना चाहिये।

क्षपितकर्मांश जीव जब अन्तरकरण करे तब अन्तरकरण के अन्त में आवलिका मात्र काल में जो गोपुच्छाकार दल रचना^१ होती है, उस आवलिका के चरम समय में जघन्य प्रदेशोदय होता है। वह एक समय मात्र ही होने से सादि, सांत है। उसके सिवाय शेष समस्त प्रदेशोदय अजघन्य है। उसको दूसरे समय में होने से सादि, उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, उन्हें अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव है।

इस प्रकार से मोहनीय कर्म के अजघन्य विकल्प का विचार करने के बाद अब अनुत्कृष्ट विकल्प का विचार करते हैं कि—

गुणितकर्मांश जीव के सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। जो मात्र अन्तिम समय में होने से सादि सांत है। उसके सिवाय शेष समस्त अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय है।

१. उदय समय में अधिक और उत्तरोत्तर समय में अल्प-अल्प निषेक रचना को गोपुच्छाकार दल रचना कहते हैं। इससे विपरीत गुणश्रेणि रूप रचना जानना चाहिये। अर्थात् उदय समय से लेकर उत्तरोत्तर समयों में असंख्यात-असंख्यात गुण दल रचना होना गुणश्रेणि है।

वह उपशम श्रेणि से च्युत होने पर होता है, अतः सादि है। उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, उनकी अपेक्षा अनादि तथा अभव्य की अपेक्षा ध्रुव और भव्य की अपेक्षा अध्रुव जानना चाहिये।

‘आउस्स साइ-अधुदा’ अर्थात् आयु के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य ये चारों भेद सादि और अध्रुव—सांत हैं। क्योंकि ये चारों भेद यथायोग्य रीति से नियतकाल पर्यन्त प्रवर्तित होते हैं तथा पूर्वोक्त छह और मोहनीय, कुल मिलाकर सातों मूल कर्मों के उत्कृष्ट और जघन्यरूप शेष विकल्प सादि, अध्रुव भंगरूप हैं। क्योंकि अमुक नियतकाल पर्यन्त ही वे होते हैं। जिसका विस्तृत विचार अनुत्कृष्ट और अजघन्य विकल्पों के प्रसंग में किया जा चुका है।

इस प्रकार से मूलकर्म विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा जानना चाहिये। अब उत्तर प्रकृतियों सम्बन्धी सादि-अनादि आदि भंगों का विचार करते हैं।

‘उत्तरप्रकृतयां की सादि अनादि प्ररूपणा

अजहन्तोऽणुकोसो ध्रुवोदयाणं चउतिहा चउहा।

मिच्छत्ते सेसासि दुविहा सव्वे य सेसाणं ॥१०६॥

शब्दार्थ—अजहन्तोऽणुकोसो—अजघन्य और अनुत्कृष्ट, ध्रुवोदयाणं—ध्रुवोदया प्रकृतियों का, चउह—चार प्रकार का, तिहा—तीन प्रकार का, चउहा—चार प्रकार के, मिच्छत्ते—मिथ्यात्वा के, सेसासि—शेष इनके, दुविहा—दो प्रकार के, सव्वे—सब, य—और सेसाणं—शेष प्रकृतियों के।

गाथार्थ—ध्रुवोदया प्रकृतियों का अजघन्य प्रदेशोदय चार प्रकार का और अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय तीन प्रकार का है। मिथ्यात्व के ये दोनों चार प्रकार के हैं तथा इन सभी प्रकृतियों के शेष विकल्प और शेष प्रकृतियों के सभी विकल्प दो प्रकार के हैं।

विशेषार्थ—गाथा में उत्तरप्रकृतियों के प्रदेशोदय के प्रकारों के भंगों का विचार किया है। उनमें से पहले ध्रुवोदया प्रकृतियों के अजघन्य और अनुकृष्ट प्रकारों के भंगों को बताया है।

मिथ्यात्वरहित शेष तैजस कर्मण सप्तक, वर्णादि बीस, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, अगुरुलघु, निर्माण, ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और अन्तरायपंचक रूप सैंतालीस ध्रुवोदया प्रकृतियों का अजघन्य प्रदेशोदय सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। जो इस प्रकार जानना चाहिए—

उत्कृष्ट संक्लेश में रहते हुए उत्कृष्ट स्थिति बांधता क्षपितकर्मांश कोई जीव उत्कृष्ट प्रदेश की उद्वर्तना करे और बंध के अन्त में काल करके एकेन्द्रिय में उत्पन्न हो तो उस एकेन्द्रिय को उत्पत्ति के प्रथम समय में पूर्वोक्त सैंतालीस प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदय होता है। मात्र अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण का देवों के बंधावलिका के चरम समय में जघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिए। वह जघन्य प्रदेशोदय एक समय मात्र का होने से सादि है और उसके सिवाय शेष समस्त प्रदेशोदय अजघन्य है। वह एकेन्द्रिय को उत्पत्ति के दूसरे समय में होने से सादि है। उस स्थान को जिसने प्राप्त नहीं किया यानि क्षपितकर्मांश होकर देवगति में से जो एकेन्द्रिय में नहीं गया, उसकी अपेक्षा अनादि और अभव्य को ध्रुव तथा भव्य को अध्रुव अजघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिए।

पूर्वोक्त उन्हीं सैंतालीस प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार का है। जो इस प्रकार जानना चाहिए—गुणश्रेणिशीर्ष पर वर्तमान गुणितकर्मांश जीव के उन-उन प्रकृतियों के उदय के अन्त में उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। वह एक समय मात्र का होने से सादि है। उसके सिवाय अन्य समस्त प्रदेशोदय अनुत्कृष्ट है। जो सर्वदा होते रहने से अनादि, भव्य के अध्रुव और अभव्य के ध्रुव है।

इस प्रकार से सैंतालीस ध्रुवोदया प्रकृतियों के अजघन्य और अनुत्कृष्ट प्रदेशोदयों का विचार करने के बाद उनसे शेष रही मिथ्यात्व प्रकृति के अजघन्य और अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय के भंगों को बलताते हैं—

मिथ्यात्व का अजघन्य और अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है—‘चउहा मिच्छत्ते’ । जो इस प्रकार से जानना चाहिए कि प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करते हुए जिसने अन्तरकरण किया है, ऐसा क्षपितकर्माश कोई जीव उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व में जाये और उस समय अन्तरकरण का कुछ अधिक आवलिका काल शेष रहे तब अन्तिम आवलिका में जो गोपुच्छाकार दलरचना होती है, उसके चरम समय में रहते जघन्य प्रदेशोदय होता है । उसको एक समय मात्र का होने से सादि है । उसके सिवाय अन्य समस्त प्रदेशोदय अजघन्य है । वह जघन्य से दूसरे समय में प्रारम्भ होने से सादि है । अथवा वेदकसम्यक्त्व से गिरते समय भी अजघन्य प्रदेशोदय के प्रारम्भ होने से सादि है । उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, उनकी अपेक्षा अनादि तथा भव्याभव्य की अपेक्षा क्रमशः अध्रुव, ध्रुव जानना चाहिए । तथा—

देशविरति गुणश्रेणि में वर्तमान कोई गुणितकर्माश जीव सर्वविरति प्राप्त करे यानी उसके निमित्त गुणश्रेणि करे और उसको करके वहाँ तक जाये यावत् दोनों गुणश्रेणियों का शिरोभाग प्राप्त हो^१ और वहाँ से गिरकर मिथ्यात्व में जाये तो उसे उन दोनों गुण-

- १ जिस समय देशविरति प्राप्त करे तब से अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त आत्मा प्रवर्धमान परिणाम वाली रहती है । यानि अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त प्रवर्धमान गुणश्रेणि करती है । अब वह देशविरति की गुणश्रेणि में रहते सर्वविरति प्राप्त करे और तन्निमित्तक गुणश्रेणि करे । सर्वविरति प्राप्त करके भी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अवश्य प्रवर्धमान परिणाम वाली ही रहती है और विकासोन्मुखी गुणश्रेणि करती है । उन दोनों गुणश्रेणियों के शिरोभाग पर जिस समय पहुँचने वाली हो, उसके पूर्व गिरकर मिथ्यात्व में जाये, वहाँ उस शिरोभाग का अनुभव करते मिथ्यात्व का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है ।

श्रं णियों के शिरोभाग का अनुभव करते मिथ्यात्व का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। एक समय मात्र का होने से वह सादि है। उसके सिवाय शेष समस्त प्रदेशोदय अनुत्कृष्ट है। उसको दूसरे समय होने से सादि है। अथवा वेदकसम्यक्त्व से गिरते समय भी अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय प्रारम्भ होने से सादि है। उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, उनकी अपेक्षा अनादि तथा अध्रुव, अध्रुव क्रमशः अभव्य, भव्य की अपेक्षा जानना चाहिए।

पूर्वोक्त सैतालीस प्रकृतियों और मिथ्यात्वमोहनीय के शेष जघन्य और उत्कृष्ट ये दोनों विकल्प सादि और अध्रुव—सांत हैं। जिनका विचार पूर्व में अनुत्कृष्ट और अजघन्य विकल्पों के प्रसंग में किया जा चुका है।

ध्रुवोदया प्रकृतियों के विकल्प तो उक्त प्रकार हैं और शेष रही अध्रुवोदया एक सौ दस प्रकृतियों के जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ये सभी विकल्प इन प्रकृतियों के अध्रुवोदया होने से सादि और अध्रुव—सांत, इस तरह दो प्रकार के हैं।

इस प्रकार प्रदेशोदय की अपेक्षा उदय प्रकृतियों के भंगों को जानना चाहिये। अब स्वामित्व प्ररूपणा करते हैं। वह दो प्रकार की है—उत्कृष्ट प्रदेशोदयस्वामित्व और जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व। उनमें से पहले उत्कृष्ट प्रदेशोदयस्वामित्व का प्रतिपादन करने के लिये संभव गुणश्रेणियों को बतलाते हैं।

गुणश्रेणियां

संमत्तादेससंपुन्नविरइ उप्पत्ति अणविसंजोगे ।

दंसणखवणे मोहस्स समणे उवसंत खवगे य ॥१०७॥

खीणाइतिगे असंखगुणिय गुणसेद्धिलिय जहक्कमसो ।

सम्मत्ताईणेक्कारसण्ह कालो उ संखंसो ॥१०८॥

शब्दार्थ—संमत्त—सम्यक्त्व, वेससंपुन्नविरह—देशविरति और सर्व-
विरति, उत्पत्ति—उत्पत्ति, अणविसंयोगे—अनन्तानुबन्धि की विसंयोजना में,
दंशणक्षयणे—दर्शनमोह के क्षय में, मोहसं समणे—मोहनीयकर्म के उपशमन
में, उवसंत—उपशांतमोहगुणस्थान, खवणे—चारित्रमोह के क्षय में, य—
और, क्षीणाहतिने—क्षीणमोह आदि तीन गुणस्थानों में, असंखगुणिय—असं-
ख्यातगुणित, गुणसेदिवलिय—गुणश्रेणिदलिक, अहकमसो—यथाक्रम से,
सम्मत्ताईणेक्कारसह—सम्यक्त्वादि ग्यारह का, कालो—काल, समय, उ—और
संखंसो—संख्येयांश ।

गाथार्थ—सम्यक्त्व देशविरति और सर्वविरति की उत्पत्ति
करते, अनन्तानुबन्धि की विसंयोजना करते, दर्शनमोहनीय का
क्षय करते, (चारित्र) मोहनीय का उपशमन करते, उपशांतमोह-
गुणस्थान में, चारित्रमोहनीय का क्षय करते और क्षीणमोह आदि
तीन गुणस्थानों में, इस तरह ग्यारह गुणश्रेणि होती हैं और इन
सम्यक्त्व आदि ग्यारह गुणश्रेणियों में दलिकरचना क्रमशः
असंख्यात—असंख्यात गुणित रूप होती है और काल अनुक्रम
में संख्येयांश संख्यातवां—संख्यातवां भाग है ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में ग्यारह गुणश्रेणियों के नाम,
उनमें दलिकरचना होने का क्रम और प्रत्येक के काल, समय का निरू-
पण किया है ।

ग्यारह गुणश्रेणियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—१ सम्यक्त्व
की उत्पत्ति में पहली, २ देशविरति की उत्पत्ति में दूसरी, ३ सर्वविरति
की उत्पत्ति में तीसरी, ४ अनन्तानुबन्धिकषायों की विसंयोजना में
चौथी, ५ दर्शनमोहत्रिक के क्षय में पांचवीं, ६ चारित्रमोह के उपशमन
में छठी, ७ उपशांतमोहगुणस्थान में सातवीं, ८ (चारित्र) मोहनीय के
क्षय में आठवीं, ९ क्षीणमोहगुणस्थान में नौवीं, १० सयोगिकेवलीगुण-

स्थान में दसवीं और ११ अयोगिकेवलीगुणस्थान में ग्यारहवीं गुणश्रेणि होती है।^१

इन ग्यारह गुणश्रेणियों के सम्बन्ध में विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सम्यक्त्व के उत्पन्न होते समय जो तीन करण होते हैं, उनमें अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में गुणश्रेणि होती है और सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद जीव अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अवश्य प्रवर्धमान परिणाम वाला रहता है, तब जो गुणश्रेणि होती है, वह सम्यक्त्वनिमित्तक गुणश्रेणि कहलाती है।

देशविरति और सर्वविरति उत्पन्न होने के बाद भी आत्मा अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अवश्य प्रवर्धमान परिणाम वाली रहती है। उस समय जो गुणश्रेणि होती हैं, वे देशविरति और सर्वविरति निमित्तक गुणश्रेणियां हैं। यद्यपि देशविरति और सर्वविरति चारित्र प्राप्त होने के बाद जब तक वे गुण रहें वहाँ तक गुणश्रेणि होती है, परन्तु वह उन-उन परिणामों के अनुसार होती है और प्रारम्भ के अन्तर्मुहूर्त में अवश्य प्रवर्धमान गुणश्रेणि होती है।

सर्वविरतिनिमित्तक गुणश्रेणि प्रमत्त और अप्रमत्त दोनों गुणस्थान में होती है।

१ गो. जीवकांड (गाथा ६६, ६७) में भी इसी क्रम से गुणश्रेणियों की गणना की है। अंतर इतना है कि अयोगिकेवली के स्थान में समुद्धातकेवली गिनाया है।

तत्त्वार्थसूत्र ६/४५ में सयोगि-अयोगि केवली के स्थान में केवल जिन शब्द रखा है और टीकाकारों ने उसे एक स्थान गिना है।

स्वामिकातिकेयानुप्रेक्षा गाथा १०८ में सयोगि और अयोगि को गिना है। किन्तु इसकी संस्कृत टीका में टीकाकार ने स्वस्थानकेवली और समुद्धात-केवली को गिनाया है। अयोगि को उन्होंने छोड़ दिया है।

अनन्तानुबन्धि की विसंयोजना में होने वाली गुणश्रेणि अप्रमत्त-गुणस्थान में अनन्तानुबन्धि की विसंयोजना करते समय अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में होती है^१ तथा दर्शनमोहत्रिक के क्षय से होने वाली गुणश्रेणि सातवें गुणस्थान में सम्यक्त्व, मिश्र और मिथ्यात्व इन तीन दर्शनमोहनीय का क्षय करते अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण में होती है।

चारित्रमोहनीय का उपशमन करते समय होने वाली गुणश्रेणि मोहनीयकर्म का उपशम करने वाले उपशमश्रेणि पर आरूढ़ अनिवृत्ति-बादरसंपरायगुणस्थानवर्ती और सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव के मोहनीयकर्म का उपशमन करते समय होती है तथा चारित्रमोहनीय के क्षय में होने वाली गुणश्रेणि मोहनीय का क्षय करने वाले क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ अनिवृत्तिबादरसंपराय और सूक्ष्म-संपराय गुणस्थानवर्ती जीव के चारित्रमोहनीय का क्षय करते समय होती है।

शेष गुणश्रेणियां अपने-अपने गुणस्थान में होती हैं। अर्थात् क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में नौवीं गुणश्रेणि, सयोगिकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान में दसवीं और अयोगिकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान में ग्यारहवीं गुणश्रेणि होती है। ये तीनों श्रेणियां गुणस्थान

१. यद्यपि अनन्तानुबन्धि की विसंयोजना चौथे से सातवें गुणस्थान पर्यन्त होती है। परन्तु सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव अनन्तगुण विशुद्ध परिणाम वाला होने से और सर्वविरति के निमित्त से होने वाली गुणश्रेणि से असंख्यातगुण निर्जरा अनन्तानुबन्धि की विसंयोजना करने वाला करता है। इसलिये अप्रमत्त गुणस्थान में अनन्तानुबन्धि की विसंयोजना करते हुए जो गुणश्रेणि होती है, वह यहाँ ग्रहण करना चाहिये। इसी प्रकार दर्शन-मोहनीय की क्षपणा आदि के निमित्त से सातवें गुणस्थान में होने वाली गुणश्रेणि ग्रहण करना चाहिये।

के नामानुसार क्रमशः क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली कहलाती हैं।

अब इन गुणश्रेणियों में दलरचना होने और समय के प्रमाण को बतलाते हैं—

‘असंखगुणिय गुणसेद्धिदलिय जहक्कमसो’ अर्थात् इन सम्यक्त्वादि सम्बन्धी ग्यारह गुणश्रेणियों में होने वाली दलरचना अनुक्रम से असंख्यातगुण-असंख्यातगुण होती है। जो इस प्रकार जानना चाहिये कि सम्यक्त्वोत्पत्ति की गुणश्रेणि में होने वाली दलरचना परिणामों की मन्दता के कारण अल्पप्रमाण में होती है। उसकी अपेक्षा परिणामों के अनन्तगुण विशुद्ध होने से देशविरतिनिमित्तक गुणश्रेणि में असंख्यातगुण दलरचना होती है। उससे भी सर्वविरतिनिमित्तक गुणश्रेणि में असंख्यातगुणदलरचना होती है। इस प्रकार आगे-आगे की गुणश्रेणि में उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्ध होने से असंख्यातगुण-असंख्यातगुण दलरचना अयोगिकेवलीनिमित्तक गुणश्रेणि पर्यन्त जानना चाहिये।

लेकिन ‘कालो उ संखंसो’ अर्थात् सम्यक्त्वोत्पत्तिनिमित्तक आदि गुणश्रेणियों का काल उत्तरोत्तर अनुक्रम से संख्यातगुणहीन-संख्यातगुणहीन जानना चाहिये। जिसका तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर होने वाली गुणश्रेणि का काल संख्यातगुणहीन है। उससे भी देशविरतिनिमित्तक गुणश्रेणि का काल संख्यातगुणहीन है। इसी प्रकार से उत्तर-उत्तर की गुणश्रेणियों के कालप्रमाण को संख्यातगुणहीन-संख्यातगुणहीन अयोगिकेवलीनिमित्तक गुणश्रेणि पर्यन्त समझना चाहिये।

गुणश्रेणियों में होने वाली दलरचना और कालप्रमाण के उक्त कथन का आशय यह है कि सम्यक्त्वनिमित्तक गुणश्रेणि दीर्घ अन्त-मुहूर्त प्रमाण वाली होती है । उससे संख्यातगुणहीन अन्तमुहूर्त में भोगी जाने वाली और असंख्यातगुण अधिक प्रदेशवाली देशविरति-निमित्तक गुणश्रेणि होती है । इस प्रकार संख्यातगुणहीन-संख्यातगुणहीन अन्तमुहूर्त में वेदन करने योग्य और असंख्यातगुण-असंख्यातगुण अधिक दलरचना वाली उत्तरोत्तर गुणश्रेणियां हैं ।

अनुक्रम से उत्तरोत्तर गुणश्रेणि में न समान और न कम किन्तु असंख्यातगुण-असंख्यातगुण दलिक होने का कारण यह है कि सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाला जीव मिथ्यादृष्टि होता है । उसके परिणामों की मंदता होने से अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में होने वाली दलरचना में दलिक अल्पप्रमाण में होते हैं और सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद जो गुणश्रेणि होती है, वह पूर्वोक्त गुणश्रेणि की अपेक्षा अत्यंत विशुद्ध परिणाम होने से असंख्यातगुण दलरचना वाली होती है । इस प्रकार सम्यक्त्व उत्पन्न होने और सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद होने वाली गुणश्रेणि में दलिकरचना का तारतम्य जानना चाहिये । उससे भी देशविरति की गुणश्रेणि असंख्यातगुण अधिक दलरचना वाली होती है । क्योंकि सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा देशविरत जीव अत्यधिक विशुद्ध परिणाम वाला है । उससे भी सर्वविरति आदि आगे की गुणश्रेणियों में उत्तरोत्तर प्रवर्धमान विशुद्धि होने से असंख्यातगुण-असंख्यातगुण अधिक दलरचना होती है, परन्तु समान या न्यून नहीं होता है और इसी कारण उत्तरोत्तर गुणश्रेणि में वर्तमान जीव असंख्यातगुण-असंख्यातगुण अधिक कर्मों की निर्जरा करनेवाले हैं ।

प्रदेश और काल की अपेक्षा इस कथ की सरलता से समझने के लिए निम्नलिखित प्रारूपों को देखिये—

प्रदेशापेक्षा गुण श्रेणियों
का प्रारूप

प्रदेशापेक्षा

○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○	अयोगिकेवली गुण श्रेणी	○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○
○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○	सयोगिकेवली गुण श्रेणी	○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○
○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○	क्षोणमोह गुण श्रेणी	○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○
○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○	मोहक्षपक गुण श्रेणी	○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○
○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○	उपशांतमोह गुण श्रेणी	○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○
○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○	मोहोपशमक गुण श्रेणी	○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○
○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○	सायिक सम्यक्त्वनिमि गुण श्रेणी	○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○
○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○	अनन्ता० विसंयोजक गुण श्रेणी	○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○
○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○	सर्वविरति गुण श्रेणी	○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○
○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○	देशविरति गुण श्रेणी	○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○
○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○	सम्यक्त्व गुण श्रेणी	○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○

अयोगिकी अपेक्षा सभी गुण श्रेणियों में उत्तरोत्तर असंख्यात गुणहीन दलिक

सम्यक्त्व गुण श्रेणी से उत्तरोत्तर असंख्यात गुण अधिक दलिक

कालापेक्षा गुण श्रेणियों
का प्रारूप

कालापेक्षा

अयोगिकेवली गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
सयोगिकेवली गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
क्षोणमोह गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
मोहक्षपक गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
उपशांतमोह गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
मोहोपशमक गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
सायिक सम्यक्त्वानिमि गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
अनन्ता० विसंयोजक गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
सर्वविरति गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
देशविरति गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
सम्यक्त्व गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)

अयोगिकेवली गुण श्रेणी से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर संख्यात गुण अधिक काल

सम्यक्त्व से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर संख्यात गुणहीन काल

प्रदेश और कालापेक्षा यहाँ गुणश्रेणियों का जो स्वरूप बताय है, उसका आशय यह है—

प्रदेशापेक्षा गुणश्रेणियों का स्वरूप इसलिये बतलाया है कि गुणश्रेणि शीर्ष में रहते उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है तथा कालापेक्षा का यह आशय लेना चाहिये कि सम्यक्त्व के निमित्त से जितने अन्तर्मुहूर्त में दलरचना होती है, उससे संख्यातवें भाग के अन्तर्मुहूर्त में देशविरति के निमित्त से होने वाली गुणश्रेणि में दलरचना होती है और उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी विशुद्धि होने से दलिक असंख्यातगुण अधिक स्थापित किये जाते- हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सम्यक्त्व के निमित्त से जो गुणश्रेणि- हुई वह बृहद् अन्तर्मुहूर्त में हुई और दलिक कम स्थापित किये गये तथा देशविरतिनिमित्तक जो गुणश्रेणि हुई वह संख्यातगुणहीन अन्तर्मुहूर्त में हुई किन्तु दलिक असंख्यातगुण अधिक स्थापित किये गये। ऐसा होने से सम्यक्त्व की गुणश्रेणि द्वारा जितने काल में जितने दलिक दूर होते हैं, उससे संख्यातवें भाग काल में असंख्यातगुण अधिक दलिक देशविरति गुणश्रेणि में दूर होते हैं। इसी प्रकार उत्तरोत्तर की गुणश्रेणियों के दलिकों एवं समय के लिए समझना चाहिए कि समय कम होता जाता है, किन्तु दलिकसंख्या में वृद्धि होती जाती है।

इस प्रकार से गुणश्रेणियों के स्वरूप को बतलाने के बाद अब गतियों में संभव गुणश्रेणियों का निर्देश करते हैं।

गतियों में संभव गुणश्रेणियां

ज्ञत्ति गुणाओ पडिए मिच्छत्तगयंमि आइमा तिन्नि ।

लब्धंति न सेसाओ जं झीणासुं असुभमरणं ॥१०६॥

शब्दार्थ—ज्ञत्ति—शीघ्र, गुणाओ—(सम्यक्त्व) गुण से, पडिए—गिरकर, मिच्छत्तगय—मिथ्यात्व में गए हुए के, आइमा तिन्नि—आदि की तीन, लब्धंति—प्राप्त होती हैं, न—नहीं, सेसाओ—शेष, जं—क्योंकि, झीणासुं—अथ होने के साथ, असुभमरण—अशुभ मरण।

गाथार्थ—जीव शीघ्र (सम्यक्त्व) गुण से गिरकर मिथ्यात्व में जाये और तत्काल मरण प्राप्त करे तो आदि की तीन गुणश्रेणियां नारकादि भवों में होती हैं, शेष संभव नहीं हैं। क्योंकि इनका क्षय होने पर ही अशुभ मरण होता है।

विशेषार्थ—कौनसी गुणश्रेणि किस गति में पाई जाती है, इसका निरूपण करते हुए बताया है कि कोई जीव सम्यक्त्वादि के निमित्त से होने वाली गुणश्रेणि करने के अनन्तर तत्काल ही सम्यक्त्वादि गुणों से गिरकर मिथ्यात्व में जाये और वहाँ से भी तत्काल अप्रशस्त मरण द्वारा मरकर नारकादि भव में जाये तो अल्प काल पर्यन्त उदय की अपेक्षा आदि की सम्यक्त्व, देशविरति और सर्वविरति के निमित्त से होने वाली तीन गुणश्रेणियां संभव हैं। यानि इन तीन गुणों के निमित्त से होने वाली दलरचना नारकादि भवों में संभव है और दलरचना संभव होने से उसका उदय भी संभव है। शेष गुणश्रेणियां संभव नहीं हैं। क्योंकि नारकादि भव अप्रशस्त मरण द्वारा मरण प्राप्त करने पर होते हैं।

उक्त तीन के सिवाय शेष गुणश्रेणियों के होने तक अप्रशस्त मरण नहीं होता है, परन्तु उन गुणश्रेणियों के दूर होने के बाद ही होता है। इसलिये आदि की तीन गुणश्रेणियां ही नारकादि भव में संभव हैं, शेष संभव नहीं हैं।

उक्त कथन का सारांश यह हुआ कि यदि सम्यक्त्व के निमित्त से हुई दलरचना कितनीक बाकी हो और देशविरति प्राप्त कर तन्निमित्तक गुणश्रेणि करे और उसका भी अमुक भाग शेष हो तब सर्वविरति प्राप्त कर तन्निमित्तक गुणश्रेणि करे और वहाँ से तत्काल गिरकर मिथ्यात्व में जाये एवं वहाँ से भी तत्काल मरण को प्राप्त कर नारकादि भव में जाये तो इन तीनों गुणों के निमित्त से हुई दलरचना को साथ लेकर जाने वाला होने से उदयापेक्षा जीव के इन तीन गुणश्रेणियों

के दललक संभव हैं । परन्तु ऊपर के गुणस्थानों में मरण को प्राप्त कर चौथा गुणस्थान लेकर देवलोक में जाये तो अन्य भी गुणश्रेणियां साथ ले जाता है । जैसेकि उपशमश्रेणि में मरण को प्राप्त कर उसके निमित्त से हुई गुणश्रेणि को लेकर अनुत्तर विमान में भी उत्पन्न होता है ।

इस प्रकार से गुणश्रेणियों का स्वरूप और नारकादि भवों में संभव गुणश्रेणियों का निर्देश करने के बाद अब उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशोदय स्वामित्व का निरूपण करते हैं । उसमें भी पहले सामान्य से संभव उत्कृष्ट, जघन्य प्रदेशोदय के स्वामी को बतलाते हैं ।

सामान्यतः उत्कृष्ट, जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व

उक्कोसपएसुदयं गुणसेढीसीसगे गुणियकम्मो ।

सव्वासु कुणइ ओहेण खवियकम्मो पुण जहन्नं ॥११०॥

शब्दार्थ—उक्कोसपएसुदयं—उत्कृष्ट प्रदेशोदय, गुणसेढीसीसगे—गुणश्रेणि-शीर्ष पर वर्तमान, गुणियकम्मो—गुणितकर्मांश, सव्वासु—सभी प्रकृतियों का, कुणइ—करता है, ओहेण—सामान्य से, खवियकम्मो—क्षपितकर्मांश, पुण—पुनः, जहन्नं—जघन्य ।

गाथार्थ—सामान्य से गुणश्रेणिशीर्ष पर वर्तमान गुणित-कर्मांश जीव सभी प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय और क्षपित-कर्मांश जीव जघन्य प्रदेशोदय करता है ।

विशेषार्थ—विस्तार से उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशोदय के स्वामियों का निर्देश करने के लिये यहाँ भूमिका रूप में उनके योग्य जीवों की योग्यता का सामान्य से कथन किया है ।

पहले उत्कृष्ट प्रदेशोदय के संभव स्वामी के संकेत के लिए बताया है 'गुणसेढीसीसगे गुणियकम्मो' अर्थात् गुणश्रेणि के शीर्षभाग—अग्रभाग पर वर्तमान गुणितकर्मांश जीव सामान्य से समस्त कर्मप्रकृतियों का 'उक्कोसपएसुदयं कुणइ' उत्कृष्ट प्रदेशोदय करता है । अर्थात् सामान्य

से—अधिकतर गुणश्रेणि के शिरोभाग में वर्तमान-स्थित गुणितकर्माश जीव के उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है और 'खवियकम्मो पुण जहन्न' प्रायः क्षपितकर्माश जीव समस्त प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशोदय का स्वामी है ।

इस प्रकार सामान्य से उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशोदय के स्वामियों की विशेषता को बतलाने के बाद अब पृथक्-पृथक् समस्त प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशोदय के स्वामियों का निर्देश करते हैं—

सम्मत्तवेयसंजलणयाण खीणंत दुजिण अंताणं ।

लहु खवणाए अंते अवहिस्स अणोहिणुक्कोसो ॥१११॥

शब्दार्थ—सम्मत्तवेयसंजलणयाण—सम्यक्त्वमोहनीय, वेदत्रिक और संज्वलन कषाय का, खीणंत—क्षीणमोहगुणस्थान में अंत होने वाली, दुजिण अंताणं—जिनद्विक स्थानों में अंत होने वाली प्रकृतियों का, लहु खवणाए—लघुक्षपणा द्वारा, अंते—क्षय होने पर, अवहिस्स—अवधिद्विक का, अणोहिण—अवधिज्ञानहीन के, उक्कोसो—उत्कृष्ट ।

गाथार्थ—सम्यक्त्वमोहनीय, वेदत्रिक और संज्वलन कषाय का, क्षीणमोहगुणस्थान में अंत होने वाली प्रकृतियों का तथा जिनद्विक—सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थान में अंत होने वाली प्रकृतियों का लघुक्षपणा द्वारा क्षय होने पर गुणित-कर्माश जीव के उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है, किन्तु अवधिद्विक का अवधिज्ञानहीन जीव के उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में कतिपय प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशोदय के स्वामी को बतलाया है—

सम्यक्त्वमोहनीय, वेदत्रिक—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और संज्वलनकषायचतुष्क इन आठ प्रकृतियों का लघुक्षपणा के द्वारा क्षय करने के लिये उद्यत गुणितकर्माश जीव के उस-उस प्रकृति के उदय के चरम समय में उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है ।

प्रस्तुत में लघुक्षपणा के लिये उद्यत हुए गुणितकर्मांश जीव को ग्रहण करने का कारण यह है कि क्षपणा दो प्रकार की है—लघु-क्षपणा और चिरक्षपणा। इनमें से सातमास अधिक आठवर्ष की अवस्था का कोई भव्य जीव संयम को स्वीकार करे और संयम स्वीकार करने के बाद अन्तर्मुहूर्त काल में ही क्षपकश्रेणि आरम्भ करे तो उसको होने वाले कर्मक्षय को लघुक्षपणा कहते हैं और जो सुदीर्घकाल में संयम की प्राप्त करने के अनन्तर बहुत-सा काल जाने के बाद क्षपक-श्रेणि आरम्भ करे और उसके जो कर्मक्षय हो, वह चिरक्षपणा कह-लाती है। इस चिरक्षपणा वाले के तो उदय, उदीरणा द्वारा अधिक पुद्गलों का क्षय होता है, अल्प ही शेष रहते हैं, जिससे चिरक्षपणा द्वारा उत्कृष्ट प्रदेशोदय संभव नहीं है। इसीलिये बताया है कि लघु-क्षपणा द्वारा क्षय करने के लिये उद्यत के उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

जो जीव कम-से-कम जितने समय में (आयु में) चारित्र प्राप्त हो उतने काल में चारित्र प्राप्त कर तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकाल में ही क्षपकश्रेणि आरम्भ करे तो उसे उदय, उदीरणा द्वारा अधिक कर्मपुद्ग-लों को कम करने का समय नहीं मिल पाता है, जिससे सत्ता में अधिक कर्मपुद्गल होते हैं। गुणितकर्मांश जीव के उस प्रकृति के उदय के चरम समय में उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

अब उक्त दृष्टि के अनुसार जिन प्रकृतियों का जहाँ उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है, उसका निर्देश करते हैं—

क्षीणमोहगुणस्थान में जिन प्रकृतियों का उदयविच्छेद होता है, ऐसी ज्ञानावरणपंचक, अंतरायपंचक और दर्शनावरणचतुष्क इन चौदह प्रकृतियों का लघुक्षपणा द्वारा क्षय के लिये उद्यत हुये गुणश्रेणि-शीर्ष पर वर्तमान गुणितकर्मांश क्षपक जीव के क्षीणमोहगुणस्थान के चरम समय में उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। लेकिन अवधिद्विक-अवधि-ज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण के उत्कृष्ट प्रदेशोदय के लिये इतना विशेष जानना चाहिये कि जिसे अवधिज्ञान और अवधिदर्शन उत्पन्न नहीं हुआ, उसे होता है। इसका कारण यह है कि अवधिज्ञान को

उत्पन्न करते हुए तथास्वभाव से प्रभूत कर्म पुद्गलों का क्षय होता है, जिससे अवधिज्ञानी के उत्कृष्ट प्रदेशोदय नहीं होता है। इसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिये कहा गया है—‘अवहिस्स अणोहिणुक्कोसो’—अवधिलब्धिरहित जीव के अवधित्विक का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। तथा—

‘दुजिण अंताणं’ अर्थात् यहाँ दुजिण—दो जिन इस पद द्वारा सयोगि और अयोगि केवली इन दो गुणस्थानों को ग्रहण किया है। उसमें से सयोगिकेवली के जिन-जिन प्रकृतियों का उदयविच्छेद होता है, उन औदारिकसप्तक, तैजस-कर्मणसप्तक, संस्थानषट्क, प्रथम संहनन, वर्णादि बीस, पराघात, उपघात, अगुरुलघु विहायोगतिद्विक, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ और निर्माण रूप बावन प्रकृतियों का गुणितकर्मांश सयोगिकेवली भगवान को सयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय में उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है तथा सुस्वर और दुःस्वर का स्वर के निरोधकाल में और उच्छ्वासनामकर्म का उच्छ्वास के निरोधकाल में उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। अर्थात् स्वर और उच्छ्वास का रोध करते जिस समय अन्तिम उदय होता है, उस समय उनका उत्कृष्ट प्रदेशोदय सम्भव है।

अयोगिकेवली के जिन प्रकृतियों का उदयविच्छेद होता है, ऐसी अन्यतर वेदनीय, मनुष्यगति, मनुष्यायु, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थकरनाम और उच्चगोत्र रूप बारह प्रकृतियों का गुणितकर्मांश अयोगिकेवली को चरम समय में उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। तथा—

पढम गुणसेढिसीसे निद्दापयलाण कुणइ उवसंतो ।

देवत्तां झति गओ वेउव्वियसुरदुग स एव ॥११२॥

शब्दार्थ—पढमगुणसेढिसीसे—प्रथम गुणश्रेणि के शीर्ष पर वर्तमान, निद्दापयलाण—निद्रा और प्रचला का, कुणइ—करता है, उवसंतो—उपशान्त-

कषाय जीव, देवरां—देवत्व, भक्ति—शीघ्र, गओ—प्राप्त, वेडवियसुरदुग—वैक्रियद्विक और देवद्विक का, स एव—वही।

गाथार्थ—प्रथम गुणश्रेणि के शीर्ष पर वर्तमान उपशांत-कषाय जीव निद्रा और प्रचला का तथा शीघ्र देवत्व को प्राप्त हुआ वही जीव वैक्रियद्विक और देवद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशोदय करता है।

विशेषार्थ—‘पढमगुणसेढिसीसे’ अर्थात् अपनी प्रथम गुणश्रेणिशीर्ष-शिरोभाग पर वर्तमान गुणितकर्मांश उपशांतकषाय जीव निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय करता है तथा ‘स एव’ अर्थात् वही, यानी अपनी प्रथम गुणश्रेणिशीर्ष पर वर्तमान गुणित-कर्मांश उपशांतकषाय जिस समय अपनी प्रथम श्रेणि के शिरोभाग को प्राप्त करेगा, उसके पश्चाद्वर्ती समय में कालधर्म प्राप्त कर देवरूप से उत्पन्न हो ऐसा वह वैक्रियसप्तक और देवद्विक रूप नौ प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय करता है। तथा—।

तिरिएगंतुदयाणं मिच्छत्ताणमीसथीणगिद्धीणं ।

अप्पज्जत्तस्स य जोगे दुतिगुणसेढीण सीसाणं ॥११३॥

शब्दार्थ—तिरिएगंतुदयाणं—एकान्त तिर्यव-उदयप्रायोग्य का, मिच्छत्तज-मीसथीणगिद्धीणं—मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधि, मिश्र और स्त्यानद्वित्रिक का, अप्पज्जत्तस्स—अपर्याप्त का, य—और, जोगे—योग में, दुतिगुणसेढीण सीसाणं—दूसरी और तीसरी गुणश्रेणि के शीर्षभाग में।

गाथार्थ—एकान्त तिर्यव-उदयप्रायोग्य प्रकृतियों का तथा मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधि, मिश्र, स्त्यानद्वित्रिक और अपर्याप्त नामकर्म का दूसरी और तीसरी गुणश्रेणि के योग में शिरोभाग पर वर्तमान जीव के उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ—जिन कर्मप्रकृतियों का एकान्त रूप से यानि निश्चित रूप से तिर्यवगति में उदय होता है, ऐसी एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, त्रिन्द्रिय,

चतुरिन्द्रिय जाति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण नामकर्म तथा मिथ्यात्व-मोहनीय, अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्क, मिश्रमोहनीय, स्त्यानद्वित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानद्वि और अपर्याप्त रूप सत्रह प्रकृतियों का उन-उन प्रकृतियों का उदय रहते उत्कृष्ट प्रदेशोदय दूसरी और तीसरी गुणश्रेणि के शिरोभाग का योग होने के समय वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीव के होता है। इसका तात्पर्यार्थ इस प्रकार है—

किसी एक जीव ने देशविरति प्राप्त करके देशविरति के निमित्त से होने वाली गुणश्रेणि की और तत्पश्चात् संयम प्राप्त कर संयम के निमित्त से होने वाली गुणश्रेणि करने के बाद वह जीव सम्यक्त्वादि गुणों से गिरकर मिथ्यात्व में गया और वहाँ अप्रशस्त मरण द्वारा मरण करके तिर्यच में उत्पन्न हुआ। तब उस गुणितकर्मांश तिर्यच के जिस समय देशविरति और सर्वविरति के निमित्त से हुई उन दोनों गुणश्रेणियों के शिरोभाग का योग हो—दोनों एकत्रित हों उस समय तिर्यचगति में एकान्तरूप से उदय होने वाली पूर्वोक्त सात प्रकृतियों तथा अपर्याप्तनामकर्म का यथायोग्य रीति से उस-उस प्रकृति का उदय होने पर उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है तथा मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के सम्बन्ध में मरण प्राप्त करके भी जब देशविरति और सर्वविरति की गुणश्रेणि के शिरोभाग का योग हो, उस काल में कोई गुणितकर्मांश जीव मिथ्यात्व प्राप्त करे तब उसे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धिकषायों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

इसी प्रकार गुणश्रेणि के शिरोभाग पर वर्तमान कोई मिश्रगुण-स्थान प्राप्त करे तो उसे मिश्रमोहनीय का तथा मिथ्यात्व में जाये या न जाये किन्तु गुणश्रेणिशीर्ष पर वर्तमान गुणितकर्मांश जीव के स्त्यानद्वित्रिक का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। इसका कारण यह है कि स्त्यानद्वित्रिक का प्रमत्तसंयत पर्यन्त उदय होता है। इसी से दोनों गुणश्रेणि के शीर्ष पर वर्तमान प्रमत्त होता है और उसे स्त्यानद्वित्रिक में से किसी भी निद्रा का उदय हो तो उसे भी उत्कृष्ट प्रदेशोदय हो

सकता है और कदाचित् गिरकर मिथ्यात्व में जाये तो वहाँ भी उत्कृष्ट प्रदेशोदय सम्भव है । किन्तु गुणश्रेणि के शिरोभाग को जिस समय प्राप्त हो उस समय उनका उदय होना चाहिए । तथा—

से कालेन्तरकरणं होही अमरो य अन्तमुहु परओ ।

उक्कोसपएसुदओ हासाइसु मज्झिमडण्हं ॥११४॥

शब्दार्थ—से काले—उस काल में, अन्तरकरणं—अन्तरकरण, होही—होता है, अमरो—देव, य—और, अन्तमुहु—अन्तर्मुहूर्त के, परओ—पश्चात्, उक्कोसपएसुदओ—उत्कृष्ट प्रदेशोदय, हासाइसु—हास्यादि छह नोकषायों का, मज्झिमडण्हं—मध्यम आठ कषायों का ।

गाथार्थ—जिस समय अन्तरकरण होता है, उस काल में यदि मर कर देव हो तो अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् हास्यादि छह नोकषायों और मध्यम आठ कषायों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में हास्यादि षट्क नोकषायों और मध्यम कषायाष्टक के उत्कृष्ट प्रदेशोदयस्वामित्व को बतलाया है । विशेषता के साथ जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उपशमश्रेणि प्राप्त कर कोई जीव अनिवृत्तिकरण के समय जब अन्तरकरण होगा और उस अन्तरकरण के पहले समय में मर कर देव हो तो उत्पन्न होने के पश्चात् उस देव को अन्तर्मुहूर्त व्यतीत होने पर गुणश्रेणिशीर्ष पर रहते हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा रूप हास्यषट्क तथा अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क एवं प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क रूप कषायाष्टक कुल मिलाकर चौदह प्रकृतियों का उस-उस प्रकृति के उदय काल में उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है ।^१ तथा—

हस्सठिई बंधित्ता अद्धाजोगाइठिइनिसेगाणं ।

उक्कोसपए पढमोदयम्मि सुरनारगाऊणं ॥११५॥

१ इसका कारण यह है कि अपूर्वकरण में अनिवृत्तिकरण के काल से अधिक काल में गुणश्रेणि होती है ।

शब्दार्थ—हृत्सठिई—जघन्य स्थिति, बंधित्ता—बांधकर, अद्धाजोगाईठिई—अद्धा, योग और प्रथम स्थिति, निसेगार्ण—निषेकों का, उक्कोसए—उत्कृष्ट पद में, पढमोदयम्मि—प्रथम स्थितिस्थान में रहते, सुरनारगाऊणं—देव और नारक आयु का ।

गाथार्थ—अद्धा, योग और प्रथम स्थिति में दलिकों के निषेक का जब उत्कृष्ट पद ही और जघन्य स्थिति बांधकर मरण होने पर देव या नरक हो तब प्रथम स्थितिस्थान में रहते उसे देव या नरक आयु का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में देवायु और नरकायु के उत्कृष्ट प्रदेशोदय के स्वामी को बतलाया है कि जब अद्धा-आयु का बंधकाल, योग-मन, वचन और काया द्वारा प्रवर्तमान आत्मवीर्य और प्रथम स्थितिनिषेक—बंधने वाली आयु के पहले स्थान में होने वाली दलरचना, ये तीनों उत्कृष्ट पद में हों यानि उत्कृष्ट योग में रहते अधिक से अधिक जितने काल तक आयु का बंध हो सकता है, उतने काल आयु की जघन्य स्थिति का बंध करके तथा आयु के प्रथम स्थान में उत्कृष्ट दलिक का निक्षेप करके मरण को प्राप्त कर देव या नारक हो तो उस देव के देवायु की और नारक के नरकायु की प्रथम स्थिति का अनुभव करते हुए उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है । इसका कारण यह है कि दीर्घ अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उत्कृष्ट योग में बहुत से दलिकों को ग्रहण किया है और प्रथमस्थिति में अधिक स्थापित किये हैं । जिससे प्रथमस्थिति का अनुभव करते समय ही उत्कृष्ट प्रदेशोदय संभव है । तथा—

अद्धा जोगुक्कोसे बंधित्ता भोगभूमिगेसु लहुं ।

सव्वप्पजीवियं वज्जइत्तु ओवट्टिया दोण्हं ॥११६॥

शब्दार्थ—अद्धा—बंधकाल, जोग—योग, उक्कोसे—उत्कृष्ट, बंधित्ता—बांधकर, भोगभूमिगेसु—भोगभूमियों में, लहुं—शीघ्र, सव्वप्पजीवियं—सबसे अल्प स्थिति को, वज्जइत्तु—छोड़कर, ओवट्टिया—अपवर्तना करके, दोण्हं—दोनों का ।

गाथार्थ—उत्कृष्ट अद्धा—बधकाल और योग द्वारा भोग-भूमियों सम्बन्धी आयु का बंध कर शीघ्र ही मर कर भोगभूमियों में उत्पन्न हो, वहाँ सबसे जघन्य स्थिति—अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति को छोड़कर शेष की अपवर्तना करे, अपवर्तना होने के बाद प्रथम समय में दोनों—मनुष्यायु और तिर्यचायु का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में मनुष्यायु और तिर्यचायु के उत्कृष्ट प्रदेशोदय-स्वामित्व का स्पष्टोकरण करते हुए बताया है—

अधिक से अधिक जितने काल तक आयु का बंध हो सकता है, उतने काल द्वारा और अधिक से अधिक जितने योग द्वारा आयु का बंध हो उतने योग द्वारा भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यच सम्बन्धी उत्कृष्ट तीन पल्योपम की आयु को बांधकर मरण को प्राप्त हो, वहाँ मनुष्य या तिर्यच के रूप में उत्पन्न हो और उत्पन्न हो कर शीघ्र सर्वाल्प जीवित—~~काल~~ में कम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु को छोड़कर शेष समस्त आयु की अपवर्तनाकरण द्वारा अपवर्तना करके, अपवर्तना होने के बाद के प्रथम समय में वर्तमान मनुष्य और तिर्यच के अनुक्रम से मनुष्यायु और तिर्यचायु का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है ।

सारांश यह हुआ कि अपर्याप्तावस्था में भोगभूमिज के आयु की अपवर्तना हो सकती है, परन्तु पर्याप्त होने के बाद नहीं होती है । इसमें भी कम से कम अन्तर्मुहूर्त आयु रखकर शेष आयु की ही अपवर्तना होती है । इसीलिये अन्तर्मुहूर्त को छोड़कर शेष आयु की अपवर्तना करने का उल्लेख किया है । इन दो आयु का इसी रीति से उत्कृष्ट प्रदेशोदय हो सकता है । क्योंकि उत्कृष्ट योग और उत्कृष्ट काल द्वारा उत्कृष्ट आयु बांधी है और अपवर्तना होने पर अन्तर्मुहूर्त आयु को छोड़कर ऊपर के समस्त आयु के दलिक अन्तर्मुहूर्त काल में स्थापित हैं । उसमें भी पहले स्थान में अधिक स्थापित हैं । जिससे अपवर्तना होने के बाद पहले समय में उत्कृष्ट प्रदेशोदय होना बताया है । तथा—

नारयतिरियदुग दुभगाइनीय मणुयाणुपुव्विगाणं तु ।

दंसणमोहक्खवगो तइयगसेढी उ पडिभग्गो ॥११७॥

शब्दार्थ—नारयतिरियदुग —नरकद्विक, तिर्यचद्विक, दुभगाइ—दुर्भग आदि, नीय—नीचगोत्र, मणुयाणुपुव्विगाणं—मनुष्यानुपूर्वी का, तु—और, दंसणमोह-क्खवगो—दर्शनमोहक्षपक दे, तइयगसेढी—तीसरी गुणश्रेणि, उ—और, पडिभग्गो—पतित ।

गाथार्थ—नरकद्विक, तिर्यचद्विक, दुर्भगादि अर्थात् दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति, नीचगोत्र और मनुष्यानुपूर्वी का उत्कृष्ट प्रदेशोदय तीसरी गुणश्रेणि से पतित दर्शनमोहक्षपक के होता है ।

विशेषार्थ—दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का क्षय करने के लिये प्रयत्नवन्त अविरतसम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व के निमित्त गुणश्रेणि करे, उसके बाद वही देशविरति प्राप्त कर देशविरतिनिमित्तक गुणश्रेणि करे और तत्पश्चात् वही सर्वविरति प्राप्त कर सर्वविरति सम्बन्धी गुणश्रेणि करे । यह देशविरति और सर्वविरति सम्बन्धी गुणश्रेणि सम्यक्त्व के निमित्त से जो करण करता है उसी में करता है यानि चौथे गुणस्थान में क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए किए गए अपूर्वकरण, अनिवृत्ति-करण में रहते देशविरति और सर्वविरति प्राप्त कर तत्सम्बन्धी गुणश्रेणि करे और तत्पश्चात् करण की समाप्ति के बाद जिसने दर्शनमोहनीयत्रिक का क्षय किया और जिसने तीसरी सर्वविरति सम्बन्धी गुणश्रेणि करके वहाँ से गिरकर अविरतपना प्राप्त किया, उस अविरत जीव के सम्यक्त्व, देशविरति और सर्वविरति निमित्तक तीनों गुणश्रेणियों का शिरोभाग जिस स्थान पर मिलता है, उस स्थान पर रहते हुए उसी भव में दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और नीचगोत्र में से जिस-जिसका उदय

हो, उस-उसका उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। सर्वविरति से अविरति में आने पर भी उसके निमित्त से हुई दलरचना रह जाती है, जिससे कोई विरोध नहीं है।

अब यदि उसी आत्मा ने नारक-आयु का बंध किया हो और उस श्रेणि का शीर्षभाग प्राप्त होने के पहले मरकर नारक हो तो गुणश्रेणिशीर्ष पर रहते उसे पूर्वोक्त दुर्भंगादि चार और नरकद्विक इस तरह छह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है और कदाच असंख्यात वर्ष वाले तिर्यच की आयु का बंध किया हो और मरकर तिर्यच हो तो उसे तिर्यचद्विक के साथ पूर्वोक्त दुर्भंगादि चार प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है तथा भोगभूमिज मनुष्य सम्बन्धी आयु का बंध किया हो और मनुष्य हो तो उसे मनुष्यानुपूर्वी के साथ^१ पूर्वोक्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। तथा—

संघयणपंचगस्स उ बिइयादि तिगुणसेडिसीसम्मि ।

आहारज्जोयाणं अपमत्तो आइगुणसीसे ॥११८॥

१. किसी भी भावी आयु का बंध न किया हो या नारक, वैमानिक देव या असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य, तिर्यच की आयु बांधी हो, वही क्षायिक सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। इसीलिये भोगभूमिज विशेषण दिया है। तिर्यच के तो भवाश्रित नीचगोत्र का ही उदय होता है और मनुष्य को चौथे गुणस्थान में उसका उदय हो सकता है, पांचवें और उससे आगे के गुणस्थानों में तो मनुष्य को गुणप्रत्यय से उच्चगोत्र का ही उदय होता है। यदि पहले नीचगोत्र का भी उदय हो तो वह भी बदल जाता है और वहाँ से गिरने पर चौथे गुणस्थान में आये तो जो मूल हो, उसी गोत्र का भी उदय हो सकता है। जिससे उसका मनुष्यादि को चौथे गुणस्थान में उत्कृष्ट प्रदेशोदय घटित होता है। क्षायिक सम्यक्त्वकी वैमानिक देवों में जाने वाला होने से और वहाँ दुर्भंगादि का उदय नहीं होने से देवगति में उनका उत्कृष्ट प्रदेशोदय नहीं बताया है।

शब्दार्थ—संघयणपंचगत्स—संहननपंचक का, उ—और, बिइयादि—दूसरी आदि, तिगुणसेटिसीसम्मि—तीन गुणश्रेणियों के शीर्ष पर, आहारज्जोयाणं—आहारक और उद्योत नाम का, अपमत्तो—अप्रमत्त, आइगुणसीसे—आदि गुणश्रेणि शीर्ष पर ।

गाथार्थ—प्रथम को छोड़कर शेष संहननपंचक का दूसरी आदि तीन गुणश्रेणिशीर्ष पर रहते उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है तथा आहारकसप्तक और उद्योतनाम का प्रथम गुणश्रेणिशीर्ष पर वर्तमान अप्रमत्त को उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है ।

विशेषार्थ—प्रथम के सिवाय शेष पांच संहनननाम का द्वितीयादि तीन गुणश्रेणिशीर्ष पर रहते उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है । जिसका तात्पर्य इस प्रकार है—

कोई मनुष्य देशविरति प्राप्त कर देशविरतिनिमित्तक गुणश्रेणि करे, तत्पश्चात् वही तीव्र विशुद्धि के योग से सर्वविरति प्राप्त कर तन्निमित्तक गुणश्रेणि करे और उसके बाद वही तथाप्रकार की विशुद्धि के योग से अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने के लिये प्रयत्नशील होकर तन्निमित्तक गुणश्रेणि करे । इस प्रकार दूसरी, तीसरी और चौथी गुणश्रेणि होती है, इन तीनों गुणश्रेणियों को करके इन तीनों गुणश्रेणियों के शिरोभाग का जिस स्थान पर योग हो, उस स्थान में वर्तमान उस मनुष्य के प्रथम संहनन को छोड़कर दूसरे से लेकर छठे तक पांच संहननों में से जिसका उदय हो उसका उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है ।^१

-
१. यहाँ हमारे से छठे तक पांच संहननों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय देशविरति आदि सम्बन्धी तीन गुणश्रेणि के शीर्षभाग में वर्तमान मनुष्य को बताया है । परन्तु कर्मस्तव आदि ग्रंथों में दूसरे, तीसरे संहनन का उदय ग्यारहवें गुणस्थान तक बताया है और इन तीन गुणश्रेणियों की अपेक्षा (क्रमशः)

आहारकशरीर में वर्तमान अप्रमत्त संयत के अप्रमत्तगुणस्थान के पहले समय में जितने स्थानों में गुणश्रेणि दलरचना होती है, उन स्थानों में के अंतिम समय में आहारकसप्तक और उद्योतनाम का अनुभव करते हुए उन प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।
तथा—

गुणसेढीए भग्गो पत्तो वेइदिपुढविकायत्तं ।

आयावस्स उ तव्वेइ पढमसमयंमि वट्ठंतो ॥११६॥

शब्दार्थ—गुणसेढीए भग्गो—गुणश्रेणि से गिरकर, पत्तो—प्राप्त किया, वेइदिपुढविकायत्तं—द्वीन्द्रियत्व और पृथ्वीकायत्व, आयावस्स—आतप का, उ—और, तव्वेइ—उसका वेदन करने वाले, पढमसमयंमि—प्रथम समय में, वट्ठंतो—वर्तमान ।

गाथार्थ—गुणश्रेणि से गिरकर द्वीन्द्रियत्व प्राप्त करके फिर पृथ्वीकायत्व प्राप्त किया और वहाँ शरीरपर्याप्ति पूर्ण करने के बाद प्रथम समय में वर्तमान आतप का वेदन करने वाले उस पृथ्वीकाय को आतप का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है ।

विशेषार्थ—गुणितकर्माश किसी पंचेन्द्रिय जीव ने सम्यक्त्व प्राप्त कर तत्सम्बन्धी गुणश्रेणि की और उसके पश्चात् वहाँ से गिरकर

उपशांतमोह की गुणश्रेणि में दलिकरचना असंख्यात गुणश्रेणि होती है । जिससे इन दो संहननों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय उपशांतमोहगुणस्थान में प्रथम समय में हुई गुणश्रेणि के शिरोभाग पर वर्तमान जीव के संभव है । लेकिन पंचसंग्रहकार एवं कुछ और दूसरे ग्रंथकार मानते हैं कि उपशमश्रेणि का आरंभक प्रथम संहनन वाला है, दूसरा तीसरा संहनन वाला नहीं है । (पंचसंग्रह, सप्ततिका गाथा १२६) । जिससे यहाँ पांच संहननों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय देशविरति आदि सम्बन्धी तीन गुणश्रेणि के शिरोभाग में वर्तमान मनुष्य को बताया है ।

मिथ्यात्व में गया और मिथ्यात्व में जाकर मरण को प्राप्त हो द्वीन्द्रिय में उत्पन्न हुआ। वहाँ द्वीन्द्रियप्रायोग्य स्थिति की सत्ता को छोड़कर शेष समस्त स्थिति की अपवर्तना करे और अपवर्तना करने के बाद वहाँ से मरकर खर बादर पृथ्वीकायत्व प्राप्त किया और वहाँ शीघ्र शरीर-पर्याप्ति से पर्याप्ति हो तो पर्याप्ति होने के बाद प्रथम समय में आतप-नामकर्म का वेदन करते हुए उस पृथ्वीकाय को आतपनामकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

आतप का उदय खर बादर पृथ्वीकाय के होता है, अतः एकेन्द्रिय में उत्पन्न होना बताया है तथा पंचेन्द्रिय में से सीधे एकेन्द्रिय में उत्पन्न होना न कहकर द्वीन्द्रिय में जाकर पृथ्वीकाय में उत्पन्न होना कहने का कारण यह है कि द्वीन्द्रिय में से एकेन्द्रिय में गया जीव उसकी स्थिति को कम करके स्वयोग्य कर सकता है। परन्तु पंचेन्द्रिय में से एकेन्द्रिय में गया जीव अथवा पंचेन्द्रिय में से त्रीन्द्रियादि में जाकर एकेन्द्रिय हुआ जीव एकदम उसकी स्थिति को स्वयोग्य नहीं कर सकता है, मात्र द्वीन्द्रिय की स्थिति को ही शीघ्रता से स्वयोग्य कर सकता है। यहाँ उत्कृष्ट प्रदेशोदय के अधिकार में शीघ्रता से करने वाले जीव को ग्रहण किया जाता है, इसलिये पंचेन्द्रिय में से द्वीन्द्रिय में जाकर एकदम स्थिति की अपवर्तना कर एकेन्द्रिय में उत्पन्न हो और वहाँ भी शीघ्र शरीरपर्याप्ति से पर्याप्ति हो, ऐसा कहा है।

आतप का उदय शरीरपर्याप्ति पूर्ण करने के बाद ही होता है, इसलिये उसको पूर्ण करने के अनन्तरवर्ती पहले समय में उसका वेदन करते हुए उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है, यह कहा है।

इस प्रकार से पृथक्-पृथक् प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशोदयस्वामित्व का निर्देश करने के बाद अब जघन्य प्रदेशोदय के स्वामियों को बतलाते हैं।

जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व

देवो जहन्नयाऊ दीहुव्वट्टित्तु मिच्छ अन्तम्मि ॥

चउनाणदंसणतिगे एगिदिगए जहन्नुदयं ॥१२०॥

शब्दार्थ—देवो—देव, जहन्नयाऊ—जघन्यायु, दीर्घवृत्तु—दीर्घस्थिति की उद्दवर्तना कर, मिच्छ—मिथ्यात्व, अन्तम्मि—अन्त में, चउनाण—चार ज्ञानावरण, वंसणतिगे—दर्शनत्रिक का, एगिबिगए—एकेन्द्रिय में गये हुए के, जहन्नदयं—जघन्य प्रदेशोदय ।

गाथार्थ—जघन्यायु वाला देव उत्पन्न होकर अन्तर्मुहूर्त के बाद अंत में सम्यक्त्व से मिथ्यात्व में जाये और वहाँ दीर्घस्थिति बांधकर और सत्तागत स्थिति की उद्दवर्तना कर एकेन्द्रिय में जाये तो उस एकेन्द्रिय के चार ज्ञानावरण और तीन दर्शनावरण का जघन्य प्रदेशोदय होता है

विशेषार्थ—जघन्य प्रदेशोदय के स्वामियों के विचार के प्रसंग में सबंध क्षपितकर्मांश जीव को स्वामित्व का अधिकारी समझना चाहिये ।

इस जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व के विचार को मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, मनपर्यायिज्ञानावरण और केवलज्ञानावरणरूप चार ज्ञानावरण और चक्षुदर्शनावरण, अक्षुदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण रूप तीन दर्शनावरण कुल सात प्रकृतियों से प्रारम्भ करते हैं—

‘देवो जहन्नयाऊ’ अर्थात् दस हजार वर्ष की आयु वाला क्षपितकर्मांश कोई देव उत्पन्न होने के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त बीतने पर सम्यक्त्व प्राप्त करे और उस सम्यक्त्व का अन्तर्मुहूर्त न्यून दस हजार वर्ष पर्यन्त पालन कर अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में मिथ्यात्व को प्राप्त हो और वह मिथ्यात्वी देव अतिसंक्लिष्ट परिणाम वाला होकर इन मतिज्ञानावरणादि प्रकृतियों की अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उत्कृष्ट स्थिति बांधे और उस समय बहुत से दलिकों की उद्दवर्तना करे यानि सत्तागत दलिकों की स्थिति में वृद्धि करे—नीचे के स्थान के दलिकों को ऊपर के स्थान के दलिकों के साथ भोगने योग्य करे और उसके बाद संक्लिष्ट परिणाम होते हुये ही काल करके वह देव एकेन्द्रिय में उत्पन्न हो । तब वह एकेन्द्रिय उत्पत्ति के पहले समय में मतिज्ञानावरणादि उक्त चार

ज्ञानावरण और चक्षुदर्शनावरण आदि तीन दर्शनावरण रूप कुल सात प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदय करता है ।

प्रथम समय में जघन्य प्रदेशोदय होने का कारण यह है कि प्रायः प्रभूत दलिकों की उद्भवर्तना की हुई होने से पहले समय में अल्प-प्रमाण में दलिक होते हैं और उत्कृष्ट संक्लेश युक्त जीव के प्रदेश-उदीरणा अल्प एवं अनुभाग-उदीरणा अधिक होती है । क्योंकि ऐसा सामान्य नियम है कि अनुभाग की अधिक प्रमाण में उदीरणा होने पर प्रदेशों की अल्प प्रमाण में और प्रदेशों की अधिक प्रमाण में उदीरणा होने पर अनुभाग की अल्प प्रमाण में उदीरणा होती है । इसीलिये प्रस्तुत में अतिसंक्लिष्ट परिणामी एकेन्द्रिय के अधिक प्रमाण में अनुभाग की उदीरणा होने से प्रदेशों की उदीरणा अल्पप्रमाण में होती है, जिससे उदीरणा से भी अधिक दलिक उदय में प्राप्त नहीं होते हैं । अतएव मिथ्यात्व को प्राप्त हुए अतिसंक्लिष्ट परिणामी एकेन्द्रिय के पहले समय में जघन्य प्रदेशोदय होना बतलाया है । द्वितीय आदि समय में न बताने का कारण यह है कि दूसरे समयों में योग अधिक होने से पहले समय से उनमें कुछ अधिक प्रदेशों की उदीरणा करके भोगता है । जिससे द्वितीय आदि समयों में जघन्य प्रदेशोदय सम्भव नहीं है । इसीलिये पहला समय ग्रहण किया है । तथा—

कुब्बइ ओहिदुगस्स उ देवत्तां संजमाउ संपत्तो ।

मिच्छुक्कोसुवकट्टिय आवलिगंते पएसुदयं ॥१२१॥

शब्दार्थ—कुब्बइ—करता है, ओहिदुगस्स—अवधिद्विक का, उ—और, देवत्तां—देवपने, संजमाउ—संयम से, संपत्तो—प्राप्त, मिच्छुक्कोसुवकट्टिय—मिथ्यात्व में जाकर उत्कृष्ट स्थिति की उदीरणा करके, आवलिगंते—आवलिका के अन्त में, पएसुदयं—प्रदेशोदय ।

गाथार्थ—संयम से अवधिद्विक को उत्पन्न कर देवपने को प्राप्त हुआ जीव मिथ्यात्व में जाकर उसकी उत्कृष्ट स्थिति बांधे

और अधिक प्रदेशों की उद्वर्तना करे तब उस देव के अन्त समय में अवधिद्विक का जघन्य प्रदेशोदय होता है ।

विशेषार्थ—क्षपितकर्मांश कोई जीव संयम प्राप्त कर उसके प्रभाव से अवधिज्ञान और अवधिदर्शन उत्पन्न कर उनके साथ ही देव में जाये और वहाँ अन्तर्मुहूर्त के अनन्तर मिथ्यात्व को प्राप्त हो और मिथ्यात्व के निमित्त से उत्कृष्ट स्थिति बांधे और अधिक दलिकों की उद्वर्तना करे तो ऐसा देव बन्धावलिका के अन्त समय में अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण का जघन्य प्रदेशोदय करता है । इसका अर्थ यह हुआ कि अवधिज्ञान को उत्पन्न करते हुए जीव सत्ता में से बहुत से दलिकों को दूर करता है, जिससे सत्ता में अल्प रहते हैं । इसी लिए अवधिज्ञानी को जघन्य प्रदेशोदय होता है । किन्तु अवधिज्ञानरहित के नहीं होता है । तथा—

वेयणियउच्चसोयंतराय अरईण होइ ओहिसमो ।

— निद्दादुगस्स उदओ उक्कोसठिईउ पडियस्स ॥१२२॥

शब्दार्थ—वेयणिय—वेदनीयद्विक, उच्च—उच्चगोत्र, सोयंतराय—शोक, अन्तरायपंचक, अरईण—अरति का, होइ—होता है, ओहिसमो—अवधिद्विक के समान, निद्दादुगस्स—निद्राद्विक का, उदओ—उदय, उक्कोसठिईउ—उत्कृष्ट स्थिति से, पडियस्स—पतित के ।

गाथार्थ—वेदनीयद्विक, उच्चगोत्र, शोक, अन्तरायपंचक और अरति का अवधिद्विक के समान जघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिए तथा निद्राद्विक का उत्कृष्ट स्थिति से पतित निवृत्त हुए उनका उदय होने पर जघन्य प्रदेशोदय होता है ।

विशेषार्थ—‘वेयणिय……’इत्यादि अर्थात् साता-असाता रूप वेदनीय-द्विक, उच्चगोत्र, शोकमोहनीय, दानान्तराय आदि अन्तरायपंचक और अरतिमोहनीय इन दस प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशोदय-स्वामित्व का विचार अवधिद्विक के समान जानना चाहिए । यानी अवधिज्ञानावरण का जहाँ और जिस प्रकार से जघन्य प्रदेशोदय पूर्व में

बताया है, उसी प्रकार से इन दस प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिए।

निद्रा और प्रचला के जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व को भी पूर्वोक्त प्रकार से जानना चाहिए। परन्तु इतनी विशेषता है कि उत्कृष्ट स्थितिबंध कर गिरे हुए और निद्रा व प्रचला के उदय में वर्तमान जीव के इन दो प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदय होता है। यहाँ उत्कृष्ट स्थिति बांध कर पतित हुआ जीव कहने का कारण यह है कि उत्कृष्ट स्थिति का बंध अतिशय संक्लिष्ट परिणाम वाले के होता है और अतिसंक्लिष्ट परिणाम होने पर निद्राद्विक का उदय सम्भव नहीं है और यहाँ जघन्य प्रदेशोदय का विचार किया जा रहा है। इसीलिए उत्कृष्ट स्थिति का बंध कर पतित-निवृत्त हुए जीव का ग्रहण किया है।^१ तथा—

मइसरिसं वरिसवरं तिरियगई थावरं च नीयं य ।

इंदियपज्जत्तीए पढमे समयंमि गिद्धितिगे ॥१२३॥

शब्दार्थ—मइसरिसं—मतिज्ञानावरण के समान, वरिसवरं—नपुंसकवेद, तिरियगई—तिर्य्यवगति, थावरं—स्थावर, च—और, नीयं—नीचगोत्र, य—और, इंदियपज्जत्तीए—इन्द्रियपर्याप्ति से पर्याप्ति के, पढमे—पहले, समयंमि—समय में, गिद्धितिगे—स्थानद्वित्रिक का।

- १ उक्त समग्र कथन का सारांश यह है कि कोई क्षपितकर्माश जीव संयम प्राप्त करे और उसके कारण देवों में उत्पन्न हो, वहाँ अन्तर्मुहूर्त बीतने के बाद मिथ्यात्व को प्राप्त करे और इतने समय में उदय, उदीरणा द्वारा बहुत से दलिकों को कम करे, मिथ्यात्व में जाकर संक्लेशवशात् उत्कृष्ट स्थिति बांधे और बहुत से दलिकों की उद्वर्तना करे, जिससे नीचे के स्थानों में अल्पप्रमाण में दलिक रह जाते हैं। ऐसे देव के वेदनीयद्विक आदि दस प्रकृतियों का बंधावलिका के अन्त समय में जघन्य प्रदेशोदय होता है। निद्राद्विक का भी ऐसे ही देव के जघन्य प्रदेशोदय होता है। परन्तु इतना विशेष है कि मात्र उत्कृष्ट बंध करके निवृत्त हो और उसके बाद उनका तत्काल उदय हो।

गाथार्थ—नपुंसकवेद, तिर्यचगति, स्थावर और नीचगोत्र का जघन्य प्रदेशोदय मतिज्ञानावरण के समान जानना चाहिये और स्त्यानद्धिन्निक का इन्द्रियपर्याप्ति से पर्याप्ति के प्रथम समय में होता है ।

विशेषार्थ—नपुंसकवेद, तिर्यचगति, स्थावरनाम और नीचगोत्र इन चार प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व मतिज्ञानावरण के जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व के सदृश समझना चाहिये । इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस प्रकार से मतिज्ञानावरण का एकेन्द्रिय के जघन्य प्रदेशोदय बताया है, उसी तरह से इन चार प्रकृतियों का भी उस एकेन्द्रिय के जघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिये ।

‘गिद्धिते’ अर्थात् निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानद्धि रूप स्त्यानद्धिन्निक का जघन्य प्रदेशोदय भी मतिज्ञानावरण के समान ही जानना चाहिये । किन्तु इतनी विशेषता है कि मात्र इन्द्रियपर्याप्ति से पर्याप्ति के प्रथम समय में उदय होने पर समझना चाहिये । क्योंकि उसके बाद के समय से तो इन तीन निद्राओं की उदीरणा सम्भव होने से जघन्य प्रदेशोदय नहीं हो सकता है । तथा—

अपुमिथि सोग पढमिल्ल अरइ रहियाण मोहपगईणं ।

अंतरकरणाउ गए सुरेसु उदयावली अंते ॥१२४॥

शब्दार्थ—अपुमिथि—नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, सोग—शोकमोहनीय, पढमिल्ल—प्रथम (अनन्तानुबंधि) कषाय, अरइ—अरति, रहियाण—रहित, मोहपगईणं—मोहनीय प्रकृतियों का, अंतरकरणाउ—अन्तरकरण से, गए—गये हुए, सुरेसु—देवों में, उदयावली अंते—उदयावली के अन्तिम समय में ।

गाथार्थ—नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, शोकमोहनीय, प्रथम कषाय (अनन्तानुबन्धकषायचतुष्क) और अरतिमोहनीय से रहित शेष मोहनीय की प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदय अन्तरकरण करके देवों में गए हुए के उदयावली के अन्तिम समय में होता है ।

विशेषार्थ—नपुंसकवेद, स्त्रोवेद, शोकमोहनीय, अनन्तानुबन्ध-
कषायचतुष्क, अरतिमोहनीय इन आठ प्रकृतियों के सिवाय शेष रही
दर्शनमोहनीयत्रिक, अप्रत्याख्यानावरणादि बारह कषाय, पुरुषवेद,
हास्य, रति, भय और जुगुप्सा रूप मोहनीयकर्म की बीस प्रकृतियों
का जघन्य प्रदेशोदय अन्तरकरण करके देवलोक में जाने पर वहाँ उद-
यावलिका के चरम समय में होता है ।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि कोई क्षपितकर्माणि उपशम
सम्यग्दृष्टि उपशम सम्यक्त्व से गिरकर जब अन्तरकरण का समया-
धिक आवलिका काल शेष रहे तब दूसरी स्थिति में से सम्यक्त्वमोह-
नीय के दलिकों को खींचकर अन्तरकरण की अन्तिम आवलिका में
गोपुच्छाकार रूप से पहले समय में अधिक, दूसरे समय में विशेषहीन,
तीसरे समय में विशेषहीन, इस तरह चरम समय पर्यन्त विशेषहीन-
विशेषहीन स्थापित करता है । इस प्रकार की अवस्था में समयाधिक
काल पूर्ण हो और यदि मिथ्यात्वमोहनीय का उदय हो तो उसका,
मिश्रमोहनीय का उदय हो तो उसका और सम्यक्त्वमोहनीय का
उदय हो तो उसका, उदयावलिका के चरम समय में जघन्य प्रदेशोदय
होता है ।

दर्शनमोहत्रिक के सिवाय शेष सत्रह प्रकृतियों का उपशमश्रेणि
में अन्तरकरण करके श्रेणि में ही कालधर्म को प्राप्त कर देवलोक में
जाये तो वहाँ पहले समय में ही दूसरी स्थिति से दलिकों को खींचकर
उदय समय से लेकर गोपुच्छाकार रूप से इस प्रकार स्थापित करे कि
उदय समय में अधिक, दूसरे समय में विशेषहीन, तीसरे समय में
विशेषहीन, इस प्रकार विशेषहीन-विशेषहीन आवलिका के चरम समय
पर्यन्त स्थापित करे तो आवलिका के चरम समय में रहते पूर्वोक्त
सत्रह प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदय होता है ।

अब देवलोक में नपुंसकवेद आदि आठ प्रकृतियों के निषेध के
और सत्रह प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशोदय होने के कारण को स्पष्ट
करते हैं—

उवसंतो कालगओ सव्वट्ठे जाइ भगवई सिद्धं ।

तत्थ न एयाणुदओ असुभुदए होइ मिच्छस्स ॥१२५॥

शब्दार्थ—उवसंतो—उपशांत, कालगओ—मरण को प्राप्त हुआ, सव्वट्ठे—सर्वार्थसिद्धि में, जाइ—जाता है, भगवई—भगवतीसूत्र से, सिद्धं—सिद्ध है, तत्थ—वहाँ, न—नहीं, एयाणुदओ—इनका उदय, असुभ—अशुभ के, उदए—उदय, होइ—होता है, मिच्छस्स—मिथ्यात्व का ।

गाथार्थ—मरण को प्राप्त हुआ उपशांतकषाय जीव सर्वार्थ-सिद्धि विमान में जाता है, ऐसा भगवतीसूत्र में कहा है । वहाँ इन प्रकृतियों का उदय नहीं होता है तथा अशुभ मरण के द्वारा मरने वाले या न मरने वाले के मिथ्यात्व का जघन्य प्रदेशोदय होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में नपुंसकवेदादि आठ प्रकृतियों के उदय का देवों में निषेध करने के कारण को स्पष्ट करते हुए मिथ्यात्व के जघन्य प्रदेशोदय के स्वामी का निर्देश किया है ।

सर्वप्रथम देवों में नपुंसकवेद आदि आठ प्रकृतियों के उदय न होने के कारण को स्पष्ट करते हैं—

जिसने मोह का सर्वथा उपशम किया है, वह उपशांतमोहगुण-ध्यानवर्ती जीव अथवा उपशम क्रिया करने वाला उपशमश्रेणि में तत्मान कोई जीव मरण को प्राप्त हो तो उसके लिये भगवतीसूत्र में बताया है कि सर्वार्थसिद्धि महाविमान में उत्पन्न होता है और इसमें कोई विसंवाद नहीं है तथा सर्वार्थसिद्धि महाविमान में नपुंसकवेद, श्रीवेद, अरति, शोक मोहनीय एवं अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्क इन आठ प्रकृतियों का उदय नहीं होता है । इसीलिये वहाँ इन आठ प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशोदय का निषेध किया है ।

अब मिथ्यात्व के जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व को बतलाते हैं कि मिथ्यात्व का जघन्य प्रदेशोदय अशुभ मरण द्वारा मरण को प्राप्त करे अथवा मरण को प्राप्त न करे तो भी पूर्व गाथा में कहे गये अनुसार उदयावलिका के चरम समय में जघन्य प्रदेशोदय होता है। इसी प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय का भी मरण को प्राप्त करे या प्राप्त न करे, परन्तु उदयावलिका के चरम समय में रहते जघन्य प्रदेशोदय समझ लेना चाहिये।

यहाँ इतना विशेष है कि अन्तरकरण का समयार्धक आवलिका काल शेष रहे तब तीन पुंज के दलिकों को अन्तरकरण की चरम आवलिका में गोपुच्छाकार रूप से स्थापित करता है, उसमें मिथ्यात्व का उदय हो और मरण को प्राप्त करे तो भवान्तर में और मरण न हो तो उसी भव में आवलिका के चरम समय में जघन्य प्रदेशोदय होता है। किन्तु मिश्रमोहनीय का उदय होने से मिश्रगुणस्थान में आया जीव जब तक वह गुणस्थान हो तब तक मरता नहीं है, अतः उसका जघन्य प्रदेशोदय जिस गति में उपशम सम्यक्त्व से गिर कर मिश्र में आये वहीं होता है। सम्यक्त्वमोहन्य का उस गति में या देवगति में भी जघन्य प्रदेशोदय हो सकता है।

इसीलिये दर्शनत्रिक के सिवाय शेष अप्रत्याख्यानावरणादि बारह कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा इन सत्रह प्रकृतियों का देवों में जघन्य प्रदेशोदय बताया है। तथा—

उवसामइत्तु चउहा अन्तमुहूबंधिऊण बहुकालं ।

पालिय सम्मं पढमाण आवली अंतं मिच्छगए ॥१२६॥

शब्दार्थ—उवसामइत्तु—उपशमन करके, चउहा—चार बार, अन्त-मुहू—अन्तर्मुहूर्त, बंधिऊण—बांध कर, बहुकालं—दीर्घकाल पर्यन्त, पालिय—पालन कर, सम्मं—सम्यक्त्व, पढमाण—प्रथम अनन्तानुबन्धि के, आवली अन्तं—आवलिका के अन्त समय में, मिच्छगए—मिथ्यात्व में जाकर ।

गाथार्थ—चार बार मोहनीय का उपशमन करके और उसके बाद मिथ्यात्व में जाकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अनन्तानुबन्धि को बांधकर बाद में बहुत काल तक सम्यक्त्व का पालन कर मिथ्यात्व को प्राप्त हो और अनन्तानुबन्धि का बन्ध करे तब बन्धावलिका के चरम समय में उसका जघन्य प्रदेशोदय होता है ।

विशेषार्थ—चार बार मोहनीय का उपशमन करने के बाद कोई जीव अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् मिथ्यात्व को प्राप्त करे और मिथ्यात्व के निमित्त से अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अनन्तानुबन्धिकषाय बांधे । तत्पश्चात् सम्यक्त्व को प्राप्त करे और एक सौ बत्तीस सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्व का पालन कर और सम्यक्त्व के प्रभाव से अनन्तानुबन्धिकषाय के पुद्गलों को प्रदेशसंक्रम के द्वारा अधिक मात्रा में क्षय करके पुनः मिथ्यात्व में जाये और वहाँ मिथ्यात्व के निमित्त से अनन्तानुबन्धि का बन्ध करे तो बन्धावलिका के चरम समय में पूर्व में बन्धी हुई अनन्तानुबन्धिकषाय का जघन्य प्रदेशोदय करता है ।

यहाँ बन्धावलिका का चरम समय ग्रहण करने का कारण यह है कि बन्धावलिका पूर्ण होने के अनन्तर समय में पहले समय के बन्धे हुए दलिकों का भी उदीरणा द्वारा उदय होने से जघन्य प्रदेशोदय घटित नहीं होता है तथा संसार में एक जीव के चार बार मोहनीय कर्म का सर्वोपशम होता है, इससे अधिक बार न होने से चार बार मोहनीय का उपशम करने का निर्देश किया है ।

कदाचित् यह कहा जाये कि यहाँ मोहनीय के उपशमन का क्या प्रयोजन है ? तो इसका उत्तर यह है कि मोहनीय का उपशमन करने वाला जीव प्रत्याख्यानावरणादि कषायों के बहुत से दलिकों को अन्य प्रकृतियों में गुणसंक्रम द्वारा संक्रान्त करता है । जिससे क्षीणप्रायः हुए उनके दलिक चार बार मोहनीय का उपशम करके मिथ्यात्व

में आने के बाद मिथ्यात्व के निमित्त से अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त जो अनन्तानुबन्धि का बन्ध करता है, उसमें अत्यल्प ही संक्रमित होते हैं। इसलिये चार बार मोहनीय के उपशम को ग्रहण किया है।

उक्त कथन का सारांश यह हुआ कि अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त बांध कर एक सौ बत्तीस सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्व के काल में अनन्तानुबन्धि के दलिकों को दूर करता है। जिससे मिथ्यात्व में आने के बाद बंधावलिका के चरम समय में जघन्य प्रदेशोदय संभव है। तथा—

इत्थीए संजमभवे सव्वनिरुद्धंमि गंतु मिच्छं तो ।

देवी लहु जिट्ठिई उव्वट्टिय आवली अंते ॥१२७॥

शब्दार्थ—इत्थीए—स्त्री, संजमभवे—संयम भव में, सव्वनिरुद्धंमि—सबसे जघन्य अन्तर्मुहूर्त के अंत में, अंतिम समय में, गंतु—जाकर, मिच्छं—मिथ्यात्व, तो—तब, देवी—देवी, लहु—शीघ्र, जिट्ठिई—उत्कृष्ट स्थिति, उव्वट्टिय—उद्बर्तना करके, आवली अंते—आवलिका के अंतिम समय में।

गाथार्थ—संयमभव की आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रहे तब अंतिम समय में कोई स्त्री मिथ्यात्व में जाकर देवी रूप से उत्पन्न हो और वहाँ शीघ्र ही स्त्रीवेद की उत्कृष्ट स्थिति की और सत्तागत स्थिति की उद्बर्तना करे तो उसे बंधावलिका के अंतिम समय में स्त्रीवेद का जघन्य प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ—संयम द्वारा उपलक्षित भव यानि संयम द्वारा जो भव पहिचाना जाये, जिस भव में स्वयं ने चारित्र्य का पालन किया है, उसे संयमभव कहते हैं। उस भव के अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर मरण को प्राप्त कर देवी रूप से उत्पन्न हो और उस देवी पर्याय में शीघ्र ही पर्याप्तियों को पूर्ण कर स्त्रीवेद की उत्कृष्ट स्थिति का बंध करे और सत्तागत रहे हुए प्रभूत दलिकों की उद्बर्तना करे तो जिस समय में

उत्कृष्ट स्थितिबंध और बहुत से दलिकों की उद्वर्तना हुई उस समय से लेकर बन्धावलिका के चरम समय में स्त्रीवेद का जघन्य प्रदेशोदय होता है ।

उक्त कथन का तात्पर्य यह हुआ कि क्षपितकर्मांश कोई स्त्री देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त संयम का पालन कर अन्तर्मुहूर्त आयु के शेष रहने पर मिथ्यात्व में जाकर उत्तरवर्ती भव में देवी रूप से उत्पन्न हो और वहाँ शीघ्र पर्याप्तियों को पूर्ण करे और उस पर्याप्त अवस्था में उत्कृष्ट संक्लेश में वर्तमान वह स्त्री स्त्रीवेद की उत्कृष्ट स्थिति का बंध करे और पूर्वबद्ध की उद्वर्तना करे तो उस उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर आवलिका के चरम समय में स्त्रीवेद का जघन्य प्रदेशोदय होता है ।

यहाँ देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त आदि कहने का कारण यह है कि देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त चारित्र में स्त्रीवेद का बंध नहीं करता है, मात्र पुरुष-वेद का ही बंध करता है और उसमें स्त्रीवेद संक्रांत करता है, जिससे स्त्रीवेद के दलिक कम होते हैं । इसीलिये देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त संयम पालन करने का विधान किया है । ऊपर के गुणस्थानों में यदि मरण को प्राप्त हो तो बाद के भव में पुरुष होता है किन्तु स्त्री नहीं, इसीलिये अंतिम अन्तर्मुहूर्त में मिथ्यात्व में जाना सूचित किया है । अपर्याप्त अवस्था में उत्कृष्ट स्थिति का बंध नहीं होता है, अतः पर्याप्त अवस्था हो, यह बताया है और उत्कृष्ट स्थिति का बंध इसलिये कहा कि उस समय उद्वर्तना अधिक प्रमाण में होती है और अधिक प्रमाण में उद्वर्तना होने से नीचे के स्थान में दलिक अत्यल्प प्रमाण में रहते हैं, जिससे बन्धावलिका के चरम समय में जघन्य प्रदेशोदय होता है । आवलिका का चरम समय इसलिये बताया है कि बन्धावलिका के पूर्ण होने के बाद बंधे हुए भी उदीरणा से उदय में आते हैं और ऐसा होने से जघन्य प्रदेशोदय नहीं होता है । इसलिये बन्धावलिका का चरम समय ग्रहण किया है । तथा—

अप्पद्धाजोगसमज्जियाण आऊण जिट्ठिइअंते ।

उवरिं थोवनिसेगे चिर तिब्वासायवेईणं ॥१२८॥

शब्दार्थ—अप्पद्धाजोगसमज्जियाण—अल्प अद्धा (बंधकाल) और योग से अजित-बद्ध, आऊण—चारों आयु की, जिट्ठिइअंते—उत्कृष्ट स्थिति के अंत में, उवरिं—उपर, थोवनिसेगे—स्तोक निषेक वाले, चिर—अधिक समय, तिब्वासायवेईणं—तीव्र असाता का वेदन करने वाले के ।

गाथार्थ—अल्प काल और योग द्वारा बद्ध चारों आयु की उत्कृष्ट स्थिति के अंत में स्तोक निषेक वाले ऊपर के स्थान में वर्तमान अधिक समय तक तीव्र असाता का वेदन करने वाले के चारों आयु का जघन्य प्रदेशोदय होता है ।

विशेषार्थ—अल्पातिअल्प जितने समय और योग द्वारा आयु का उत्कृष्ट स्थितिबंध हो सकता है, उतने काल और योग द्वारा बद्ध उत्कृष्ट स्थिति वाली चारों आयु की जिस स्थान में कम से कम दलरचना हुई है उस चरम स्थान में वर्तमान सुदीर्घकाल तक तीव्र असातावेदनीय के द्वारा विह्वल हुए क्षणिककर्माणि जीव के जिस आयु का उदय हो, उसका जघन्य प्रदेशोदय होता है ।

अल्प काल द्वारा बहुत बार आयु का बंध और अल्प योग द्वारा अधिक दलिक का ग्रहण नहीं हो सकने के कारण यहाँ अल्प काल और अल्प योग का और तीव्र असातावेदनीय द्वारा विह्वल हुए जीवों के आयु के अधिक प्रमाण में पुद्गलों का क्षय होने से यहाँ तीव्र असाता का वेदन करने वाले जीव का ग्रहण किया है तथा अंतिम स्थान में निषेकरचना अत्यल्प प्रमाण होती है और उदय, उदीरणा द्वारा अधिक दलिकों का क्षय होता है, जिससे चरम स्थान में बहुत ही कम दलिक शेष रहते हैं । इसीलिये जघन्य प्रदेशोदय के लिये चरम स्थान का ग्रहण किया है । तथा—

संजोयणा विजोजिय जहन्नदेवत्तमंतिममुहुत्ते ।

बंधिय उक्कोस्सठिइं गंतूणेगिंदियासन्नी ॥१२६॥

सव्वलहुं नरयगए नरयगई तम्मि सव्वपज्जत्ते ।

अणुपुब्बिसगइतुल्ला ता पुण नेया भवाइम्मि ॥१३०॥

शब्दार्थ—संजोयणा—संयोजना, अनन्तानुबंधि की, विजोजिय—विसंयोजना करके, जहन्नदेवत्त—जघन्य आयु वाला देवपना, अन्तिममुहुत्ते—अन्तिम-मुहूर्त में, बंधिय—बांधकर, उक्कोस्सठिइं—उत्कृष्ट स्थिति को, गंतूण—जाकर, एगिंदियासन्नी—एकेन्द्रिय से असंज्ञी में ।

सव्वलहुं—शीघ्र, नरयगए—नरक में जाकर, नरयगई—नरकगति, तम्मि—उसमें, सव्वपज्जत्ते—सम्पूर्ण पर्याप्तियों से पर्याप्त, अणुपुब्बि—आनुपूर्वी का, सगइतुल्ला—अपनी-अपनी गति के तुल्य, ता—वह, पुण—पुनः, नेया—जानना चाहिए, भवाइम्मि—भव के आदि समय में ।

गाथार्थ—संयोजना (अनन्तानुबंधि) की विसंयोजना करके जघन्य आयु वाला देवपना प्राप्त कर उसके अन्तिम मुहूर्त में एकेन्द्रिय के योग्य उत्कृष्ट स्थिति बांध कर और उस एकेन्द्रिय से असंज्ञी में जाकर वहाँ से शीघ्र नरक में उत्पन्न हो तब सम्पूर्ण पर्याप्तियों से पर्याप्त उस नारक के नरकगति का जघन्य प्रदेशोदय होता है तथा चारों आनुपूर्वियों का जघन्य प्रदेशोदय अपनी-अपनी गति के तुल्य है किन्तु अपने-अपने भव के पहले समय में समझना चाहिए ।

विशेषार्थ—कोई जीव अनन्तानुबंधि की विसंयोजना करने^१ के

१ यहाँ अनन्तानुबंधि की विसंयोजना करना कहने का कारण यह है कि उसकी विसंयोजना करने पर शेष समस्त कर्मों के भी अधिक परिमाण में पुद्गल क्षय होते हैं ।

बाद जघन्य आयु वाला देवत्व प्राप्त करे और वहाँ अन्तिम मुहूर्त में मिथ्यात्व में जाकर एकेन्द्रिययोग्य प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बांध कर सकल्लिष्ट परिणाम वाले एकेन्द्रिय में उत्पन्न हो और वहाँ मात्र अन्तर्मुहूर्त रहकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय में उत्पन्न हो^१ और उस असंज्ञी भव में अन्य असंज्ञी जीवों की अपेक्षा शीघ्र मरकर नरक में उत्पन्न हो और वहाँ शीघ्र समस्त पर्याप्तियों से पर्याप्त हो तो उस समस्त पर्याप्तियों से पर्याप्त नारक के नरकगति का जघन्य प्रदेशोदय होता है।

इसका कारण यह है कि पर्याप्त जीव के बहुत-सी प्रकृतियों का विपाकोदय होता है और विपाकोदय प्राप्त प्रकृतियाँ स्तिबुकसंक्रम द्वारा अन्यत्र संक्रान्त नहीं होती हैं। इसलिये अन्य प्रकृतियों के दलिक संक्रम द्वारा संक्रमित नहीं होते हैं। जिससे उदयप्राप्त नरकगति का जघन्य प्रदेशोदय सम्भव है।^२

‘अणुपुण्विसगइतुल्ला’ अर्थात् चारों आनुपूर्वियों का जघन्य प्रदेशोदय अपनी-अपनी गति की तरह जानना चाहिये। यानि जिस रीति से गति के जघन्य प्रदेशोदय की विचारणा की गई है, उसी प्रकार चारों आनुपूर्वियों की भावना भी कर लेना चाहिये। परन्तु इतना

१ देव सीधा असंज्ञी पंचेन्द्रिय में उत्पन्न नहीं होता है, इसलिए एकेन्द्रिय में उत्पन्न होकर असंज्ञी में उत्पन्न होना कहा है।

२ यहाँ प्रश्न होता है कि नारक को अपनी आयु के चरम समय में नरक-गति का जघन्य प्रदेशोदय होता है, यह क्यों नहीं कहा? क्योंकि उदय, उदीरणा द्वारा बहुत से दलिक भोगे जाने के कारण कम होते हैं एवं बंधती हुई तिर्यच, मनुष्य गति में संक्रान्त हो जाने से भी कम दलिक हो जाते हैं और ऊपर-ऊपर के स्थानों में निषेकरचना भी अल्प-अल्प होती है, जिससे अपनी-अपनी आयु के चरम समय में जघन्य प्रदेशोदय होना कहना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं कहने का क्या कारण है? विद्वज्जन समाधान करने की कृपा करें।

विशेष है कि भव के प्रथम समय में उनका जघन्य प्रदेशोदय होना समझना चाहिये—“ता पुण नेया भवाइम्मि” । इसका कारण यह है कि आनुपूर्वियों का उदय विग्रहगति में होता है और विग्रहगति तीन समय तक होती है । उसमें भी तीसरे समय जिसकी बन्धावलिका व्यतीत हो गई है, ऐसी अन्य लता भी उदय में आती है, जिससे जघन्य प्रदेशोदय नहीं होता है । इसीलिये भव के प्रथम समय का ग्रहण किया है । तथा—

देवगई ओहिसमा नवरं उज्जोयवेयगो जाहे ।

चिरसंजमिणो अंते आहारे तस्स उदयम्मि ॥१३१॥

शब्दार्थ—देवगई—देवगति का, ओहिसमा—अवधिज्ञानावरण के समान, नवरं—किन्तु, उज्जोयवेयगो—उद्योत का वेदक हो, जाहे—जब, चिरसंजमिणो—चिरसंयमी, अंते—अंत समय में, आहारे—आहारक का, तस्स—उसका, उदयम्मि—उदय होने पर ।

गाथार्थ—देवगति का जघन्य प्रदेशोदय अवधिज्ञानावरण के समान समझना चाहिये । किन्तु जब उद्योत का वेदक हो तब जानना चाहिये तथा चिरसंयमी के अंत समय में आहारक का उदय होने पर उसका जघन्य प्रदेशोदय होता है ।

विशेषार्थ—‘देवगई ओहिसमा’ अर्थात् देवगति का जघन्य प्रदेशोदय पूर्व में बताये गये अवधिज्ञानावरण के जघन्य प्रदेशोदय के अनुरूप जानना । किन्तु इतना विशेष है कि उद्योत का उदय हो तब देवगति का जघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिये ।

उद्योत का उदय हो तब देवगति का जघन्य प्रदेशोदय होने का कारण यह है कि जब तक उद्योत का उदय नहीं होता है, तब तक स्तिबुकसंक्रम के द्वारा देवगति में उद्योत के दलिक संक्रान्त होने से देवगति का जघन्य प्रदेशोदय संभव नहीं है । किन्तु जब उद्योत का

उदय होता है, तब उसका स्तिबुकसंक्रम नहीं होता है। इसीलिये उद्योत का जब उदय हो तब देवगति का जघन्य प्रदेशोदय होता है, यह कहा है। उद्योत का उदय पर्याप्त के होता है, अपर्याप्त के नहीं, इसलिये पर्याप्तावस्था में देवगति का जघन्य प्रदेशोदय होना जानना चाहिये।

‘चिरसंजमिणो अंते’...’इत्यादि अर्थात् देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त जिसने चारित्र का पालन किया ऐसा चौदह पूर्वधारी अंतिम काल में आहारक शरीरी हो तब उसे आहारकसप्तक और उद्योत के विपाकोदय में रहते आहारकसप्तक का जघन्य प्रदेशोदय होता है। इसका कारण यह है कि दीर्घकाल तक चारित्र का पालन करने से अधिक पुद्गलों का क्षय होता है। इसीलिये चिरकाल संयमी के जघन्य प्रदेशोदय कहा है और उद्योत के उदय के ग्रहण करने का कारण पूर्व कथनानुरूप यहाँ भी समझ लेना चाहिये। तथा—

सेसाणं चक्षुसमं तमिव अन्नंमि वा भवे अचिरा ।

तज्जोगा बहुयाओ ता ताओ वेयमाणस्स ॥१३२॥

शब्दार्थ—सेसाणं—शेष प्रकृतियों का, चक्षुसमं—चक्षुदर्शनावरण के समान, तमिव—उसी के समान, अन्नंमि—अन्य दूसरे, वा—अथवा, भवे—भव में, अचिरा—शीघ्र, एकदम, तज्जोगा—उस उसके योग्य, बहुयाओ—बहुत-सी, ता ताओ—उन-उन प्रकृतियों का, वेयमाणस्स—वेदन करने वाले के।

गाथार्थ—चक्षुदर्शनावरण के समान शेष प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदय उसी (एकेन्द्रिय के) भव में अथवा यदि उस-उस प्रकृति का उस भव में उदय न होता हो तो उस-उस प्रकृति के उदययोग्य अन्य भव में उस भव के योग्य बहुत-सी प्रकृतियों का वेदन करने वाले के जानना चाहिये।

विशेषार्थ—जघन्य प्रदेशोदय के स्वामित्व का उपसंहार करते हुए अंत में पूर्वोक्त से शेष रही प्रकृतियों के स्वामित्व का निर्देश करते हैं—

‘मैसाण’ अर्थात् पूर्व में जिन प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व कहा है, उनके सिवाय शेष रही सभी प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदय एकेन्द्रिय में उत्पन्न हो, वहाँ तक चक्षुदर्शनावरण की तरह समझना चाहिये । इसका आशय यह हुआ कि जिन प्रकृतियों का एकेन्द्रिय भव में उदय हो, उनका तो उसी भव में दीर्घकाल पर्यन्त वेदन करने वाले क्षपितकर्माश जीव के जघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिये । किन्तु उनसे शेष रही प्रकृतियों का अन्य भव में जघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिये । ऐसी प्रकृतियों के नाम हैं—

मनुष्यगति, द्वेन्द्रियदि जातिचतुष्क, आदि के पांच संस्थान, औदारिक-अंगोपांग, वैक्रिय-अंगोपांग, छह संहनन, विहायोगतिद्विक, त्रस, सुभग, सुस्वर, दुःस्वर और आदेय । इन पच्चीस प्रकृतियों का एकेन्द्रिय के भव में उदय संभव नहीं है । अतः इन प्रकृतियों का एकेन्द्रिय के भव में से एकदम निकलकर उन-उन प्रकृतियों के उदययोग्य भवों में उत्पन्न हुए क्षपितकर्माश जीव को उस-उस भवयोग्य बहुत-सी प्रकृतियों का वेदन करते हुए जघन्य प्रदेशोदय होता है ।

उस-उस भव के योग्य बहुत-सी प्रकृतियों का उदय पर्याप्त के होता है, अपर्याप्त के नहीं । अतः सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त के जघन्य प्रदेशोदय होना समझना चाहिए । क्योंकि पर्याप्त जीव के बहुत-सी प्रकृतियों का उदय होता है और उदयप्राप्त प्रकृतियों का स्तिबुकसंक्रम नहीं होता है । जिससे उसको विवक्षित प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदय घटित होता है ।^१

तीर्थंकरनामकर्म का जघन्य प्रदेशोदय क्षपितकर्माश तीर्थंकर परमात्मा को उदय के प्रथम समय में जानना चाहिये । क्योंकि उसके

१ पर्याप्त को होता है, यह संकेत गाथा में नहीं है, लेकिन पूर्वापर सम्बन्ध और विवेचन के सामर्थ्य से उसका ग्रहण समझ लेना चाहिये ।

बाद के समयों में गुणश्रेणि द्वारा स्थापित अधिक दलिकों का अनुभव होने से जघन्य प्रदेशोदय नहीं होता है ।

इस प्रकार से जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व का विचार करने के साथ उदयाधिकार का विवेचन पूर्ण हुआ ।

सत्ताधिकार

अब क्रमप्राप्त सत्ताधिकार का विवेचन प्रारम्भ करते हैं । सत्ता—सत्कर्म के चार प्रकार हैं—प्रकृतिसत्कर्म, स्थितिसत्कर्म, अनुभाग-सत्कर्म और प्रदेशसत्कर्म । इन चारों में से पहले प्रकृतिसत्कर्म की प्ररूपणा करते हैं । प्रकृतिसत्ता के विषय में दो अनुयोगद्वार हैं—सादि-अनादि प्ररूपणा और स्वामित्व । इनमें से सादि-अनादि प्ररूपणा के दो प्रकार हैं—मूलप्रकृतिविषयक, उत्तरप्रकृतिविषयक । अल्प वक्तव्य होने से पहले मूलप्रकृतिसम्बन्धी सादि-अनादि प्ररूपणा करते हैं—

मूलप्रकृतियों की सत्ता के अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार हैं । इसका कारण यह है कि सदैव सद्भाव होने से मूलकर्म की सत्ता अनादि है, अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव है ।

इस प्रकार से मूल प्रकृतियों सम्बन्धी सादि आदि भंगों का विचार जानना चाहिये । अब उत्तरप्रकृतियों के सादि आदि भंगों का विचार करते हैं ।

उत्तरप्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा

पढम कसाया चउहा तिहा धुवं साई अद्धुवं संतं ।

शब्दार्थ—पढमकसाया—प्रथमकषाय, चउहा—चार प्रकार की, तिहा—तीन प्रकार की, धुवं—ध्रुव प्रकृतियों की, साई—सादि, अद्धुवं—अध्रुव, संतं—सत्ता ।

गाथार्थ—प्रथमकषाय की सत्ता चार प्रकार की है। शेष ध्रुव प्रकृतियों की सत्ता तीन प्रकार की और अध्रुव प्रकृतियों की सत्ता सादि और अध्रुव है।

विशेषार्थ—सत्ता की अपेक्षा प्रकृतियों के दो प्रकार हैं—ध्रुव-सत्ता वाली और अध्रुवसत्ता वाली। ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियाँ एक सौ तीस और अध्रुवसत्ता वाली अट्ठाईस प्रकृतियाँ हैं। उनमें से पहले ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों के सादि आदि भंगों को बतलाते हैं—

‘पढमकसाथा चउहा’ अर्थात् पहली अनन्तानुबन्धिकषायें सत्ता की अपेक्षा सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार की हैं। जिसका कारण यह है—सम्यग्दृष्टि किसी जीव ने अनन्तानुबन्धि की विसंयोजना की और उसके बाद सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व को प्राप्त हो मिथ्यात्व के निमित्त से पुनः अनन्तानुबन्धि का बंध करे तब उसकी सत्ता सादि है। उस स्थान को जिसने प्राप्त नहीं किया, उसकी अपेक्षा अनादि, ध्रुव और अध्रुव क्रमशः अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

अनन्तानुबन्धि के सिवाय एक सौ छब्बीस ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियाँ सत्ता की अपेक्षा अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार की हैं। ध्रुवसत्ता वाली होने से ये सभी प्रकृतियाँ अनादिकाल से सत्ता में होने के कारण अनादि हैं। अभव्य के इन प्रकृतियों की सत्ता का कभी भी नाश न होने से ध्रुव और भव्य मोक्ष जाने पर इन सब प्रकृतियों का नाश करेगा, इसलिये अध्रुव हैं।

इन ध्रुवसत्कर्म प्रकृतियों से शेष रही अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियाँ सादि और अध्रुव इस तरह दो प्रकार की हैं। इनका सादित्व और अध्रुवत्व इन प्रकृतियों की सत्ता अध्रुव होने से समझ लेना चाहिए। ये अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियाँ अट्ठाईस हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, मनुष्यद्विक, देवद्विक, नरकद्विक, वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, तीर्थकरनाम, उच्चगोत्र और आयुचतुष्क।

इस प्रकार से मूल और उत्तर प्रकृतियों के सादि आदि भंगों को जानना चाहिये ।

अब इन सत्ता प्रकृतियों के स्वामित्व का विचार करते हैं कि किस कर्मप्रकृति की सत्ता का कौन स्वामी है । स्वामित्व विचार के दो भंग हैं—एक-एक प्रकृति की सत्ता का स्वामी कौन है ? और अनेक प्रकृतियों के समूह की सत्ता का स्वामी कौन है ? इनमें से पहले एक-एक प्रकृति की सत्ता के स्वामित्व का निरूपण प्रारम्भ करते हैं ।

एक-एक प्रकृतिविषयक सत्तास्वामित्व

दुचरिमखीणभवन्ता निद्दादुग चोद्दसाऊणि ॥१३३॥

शब्दार्थ—दुचरिम—द्विचरम और चरम समय, खीण—क्षीणमोहगुण-स्थान, भवन्ता—भव के अंत पर्यन्त, निद्दादुग—निद्राद्विक, चोद्दसाऊणि—चौदह प्रकृतियों और आयुचतुष्क की ।

गाथार्थ—क्षीणमोहगुणस्थान के द्विचरम और चरम समय एवं भव के अंत पर्यन्त क्रमशः निद्राद्विक, ज्ञानावरणपंचक आदि चौदह प्रकृतियों और आयुचतुष्क की सत्ता है ।

विशेषार्थ—सत्तास्वामित्व का विचार करने के संदर्भ में यह जानना चाहिए कि जिस गुणस्थान तक जिन प्रकृतियों की सत्ता का निर्देश किया जाए, उनकी सत्ता के स्वामी पहले मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से लेकर उस गुणस्थान तक के सभी जीवों को समझना चाहिए ।

अब इस नियम के अनुसार सत्तास्वामित्व का विचार प्रारम्भ करते हैं—

गाथागत दुचरिम आदि पदों का सम्बन्ध अनुक्रम से इस प्रकार करना चाहिए कि क्षीणमोहगुणस्थान के द्विचरम-उपान्त्य समयपर्यन्त निद्राद्विक—निद्रा और प्रचला—की सत्ता होती है । इसके बाद उनकी सत्ता नहीं है । इसका आशय यह हुआ कि मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीण-

मोहगुणस्थान पर्यन्त के सभी जीव निद्राद्विक की सत्ता के स्वामी हैं। इसी प्रकार क्षीणमोहगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त ज्ञानावरणपंचक, अंतरायपंचक और दर्शनावरणचतुष्क इन चौदह प्रकृतियों की सत्ता है, आगे नहीं होती है।

चारों आयु की अपने-अपने भव के अंत समय पर्यन्त सत्ता होती है, अनन्तरवर्ती भव में नहीं होती है। तथा—

तिसु मिच्छत्तं नियमा अट्ठसु ठाणेसु होई भइयव्वं ।

सासायणंमि नियमा सम्मं भज्जं दससु संतं ॥१३४॥

शब्दार्थ—तिसु—तीन में, मिच्छत्तं—मिथ्यात्व, नियमा—अवश्य, नियम से, अट्ठसु—आठ, ठाणेसु—गुणस्थानों में, होई—होती है, भइयव्वं—भजना से, सासायणंमि—सासादन में, नियमा—अवश्य, सम्मं—सम्यक्त्व, भज्जं—भजना से, दससु—दस गुणस्थानों में, संतं—सत्ता।

गाथार्थ—आदि के तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्व की सत्ता अवश्य होती है और उसके बाद के आठ गुणस्थानों में भजना से तथा सासादन में सम्यक्त्वमोहनीय की अवश्य सत्ता होती है और दस गुणस्थानों में भजना से होती है।

विशेषार्थ—गाथा में मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मोहनीय की निश्चित और भजनीय सत्ता का निर्देश किया है। इनमें से पहले मिथ्यात्व की सत्ता का विचार करते हैं—

‘तिसु मिच्छत्तं नियमा’ आदि के तीन—मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र—गुणस्थानों में मिथ्यात्वमोहनीय की सत्ता नियम से (अवश्य) होती है और ‘अट्ठसु ठाणेसु होई भइयव्वं’ अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर उपशांतमोह गुणस्थान पर्यन्त आठ गुणस्थानों में भजना से होती है। यानि सत्ता होती भी है और नहीं भी होती है। जो इस प्रकार जानना चाहिए—

अविरतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों में क्षायिक सम्यक्त्व का उपार्जन करते हुए जिन्होंने मिथ्यात्व का क्षय किया है, उनके तो

मिथ्यात्व की सत्ता नहीं होती है, किन्तु उपशमन किया हो तो उपशम सम्यक्त्वी के सत्ता होती है। क्षीणमोह आदि गुणस्थानों में मिथ्यात्व की सत्ता का अवश्य अभाव है।

सारांश यह है कि सम्यग्दृष्टि दो प्रकार के हैं—उपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि। उनमें से उपशम सम्यक्त्वी के तो मिथ्यात्व की सत्ता होती है, लेकिन क्षायिक सम्यग्दृष्टि के सत्ता नहीं पाई जाती है। इसीलिए चौथे अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान से लेकर उपशान्तमोहगुणस्थान पर्यन्त आठ गुणस्थानों में मिथ्यात्व की सत्ता को भजनीय बताया है।

‘सासायणमि नियमा सम्मं’ अर्थात् दूसरे सासादनगुणस्थान में सम्यक्त्वमोहनीय की सत्ता अवश्य होती है। क्योंकि सासादनगुणस्थान में मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता है और सम्यक्त्वमोहनीयकर्म की प्रकृति है। अतएव दूसरे गुणस्थान में सम्यक्त्वमोहनीय की सत्ता अवश्य होती है और ‘भज्जं दससु’ यानि सासादन को छोड़कर मिथ्यात्व से लेकर उपशान्तमोहगुणस्थान तक के दस गुणस्थानों में भजना से होती है। जो इस प्रकार जानना चाहिए—

मिथ्यात्वगुणस्थान में अभव्य के और अभी तक भी जिसने सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया ऐसे भव्य के सम्यक्त्वमोहनीय की सत्ता होती ही नहीं है और उपशम सम्यक्त्व से गिरकर आए हुए भव्य के जब तक उद्वलना नहीं करे तब तक सत्ता होती है तथा ऊपर के गुणस्थान से गिरकर मिश्रगुणस्थान प्राप्त करे तो उसके मिश्रगुणस्थान में सम्यक्त्वमोहनीय की अवश्य सत्ता होती है, लेकिन पहले गुणस्थान में सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वलना कर मिश्रगुणस्थान प्राप्त करे तो उसे सत्ता नहीं होती है। चौथे से ग्यारहवें गुणस्थान तक क्षायिक सम्यक्त्वी के सत्ता नहीं होती है, किन्तु उपशम, क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि वाले के होती है। इसी कारण दस गुणस्थानों में सम्यक्त्वमोहनीय की सत्ता भजना से कही है। बारहवें आदि गुणस्थानों में तो सम्यक्त्वमोहनीय का सत्ता होती ही नहीं है। तथा—

सासणमीसे मीसं संतं नियमेण नवसु भइयव्वं ।

सासायणंत नियमा पंचसु भज्जा अओ पढमा ॥१३५॥

शब्दार्थ—सासणमीसे—सासादन और मिश्र गुणस्थान में, मीसं—मिश्र-मोहनीय की, संतं—सत्ता, नियमेण—नियम से, नवसु—नौ गुणस्थानों में, भइयव्वं—भजनीय, सासायणंत—सासादन तक, निबमा—नियम से, पंचसु—पांच गुणस्थानों में, भज्जा—भजना से, अओ—और उसके बाद, पढमा—प्रथम अनन्तानुबधिकषायों की ।

गाथार्थ—सासादन और मिश्र गुणस्थान में मिश्रमोहनीय की नियम से सत्ता होती है और नौ गुणस्थान में भजनीय है तथा सासादन तक पहली अनन्तानुबधिकषायों की सत्ता नियम से और उसके बाद के पांच गुणस्थानों में भजना से सत्ता जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—‘सासणमीसे मीसं संतं’ यानि सासादन और मिश्र इन दूसरे, तीसरे दो गुणस्थानों में मिश्रमोहनीय की अवश्य सत्ता होती है । क्योंकि सासादनगुणस्थानवर्ती जीव मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता वाला होता है और मिश्रमोहनीय की सत्ता के बिना मिश्रगुणस्थान नहीं है । इसीलिए सासादन और मिश्र गुणस्थान में मिश्रमोहनीय की अवश्य सत्ता है । किन्तु ‘नवसु भइयव्वं’ अविरत-सम्यग्दृष्टि से लेकर उपशान्तमोह गुणस्थान पर्यन्त नौ गुणस्थानों में भजना से सत्ता जानना चाहिए । अर्थात् सत्ता होती भी है और नहीं भी होती है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

क्षायिक सम्यक्त्वी के मिश्रमोहनीय की सत्ता नहीं होती है, किन्तु उपशम—क्षयोपशम सम्यक्त्वी के होती है । पहले गुणस्थान में अभव्य के और जिसने अभी तक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया उसके मिश्र-मोहनीय की सत्ता होती नहीं और सम्यक्त्व प्राप्त कर मिथ्यात्व में जाये तो जहाँ तक उद्बलना नहीं करे, वहाँ तक सत्ता होती है । इसी कारण नौ गुणस्थानों में भजना से मिश्रमोहनीय की सत्ता का निर्देश किया है ।

‘सासायणंत नियमा’ सासादनगुणस्थान पर्यन्त ‘पहमा’ प्रथम अनन्तानुबंधिकषायों की सत्ता नियम से होती है। इसका कारण यह है कि मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानवर्ती जीव अनन्तानुबंधिकषायों का अवश्य बंध करते हैं। जिससे इन दो गुणस्थानों में अवश्य सत्ता होती है और उसके बाद के मिश्रगुणस्थान से लेकर अप्रमत्त-गुणस्थान तक के पांच गुणस्थानों में इनकी सत्ता भजनीय है—‘पंचसु भज्जा’। क्योंकि यदि उद्वलना की हो तो सत्ता नहीं होती है, अन्यथा होती है। इसी कारण अनन्तानुबंधिकषायों की सत्ता मिश्र आदि गुणस्थानों में भजनीय कही है। तथा—

मज्झल्लदृक्कसाया ता जा अणियट्ठिखवगसंखेया ।

भागा ता संखेया ठिइखंडा जाव गिद्धितिंगं ॥१३६॥

शब्दार्थ—मज्झल्लदृक्कसाया—मध्यम आठ कषायों, ता—तब तक, जा—जब तक, अणियट्ठि—अनिवृत्तिबादरगुणस्थान, खवग—क्षपक के, संखेया—संख्यात, भाग—भाग, ता—तब तक, संखेया—संख्यात, ठिइखंडा—स्थितिखंड, जाव—तक, गिद्धितिंगं—स्त्यानद्धित्रिक ।

गाथार्थ—मध्यम आठ कषायों की सत्ता तब तक जानना चाहिए जब तक क्षपक के अनिवृत्तिबादरगुणस्थान के संख्यात भाग होते हैं अर्थात् क्षपक के अनिवृत्तिबादरगुणस्थान के संख्यात भाग पर्यन्त मध्यम आठ कषायों की और उसके बाद संख्यात भाग पर्यन्त स्त्यानद्धित्रिक की सत्ता होती है ।

विशेषार्थ—अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि चतुष्क को मध्यम आठ कषाय कहते हैं। इन आठ कषायों की क्षपक के अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान के संख्यात भाग पर्यन्त सत्ता होती है, उसके बाद उनका क्षय होने से सत्ता नहीं रहती है। किन्तु उपशमश्रेणि की अपेक्षा तो उपशान्तमोहगुणस्थान पर्यन्त सत्ता जानना चाहिए । तथा—

क्षपक के अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान में जिस स्थान पर आठ कषायों का क्षय हुआ है, उस स्थान से संख्यात स्थितिखंडों पर्यन्त यानि अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान के जिस समय में आठ कषायों का क्षय हुआ है, उस समय से लेकर संख्याता स्थितिघात जितने समय हों उतने समय पर्यन्त निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्या-नद्धि इस स्त्यानद्धित्रिक और स्थावर आदि नामकर्म की तेरह प्रकृतियों की सत्ता होती है। उसके बाद नहीं होती है। इसका कारण यह है कि उतने काल में उनका क्षय होता है। किन्तु उपशमश्रेणि की अपेक्षा उपशांतमोहगुणस्थान पर्यन्त सत्ता होती है।

स्थावर आदि तेरह प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

थावरतिरिगइदोदो आयावेगिदिविगलसाहारं ।

नरयदुगुज्जोयाणि य दसाइमेगंततिरिजोग्गा ॥१३७॥

शब्दार्थ—थावरतिरिगइदोदो—स्थावरद्विक और तिर्यचद्विक, आयाव—आतप, एगिदि—एकेन्द्रिय, विगल—विकलेन्द्रियत्रिक साहारं—साधारण, नरयदुग—नरकद्विक, उज्जोयाणि—उद्योत, य—और, दसाइम—इनमें से आदि की दस, एगंततिरिजोग्गा—एकान्ततः तिर्यचप्रायोग्य ।

गाथार्थ—स्थावरद्विक, तिर्यचद्विक, आतप, एकेन्द्रिय, विकले-

न्द्रियत्रिक, साधारण, नरकद्विक और उद्योत ये नामकर्म की तेरह प्रकृतियां हैं। इनमें से आदि की दस एकान्ततः तिर्यचप्रायोग्य हैं।

विशेषार्थ—स्थावर और सूक्ष्म रूप स्थावरद्विक, तिर्यचगति और तिर्यचानुपूर्वी रूप तिर्यचद्विक, आतप, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति रूप विकलेन्द्रियत्रिक, साधारण, नरकगति, नरकानुपूर्वी रूप नरकद्विक और उद्योत—ये स्थावर आदि नामकर्म की तेरह प्रकृतियां हैं। इनमें से स्थावर से लेकर चतुरिन्द्रिय जाति पर्यन्त दस प्रकृतियों का उदय मात्र तिर्यचगति में ही होने से एकान्त-

तिर्यचप्रायोग्य प्रकृतियां हैं। अतः जहाँ कहीं भी एकान्ततिर्यच-प्रायोग्य प्रकृतियों का उल्लेख किया जाये वहाँ इन दस प्रकृतियों को समझना चाहिए। तथा—

एवं नपुंसगित्थी संतं छक्कं च बायर पुरिसुदए ।

समऊणाओ दोन्निउ आवलियाओ तओ पुरिसं ॥१३८॥

शब्दार्थ—एवं—इसी प्रकार, नपुंसगित्थी—नपुंसक वेद और स्त्रीवेद, संतं—सत्ता, छक्कं—हास्यादि षट्क, च—और, बायर—बादरसंपराय-गुणस्थान, पुरिसुदए—पुरुषवेद के उदय में, समऊणाओ—समय न्यून, दोन्निउ—दो, आवलियाओ—आवलिका, तओ—उसके बाद, पुरिसं—पुरुषवेद का।

गाथार्थ—इसी प्रकार पुरुषवेद के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाला बादरसंपरायगुणस्थान में नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और हास्यादि षट्क का और उसके बाद समय न्यून दो आवलिका में पुरुषवेद का क्षय करता है।

विशेषार्थ—गाथा में क्षपकश्रेणि के आरंभक की अपेक्षा नपुंसक-वेद, स्त्रीवेद हास्यादि षट्क और पुरुषवेद की सत्ता का विचार किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

इसी प्रकार अर्थात् मध्यम आठ कषायों का क्षय करने के अनन्तर संख्यात स्थितिखण्डों का अतिक्रमण करने के बाद जैसे स्त्यानद्वित्रिक और स्थावर आदि नामकर्म की तेरह कुल मिलाकर सोलह प्रकृतियों का क्षय किया, उसी प्रकार सोलह प्रकृतियों का क्षय करने के बाद संख्याता स्थितिखण्डों के व्यतीत होने पर नपुंसकवेद का क्षय होता है और जब तक उसका नाश नहीं होता तब तक उसकी सत्ता होती है।

नपुंसकवेद के क्षय के बाद संख्यात स्थितिखण्डों का अतिक्रम होने

पर स्त्रीवेद का नाश होता है। अतः उसकी भी जब तक क्षय न हो, तब तक सत्ता जानना चाहिए।^१

स्त्रीवेद के पश्चात् संख्यात स्थितिखण्डों का अतिक्रमण होने के बाद हास्यादि षट्क का क्षय और हास्यादि षट्क का क्षय होने के अनन्तर समयन्यून दो आवलिका काल में पुरुषवेद की सत्ता का क्षय होता है।^२

अब स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय में क्षपकश्रेणि स्वीकार करने वाले की अपेक्षा सत्ता का निर्देश करते हैं—

इत्थीउदए नपुंसं इत्थीवेयं च सत्तागं च कमा ।

अपुमोदयमि जुगवं नपुंसइत्थी पुणो सत्ता ॥१३६॥

शब्दार्थ—इत्थीउदए—स्त्रीवेद के उदय में, नपुंसं—नपुंसकवेद को, इत्थीवेयं—स्त्रीवेद को, च—और, सत्तागं—सात प्रकृतियों को, च—तथा, कमा—क्रम से, अपुमोदयमि—नपुंसकवेद के उदय में, जुगवं—एक साथ, नपुंस—नपुंसकवेद, इत्थी—स्त्रीवेद, पुणो—फिर, सत्ता—सात प्रकृतियों का ।

गाथार्थ—स्त्रीवेद के उदय में क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होने वाला क्रम से नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और सात प्रकृतियों का और नपुंसकवेद के उदय में क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होने वाला

- १ यह क्रम स्त्रीवेद या पुरुषवेद से क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होने वाले की अपेक्षा समझना चाहिए । क्योंकि नपुंसकवेद से क्षपकश्रेणि पर चढ़ने वाले के तो स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का एक साथ क्षय होता है । जब तक न हो, तब तक ये दोनों वेद सत्ता में होते हैं । उपशमश्रेणि की अपेक्षा तो उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त इन दोनों की सत्ता होती है ।
- २ यह कथन पुरुषवेद के उदय में क्षपकश्रेणि का आरोहण करने वाले की अपेक्षा समझना चाहिए ।

नपुंसकवेद और स्त्रीवेद का एक साथ और फिर सात प्रकृतियों का क्षय करता है ।

विशेषार्थ—स्त्रीवेद के उदय में क्षातश्रेणि पर आरुढ़ होने वाला पहले नपुंसकवेद का क्षय करता है, तत्पश्चात् संख्यात स्थिति-खण्डों को उलांघने के बाद स्त्रीवेद का क्षय करता है और तत्पश्चात् पूर्वोक्त काल जाने के बाद हास्यादि षट्क और पुरुषवेद इन सात प्रकृतियों का एक साथ क्षय करता है । नपुंसकवेद के उदय में क्षपकश्रेणि आरम्भ करने वाला स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का एक साथ क्षय करता है और उसके बाद पुरुषवेद और हास्यादि षट्क इन सात प्रकृतियों का समकाल में क्षय करता है । जब तक उन-उन प्रकृतियों का क्षय नहीं होता है, वहाँ तक उनकी सत्ता जानना चाहिए । उपशमश्रेणि की अपेक्षा ग्यारहवें गुणस्थान तक सत्ता है । तथा उसके बाद—

संखेज्जा ठिइखंडा पुणोवि कोहाइलोभ सुहुमत्ते ।

आसज्ज खवगसेढी सव्वा इयराइ जा सन्तो ॥१४०॥

शब्दार्थ—संखेज्जा—संख्यात, ठिइखंडा—स्थितिखंडों, पुणोवि—पुनः, कोहाइ—क्रोधादि, लोभ—लोभ, सुहुमत्ते—सूक्ष्मसंपरायत्व में, आसज्ज—अपेक्षा से, खवगसेढी—क्षपकश्रेणि, सव्वा—सब, इयराइ—इतर उपशमश्रेणि में, जा—पर्यन्त तक, सन्तो—उपशांतमोहगुणस्थान ।

नाथार्थ—संख्याता स्थितिखंडों को उलांघने के बाद पुनः क्रोधादि का क्षय होता है और लोभ का सूक्ष्मसंपरायत्व में क्षय होता है । यह कथन क्षपकश्रेणि की अपेक्षा है । किन्तु इतर—उपशमश्रेणि में तो सब प्रकृतियों की सत्ता उपशांतमोहगुणस्थान पर्यन्त होती है ।

विशेषार्थ—पुरुषवेद का क्षय होने के अनन्तर संख्याता स्थिति-खण्डों का अतिक्रमण करने के बाद संज्वलन क्रोध का नाश होता है, उसके बाद संख्याता स्थितिखण्डों के व्यतीत होने पर संज्वलन मान

का, उसके बाद इसी प्रकार संख्याता स्थितिखण्ड जाने पर संज्वलन माया का क्षय होता है और संज्वलन लोभ का क्षय सूक्ष्मसंपरायगुण-स्थान के चरम समय में होता है ।

पूर्वोक्त मध्यमकषायाष्टक से लेकर संज्वलन लोभ पर्यन्त सभी प्रकृतियों का क्षय क्षपकश्चेणि की अपेक्षा से जानना चाहिए । अतएव जहाँ तक क्षय न हो, वहाँ तक उन प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिए और उसके बाद के गुणस्थानों में नहीं होती है । किन्तु क्षपकश्चेणि से इतर यानि उपशमश्चेणि में तो उपशांतमोहगुणस्थान पर्यन्त सत्ता होती है—'सव्वा इयराइ जा सन्तो' ।

अब कुछ एक विशिष्ट प्रकृतियों की सत्ता के सम्भव गुणस्थानों को बतलाते हैं ।

आहारकसप्तक और तीर्थकरनाम के सत्ता-गुणस्थान

सव्वाणवि आहारं सासणमीसेयराण पुण तित्थं ।

उभये संति न मिच्छे तित्थगरे अन्तरमुहुत्तं ॥१४१॥

शब्दार्थ—सव्वाणवि—सभी गुणस्थानों में, आहारं—आहारकसप्तक, सासणमीसेयराण—सासादन और मिश्र से अन्य, पुण—पुनः, तित्थं—तीर्थकरनाम, उभये—दोनों, संति—होते हैं, न—नहीं, मिच्छे—मिथ्यात्वगुणस्थान में, तित्थगरे—तीर्थकर, अन्तरमुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ।

गाथार्थ—सभी गुणस्थानों में आहारकसप्तक की विकल्प से तथा सासादन और मिश्र के सिवाय अन्य गुणस्थानों में तीर्थकरनाम की (भजना से) सत्ता होती है । दोनों की सत्ता हो तो मिथ्यादृष्टि नहीं होता है । तीर्थकर की सत्ता होने पर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही मिथ्यादृष्टि होता है ।

विशेषार्थ—मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोगिकेवलीगुणस्थान पर्यन्त के सभी जीवों के आहारकसप्तक की सत्ता विकल्प से होती है । अर्थात् कदाचिद् होता है और कदाचिद् नहीं भी होता है । इसका कारण यह कि सातवें और आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक में आहारक-

नामकर्म का बंध करके ऊपर के गुणस्थानों में चढ़े या गिरकर नीचे के गुणस्थानों में आये तो सभी गुणस्थानों में सत्ता सम्भव है, किन्तु बंध नहीं करने वाले के सम्भव नहीं है।

‘सासणमीसेयराण पुण तित्थं’ सासादन और मिश्र गुणस्थान के सिवाय शेष गुणस्थानवर्ती जीवों के तीर्थकरनामकर्म की सत्ता भजना से होती है। जिसने तीर्थकरनामकर्म का बंध किया हो, उसके होती है और यदि न किया हो तो नहीं होती है। परन्तु सासादन और मिश्र-दृष्टि के तो नियम से (निश्चित रूप से) होती ही नहीं है। इसका कारण यह है कि तथास्वभाव से ही तीर्थकरनामकर्म की सत्ता वाला जीव दूसरे और तीसरे गुणस्थान को प्राप्त नहीं करता है। तथा—

‘उभये सन्ति न मिच्छे’ अर्थात् आहारकनामकर्म और तीर्थकरनामकर्म इन दोनों की युगपत् यदि सत्ता हो तो जीव मिथ्यादृष्टि नहीं होता है। अर्थात् दोनों की सत्ता वाला जीव मिथ्यात्वगुणस्थान में नहीं जाता है किन्तु यदि मात्र तीर्थकरनामकर्म की सत्ता हो तो वह मिथ्या-दृष्टि अन्तर्मुहूर्त ही होता है, इससे अधिक काल नहीं। कारण सहित जिसका विशेष विचार सप्ततिकासंग्रह में किया जा रहा, अतः यहाँ नहीं किया है। तथा—

अन्नयरवेयणीयं उच्चं नामस्स चरमउदयाओ ।

मणुयाउ अजोगंता सेसा उ दुचरिमसमयंता ॥१४२॥

शब्दार्थ—अन्नयरवेयणीयं—अन्यतर कोई एक वेदनीय की, उच्चं—उच्चगोत्र, नामस्स—नामकर्म की, चरमउदयाओ—चरमोदया, मणुयाऊ—मनुष्यायु, अजोगंता—अयोगि के चरम समय पर्यन्त, सेसा—शेष, उ—और, दुचरिमसमयंता—द्विचरमसमय पर्यन्त ।

गाथार्थ—अन्यतर वेदनीय, उच्चगोत्र, नामकर्म की चरमोदया प्रकृतियों और मनुष्यायु की अयोगि के चरम समय पर्यन्त और शेष की द्विचरम समय पर्यन्त सत्ता होती है।

विशेषार्थ—गाथा में अयोगिकेवलीगुणस्थान की सत्तायोग्य प्रकृतियों का निर्देश किया है—

साता-असातावेदनीय में से अन्यतर (कोई एक) वेदनीय, उच्चगोत्र और अयोगिकेवली के चरम समय में उदययोग्य मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, व्रसनाम, वादरनाम, पर्याप्तिनाम, सुभगनाम, आदेयनाम, यशःकीर्तिनाम और तीर्थंकरनाम रूप नामकर्म की नौ तथा मनुष्यायु इन बारह प्रकृतियों की सत्ता अयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय तक होती है। तथा—

पूर्वोक्त से शेष रही अन्यतर वेदनीय, देवद्विक, औदारिकसप्तक, वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, तैजस-कर्मणसप्तक, प्रत्येक, संस्थानषट्क, संहननषट्क, वर्णादि बीस, विहायोगतिद्विक अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, मनुष्यानुपूर्वी, निर्माण, अपर्याप्त और नीचगोत्र रूप तेरासी प्रकृतियों की सत्ता अयोगिकेवलीगुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त होती है। अर्थात् द्विचरम समय में इन तेरासी प्रकृतियों की सत्ता का क्षय होता है। जिससे चरम समय में इनकी स्वरूप सत्ता नहीं रहती है।

पूर्वोक्त प्रकार से एक-एक प्रकृति की सत्ता का स्वामित्व जानना चाहिये तथा अनेक प्रकृतियों के समुदाय—प्रकृतिसत्कर्मस्थान के स्वामित्व का विचार आगे सप्ततिका संग्रह में किये जाने से यहाँ कथन नहीं किया है।

इस प्रकार प्रकृतिसत्कर्म सम्बन्धी निरूपण करने के अनन्तर अब क्रमप्राप्त स्थितिसत्कर्म का विवेचन प्रारम्भ करते हैं।

स्थितिसत्कर्म प्ररूपणा

स्थितिसत्कर्म प्ररूपणा में दो अनुयोगद्वार हैं—सादि-अनादि प्ररूपणा और स्वामित्व प्ररूपणा। इनमें से पहले सादि-अनादि प्ररूपणा का विचार करते हैं।

स्थितिसत्कर्म की सादि-अनादि प्ररूपणा

मूलठिई अजहन्ना तिहा चउद्धा उ पढमयाण भवे ।

ध्रुवसंतीणंपि तिहा सेसविगप्पाऽध्रुवा दुविहा ॥१४३॥

शब्दार्थ—मूलठिई—मूल प्रकृतियों की स्थिति, अजहन्ना—अजघन्य, तिहा—तीन प्रकार की, चउद्धा—चार प्रकार की, उ—और, पढमयाण—प्रथम (अनन्तानुबंधि) की, भवे—होती है, ध्रुवसंतीं णंपि—ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों की भी, तिहा—तीन प्रकार की, सेसविगप्पा—शेष विकल्प, अध्रुवा—अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों के, दुविहा—दो प्रकार के हैं ।

गाथार्थ—मूल कर्मों की अजघन्य स्थितिसत्ता तीन प्रकार की है और प्रथम (अनन्तानुबंधि) कषायों की चार प्रकार की है तथा शेष ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों की भी अजघन्य स्थितिसत्ता तीन प्रकार की है तथा उक्त प्रकृतियों के शेष विकल्प और अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों के सब विकल्प दो प्रकार के हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में मूल और उत्तर प्रकृतियों की स्थितिसत्ता के जघन्य आदि प्रकारों के विकल्प को बतलाया है । मूल प्रकृतियों के विकल्पों का निर्देश इस प्रकार है—

‘मूलठिई अजहन्ना तिहा’ अर्थात् मूल कर्मप्रकृतियों की अजघन्य स्थितिसत्ता अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार की है । जो इस प्रकार जानना चाहिये—

मूल कर्मप्रकृतियों की जघन्य स्थिति की सत्ता अपने-अपने क्षय के अन्त में जब एक समय मात्र शेष रहे, तब होती है । वह जघन्य सत्ता एक समय मात्र होने से सादि है । उसके सिवाय अन्य सब स्थितिसत्ता अजघन्य है । उस अजघन्य स्थिति की सत्ता का सर्वदा सद्भाव होने से अनादि है । अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव है तथा उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट स्थिति की सत्ता क्रमशः अनेक बार होने से सादि और अध्रुव है तथा जघन्य स्थिति की सत्ता के सादि और अध्रुव होने का निर्देश ऊपर किया जा चुका है ।

इस प्रकार से मूलकर्म सम्बन्धी स्थितिसत्ता के सादि आदि विकल्पों को जानना चाहिये । अब उत्तर प्रकृतियों सम्बन्धी प्ररूपणा करते हैं—

अनन्तानुबन्धिकषायों की अजघन्य स्थिति की सत्ता सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव रूप से चार प्रकार की है—‘चउद्धा उपढमयाण भवे’ । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उक्त कषायों की जघन्य स्थितिसत्ता अपने क्षय के उपान्त्य समय में—जिस समय उनकी सत्ता का नाश होता है, उसके पूर्व के समय में स्वरूप की अपेक्षा एक समय स्थिति रूप, अन्यथा दो समय स्थिति रूप है । उसको एक अथवा दो समय प्रमाण होने से सादि-सांत है । उसके सिवाय अन्य सभी सत्ता अजघन्य है । वह अजघन्य सत्ता अनन्तानुबन्धिकषायों की उद्वलना करने के बाद जब उनका पुनः बन्ध होता है, तब होती है, अतः सादि है । उस स्थान को प्राप्त नहीं करने वाले की अपेक्षा अनादि, अभव्य और भव्य की अपेक्षा क्रमशः ध्रुव और अध्रुव जानना चाहिये ।

अनन्तानुबन्धिकषायों के सिवाय शेष रही एक सौ छब्बीस ध्रुव-सत्ता वाली प्रकृतियों की अजघन्य स्थितिसत्ता अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार की है—‘ध्रुवसंतीणपि तिहा’ । जो इस प्रकार जानना चाहिये—

उन एक सौ छब्बीस प्रकृतियों की जघन्य स्थितिसत्ता उन-उन प्रकृतियों के क्षय के अन्त समय में अर्थात् जिस-जिस समय उन-उन प्रकृतियों का सत्ता में से नाश होता है, उस समय होती है । उदयवती प्रकृतियों की तो मात्र एक समय स्थिति रूप और अनुदयवती प्रकृतियों की स्वरूपापेक्षा एक समय स्थिति रूप, अन्यथा दो समय स्थिति रूप जो सत्ता है, वह जघन्य स्थितिसत्ता है । उसको समय अथवा दो समय प्रमाण होने से सादि है । उसके सिवाय शेष समस्त सत्ता अजघन्य है, वह अनादि है । क्योंकि जहाँ तक जघन्य सत्ता न हो, वहाँ तक उसका

सद्भाव है। ध्रुव अभव्य की अपेक्षा और अध्रुव भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

यद्यपि अनन्तानुबन्धि कषाय भी ध्रुवबन्धिनी हैं, किन्तु विसंयोजना होने के बाद पुनः बन्ध सम्भव होने से वे सत्ता को प्राप्त कर लेती हैं। इसलिये उनकी अजघन्य स्थितिसत्ता में चार भंग घटित होते हैं। परन्तु उनके सिवाय शेष ध्रुवसत्ता वाली कोई भी प्रकृति सत्ता से दूर होने के बाद पुनः सत्ता को प्राप्त ही नहीं करती है। इसलिये उनकी अजघन्य स्थितिसत्ता में सादि के सिवाय शेष तीन भंग ही घट सकते हैं।

अनन्तानुबन्धि कषायों और शेष सभी ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों के शेष उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और जघन्य ये तीनों विकल्प सादि और अध्रुव हैं। इनमें से जघन्य स्थितिसत्ता के सादि और अध्रुव भंगों का विचार ऊपर किया जा चुका है और उत्कृष्ट एवं अनुत्कृष्ट इन दोनों प्रकार की सत्ता क्रमशः अनेक बार होती है, अतः वे दोनों सादि और अध्रुव हैं।

देवद्विक, नरकद्विक, उच्चगोत्र, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्र-मोहनीय, वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, मनुष्यद्विक, ये उद्वलन-योग्य तेईस प्रकृतियां तथा चार आयु और तीर्थकरनाम इस प्रकार अट्ठाईस अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों की जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट इस तरह चारों प्रकार की स्थितिसत्ता उन प्रकृतियों के अध्रुवसत्ता वाली होने से सादि और अध्रुव है। क्योंकि जिनकी सत्ता सर्वदा हो या जो सदा रहने वाली हों उनमें ही अनादि और ध्रुव भंग घट सकते हैं। परन्तु जिनकी सत्ता का ही नियम न हो, कादाचित् सत्ता हो उनमें सादि और अध्रुव के सिवाय अन्य सभी भंग सम्भव नहीं हैं।

इस प्रकार से मूल और उत्तर प्रकृतियों विषयक सादि आदि भंगों का विचार जानना चाहिए।

अब स्थितिसत्ता-स्वामित्व का विचार करते हैं। स्थिति-सत्ता के दो प्रकार हैं—जघन्य स्थितिसत्ता और उत्कृष्ट स्थितिसत्ता। अतः इन दोनों के स्वामित्व का आशय यह हुआ कि जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिसत्ता का स्वामी कौन है? इन दोनों में से पहले उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता के स्वामित्व का निर्देश करते हैं।

उत्कृष्ट स्थितिसत्ता-स्वामित्व

बंधुदउक्कोसाणं उक्कोसठिई उ संतमुक्कोसं ।

तं पुण समये णूणं अणुदयउक्कोसबंधीणं ॥१४४॥

शब्दार्थ—बंधुदउक्कोसाणं—बंधोदया उत्कृष्ट प्रकृतियों की, उक्कोसठिई—उत्कृष्ट स्थिति, उ—ही, संतमुक्कोसं—उत्कृष्ट स्थितिसत्ता, तं—वही, पुण—पुनः, समये णूणं—समयन्यून, अणुदयउक्कोसबंधीणं—अणुदय बंधो-त्कृष्ट प्रकृतियों की।

शब्दार्थ—बंधोदयोत्कृष्ट प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति उनकी उत्कृष्ट स्थितिसत्ता है और अणुदयबंधोत्कृष्ट प्रकृतियों की समय-न्यून उत्कृष्ट स्थिति उनकी उत्कृष्ट स्थितिसत्ता है।

विशेषार्थ—गाथा में उत्कृष्ट स्थितिसत्ता के स्वामियों का विचार प्रारम्भ किया है। प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता दो प्रकार से प्राप्त होती है—बंध से और संकम से और इनके भी उदय और अनु-दय की अपेक्षा दो-दो भेद हो जाते हैं। अर्थात् बन्धोदयोत्कृष्ट स्थिति-सत्ता, अणुदयबंधोत्कृष्ट स्थितिसत्ता एवं उदयसंक्रमोत्कृष्ट स्थिति-सत्ता, अणुदयसंक्रमोत्कृष्ट स्थितिसत्ता। इन दोनों दो-दो प्रकारों में से पहले बन्धोदयोत्कृष्ट और उसके बाद अणुदयबंधोत्कृष्ट स्थितिसत्ता प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता के स्वामियों को बतलाते हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उदय होने पर जिन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध हो, वे बन्धोदयोत्कृष्ट प्रकृतियां कहलाती हैं। जिनके नाम इस प्रकार

हैं—ज्ञानावरणपंचक, चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शनावरण रूप दर्शनावरणचतुष्क, असातावेदनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, सोलह कषाय, पंचेन्द्रियजाति, तैजससप्तक, हुंडकसंस्थान, वर्णादि बीस, अगुरु-लघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, अप्रशस्त विहायोगति, उद्योत, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशः-कीर्ति, निर्माण, नीचगोत्र, अन्तरायपंचक और तिर्यच, मनुष्य की अपेक्षा वैक्रियसप्तक, इन छियासी बन्धोदयोत्कृष्ट प्रकृतियों की जो उत्कृष्ट स्थिति है, वही उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इन प्रकृतियों का जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, वही पूर्ण स्थितिबन्ध उनकी उत्कृष्ट स्थितिसत्ता है।

प्रश्न—जब उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोडाकोडी सागरोपम आदि होता है तब उसका अबाधाकाल सात हजार वर्ष आदि है और अबाधाकाल में तो दलिक होते नहीं हैं। जिससे ७० कोडाकोडी सागरोपम आदि पूर्ण जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध, उसी को उत्कृष्ट स्थितिसत्ता कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर—उत्कृष्ट स्थितिबन्ध जब होता है, तब जिसका अबाधाकाल बीत गया है, वह पूर्ववद्ध दलिक सत्ता में होता है तथा उसकी पहली स्थिति उदयवती होने से स्तिवुकसंक्रम द्वारा अन्य प्रकृति में संक्रान्त नहीं होती है। इसलिए जितना उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, उतनी ही उत्कृष्ट स्थितिसत्ता कह सकते हैं। इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

इस प्रकार बन्धोदयोत्कृष्ट प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता का विचार करने के पश्चात् अब अनुदयबन्धोत्कृष्ट प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता बतलाते हैं—

जिन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अपना उदयकाल न हो, तब होता है, वे अनुदयबन्धोत्कृष्ट प्रकृतियां कहलाती हैं। ऐसी प्रकृतियों के नाम हैं—निद्रापंचक, नरकद्विक, तिर्यचद्विक, औदारिकसप्तक,

एकेन्द्रियजाति, सेवार्तसंहननन, आतप और स्थावरनामकर्म, इन प्रकृतियों को उत्कृष्ट स्थिति उस प्रकृति का जब उदय न हो तब बन्धती है ।

कदाचित् यह कहा जाये कि इन प्रकृतियों का उदय न हो तब बन्ध के द्वारा उत्कृष्ट स्थिति कैसे प्राप्त हो सकती है ? तो इसका उत्तर यह है— उत्कृष्ट स्थितिबन्ध जब उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणाम हों तब होता है । वैसे संक्लिष्ट परिणाम हों तब पांच निद्राओं में से किसी भी निद्रा का उदय होता ही नहीं है तथा नरकद्विक का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तिर्यच या मनुष्य करता है, किन्तु उनके नरकद्विक का उदय नहीं होता है और शेष रही तेरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध यथायोग्य रीति से देव या नारक करते हैं, किन्तु उनके इन तेरह प्रकृतियों में से एक भी प्रकृति का उदय नहीं होता है । इसीलिए ये बीस प्रकृतियां अनुदय-बन्धोत्कृष्ट प्रकृति कहलाती हैं ।

इन अनुदयबन्धोत्कृष्ट बीस प्रकृतियों का जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध, वह एक समय न्यून उनकी उत्कृष्ट स्थितिसत्ता कहलाती है—‘तं पुण समये णूणं अणुदयउवकोसबंधीणं’ । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

इन प्रकृतियों का जब उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, तब यद्यपि अबाधाकाल में पूर्वबद्ध दलिक कि जिनका अबाधाकाल व्यतीत हो गया है, सत्ता में होते हुए भी जिस समय उनका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, तो उस उदय प्राप्त प्रथम स्थिति को उदयवती स्वजातीय प्रकृति में स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रांत किया जाता है । इसलिये समय मात्र उस प्रथम स्थिति से न्यून जो सर्वोत्कृष्ट स्थिति है, वह उत्कृष्ट स्थितिसत्ता कहलाती है ।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि उदय होने पर बन्धोत्कृष्ट प्रकृतियों का जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध, वही पूर्ण उत्कृष्ट स्थितिसत्ता कहलाती है और अनुदयबन्धोत्कृष्ट प्रकृतियों की जो एक समय न्यून उत्कृष्ट

स्थिति उसे उत्कृष्ट सत्ता जानना चाहिये । उदयवती और अनुदयवती प्रकृतियों की सत्ता में जो एक समय का अन्तर है, उसका कारण यह है कि उदयवती प्रकृति का उदयप्राप्त दलिक स्तिबुकसंक्रम द्वारा अन्यत्र संक्रान्त नहीं होता है और अनुदयवती का संक्रान्त होता है ।

इसके साथ ही उदयबंधोत्कृष्ट, अनुदयबंधोत्कृष्ट प्रकृतियों के लिए यह भी समझना चाहिये कि उदयबंधोत्कृष्ट प्रकृतियों में जिन प्रकृतियों का उदय हो तभी उनका उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है यह नहीं समझना चाहिये, किन्तु उदय हो तब भी होता है, यह समझना चाहिये । क्योंकि उनमें की कितनी ही प्रकृतियों का उदय न हो तब भी उत्कृष्ट स्थितिबंध हो सकता है । जैसे कि क्रोध का उदय वाला मान का उत्कृष्ट स्थितिबंध कर सकता है । वैसे ही प्रशस्त विहायोगति का उदय वाला अप्रशस्त विहायोगति का, कोई अन्य संस्थान का उदय वाला हुंडकसंस्थान का उत्कृष्ट स्थितिबंध कर सकता है । किन्तु अनुदय-बंधोत्कृष्ट प्रकृतियों में से उनका उदय न हो तभी उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है ।

इस प्रकार बंधदयोत्कृष्ट, अनुदयबंधोत्कृष्ट प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता का कथन जानना चाहिए ।

अब उदयसंक्रमोत्कृष्ट और अनुदयसंक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता का निर्देश करते हैं—

उदयसंकम उक्कोसाण आगमो सालिगो भवे जेट्ठो ।

संतं अणुदयसंकमउक्कोसाणं तु समऊणो ॥१४५॥

शब्दार्थ—उदयसंकम उक्कोसाण—उदयसंक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियों की, आगमो—आगम, संक्रम, सालिगो—आवलिका सहित, भवे—होता है, जेट्ठो—उत्कृष्ट स्थितिसत्ता, संतं—सत्ता, अणुदयसंकमउक्कोसाणं—अनुदयसंक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियों की, तु—और, समऊणो—एक समय न्यून ।

गाथार्थ—उदयसंक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियों की उनमें जितना आगम होता है, उसको आवलिका सहित करने पर जो प्राप्त हो उतनी उत्कृष्ट स्थितिसत्ता है और अनुदयसंक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियों की उससे एक समय न्यून है ।

विशेषार्थ - यहाँ उदयसंक्रमोत्कृष्ट और अनुदयसंक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता का विवेचन किया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जब उदय हो तब संक्रम द्वारा जिनकी उत्कृष्ट स्थितिसत्ता प्राप्त होती है, वे उदयसंक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियाँ कहलाती हैं । उन प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

मनुष्यगति, सातावेदनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, नव नोकषाय, प्रशस्त विहायोगति, आदि के पाँच संहनन और पाँच संस्थान तथा उच्चगोत्र । इन प्रकृतियों का जब उदय हो तभी उनमें स्वजातीय अन्य प्रकृतियों की स्थिति के संक्रम द्वारा दो आवलिका न्यून स्थिति का आगम—संक्रम होता है, उसमें उदयावलिका को मिलाने पर जितनी स्थिति होती है, उतनी उत्कृष्ट स्थितिसत्ता है । जिसका तात्पर्य यह है—

सातावेदनीय का वेदन करते हुए किसी जीव ने असाता की उत्कृष्ट स्थिति का बंध किया और उसके बाद सातावेदनीय के बंध को प्रारम्भ किया तो उसके वेद्यमान और बध्यमान सातावेदनीय में उसकी उदयावलिका के ऊपर जिसकी बंधावलिका व्यतीत हुई है, वैसी असातावेदनीय की उदयावलिका से ऊपर की कुल दो आवलिका न्यून तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति संक्रमित करता है, जिसमें सातावेदनीय की उदयावलिका से ऊपर संक्रम द्वारा जो दो आवलिका न्यून उत्कृष्ट स्थिति का आगम-संक्रम हुआ है, उस आगम

को उदयावलिका सहित करने पर जितनी स्थिति हो, उतनी साता-वेदनीय की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता^१ कहलाती है।

इसी प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय के सिवाय शेष अट्ठाईस प्रकृतियों की दो आवलिकान्यून स्वजातीय प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम द्वारा जो आगम होता है, उसको उदयावलिका सहित करने पर जितना प्रमाण हो, उतनी उत्कृष्ट स्थितिसत्ता समझना चाहिए।
तथा—

- १ बंधवालिका और उदयावलिका में कोई भी करण लागू नहीं होने से बंधा-वलिका के बीतने पर उदयावलिका के ऊपर की आवलिकाद्विक हीन तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति बध्यमान सातावेदनीय में संक्रमित होती है, जिससे आवलिकाद्विक न्यून शेष स्थितिस्थान के दलिक साता-वेदनीय रूप हो जाते हैं।

परन्तु असातावेदनीय के साता रूप होने पर भी असातावेदनीय की सत्ता नष्ट नहीं होती है। किन्तु आवलिकाद्विक न्यून असातावेदनीय के प्रत्येक स्थान में के दलिक योगानुरूप साता में बदल जाते हैं और जिस स्थान में दलिक रहे हुए हैं, वे उसी स्थान में रहते हैं और उनकी निर्वेक-रचना में तो नहीं मात्र स्वरूप में परिवर्तन होता है। जिससे असाता रूप जो फल मिलने वाला था वह साता रूप हो गया। यानि उदयावलिका के ऊपर के असाता के जो दलिक साता में संक्रांत होते हैं वे साता की उदयावलिका के ऊपर संक्रांत होते हैं।

इस प्रकार होने से जिस समय असाता की दो आवलिका न्यून उत्कृष्ट स्थिति सातावेदनीय में संक्रमित हुई, उस समय सातावेदनीय की उदयावलिका के ऊपर दो आवलिका हीन तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति हुई। उसमें उदयावलिका को मिलाने पर कुल एक आवलिका न्यून तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता होती है।

सम्यक्त्वमोहनीय की अन्तर्मुहूर्तन्यून उत्कृष्ट स्थिति का जो आगम होता है, उसको उदयावलिका सहित करने पर प्राप्त प्रमाण सम्यक्त्वमोहनीय की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता जानना चाहिये। इसका कारण यह है कि मिथ्यात्वमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति को बांधकर मिथ्या-दृष्टिगुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त अवस्थान करके ही जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है और सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद मिथ्यात्वमोहनीय की उदयावलिका के ऊपर की अन्तर्मुहूर्तन्यून सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति को सम्यक्त्वमोहनीय में उदयावलिका के ऊपर संक्रमित करता है। जिससे अन्तर्मुहूर्त न्यून उत्कृष्ट स्थिति का जो आगम होता है, उसमें उदयावलिका को मिलाने पर प्राप्त प्रमाण सम्यक्त्वमोहनीय की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता^१ कहलाती है।

इस प्रकार से उदयसंक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता का विचार करने के पश्चात् अब अनुदयसंक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियों की स्थितिसत्ता को बतलाते हैं—

- १ उत्कृष्ट स्थितिबंध करके मिथ्यात्वगुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त अवश्य रहना पड़ता है। तत्पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है तथा करण किये बिना कोई जीव सम्यक्त्व प्राप्त करे तो अन्तर्मुहूर्त न्यून उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता लेकर ऊपर के गुणस्थान में जाता है। जिससे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का बंध करके अन्तर्मुहूर्त जाने के बाद चौथे गुणस्थान में जाता है। अतएव अन्तर्मुहूर्तन्यून उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता चौथे गुणस्थान में होती है, उदयावलिका से ऊपर की उस स्थिति को सम्यक्त्वमोहनीय में संक्रान्त करता है, जिससे अन्तर्मुहूर्त और उदयावलिका से शेष रही मिथ्यात्वमोहनीय की सभी स्थिति सम्यक्त्वमोहनीय रूप होती है। उसमें सम्यक्त्वमोहनीय की उदयावलिका को मिलाने पर अन्तर्मुहूर्त न्यून सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिसत्ता सम्यक्त्वमोहनीय की है।

जब उदय न हो, तब संक्रम द्वारा जिन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति होती है, वे अनुदयसंक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियां कहलाती हैं। उन प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

देवगति, देवानुपूर्वी, सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय, आहारकसप्तक, मनुष्यापूर्वी, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त और तीर्थकरनाम। इन अनुदयसंक्रमोत्कृष्ट अठारह प्रकृतियों की दो आवलिका न्यून उत्कृष्ट स्थिति का जो संक्रम होता है उसे समय न्यून उदयावलिका सहित करने पर प्राप्त स्थिति उनकी उत्कृष्ट स्थितिसत्ता कहलाती है। वह इस प्रकार जानना चाहिये—

किसी एक मनुष्य ने उत्कृष्ट संक्लेशवशात् नरकगति का बंध करके परिणामों का परावर्तन होने से देवगति का बंध करना प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् बध्यमान देवगति में जिसकी बंधावलिका व्यतीत हो गई है, उस नरकगति की उदयावलिका से ऊपर की दो आवलिका न्यून बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति को उसकी (देवगति की) उदयावलिका से ऊपर संक्रांत करता है। जिस समय देवगति में नरकगति की स्थिति को संक्रमित करता है, वह समय मात्र प्रथम स्थिति वेद्यमान मनुष्यगति में स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रांत करता है। क्योंकि देवगति का अनुभागेदय नहीं होने से उस समय प्रमाण स्थिति से न्यून आवलिका से अधिक दो आवलिका न्यून जो नरकगति की स्थिति का आगम हुआ है उसे देवगति की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता समझना चाहिए।

इसी प्रकार देवानुपूर्वी आदि प्रकृतियों के विषय में भी समझना चाहिये। मात्र मिश्रमोहनीय की अन्तर्मुहूर्त न्यून मिथ्यात्वमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति का जो संक्रम होता है, उसे समयन्यून आवलिका से अधिक करने पर जो प्रमाण होता है उसे उत्कृष्ट स्थितिसत्ता जानना चाहिये। जिसका विचार पूर्वोक्त सम्यक्त्वमोहनीय के अनुरूप कर लेना चाहिए।

जो जीव जिन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति का बंध करे और जो जीव जिन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को संक्रांत करे, उस-उस जीव को उन-उन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता का स्वामी समझना चाहिये ।

इस प्रकार से उत्कृष्ट स्थितिसत्ता के स्वामियों का निर्देश करने के बाद अब जघन्य स्थितिसत्ता के स्वामित्व को स्पष्ट करते हैं ।

जघन्य स्थिति व स्वामित्व

उदयवईणेगठिइ अणुदयवइयाण दुसमया एगा ।

होइ जहन्नं सत्तां दसण्ह पुण संकमो चरिमो ॥१४६॥

शब्दार्थ—उदयवईणेगठिइ—उदयवती प्रकृतियों की एक समय प्रमाण स्थिति, अणुदयवइयाण - अनुदयवती प्रकृतियों की, दुसमया—दो समय, एगा—एक समय, होइ—होती है, जहन्नं—जघन्य, सत्तां—स्थितिसत्ता, दसण्ह—दस प्रकृतियों की, पुण—पुनः, संकमो चरिमो—चरम संक्रम ।

गाथार्थ—उदयवती प्रकृतियों की एक समय प्रमाण और अनुदयवती प्रकृतियों की दो समय अथवा एक समय प्रमाण जघन्य स्थितिसत्ता होती है तथा दस प्रकृतियों का चरम संक्रम उनकी जघन्य स्थितिसत्ता है ।

विशेषार्थ—गाथा में उदयवती और अनुदयवती प्रकृतियों की जघन्य स्थितिसत्ता के स्वामियों को बतलाया है—

सत्ता के नाश के समय भी जिन प्रकृतियों का रसोदय-अनुभागोदय हो, वे प्रकृतियां उदयवती और इतर अनुदयवती कहलाती हैं । उदयवती प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपंचक, अंतरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, सम्यक्त्व-मोहनीय, संज्वलन लोभ, आयुचतुष्क, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, साता-असाता रूप वेदनीयद्विक, उच्चगोत्र, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस,

बादर, पर्याप्ति, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और तीर्थवरनाम । बुल मिलाकर इन चौतीस प्रकृतियों की अपने-अपने क्षय के चरम समय में जो एक समय मात्र स्थिति है, वह उन प्रकृतियों की जघन्य स्थितिसत्ता है—‘उदयवईणंगठिइ’ ।

अब अनुदयवती प्रकृतियों की जघन्य स्थितिसत्ता का निर्देश करते हैं कि दस प्रकृतियों को छोड़कर शेष एक सौ चौदह अनुदयवती प्रकृतियों का जिस समय नाश होता है, उससे पूर्व के समय में स्वरूप की अपेक्षा समय मात्र स्थिति अन्यथा स्वरूप और पररूप की अपेक्षा दो समय प्रमाण स्थिति अनुदयवती प्रकृतियों की जघन्य स्थितिसत्ता जानना चाहिये—‘अणुदयवइयाण दुसमया एगा होइ जहन्नं सत्त’ । इसका कारण यह है कि अनुदयवती प्रकृतियों के दलिक चरम समय में स्तिबुकसंक्रम के द्वारा स्वजातीय उदयवती प्रकृतियों में संक्रांत होकर उस रूप में अनुभव किये जाते हैं ! जिससे चरम समय में अनुदयवती प्रकृतियों के दलिक स्वरूप से सत्ता में नहीं होते हैं परन्तु पररूप से होते हैं । इसलिए स्वरूप की अपेक्षा समय मात्र और स्वपर दोनों की अपेक्षा दो समय प्रमाण स्थिति जघन्य स्थितिसत्ता समझना चाहिए । तथा—

‘दसण्ह पुण संकमो चरिमो’ अर्थात् दस प्रकृतियों का (जिनका नामोल्लेख आगे की गाथा में किया गया है) जो चरम संक्रम होता है, वह उनकी जघन्य स्थितिसत्ता है । वे दस प्रकृतियां इस प्रकार हैं—

हासाइ पुरिसकोहाइ तिग्नि संजलण जेण बंधुदए ।

वोच्छिन्ने संकमइ तेण इहं संकमो चरिमो ॥१४७

शब्दार्थ—हासाइ—हास्यादि षट्क, पुरिस—पुरुषवेद, कोहाइ—क्रोधादि, तिग्नि—तीन, संजलण—सज्जलन, जेण—जिससे, बंधुदए—बंध और उदय, वोच्छिन्ने—विच्छेद होने के बाद, संकमइ—संक्रान्त होती हैं, तेण—उससे, इहं—यहाँ, संकमो चरिमो—चरम संक्रम ।

गाथार्थ—हास्यादि षट्क, पुरुषवेद और संज्वलन क्रोधादि तीन इस प्रकार ये दस प्रकृतियां बंध और उदय का विच्छेद होने के बाद संक्रांत होती हैं, जिससे इन दस प्रकृतियों के चरम संक्रम को जघन्य स्थितिसत्ता जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में जो 'दसण्ह पुण संक्रमो चरिमो' पद दिया था, उसी का यहाँ स्पष्टीकरण किया है—

हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा रूप हास्यादि षट्क, पुरुषवेद और संज्वलन क्रोध, मान, माया इन दस प्रकृतियों का जो चरम संक्रम होता है, वही उनकी जघन्य स्थितिसत्ता जानना चाहिए । इसका कारण है कि इन दस प्रकृतियों के बंध और उदय का विच्छेद होने के बाद अन्य प्रकृतियों में संक्रम होने के द्वारा क्षय होता है । इसीलिए जितनी स्थिति का चरम संक्रम होता है, उतनी स्थिति इन प्रकृतियों की जघन्य स्थितिसत्ता जानना चाहिए ।

इस प्रकार एक एक प्रकृति की जघन्य स्थितिसत्ता बतलाने के बाद अब सामान्य से सभी प्रकृतियों की जघन्य स्थितिसत्ता के स्वामियों का निर्देश करते हैं—

अनन्तानुबंधिचतुष्क और दर्शनत्रिक की जघन्य स्थितिसत्ता के स्वामी अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तासंयतगुणस्थान तक के जीव हैं ।

नरक, तिर्यंच और देव आयु की जघन्य स्थितिसत्ता के स्वामी अपने-अपने भव के चरम समय में वर्तमान नारक, तिर्यंच और देव हैं ।

अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क इन आठ कषाय, स्त्यानद्धित्रिक, नौवें गुणस्थान में क्षय होने वाली नामकर्म की तेरह प्रकृति, नव नो कषाय और संज्वलनत्रिक रूप छत्तीस प्रकृतियों की जघन्य स्थितिसत्ता का स्वामी अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव है ।

संज्वलन लोभ की जघन्य स्थितिसत्ता का स्वामी सूक्ष्मसंपराय-
गुणस्थानवर्ती जीव है ।

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और अंतरायपंचक इन चौदह
प्रकृतियों की जघन्य स्थितिसत्ता का स्वामी क्षीणवर्णगुणस्थानवर्ती
जीव है । तथा—

पूर्वोक्त से शेष रही पंचानवै (६५) प्रकृतियों की जघन्य स्थिति-
सत्ता के स्वामी अयोगिकेवली भगवान हैं ।

इस प्रकार से उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिसत्ता के स्वामियों को
जानना चाहिये । अब स्थिति के भेदों का विचार करते हैं ।

स्थिति के भेद

जावेगिदिजहन्ना नियगुक्कोसा हि ताव ठिइठाणा ।

नेरन्तेरण हेट्ठा खवणाइसु संतराइं पि ॥१४८॥

शब्दार्थ—जावेगिदि—एकेन्द्रियप्रायोग्य तक, जहन्ना—जघन्य,
नियगुक्कोसा—अपनी उत्कृष्ट स्थिति, हि—निश्चय से, ताव—उनके,
ठिइठाणा—स्थितिस्थान, नेरन्तेरण—निरन्तरता से, हेट्ठा—नीचे, खवणा-
इसु—क्षपकादि में, संतराइं पि—सांतर भी ।

गाथार्थ—अपने-अपने उत्कृष्ट स्थितिस्थान से लेकर एके-
न्द्रियप्रायोग्य जघन्य स्थिति तक के स्थान नाना जीवों की अपेक्षा
निरन्तरता से होते हैं और उनसे नीचे के स्थितिस्थान क्षपकादि
के सांतर भी होते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में स्थितिस्थानों^१ का प्रमाण बतलाते हुए उनके
निरन्तर और सांतर रूप से पाये जाने का निर्देश किया है ।

१ एक समय में एक साथ जितनी स्थिति सत्ता में हो उसे स्थितिस्थान
कहते हैं । जैसे किसी जीव को उत्कृष्ट स्थिति सत्ता में हो वह पहला
स्थान, इसी प्रकार किसी जीव को समयोन उत्कृष्ट स्थिति सत्ता में हो वह
दूसरा स्थान किसी जीव को दो समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति सत्ता में हो वह
तीसरा स्थान, इस प्रकार समय-समय न्यून करते करते वहाँ तक जानना
चाहिये यावत् एकेन्द्रिय योग्य जघन्य स्थिति प्राप्त हो जाये ।

सभी कर्मों के अपने-अपने उत्कृष्ट स्थितिस्थान से लेकर वहाँ तक नीचे आना चाहिये कि जहाँ एकेन्द्रियप्रायोग्य जघन्य स्थिति प्राप्त हो। उतनी स्थिति में जितने समय हों उतने स्थितिस्थान नाना जीवों की अपेक्षा सत्ता में निरन्तर रूप से प्राप्त होते हैं। यानि उतने स्थितिस्थानों में का कोई स्थितिस्थान किसी एक जीव को सत्ता में होता है और कोई स्थितिस्थान किसी दूसरे जीव को। इस प्रकार ये सभी स्थितिस्थान पंचेन्द्रिय से लेकर एकेन्द्रिय तक के जीवों में यथा-योग्य रीति से निरन्तर रूपेण सत्ता में होते हैं।

लेकिन एकेन्द्रियप्रायोग्य जघन्य स्थिति से नीचे के स्थितिस्थान क्षपकादि के अर्थात् क्षपकों, उद्वलना करने वालों आदि के 'संतराईपि' अर्थात् सांतर भी होते हैं और निरन्तर भी होते हैं। यानि कितने ही स्थान निरन्तर होते हैं और उसके बाद अंतर पड़ जाने से सांतर स्थान होते हैं। जो इस प्रकार जानना चाहिये—

कोई जीव एकेन्द्रिययोग्य जघन्य स्थिति के उपरितन भाग से पत्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिखंडों का क्षय करना प्रारम्भ करे और जिस समय क्षय करना प्रारम्भ किया, उस समय से लेकर समय-समय नीचे के स्थानों में से उदयवती प्रकृतियों की समय-समय प्रमाण स्थिति अनुभव करने के द्वारा और अनुदयवती प्रकृतियों की समय-समय प्रमाण स्थिति स्तिबुकसंक्रम द्वारा क्षय होती है। इस प्रकार एक-एक स्थितिस्थान सत्ता में से कम होते जाने से प्रतिसमय भिन्न-भिन्न स्थितिविशेष सत्ता में घटित होते हैं। जैसे कि—

एकेन्द्रियप्रायोग्य जघन्य स्थिति नीचे के प्रथम उदय समय भोगे जाने पर समयहीन होती है, दूसरे समय भोगे जाने पर दो समयहीन, तीसरे समय भोगे जाने पर तीन समय हीन होती है। इस प्रकार समय-समयहीन होने से अन्तर्मुहूर्त के समय प्रमाण स्थान निरन्तर प्राप्त होते हैं। क्योंकि पत्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति का घात करने में अन्तर्मुहूर्त काल बीतता है। अन्तर्मुहूर्त व्यतीत होने

के बाद पत्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिखंडों का समकाल में ही क्षय होने से अन्तर्मुहूर्त के समय प्रमाण स्थानों से अनन्तरवर्ती स्थान निरन्तर नहीं होते हैं। क्योंकि एकेन्द्रिययोग्य जघन्य स्थिति समय-समय न्यून होने पर अन्तर्मुहूर्त न्यून तक के स्थितिस्थान सत्ता में निरन्तर हो सकते हैं किन्तु उसके बाद तो एक साथ पत्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति का क्षय हुआ, जिससे अन्तर्मुहूर्त अधिक पत्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून एकेन्द्रिययोग्य जघन्य स्थिति की सत्ता संभव है।

तत्पश्चात् पुनः दूसरे पत्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति-खंड का क्षय करना प्रारम्भ किया। अन्तर्मुहूर्त काल में उसका नाश किया। यानि जिस समय से दूसरे खंड का क्षय करना प्रारम्भ किया, उस समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त के समय प्रमाण स्थितिस्थान नीचे की समय समय प्रमाण स्थिति के क्षय की अपेक्षा पूर्वोक्त प्रकार से निरन्तर होते हैं। उसके बाद दूसरे स्थितिखंड का नाश हुआ यानि पत्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति एक साथ कम हुई है, जिससे अन्तर्मुहूर्त से आगे पत्योपम के असंख्यातवें भाग तक के स्थितिस्थान निरन्तर नहीं होते हैं, परन्तु उतने स्थानों का अंतर पड़ता है।

इस प्रकार जहाँ तक एक स्थितिखंड का घात न हो वहाँ तक के अन्तर्मुहूर्त समय प्रमाण स्थितिस्थान निरन्तर संभव हैं और उसके बाद पत्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति का एक साथ क्षय होने से उतने स्थानों का एक साथ अन्तर पड़ता है। इस तरह चरम उदयावलिका शेष रहने तक जाना चाहिये और वह जो उदयावलिका शेष रही, यदि वह उदयवती प्रकृति की हो तो समय-समय अनुभव के द्वारा और अनुदयवती प्रकृति की हो तो प्रतिसमय स्तिबुकसंक्रम द्वारा क्षय होती है, यावत् उसका अंतिम स्थितिस्थान आता है। यह आवलिका के समय प्रमाण स्थितिस्थान निरन्तर होते हैं।¹

१ अयोगिकेवलीगुणस्थान की सत्तावाली प्रकृतियों के अयोगिकेवलीगुणस्थान के कालप्रमाण अंतिम स्थितिस्थानों का अयोगिकेवलीगुणस्थान में निरन्तर पाया जाना संभव है। इस पर विद्वज्जन विचार करें।

इस प्रकार से स्थितिस्थानों के भेदों का विवेचन करने के साथ स्थितिसत्कर्म का विचार समाप्त होता है। अब अनुभागसत्ता का विचार प्रारम्भ करते हैं।

अनुभागसत्कर्म

अनुभागसत्ता प्रायः अनुभागसंक्रम के समान है। अतः पुनरावृत्ति न करके अनुभागसंक्रम से अनुभागसत्ता में जो विशेषता और भिन्नता है उसी को यहाँ स्पष्ट करते हैं।

अनुभागसत्ता विषयक विशेषता

संकमतुल्लं अणुभागसंतयं नवरि देसघाईणं ।

हासाईरहियाणं जहन्नयं एगठाणं तु ॥१४६॥

शब्दार्थ—संकमतुल्लं—अनुभागसंक्रम के तुल्य, अणुभागसंतयं—अनुभाग-सत्कर्म (सत्ता), नवरि—किन्तु, देसघाईणं—देशघाति प्रकृतियों का, हासाईरहियाणं—हास्यादि प्रकृतियों से रहित, जहन्नयं—जघन्य, एगठाणं—एक स्थान, तु—ही।

गाथार्थ—अनुभागसंक्रम के तुल्य अनुभागसत्कर्म (सत्ता) जानना चाहिये। किन्तु हास्यादि प्रकृतियों से रहित शेष देशघाति प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग एक स्थान होता है।

विशेषार्थ—अनुभागसंक्रम से अनुभागसत्कर्म (सत्ता) में प्राप्त होने वाली विशेषताओं को गाथा में बतलाया है—

‘संकमतुल्लं’ अर्थात् आगे संक्रमकरण में जिसका स्वरूप बतलाया जायेगा उस अनुभागसंक्रम के समान ही अनुभागसत्ता को भी समझना चाहिए। यानि अनुभागसंक्रम के प्रसंग में जिस प्रकार से एक-स्थानक आदि स्थान, घातित्व, अघातित्व, सादि आदि भंग और जघन्य उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम के स्वामियों का विवेचन किया जाएगा, तदनु-रूप यहाँ ‘अनुभागसंतयं’—अनुभाग की सत्ता के विषय में भी स्थान, घाति-अघातित्व आदि को समझ लेना चाहिए।

मात्र इतना विशेष है कि 'हासाईरहियाण' हास्यादि षट्क रहित शेष मति, श्रुत, अवधि ज्ञानावरण, चक्षु, अचक्षु, अवधि दर्शनावरण, संज्वलन-चतुष्क, वेदत्रिक और अंतरायपंचक, इन अठारह देशघाति प्रकृतियों की जघन्य सत्ता स्थानापेक्षा एकस्थानक और घातित्व की अपेक्षा देशघाति समझना चाहिए। अर्थात् इन अठारह प्रकृतियों की देशघाति और एकस्थानक रस की जघन्य सत्ता होती है और इसके सिवाय शेष सब अनुभागसंक्रम के सदृश जानना चाहिए।

अब देशघाति होने पर भी मनपर्यायज्ञानावरण आदि प्रकृतियों सम्बन्धी विशेषता को स्पष्ट करते हैं—

मणनाणे दुट्ठाणं देसघाई य सामिणो खवगा ।

अंतिमसमये सम्मत्तवेयखीणंतलोभाणं ॥१५०॥

शब्दार्थ—मणनाणे—मनपर्यायज्ञानावरण का, दुट्ठाणं—द्विस्थानक, देसघाई—देशघाति, य—और, सामिणो—स्वामी, खवगा—क्षपक, अंतिमसमये—अंतिम समय में, सम्मत्त—सम्यक्त्वमोहनीय, वेय—वेदत्रिक, खीणंत—क्षीणमोहगुणस्थान में क्षय होने वाली, लोभाणं—संज्वलन लोभ का ।

गाथार्थ—मनपर्यायज्ञानावरण का जघन्य अनुभागसत्कर्म स्थानापेक्षा द्विस्थानक और घातित्वापेक्षा देशघाति जानना चाहिए तथा सम्यक्त्वमोहनीय, वेदत्रिक, क्षीणमोहगुणस्थान में क्षय होने वाली प्रकृतियों और संज्वलन लोभ का जघन्य अनुभागसत्कर्म अपने-अपने अंतिम समय में जानना चाहिए और स्वामी क्षपक है।

विशेषार्थ—'मणनाणे दुट्ठाणं' अर्थात् मनपर्यायज्ञानावरण की स्थानापेक्षा द्विस्थानक रस की और घातित्व की अपेक्षा देशघाति रस की जघन्य सत्ता जानना चाहिए तथा जो उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम के स्वामी हैं उनको ही उत्कृष्ट अनुभागसत्ता का स्वामी समझना चाहिए और

जो जघन्य अनुभागसंक्रम के स्वामी हैं, उनमें की कुछ एक प्रकृतियों की जघन्य अनुभागसत्ता के स्वामी भी उन्हीं को जानना चाहिए । परन्तु कुछ प्रकृतियों के सम्बन्ध में जो विशेष है वह इस प्रकार जानना चाहिए—

सम्यक्त्वमोहनीय, स्त्री, पुरुष, नपुंसक रूप तीन वेद तथा क्षीण-मोहगुणस्थान में क्षय होने वाली ज्ञानावरणपंचक, अंतरायपंचक और दर्शनावरणषट्क और संज्वलन लोभ, कुल मिलाकर इन इक्कीस प्रकृतियों की जघन्य अनुभागसत्ता के स्वामी उन-उन प्रकृतियों के क्षय के समय वर्तमानन क्षपक जीव जानना चाहिए अर्थात् जिस समय वह प्रकृति सत्ता में से नष्ट हो उस समय उस प्रकृति की जघन्य अनुभागसत्ता जानना चाहिए । जिसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मइसुयचक्खुअचक्खुण सुयसम्मत्तरस जेट्ठलद्धिस्स ।

परमोहिस्सोहिदुगे मणनाणे विपुलनाणिस्स ॥१५१॥

शब्दार्थ—मइसुयचक्खुअचक्खुण—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, चक्षु-दर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण की, सुयसम्मत्तरस—श्रुतसम्पन्न, जेट्ठलद्धिस्स—उत्कृष्ट लब्धि वाले, परमोहिस्स—परमावधिज्ञानी के, ओहिदुगे—अवधिविक आवरण की, मणनाणे—मनपर्यायज्ञानावरण की, विपुलनाणिस्स—विपुलमति मनपर्यायज्ञानी के

गाथार्थ—उत्कृष्ट लब्धि वाले श्रुतसम्पन्न के मतिज्ञाना-वरण, श्रुतज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण और अचक्षुदर्शनावरण की तथा परमावधिज्ञानी के अवधिविक-आवरण की और विपुलमति मनपर्यायज्ञानी के मनपर्यायज्ञानावरण की जघन्य अनुभागसत्ता होती है ।

विशेषार्थ—‘मइसुय’ इत्यादि अर्थात् मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण इन चार प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग की सत्ता ‘सुयसम्मत्तरस जेट्ठलद्धिस्स’ सम्पूर्ण श्रुत के

पारगामी, उत्कृष्ट लब्धिसम्पन्न यानि श्रुतज्ञान की उत्कृष्ट लब्धि में वर्तमान चौदह पूर्वधर के होती है। सारांश वह हुआ कि इन मति-ज्ञानावरण आदि चार प्रकृतियों की जघन्य अनुभागसत्ता के स्वामी उत्कृष्ट श्रुतलब्धि सम्पन्न चौदह पूर्वधारी हैं। तथा—

‘परिमोहिस्सोहिदुगे’ परमावधिज्ञान से युक्त जीव के अवधि-ज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण की जघन्य अनुभाग की सत्ता होती है। अर्थात् अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण की जघन्य अनुभागसत्ता का स्वामी परमावधिलब्धिसम्पन्न जीव है। तथा—

विपुलमतिमनपर्यायज्ञानी मनपर्यायज्ञानावरण की जघन्य अनुभागसत्ता का स्वामी है—‘मणनाणे विपुलनाणिस्स’।

उक्त मतिज्ञानावरणादि प्रकृतियों की जघन्य अनुभागसत्ता के स्वामी उत्कृष्ट श्रुतज्ञानादि लब्धिसम्पन्न जीवों के होने का कारण यह है कि इनके उन-उन प्रकृतियों का अधिक अनुभाग (रस) क्षय होता है। जिससे उक्त लब्धिसम्पन्न जीव उन-उन प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग के स्वामी बताये हैं।

इस प्रकार से अनुभागसत्ता के स्वामित्व को बतलाने के बाद अब अनुभागसत्ता के भेदों की प्ररूपणा करते हैं।

अनुभागसत्ता के भेद

अणुभागट्ठाणाइं तिहा कमा ताणऽसंखगुणियाणि ।

बंधा उव्वट्ठोवट्ठणाउ अणुभागघायाओ ॥१५२॥

शब्दार्थ—अणुभागट्ठाणाइं—अनुभागस्थान, तिहा—तीन प्रकार, कमा—क्रमशः, ताण—वे, असंखगुणियाणि—असंख्यातगुण, बंधा—बंध, उव्वट्ठोवट्ठणाउ—उद्वर्तना, अपवर्तना करण से, अणुभागघायाओ—अनुभागघात से।

नाथार्थ—बंध, उद्वर्तना-अपवर्तना करण और अनुभागघात से उत्पन्न होने के कारण अनुभागस्थान तीन प्रकार के हैं और वे क्रमशः असंख्यात-असंख्यातगुण हैं।

विशेषार्थ—पूर्व में जैसे स्थितिसत्ता के प्रसंग में स्थिति के भेदों को बतलाया है, उसी प्रकार यहाँ अनुभागसत्ता के भेदों का निर्देश किया है—

सत्तागत अनुभागस्थान तीन प्रकार के हैं—‘अणुभागट्ठाणाइं तिहा’। इसका कारण यह है कि भिन्न-भिन्न रीति—प्रकार से सत्ता में रस का भेद होता है और इस भेद के हेतु हैं—बंध, उद्वर्तना, अपवर्तना और अनुभाग (रस) घात ।

इन तीनों भेदों में से बंध से जिनकी उत्पत्ति होती है, उनको बंधोत्पत्तिक कहते हैं। प्रत्येक समय प्रत्येक जीव किसी-न-किसी अनुभागस्थान का बंध करता ही रहता है। उसमें जब तक उद्वर्तना, अपवर्तना या रसघात द्वारा भेद न हो तब तक वह बंधोत्पत्तिक अनुभागस्थान कहलाता है। वह असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण है। क्योंकि उसके हेतु असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं।

उद्वर्तना-अपवर्तना रूप दो करणों से जो उत्पन्न होते हैं, वे हतोत्पत्तिक कहलाते हैं। क्योंकि ‘हतात् उत्पत्तिर्येषां तानि हतोत्पत्तिकानि’—घात होने से जिनकी उत्पत्ति है वे हतोत्पत्तिक ऐसा व्युत्पत्त्यर्थ है। इसका तात्पर्य यह है कि—उद्वर्तना-अपवर्तना रूप दो करणों के द्वारा बंधावलिका के बीतने के बाद बंधे हुए अनुभाग में जो वृद्धि-हानि होती है और वृद्धि-हानि होने के द्वारा पूर्वावस्थान का विनाश होने से जो उत्पन्न हों वे हतोत्पत्तिक अनुभागस्थान कहलाते हैं।

अनुभागस्थान का बंध होने के अनन्तर और बंधावलिका के व्यतीत होने के बाद उद्वर्तना-अपवर्तना के द्वारा अनुभाग की असंख्य प्रकार से वृद्धि-हानि होती है। इस प्रकार सत्ता में उद्वर्तना-अपवर्तना द्वारा जो रस के भेद होते हैं वे हतोत्पत्तिक अनुभागसत्कर्मस्थान कहलाते हैं। वे बंधोत्पत्तिक अनुभागसत्कर्मस्थानों से असंख्यातगुणे हैं। इसका कारण यह है कि बंध से उत्पन्न हुए—बंधे हुए एक-एक

अनुभागस्थान में अनेक जीवों की अपेक्षा उद्वर्तना-अपवर्तना के द्वारा असंख्यात भेद होते हैं ।

अनुभाग का घात होने से अर्थात् रसघात होने के द्वारा सत्तागत अनुभाग के स्वरूप का जो अन्यथाभाव हो और उसके द्वारा जो अनुभागस्थान होते हैं वे 'हतहतोत्पत्तिक' कहलाते हैं । अर्थात् उद्वर्तना-अपवर्तना द्वारा बद्ध अनुभागस्थान के स्वरूप का अन्यथा-भाव होने के बाद स्थितिघात, रसघात द्वारा जिनके स्वरूप का अन्यथा-भाव होता है, वे हतहतोत्पत्तिक अनुभागस्थान हैं ।

यहाँ पहले उद्वर्तना-अपवर्तना द्वारा बद्ध अनुभागस्थान के स्वरूप का घात—अन्यथाभाव हुआ है और उसके बाद पुनः स्थितिघात, रसघात द्वारा हुआ है । इस तरह दो बार घात होने के द्वारा अनुभाग-स्थान हुए हैं । इसी कारण इनका हतहतोत्पत्तिक यह नामकरण किया गया है । ये अनुभागस्थान उद्वर्तना-अपवर्तना से उत्पन्न हुए स्थानों की अपेक्षा असंख्यातगुणे हैं । क्योंकि उद्वर्तना-अपवर्तना से उत्पन्न हुए एक-एक अनुभागसत्कर्मस्थान में भिन्न-भिन्न अनेक जीवों की अपेक्षा से स्थितिघात और रसघात के द्वारा असंख्यात भेद होते हैं ।

इस प्रकार से अनुभागसत्कर्म का विवेचन जानना चाहिए ।

प्रदेशसत्कर्म

अब क्रमप्राप्त प्रदेशसत्कर्म के स्वरूप का विचार प्रारम्भ करते हैं । इसके दो अर्थाधिकार हैं—सादि-अनादि प्ररूपणा और स्वामित्व प्ररूपणा । इनमें से सादि-अनादि प्ररूपणा मूल प्रकृतिविषयक उत्तर प्रकृतिविषयक के भेद से दो प्रकार की है । इन दोनों में से पहले मूलप्रकृतिविषयक सादि-अनादि विकल्पों की प्ररूपणा करते हैं ।

प्रदेशसत्कर्मपेक्षा मूल प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा

सत्ताण्हं अजहन्नं तिविहं सेसा दुहा पएसंमि ।

मूलपगईसु आउस्स साइ अधुवा य सव्वेवि ॥१५३॥

शब्दार्थ—सत्तण्हं—सात का, अजहन्नं—अजघन्य, तिविहं—तीन प्रकार का, सेसा—शेष, बुहा—दो प्रकार के, पएसंमि—प्रदेश के विषय में, मूलपगईसु—मूल प्रकृतियों के, आउस्स—आयु के, साइ—सादि, अधुवा—अध्रुव, य—और, सव्वेवि—सभी ।

गाथार्थ—सात मूल प्रकृतियों के प्रदेश के विषय में अजघन्य प्रदेशसत्कर्म तीन प्रकार का है और शेष विकल्प दो प्रकार के हैं तथा आयु के सभी विकल्प सादि, अध्रुव होते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में ज्ञानावरणादि आठ मूल कर्मों की उत्कृष्ट आदि प्रदेशसत्ता के प्रकारों के सादि आदि भंगों का विचार किया है—

‘सत्तण्हं अजहन्नं तिविहं’—अर्थात् आयु को छोड़कर शेष सात मूल कर्मों की प्रदेश सम्बन्धी अजघन्य सत्ता अनादि, ध्रुव और अध्रुव रूप से तीन प्रकार की है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

आयु के बिना शेष सात कर्मों की अपने-अपने क्षय के समय चरम स्थिति में वर्तमान क्षपितकर्माश जीव के जघन्य प्रदेशसत्ता होती है । वह सत्ता मात्र एक समय प्रमाण होने से सादि और अध्रुव है । उसके सिवाय शेष सभी प्रदेशसत्ता अजघन्य है । वह अजघन्य प्रदेशसत्ता सर्वदा होने से अनादि है । अभव्य और भव्य की अपेक्षा क्रमशः ध्रुव और अध्रुव जानना चाहिये ।

इन्हीं सात मूलकर्मों के शेष उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और जघन्य ये तीनों विकल्प सादि और अध्रुव हैं । उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता गुणितकर्माश सप्तम नरकपृथ्वी में वर्तमान मिथ्यादृष्टि के होती है और उसी को शेषकाल में अनुत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है । जिससे वे दोनों भंग सादि, अध्रुव हैं और जघन्य भंग का विचार अजघन्य भंग के प्रसंग में किये गये अनुसार जानना चाहिये ।

‘आउस्स सव्वेवि साइ अधुवा’ अर्थात् चारों आयु की अध्रुव-सत्ता होने से आयुकर्म के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य ये सभी चारों विकल्प सादि, अध्रुव जानना चाहिये।

इस प्रकार से मूल कर्मों की सादि-अनादि-प्ररूपणा करने के पश्चात् अब उत्तर प्रकृतियों सम्बन्धी सादि आदि भंगों का विचार करते हैं। प्रदेशसत्कर्मपेक्षा उत्तर प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा

सुभधुवबंधितसाईपणिदि चउरंसरिसभ सायाणं ।

संजलणुस्साससुभखगइ पुं पराघायणुक्कोसं ॥१५४॥

चउहा धुवसंतीणं अणजससंजलणलोभवज्जाणं ।

तिविहमजहण्ण चउहा इमाण छण्हं दुहाणुत्तं ॥१५५॥

शब्दार्थ—सुभधुवबंधि—ध्रुवबंधिनी शुभ प्रकृतियां, तसाइ—वसादि दस, पणिदि—पंचेन्द्रिय जाति, चउरंस—समचतुरस्रसंस्थान, रिसभ—वज्रऋषभ-नाराचसंहनन, सायाणं—सातावेदनीय की, संजलण—संज्वलनचतुष्क, उस्सास—उच्छ्वास, सुभखगइ—शुभ विहायोगति, पुं—पुरुषवेद, पराघाय—परा-घात, अणुक्कोसं—अनुत्कृष्ट ।

चउहा—चार प्रकार की, धुवसंतीण—ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों की, अण—अनन्तानुबंधि, जस—यशःकीर्ति, संजलणलोभवज्जाणं—संज्वलन लोभ वर्जित, तिविहं—तीन प्रकार की, अजहण्ण—अजघन्य, चउहा—चार प्रकार की, इमाण—इन्हीं, छण्हं—छह प्रकृतियों की, दुहाणुत्तं—अनुक्त विकल्प दो प्रकार के हैं ।

गाथार्थ—ध्रुवबंधिनी शुभ प्रकृतियों, वसादि दस, पंचेन्द्रिय जाति, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, सातावेदनीय, संज्वलनचतुष्क, उच्छ्वास, शुभ विहायोगति, पुरुषवेद और परा-घात की अनुत्कृष्ट प्रदेशसत्ता चार प्रकार की है तथा अनन्तानु-बंधिकषायचतुष्क, यशःकीर्ति और संज्वलन लोभ वर्जित ध्रुव-

सत्ता वाली प्रकृतियों की अजघन्य प्रदेशसत्ता तीन प्रकार की और अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्क आदि छह प्रकृतियों की चार प्रकार की है तथा जिन प्रकृतियों का उल्लेख नहीं किया उनके अनुक्त विकल्प दो प्रकार के हैं।

विशेषार्थ—उत्तर प्रकृतियों की प्रदेशसत्ता सम्बन्धी सादि आदि की प्ररूपणा प्रारम्भ करते हुए बताया है—

निर्माण, अगुरुलघु, शुभवर्णादि ग्यारह, तैजसकर्मणसप्तक रूप बीस ध्रुवबन्धिनी शुभ प्रकृतियों तथा त्रस, बादर आदि त्रसदशक, पंचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, साता-वेदनीय, संज्वलनचतुष्क, उच्छ्वास, शुभ विहायोगति, पुरुषवेद और पराघात कुल मिलाकर बयालीस प्रकृतियों की 'अणुक्कोसं चउहा'—अनुत्कृष्ट प्रदेशसत्ता सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव, इस तरह चार प्रकार की है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

वज्रऋषभनाराचसंहनन को छोड़कर शेष इकतालीस प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता क्षपकश्चेणि में अपने-अपने बन्ध के अंत समय में वर्तमान गुणितकर्मांश जीव के होती है। वह मात्र एक समय की होने से सादि और अध्रुव है। उसके सिवाय शेष सभी प्रदेशसत्ता अनुत्कृष्ट है। यह अनुत्कृष्ट प्रदेशसत्ता उत्कृष्ट सत्ता के अनन्तर समय में होने से सादि है। उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया उनके अनादि और अभव्य के ध्रुव एवं भव्य के अध्रुव है।

वज्रऋषभनाराचसंहनन की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता सातवीं नरक-पृथ्वी में वर्तमान मिथ्यात्वगुणस्थान में जाने के लिये तत्पर गुणित-कर्मांश सम्यग्दृष्टि नारक के होती है। वह उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता सादि, अध्रुव है। उसके सिवाय शेष सब प्रदेशसत्ता अनुत्कृष्ट है। वह अनुत्कृष्ट प्रदेशसत्ता उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के अनन्तरवर्ती समय में होने से सादि है। उस स्थान को प्राप्त नहीं करने वाले की अपेक्षा अनादि तथा भव्य और अभव्य की अपेक्षा क्रमशः अध्रुव और ध्रुव जानना चाहिये।

अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्क, संज्वलन लोभ और यशःकीर्तिनाम इन छह प्रकृतियों के सिवाय शेष एक सौ चौबीस ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों को अजघन्य प्रदेशसत्ता अनादि, ध्रुव और अध्रुव रूप तीन प्रकार की है। जो इस प्रकार जानना चाहिये—

इन प्रकृतियों की जघन्य प्रदेशसत्ता अपने-अपने क्षय के चरम समय में क्षपितकर्मांश जीव के होती है। वह एक समय मात्र होने से सादि है। उसके सिवाय अन्य समस्त प्रदेशसत्ता अजघन्य है और वह अनादि है। क्योंकि उसका सर्वदा सद्भाव पाया जाता है। अभव्य की अपेक्षा वह ध्रुव और भव्य की अपेक्षा अध्रुव है।

ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों में से कम की गई पूर्वोक्त अनन्तानुबन्धिकचतुष्क, यशःकीर्ति और संज्वलन लोभ इन छह प्रकृतियों की अजघन्य प्रदेशसत्ता सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार की है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अनन्तानुबन्धिकचतुष्क के उद्वलक क्षपितकर्मांश किसी जीव के सत्ता में जब उसकी एक आवलिका शेष रहे तब जघन्य प्रदेशसत्ता होती है। उसका काल मात्र एक समय होने से वह जघन्य प्रदेशसत्ता सादि और अध्रुव है। उसके सिवाय शेष सब सत्ता अजघन्य है। वह अजघन्य प्रदेशसत्ता अनन्तानुबन्ध की उद्वलना करने के बाद मिथ्यात्व के निमित्त से जब पुनः बन्ध करे तब होने से सादि है। उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, अर्थात् अभी तक जिन्होंने अनन्तानुबन्ध की उद्वलना नहीं की है, उनके अजघन्य प्रदेशसत्ता अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव जानना चाहिये।

संज्वलन लोभ और यशःकीर्ति की जघन्य प्रदेशसत्ता क्षपण के लिये उद्यत हुए क्षपितकर्मांश जीव को यथाप्रवृत्ताकरण (अप्रमत्त-संयतगुणस्थान) के चरम समय में होती है। वह एक समय मात्र की होने से सादि और अध्रुव है। उसके सिवाय शेष सब प्रदेशसत्ता अजघन्य है। वह अपूर्वकरणगुणस्थान के प्रथम समय में गुणसंक्रम द्वारा

अन्य अशुभ प्रकृतियों के प्रभूत दलिकों के प्राप्त होने से सादि है । उस स्थान को प्राप्त नहीं करने वाले की अपेक्षा अनादि और अध्रुव, अध्रुव क्रमशः अभव्य और भव्य की अपेक्षा से जानना चाहिये । तथा—

समस्त कर्मप्रकृतियों के जो विकल्प नहीं कहे गये हैं, वे सादि और अध्रुव जानना चाहिये । उनमें से शुभ ध्रुवबन्धिनी और त्रसादि दशक आदि बयालीस प्रकृतियों के अनुक्त जघन्य, अजघन्य और उत्कृष्ट ये तीनों विकल्प सादि और अध्रुव इस तरह दो प्रकार के हैं । इनमें से उत्कृष्ट के सादि, अध्रुवत्व भंग का विचार पूर्व में किया जा चुका है और जघन्य, अजघन्य इन दो विकल्पों के सादि और अध्रुव भंगों का विचार जघन्य प्रदेशसत्ता के स्वामी कौन हैं ? के प्रसंग से अपने आप कर लेना चाहिये ।

ध्रुवसत्ता वाली एक सौ चौबीस प्रकृतियों के जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट इन तीन विकल्पों के सादि और अध्रुव इस तरह दो भंग हैं । इनमें से जघन्य के सादि और अध्रुव भंग का विचार पहले किया जा चुका है और पूर्वोक्त बयालीस प्रकृतियों के सिवाय शेष सभी कर्म प्रकृतियों के उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ये दोनों विकल्प गुणितकर्मांश मिथ्यादृष्टि के होते हैं । इसलिये वे दोनों सादि और अध्रुव हैं ।

इसी प्रकार अनन्तानुबन्धिचतुष्क, संज्वलन लोभ और यशःकीर्ति के उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ये दोनों विकल्प भी जान लेना चाहिये । जघन्य का विचार तो पहले किया जा चुका है ।

ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों से शेष रही अध्रुवसत्ता वाली होने से अध्रुवसत्ताका प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य ये चारों विकल्प सादि और अध्रुव जानना चाहिये ।

पूर्वोक्त प्रकार से प्रदेशसत्ता की अपेक्षा उत्तर प्रकृतियों के सादि आदि अंगों का विचार करने के बाद अब स्वामित्व का विचार करते हैं । वह दो प्रकार का है—उत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्वामित्व, जघन्य

प्रदेशसत्कर्मस्वामित्व । इन दोनों में से पहले उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के स्वामियों का निर्देश करते हैं ।

उत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्वामित्व

संपुण्णगुणियकम्मो पएसउक्कस्ससंत सामीओ ।

तस्सेव सत्तामा निग्गयस्स काणं विसेसो वि ॥१५६॥

शब्दार्थ—संपुण्णगुणियकम्मो—सम्पूर्ण गुणितकर्मांश, पएसउक्कस्स-संत—उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का, सामीओ—स्वामी, तस्सेव—उसी के, सत्तामा—सातवीं पृथ्वी, निग्गयस्स—निर्गत—निकले हुए के, काणं—किन्हीं प्रकृतियों के विषय में, विसेसो वि—विशेष भी ।

साथार्थ—सम्पूर्ण गुणितकर्मांश जीव प्रायः उत्कृष्ट प्रदेश-सत्ता का स्वामी है तथा सातवीं पृथ्वी से निर्गत उसी के कितनी ही प्रकृतियों के विषय में विशेष भी है ।

विशेषार्थ—यहाँ उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के सम्भव स्वामी का सामान्य से निर्देश किया है—

‘संपुण्णगुणियकम्मो’ अर्थात् सातवीं नरकपृथ्वी की अपनी आयु के चरम समय में वर्तमान सम्पूर्ण गुणितकर्मांश नारकी प्रायः समस्त कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी जानना चाहिये । किन्तु उसी सातवीं नरकपृथ्वी में से निकले हुए गुणितकर्मांश जीव के कतिपय प्रकृतियों के सम्बन्ध में विशेष भी है । जिसका वर्णन यथा-क्रम से आगे किया जा रहा है—

मिच्छमीसेहिं कमसो संपविब्रत्तेहिं मीससम्मेषु ।

परमं पएससंतं कुणइं नपुंसस्स ईसाणी ॥१५७॥

शब्दार्थ—मिच्छमीसेहिं—मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय को, कमसो—क्रमशः, संपविब्रत्तेहिं—प्रक्षिप्त करने के द्वारा, मीससम्मेषु—मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय में, परमं—उत्कृष्ट, पएससंतं—प्रदेशसत्ता, कुणइं—करता है, नपुंसस्स—नपुंसकवेद की, ईसाणी—ईशानी देव ।

गाथार्थ—मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय को प्रक्षिप्त करने के द्वारा क्रमशः मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय की तथा ईशान स्वर्गगत देव के नपुंसकवेद की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है ।

विशेषार्थ—गाथा में मिश्र, सम्यक्त्व मोहनीय और नपुंसकवेद की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के स्वामियों को बतलाया है—

पूर्वोक्त गुणितकर्माश कोई जीव सातवीं नरकपृथ्वी से निकलकर तिर्यच में उत्पन्न हो और वहाँ अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहकर संख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य में उत्पन्न हो और वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त कर दर्शन-मोहत्रिक और अनन्तानुबन्धिचतुष्क इन सात प्रकृतियों का क्षय करने वाला वह जीव अनिवृत्तिकरण के जिस समय में सर्वसंक्रम द्वारा मिथ्यात्वमोहनीय को मिश्रमोहनीय में संक्रांत करे उस समय मिश्र-मोहनीय की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है और उसी मिश्रमोहनीय को सर्वसंक्रम द्वारा सम्यक्त्वमोहनीय में संक्रमित करते समय सम्यक्त्व-मोहनीय की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता प्राप्त होती है ।^१ तथा—

वही गुणितकर्माश कोई नारक तिर्यच होकर ईशान देवलोक में देव हो और वहाँ अतिसंक्लिष्ट परिणाम वाला होकर बारम्बार नपुंसकवेद का बन्ध करे तो उस नपुंसकवेद की अपने भव के अन्त समय में वर्तमान उस ईशान देव के उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है ।^२ तथा—

१ सातवीं नरकपृथ्वी का नारक मनुष्य में उत्पन्न नहीं होता है और मनुष्य में उत्पन्न हुए बिना क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो सकता । इसीलिए तिर्यच में जाकर संख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य में उत्पन्न होना कहा है ।

२ इसका कारण यह है कि ईशान देवों की उत्कृष्ट आयु दो सागरोपम प्रमाण है तथा अति संक्लिष्ट परिणाम होने पर वे एकेन्द्रिययोग्य कर्मबन्ध करते हैं और उनका बन्ध करते हुये नपुंसकवेद बांधते हैं । जिससे ईशान देव को नपुंसकवेद की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी बताया है ।

ईसाणे पूरित्ता नपुंसगं तो असंखवासीसु ।

पल्लासंखियभागेण पुरए इत्थीवेयस्स ॥१५८॥

शब्दार्थ—ईसाणे—ईशान स्वर्ग में, पूरित्ता—पूरकर, नपुंसगं—नपुंसक-वेद को, तो—तत्पश्चात्, असंखवासीसु—असंख्यात वर्ष की आयु वालों में, पल्लासंखियभागेण—पल्योपम के असंख्यातवें भाग द्वारा, पुरए—पूरित करने पर, इत्थीवेयस्स—स्त्रीवेद की ।

गाथार्थ—ईशान स्वर्ग में नपुंसकवेद को पूरकर तत्पश्चात् असंख्यात वर्ष की आयु वालों में उत्पन्न हो और वहाँ पल्योपम के असंख्यातवें भाग समय द्वारा स्त्रीवेद को पूरित करने पर उसकी उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है ।

विशेषार्थ—कोई गुणितकर्मांश सप्तमपृथ्वी का नारक वहाँ से निकलकर तिर्यच होकर ईशान स्वर्ग में देव हो और वहाँ अति संक्लिष्ट परिणामों से बारम्बार नपुंसकवेद के बन्ध द्वारा उसका उत्कृष्ट प्रदेश संचय कर पहले संख्यात वर्ष की आयु वालों में और उसके बाद असंख्यात वर्ष की आयु वालों में उत्पन्न हो और वहाँ संक्लिष्ट परिणाम वाला होकर पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल द्वारा बारम्बार बंध से और नपुंसकवेद के दलिकों के संक्रम से स्त्रीवेद को पुष्ट करे और जब वह स्त्रीवेद पूर्णरूपेण पुष्ट हो तब उस युगलिया के स्त्रीवेद की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है ।^१ तथा—

१ भोगभूमिज को स्त्रीवेद की उत्कृष्टप्रदेश सत्ता का अधिकारी बताने का कारण यह प्रतीत होता है कि भोगभूमिज देवगतिप्रायोग्य कर्म बंध करते हैं और उनका बंध करते हुए अतिसंक्लिष्ट परिणाम वशात् स्त्रीवेद को बांधते हैं, नपुंसकवेद को नहीं । क्योंकि देवगति में नपुंसकवेद का उदय नहीं होता है तथा उनकी आयु अधिक होने से दीर्घकाल तक बांध सकते हैं और जिन क्लिष्ट परिणामों से भोगभूमिज स्त्रीवेद का बंध करते हैं, वैसे परिणाम होने पर ईशान देव नपुंसकवेद को बांधते हैं । इसीलिये भोग-भूमिज को स्त्रीवेद की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी बताया है ।

जो सव्वसंकमेणं इत्थी पुरिसम्मि छुहइ सो सामी ।

पुरिसस्स कमा संजलणयाण सो चेव संछोभे ॥१५६॥

शब्दार्थ—जो—जो (गुणितकर्मांश), सव्वसंकमेणं—सर्वसंक्रम के द्वारा, इत्थी—स्त्रीवेद को, पुरिसम्मि—पुरुषवेद में, छुहइ—संक्रांत करता है, सो—वह, सामी—स्वामी, पुरिसस्स—पुरुषवेद का, कमा—अनुक्रम से, संजलणयाण—संज्वलन कषायों का, सो चेव—वही, संछोभे—संक्रांत करने पर ।

गाथार्थ—जो गुणितकर्मांश सर्वसंक्रम द्वारा स्त्रीवेद के दलिक को पुरुषवेद में संक्रांत करे वह पुरुषवेद की और अनुक्रम से पुरुषवेदादि को संज्वलन कषायों में संक्रांत करने पर वही संज्वलन क्रोधादि कषायों की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी होता है ।

विशेषार्थ—यहाँ पुरुषवेद और संज्वलनकषायचतुष्क के उत्कृष्ट प्रदेशसत्तास्वामित्व का निर्देश किया है—

जो गुणितकर्मांश क्षपक स्त्रीवेद के दलिकों को सर्वसंक्रम द्वारा पुरुषवेद में संक्रमित करता है वह पुरुषवेद की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी है 'सो सामी पुरिसस्स' । तत्पश्चात् वही जीव अनुक्रम से पुरुषवेदादि के दलिकों को संज्वलन क्रोधादि में संक्रांत करे तब वह क्रमशः संज्वलन क्रोध, मान आदि की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी जानना चाहिए । तात्पर्य यह हुआ—

जो जीव पुरुषवेद की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी है, वही जब पुरुषवेद के दलिकों को सर्वसंक्रम द्वारा संज्वलन क्रोध के दलिकों में संक्रांत करे तब वह संज्वलन क्रोध की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी है । इसी प्रकार से जब संज्वलन क्रोध के दलिकों को सर्वसंक्रम द्वारा संज्वलन मान में संक्रांत करे तब संज्वलन मान की और जब संज्वलन मान के दलिकों को सर्वसंक्रम द्वारा संज्वलन माया में संक्रांत करे तब संज्वलन माया की और जब संज्वलन माया के दलिकों को सर्वसंक्रम द्वारा संज्वलन लोभ में संक्रांत करे तब संज्वलन लोभ की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी होता है । तथा—

चउरुवसामिय मोहं जसुच्चसायाण सुहुमखवगंते ।

जं असुभपगइदलियस्स संकमो होइ एयासु ॥१६०॥

शब्दार्थ—चउरुवसामिय—चार बार उपशमन करके, मोहं—मोह का, जसुच्चसायाण—यशः कीर्ति, उच्चगोत्र और सातावेदनीय की, सुहुम—सूक्ष्म-संपराय, १ वगंते—क्षपक के अन्तिम समय में, जं—क्योंकि, असुभपगइदलियस्स—अशुभ प्रकृतियों के दलिक का, संकमो—संक्रम, होइ—होता है, एयासु—इनमें ।

गाथार्थ—चार बार मोहनीयकर्म का उपशमन करके क्षय के लिए उद्यत सूक्ष्मसंपराय क्षपक के अन्तिम समय में यशः-कीर्ति, उच्चगोत्र और सातावेदनीय की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है । क्योंकि अशुभ प्रकृतियों के दलिक का इनमें संक्रम होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में कारणोल्लेख पूर्वक यशःकीर्ति आदि तीन शुभ प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामित्व बतलाया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

‘चउरुवसामिय मोहं’ चार बार मोहनीयकर्म का उपशमन करके शीघ्र कर्मों का क्षय करने के लिए तत्पर हुए उस गुणितकर्मांश क्षपक जीव के सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में यशःकीर्ति, उच्च-गोत्र और सातावेदनीय की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है । इसका कारण यह है—

‘असुभपगइदलियस्स संकमो होइ एयासु’ क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हुआ जीव गुणसंक्रम द्वारा अशुभ प्रकृतियों के प्रभूत दलिकों को इन प्रकृतियों में संक्रांत करता है । इसीलिए सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में इन प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता प्राप्त होती है । तथा—

अद्धाजोगुक्कोसेहि देवनिरयाउगाण परमाए ।

परमं पएससंतं जा पढमो उदयसमओ सो ॥१६१॥

सेसाउगाणि नियगेसु चेव आगंतु पुव्वकोडीए ।

सायबहुलस्स अचिरा बंधंते जाव नो वट्ठे ॥१६२॥

शब्दार्थ—अद्धाजोगुक्कोसेहि—उत्कृष्ट काल और योग द्वारा, देवनिरया-उगाण—देवायु और नरकायु की, परमाए—उत्कृष्ट स्थितिबंध होने पर, परमं—उत्कृष्ट, पएससंतं—प्रदेशसत्ता, ज—यावत्, पढमो—प्रथम, उदयसमओ—उदय के समय, सो—उनकी ।

सेसाउगाणि—शेष आयुद्विक की, नियगेसु—अपने-अपने भव में, चेव—ही, आगंतु—आकर, पुव्वकोडीए—पूर्वकोटि प्रमाण, सायबहुलस्स—साताबहुल के, अचिरा—शीघ्र ही, बंधंते—बंध के अन्त में, जाव—यावत्, तक, नो—नहीं, वट्ठे—अपवर्तना ।

गाथार्थ—उत्कृष्ट काल और योग द्वारा देवायु और नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति का बंध होने पर उदय के प्रथम समय तक इन दोनों आयु की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है ।

दो आयु की स्थिति को पूर्वकोटि प्रमाण बांधने के बाद अपने-अपने भव में आकर साताबहुल होकर अनुभव करे और जब तक उनकी अपवर्तना न करे तब तक उस साताबहुल जीव के उन दोनों के बंध के अंत में उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में आयुचतुष्क की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के स्वामियों का निर्देश किया है । उनमें से पहले देवायु और नरकायु के स्वामियों को बतलाते हैं—

कोई जीव 'अद्धाजोगुक्कोसेहि'—उत्कृष्ट बन्धकाल और उत्कृष्ट योग द्वारा देवायु एवं नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करे और बन्धने के बाद उनकी उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता तब तक सम्भव है जब तक उन दोनों के उदय का पहला समय प्राप्त होता है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि

बन्ध समय से लेकर उदय के प्रथम समय पर्यन्त उक्त प्रकार से (उत्कृष्ट योग और काल से) बन्धी हुई देवायु और नरकायु की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता प्राप्त होती है। क्योंकि उदय होने के बाद तो दलिक भोग करने के द्वारा निर्जीण होते जाते हैं। इसीलिये उदय के प्रथम समय पर्यन्त उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता संभव है। इस प्रकार देवायु और नरकायु की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के स्वामियों को बतलाने के बाद अब शेष रही मनुष्यायु और तिर्यचायु की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के स्वामियों को बतलाते हैं—

कोई जीव तिर्यचायु और मनुष्यायु को उत्कृष्ट बन्धकाल और उत्कृष्ट योग द्वारा पूर्वकोटि प्रमाण बांधे और बांधकर अपने-अपने योग्य भव में अर्थात् मनुष्यायु का बन्धक मनुष्य में और तिर्यचायु का बन्धक तिर्यच में उत्पन्न हो बहुत ही सुखपूर्वक अपनी-अपनी आयु को यथायोग्य रीति से अनुभव करे और उसके बाद अर्थात् मनुष्य, तिर्यच में उत्पन्न होने के बाद मात्र अन्तर्मुहूर्त काल रहकर मरण सन्मुख होने पर उत्कृष्ट बन्धकाल और उत्कृष्ट योग द्वारा परभव की स्वजातीय यानी मनुष्य मनुष्यायु और तिर्यच तिर्यचायु का बन्ध करे। उस आयु के बन्ध के अन्त समय में भुज्यमान आयु की अपवर्तना होने से पहले सुख-पूर्वक अपनी आयु को भोगने वाले मनुष्य के मनुष्यायु की और तिर्यच के तिर्यचायु की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है। सुखी जीव के आयुकर्म के अधिक प्रदेशों का क्षय नहीं होने का संकेत करने के लिये यहाँ साता-बहुल विशेषण दिया है।

उक्त कथन का तात्पर्य यह हुआ कि कोई जीव पूर्वकोटि प्रमाण मनुष्य या तिर्यच आयु को बांधकर अनुक्रम से मनुष्य या तिर्यच में उत्पन्न हो, वहाँ अपनी आयु को मात्र अन्तर्मुहूर्त सुखपूर्वक अनुभव कर मरण के सन्मुख हो। मरण-सन्मुख होने वाला वह जीव भुज्यमान आयु की अपवर्तना करता ही है, किन्तु अपवर्तना करने से पहले उत्कृष्ट बन्धकाल और उत्कृष्ट योग द्वारा परभव की स्वजातीय आयु बांधे तो

सुखपूर्वक अपनी आयु का भोग करने वाले ऐसे जीव को उक्त दो आयु की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है। क्योंकि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण भोगे जाने से उसकी उस समय भोगी जा रही अपनी आयु कुछ न्यून दल वाली है और समानजातीय परभव की आयु पूर्ण दल वाली है। इसलिये मनुष्य के मनुष्यायु की और तिर्यच के तिर्यचायु की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है तथा बन्ध के अंत समय में भुज्यमान आयु की अपवर्तना होती है और अपवर्तना होने का मतलब यह हुआ कि शीघ्रता से आयु के दलिक भोग लिये जाते हैं, जिससे उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता प्राप्त नहीं होती है। तथा—

पूरित्तु पुव्वकोडीपुहुत्त नारयदुगस्स बंधंते ।

एवं पलियतिगंते सुरदुगवेउव्वियदुगाणं ॥१६३॥

शब्दार्थ—पूरित्तु—पूरकर, पुव्वकोडीपुहुत्त—पूर्वकोटिपृथक्त्व, नारय-दुगस्स—नरकद्विक को; बंधंते—बंध के अन्त समय में, एवं—इसी प्रकार, पलियतिगंते—तीन पल्योपम के अन्त में, सुरदुग—देवद्विक, वेउव्वियदुगाणं—वैक्रियद्विक की ।

गाथार्थ—पूर्वकोटिपृथक्त्व पर्यंत बन्ध द्वारा पूरकर नर-काभिमुख जीव के बन्ध के अंत में नरकद्विक की उत्कृष्ट प्रदेश-सत्ता होती है। इसी प्रकार तीन पल्योपम पर्यन्त बांधकर अंत में देवद्विक और वैक्रियद्विक की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है।

विशेषार्थ—गाथा में वैक्रियषट्क की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के स्वामियों का निर्देश किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पूर्वकोटिपृथक्त्व समय प्रमाण संक्लिष्ट अध्यवसाय द्वारा नरक-गति, नरकानुपूर्वी रूप नरकद्विक को बारंबार बन्ध द्वारा पुष्ट करके नरक में जाने के सन्मुख हुआ जीव बन्ध के अंत समय में नरकद्विक की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी है।

इसी प्रकार पूर्वकोटिपृथक्त्व वर्ष पर्यन्त संख्यात वर्ष की आयु वालों में और तीन पल्योपम पर्यन्त भोगभूमिजों—युगलियों में विशुद्ध

अध्यवसायों के द्वारा वैक्रियद्विक और देवद्विक को बन्ध द्वारा पुष्ट करके देवगति में जाने के सन्मुख हुआ जीव वैक्रियद्विक और देवद्विक के बन्ध के अंत समय में उन प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी जानना चाहिये ।^१ तथा—

तमतमगो अइखिप्पं सम्मत्तां लभिय तंमि बहुगद्धं ।

मणुयदुगस्सुवकोसं सवज्जरिसभस्स बंधंते ॥१६४॥

शब्दार्थ—तमतमगो—तमस्तमापृथ्वी का नारक, अइखिप्पं—अति शीघ्र, सम्मत्तां—सम्यक्त्व को, लभिय—प्राप्त कर, तंमि—उसमें, बहुगद्धं—बहुत समय तक, मणुयदुगस्सुवकोसं—मनुष्यद्विक का उत्कृष्ट बंध, सवज्जरिसभस्स—वज्रऋषभनाराचसंहननसहित, बंधंते—बंध के अंत समय में ।

गाथार्थ—तमस्तमापृथ्वी का नारक अतिशीघ्र सम्यक्त्व प्राप्त करके और उसमें बहुत समय तक रहकर मनुष्यद्विक और वज्रऋषभनाराचसंहनन का बन्ध करे तो बन्ध के अंत में वह नारक जीव इन तीन प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी है ।

विशेषार्थ—तमस्तमा नामक सातवीं नरकपृथ्वी का कोई नारक अतिशीघ्र वहाँ उत्पन्न होने के बाद अन्तर्मुहूर्त बीतने पर पर्याप्त हो सम्यक्त्व प्राप्त करके सम्यक्त्व में दीर्घकाल अर्थात् अन्तर्मुहूर्त न्यून

- १ इसका कारण यह है कि संख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य या तिर्यंच के एक के बाद एक निरन्तर सात भव हो सकते हैं और उनमें विलम्ब परिणामों से अधिकतर नरकद्विक का बंध कर सकते हैं, जिससे वैसे जीव उसकी उत्कृष्ट सत्ता के अधिकारी हैं । वैक्रियद्विक और देवद्विक के बंध का युगलिया के भव में अधिक समय मिलता है । क्योंकि आठवां भव युगलिया का होता है और देवप्रायोग्य कर्मबन्ध करते हैं । इसलिए देवद्विक, वैक्रियद्विक इन चार प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का अधिकारी उनको माना है ।

तेतीस सागरोपम पर्यन्त रहे यानी उतने काल सम्यक्त्व का पालन करे और उतने काल तक मनुष्यद्विक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और वज्रशृषभनाराचसंहनन को बन्ध द्वारा पुष्ट करे और उसके बाद वह सातवीं पृथ्वी का नारक जीव यदि अनन्तर समय में मिथ्यात्व को प्राप्त करेगा तो उस बन्धकाल के चरम रूप उस समय में यानि चतुर्थ गुण-स्थान के चरम समय में उस नारक के मनुष्यद्विक और वज्रशृषभ-नाराचसंहनन की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है ।^१ तथा—

बेछावटिठचियाणं मोहस्सुवसामगस्स चउववुत्तो ।

सम्मधुवबारसण्हं खवगंमि सबंध अन्तम्मि ॥१६५॥

शब्दार्थ—बेछावटिठचियाणं—दो छियासठ सागरोपम पर्यन्त, मोहस्सुव-सामगस्स—मोहर्तायकर्म की उपशमना करने वाले के, चउववुत्तो—चार बार, सम्म—सम्यक्त्व, ध्रुवबारसण्हं—ध्रुवबंधिनी बारह प्रकृतियों की, खवगंमि—क्षपक के, सबंध अन्तम्मि—अपने बंध के अंत समय में ।

१ सप्तम नरकपृथ्वी में जाने वाला जीव सम्यक्त्व का वधन करके ही जाता है और नया सम्यक्त्व पर्याप्त-अवस्था में उत्पन्न होता है । इसीलिए जन्म के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त जाने के बाद सम्यक्त्व उत्पन्न होने का कहा है । अन्तर्मुहूर्त न्यून तेतीस सागरोपम पर्यन्त उसको सम्यक्त्व रह सकता है और उस स्थिति में निरन्तर उक्त तीन प्रकृतियों का बंध कर सकता है, जिससे उस जीव को उक्त तीन प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का अधिकारी बताया है ।

कदाचित् यह कहा जाये कि अनुत्तर देव पूर्ण तेतीस सागरोपम पर्यन्त उक्त प्रकृतियों का निरन्तर बंध करते हैं, तो फिर उनको उत्कृष्ट सत्ता का अधिकारी क्यों नहीं बताया है ? तो इसका उत्तर यह है कि अनुत्तर देवों की अपेक्षा नारक में योग बहुत अधिक होता है और योगानुसार प्रदेशबंध होता है, जिससे वह अधिक पुद्गलों को ग्रहण कर सकता है । इसीलिए सप्तम पृथ्वी के नारक को ग्रहण किया है ।

गाथार्थ—चार बार मोहनीय का उपशम करके क्षय करने वाले के सम्यक्त्व के होने पर भी दो छियासठ सागरोपम पर्यन्त पुण्ड की गई ध्रुवबन्धिनी बारह प्रकृतियों की अपने-अपने बन्ध के अंत समय में उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है ।

विशेषार्थ—गाथा में सम्यक्त्व-सापेक्ष बारह शुभ ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के स्वामित्व को बतलाया है—

मिश्रगुणस्थान के अन्तर्मुहूर्त काल अधिक दो छियासठ—एक सौ बत्तीस—सागरोपम पर्यन्त बंध द्वारा और अन्य प्रकृतियों के संक्रम द्वारा पुण्ड की गई तथा सम्यक्त्व होने पर जिनका अवश्य बंध होता है ऐसी पंचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसंस्थान, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहा-योगति, व्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, सुस्वर, सुभग और आदेय रूप बारह प्रकृतियों की चार बार मोहनीय का उपशमन करने के बाद मोहनीय का क्षय करने के लिये उद्यत जीव के अपने-अपने बंध के अंत समय में उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है । क्योंकि मोहनीय का उपशमन करने वाला जीव अशुभ प्रकृतियों के प्रभूत दलिकों को गुणसंक्रम द्वारा पूर्वोक्त बारह प्रकृतियों में संक्रांत करता है । इसीलिये चार बार उप-शमन करने के बाद क्षय करने वाले जीव को उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी बताया है । तथा—

सुभथिरसुभध्रुवियाणं एवं चिय होइ संतमुक्कोसं ।

तित्थयराहाराणं नियनियगुवकोसबंधंते ॥१६६॥

शब्दार्थ—शुभ—शुभनाम, थिर—स्थिरनाम, सुभध्रुवियाण—शुभ ध्रुव बन्धिनी प्रकृतियों की, एवं चिय—इसी प्रकार, होइ—होती है, संतमुक्कोसं—उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता, तित्थयराहाराणं—तीर्थंकर और आहारक नामकर्म की, नियनियग—अपने-अपने, उक्कोसबंधंते—उत्कृष्ट बंध काल के अंत समय में ।

गाथार्थ—शुभनाम, स्थिरनाम और शुभ ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों की इसी प्रकार उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है तथा तीर्थ-

कर और आहारक नामकर्म की अपने-अपने उत्कृष्ट बन्धकाल के अंत समय में उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है ।

विशेषार्थ—शुभनाम, स्थिरनाम तथा तैजसकर्मणसप्तक, शुभवर्णादि ग्यारह, अगुस्लघु और निर्माण रूप ध्रुवबन्धिनी शुभ बीस प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता भी पूर्वोक्त प्रकार से ही यानि पूर्व में जिस प्रकार से पंचेन्द्रियजाति आदि बारह प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता बताई है उसी प्रकार समझना चाहिये, किन्तु यहाँ इतना विशेष है कि इन पूर्वोक्त बाईस प्रकृतियों की चार बार मोहनीय का उपशम करने के बाद अतिशीघ्र मोहनीय का क्षय करने के लिये उद्यत हुए जीव के उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है ।

तीर्थकरनाम और आहारकसप्तक की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता अपने-अपने उत्कृष्ट बन्धकाल के अंत समय में होती है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि कोई गुणितकर्मांश जीव जब देशोन दो पूर्वकोटि वर्ष अधिक तेतीस सागरोपम पर्यन्त तीर्थकरनाम को बन्ध के द्वारा पुष्ट करे तब उस तीर्थकरनाम के बन्ध के अंत समय में तीर्थकरनाम की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है^१ और जिसने आहारकसप्तक को भी देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त बारबार बन्ध द्वारा पुष्ट किया हो, उसको

-
- १ तीर्थकरनामकर्म का निकाचित बंध होने के बाद प्रतिसमय उसका बंध होता रहता है । तीर्थकरनाम का तीसरे भव में निकाचित बंध होता है । पूर्वकोटि की आयु वाला कोई जीव अपनी कम में कम जितनी आयु जाने के बाद निकाचित कर सकता है, तब तेतीस सागरोपम आयु के साथ अनुत्तर विमान में उत्पन्न हो और वहाँ से च्यवकर चौरासी लाख पूर्व की आयु से तीर्थकर हो और उस भव में जब तक आठवां गुणस्थान प्राप्त न करे तब तक उसका बंध होता रहता है, इसीलिये उतना काल बताया है । तीर्थकर की उत्कृष्ट आयु चौरासी लाख पूर्व की होती है, इसीलिये चौरासी लाख पूर्व की आयु से तीर्थकर होने का संकेत किया है ।

आहारकसप्तक की उसके बन्धविच्छेद के समय उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है ।^१ तथा—

तुल्ला नपुंसगेण एगिदिय थावरायवुज्जोया ।

सुहुमतिगं विगलावि य तिरिमणुयचिरच्चिया नवरिं ॥१६७॥

शब्दार्थ—तुल्ला—तुल्य, नपुंसगेण—नपुंसकवेद के, एगिदिय-थावरायवुज्जोया—एकेन्द्रियजाति, स्थावरनाम, आतपनाम और उद्योतनाम की, सुहुमतिगं—सूक्ष्मत्रिक, विगलावि—विकलत्रिक भी, य—और, तिरिमणुय—तिर्यच और मनुष्य के, चिरच्चिया—दीर्घकाल तक पुनः पुनः बंध द्वारा संचित, नवरिं—किन्तु ।

गाथार्थ—एकेन्द्रिय जाति, स्थावर, आतप और उद्योत नाम-कर्म की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता नपुंसकवेद के तुल्य समझना चाहिये तथा सूक्ष्मत्रिक और विकलत्रिक की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता दीर्घकाल तक पुनः पुनः बन्ध द्वारा संचित करने वाले मनुष्यों और तिर्यचों के जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—गाथा में मुख्यरूप से तिर्यचप्रायोग्य प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के स्वामित्व का निर्देश किया है कि एकेन्द्रियजाति, स्थावर, आतप और उद्योत इन चार प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता 'तुल्ला नपुंसगेण'—नपुंसकवेद के समान जानना चाहिये । अर्थात् पूर्व में जैसे ईशान देवों के अपने भव के चरम समय में नपुंसकवेद की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का निरूपण किया है, उसी प्रकार से उपर्युक्त चार प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता भी ईशान देवों के अपने भव के चरम समय में समझना चाहिये । इसका कारण यह है कि नपुंसकवेद का बन्ध क्लिष्ट परिणामों से होता है और वैसे क्लिष्ट

१ आहारकसप्तक का बंध होने के बाद अपनी बंधयोग्य भूमिका में उसका बंध होता रहता है । परन्तु उसका बंध सातवें गुणस्थान में होता है और वह गुणस्थान मनुष्यगति में पाया जाता है । अतएव देशोन पूर्वकोटि में से जितना अधिक काल हो सकता है, उतना जानना चाहिये ।

परिणाम जब होते हैं, तब ये देव एकेन्द्रिययोग्य प्रकृतियों का बन्ध करते हुए उपर्युक्त चार प्रकृतियों का भी बन्ध करते हैं। क्योंकि ये चारों प्रकृतियाँ एकेन्द्रिययोग्य हैं।

सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण नाम रूप सूक्ष्मत्रिक तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति रूप विकलत्रिक इन छह प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता बन्ध के अंत समय में उन मनुष्यों और तिर्यचों के पाई जाती है जो पृथक्त्वपूर्वकोटि वर्षपर्यन्त बारंबार बन्ध द्वारा इन प्रकृतियों को पुष्ट करते हैं। क्योंकि सूक्ष्मत्रिक आदि छह प्रकृतियों का बन्ध मनुष्यों और तिर्यचों के ही होता है। जिससे वे ही बारंबार बन्ध द्वारा इन प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंचय कर सकते हैं।

इस प्रकार उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के स्वामियों को जानना चाहिये। अब जघन्य प्रदेशसत्ता के स्वामियों का निरूपण करते हैं।

जघन्य प्रदेशसत्तास्वामित्व

ओहेण खवियकम्मे पएससंतं जहन्नयं होइ।

नियसंकमस्स विरमे तस्सेव विसेसियं मुणसु ॥१६८॥

शब्दार्थ—ओहेण—सामान्य से, खवियकम्मे—क्षपितकर्माश के, पएससंतं—प्रदेशसत्ता, जहन्नयं—जघन्य, होइ—होती है, नियसंकमस्स—अपने-अपने संक्रम के, विरमे—अंत में, तस्सेव—उसके विषय में, विसेसियं—विशेष, मुणसु—जानना चाहिये।

गाथार्थ—सामान्य से क्षपितकर्माश जीव के अपने-अपने संक्रम के अंत में जघन्य प्रदेशसत्ता होती है। परन्तु कुछ प्रकृतियों के बारे में विशेष जानना चाहिये।

विशेषार्थ—सामान्य से क्षपितकर्माश जीव को सभी कर्म प्रकृतियों की जघन्य प्रदेशसत्ता का स्वामी जानना चाहिए। क्योंकि अधिक-से-अधिक कर्मप्रदेशों का क्षय होने से क्षपितकर्माश जीव के सब से कम—

जघन्यतम प्रदेशों की सत्ता पाई जाती है। फिर भी कुछ प्रकृतियों की जघन्य प्रदेशसत्ता के स्वामित्व के सम्बन्ध में जो विशेष वक्तव्य है, उसका विचार आगे किया जायेगा।

इस प्रकार सामान्यरूपेण जघन्य प्रदेशसत्ता के स्वामी का निर्देश करने के बाद अब जिन प्रकृतियों की जघन्य सत्ता के बारे में विशेषता है, उसका विचार करते हैं—

उव्वलमाणीणेगठिई उव्वलए जया दुसामइगा ।

थोवद्धमज्जियाणं चिरकालं पालिया अंते ॥१६६॥

अंतिमलोभजसाणं असेट्ठिगाहापवत्ता अंतंमि ।

मिच्छत्तगए आहारगस्स सेसाणि नियगंते ॥१७०॥

शब्दार्थ—उव्वलमाणीणेगठिई—उद्वलनयोग्य प्रकृतियों की एक स्थिति, उव्वलए—उद्वलना होने पर, जया—जब, दुसामइगा—द्विभामयिक, दो समय प्रमाण, थोवद्धमज्जियाणं—स्तोक बंधाद्धा द्वारा अजित-पुष्ट हुई, चिरकालं—चिरकाल, पालिया—परिपालन करने के, अंते—अंत में।

अंतिमलोभजसाणं—संज्वलन लोभ और यशः कीर्ति की, असेट्ठिग—उपशम-श्रेणि को किये बिना, अहापवत्ता अंतंमि—यथाप्रवृत्तकरण के अंत में, मिच्छत्तगए—मिथ्यात्व में गए हुए के, आहारगस्स—आहारकसप्तक की, सेसाणि—शेष की, नियगंते—अपने-अपने अन्त में।

गाथार्थ—स्तोक बंधाद्धा द्वारा अजित-पुष्ट हुई उद्वलन योग्य प्रकृतियों की उद्वलना होने पर जो दो समय प्रमाण एक स्थिति होती है वह उनकी जघन्य प्रदेशसत्ता है और वह चिर-काल पर्यन्त सम्यक्त्व का परिपालन करने के बाद अंत में प्राप्त होती है।

उपशमश्रेणि को किये बिना क्षपकश्रेणि करने पर यथाप्रवृत्त-करण के अंत समय में संज्वलन लोभ और यशःकीर्ति की जघन्य प्रदेशसत्ता होती है। आहारकसप्तक की मिथ्यात्व में गये हुए के

और शेष प्रकृतियों की अपने-अपने क्षय के समय में जघन्य प्रदेशसत्ता होती है ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में उद्वलनयोग्य प्रकृतियों, संज्वलन लोभ एवं यशःकीर्ति की जघन्य प्रदेशसत्ता के स्वामित्व का पृथक्-पृथक् निर्देश करने के बाद शेष रही प्रकृतियों की जघन्य प्रदेशसत्ता के स्वामियों के लिये सामान्य नियम बतलाया है ।

सर्वप्रथम उद्वलनयोग्य प्रकृतियों के लिये कहा है कि अल्पकाल पर्यन्त बंध द्वारा उपचित—संचित की हुई जिन कर्मप्रकृतियों की उद्वलना होती है ऐसी आहारकसप्तक, वैक्रियसप्तक, देवद्विक, मनुष्यद्विक, नरकद्विक, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, उच्चगोत्र और अनन्तानुबंधिचतुष्क रूप सत्ताईस प्रकृतियों की स्व और पर दोनों की अपेक्षा जब दो समय स्थिति और स्वरूप की अपेक्षा समय मात्र एक स्थिति शेष रहे तब उनकी जघन्य प्रदेशसत्ता होती है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार जानना चाहिये—

अल्पकाल पर्यन्त बंध द्वारा पुष्ट की गई अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क की चिरकाल पर्यन्त सम्यक्त्व का पालन कर उद्वलना करते हुए^१ अत में जघन्य प्रदेशसत्ता होती है । जिसका तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि किसी क्षपितकर्मश जीव ने सम्यग्दृष्टि होने पर अनन्तानुबंधिचतुष्क को उद्वलना करके सत्ता में से निर्मूल कर दिया । तत्पश्चात् वही जीव सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्वगुणस्थान में जाकर मिथ्यात्व रूप हेतु द्वारा अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यन्त अनन्तानुबंधिचतुष्क को बांधकर पुनः शायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करे और उस सम्यक्त्व का दो बार छियासठ सागरोपम अर्थात् एक सौ बत्तीस सागरोपम पर्यन्त पालन

१ अनन्तानुबंधिचतुष्क की उद्वलना करते हुए कहने का कारण यह है कि सुदीर्घकाल से बंधे हुए होने के कारण प्रदेशों की सत्ता अधिक होती है

करके अंत में उसका क्षय करने के लिये प्रयत्नशील हो^१ और उस अनंतानुबन्धितुष्क का क्षय करते-करते जब समस्त खंडों का क्षय हो और उदयावलिका को स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रांत करे तब स्वरूप की अपेक्षा समय मात्र स्थिति और सामान्यतः कर्मरूपता की अपेक्षा दो समय प्रमाण स्थिति शेष रहे^२ तब अनन्तानुबन्धितुष्क की जघन्य प्रदेशसत्ता होती है।

कोई क्षपितकर्मांश जीव एक सौ बत्तीस सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्व का पालन कर वहाँ से गिरकर मिथ्यात्वगुणस्थान में जाये और वहाँ पत्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल द्वारा होने वाली मंद उद्वलना से सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय की उद्वलना प्रारम्भ करे और उद्वलना करने वाला वह जीव उन दोनों के दलिकों को मिथ्यात्वमोहनीय में संक्रांत करे तो इस प्रकार संक्रांत करते-करते उदयावलिका के ऊपर के अन्तिम खण्ड के समस्त दलिकों को अन्तिम समय में सर्वसंक्रम द्वारा संक्रमित कर डालता है और उदयावलिका के दलिक को स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रमित करता है।

१ यहाँ जघन्य प्रदेशसत्ता का कथन किया जा रहा है, अतएव मिथ्यात्व-गुणस्थान में जाकर अनन्तानुबन्धि का मात्र अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त बंध कर सम्यक्त्व प्राप्त करने और उसका एक सौ बत्तीस सागरोपम पालन करने का निर्देश किया है। जिससे उतने काल में संक्रमकरण और स्तिबुकसंक्रम द्वारा बहुत सी सत्ता के कम होते जाने और अंत में उद्वलना करने से जघन्य प्रदेशसत्ता घटित होती है।

२ यहाँ जो दो समय प्रमाण स्थिति कही है, वह उदयावलिका का स्वरूप सत्ता की अपेक्षा रहा हुआ चरमसमय जो स्तिबुकसंक्रम द्वारा अन्य रूप हो जाता है, उसे गिनते हुए कहा है। क्योंकि स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रांत स्थिति संक्रमकरण द्वारा संक्रमित स्थिति की तरह सर्वथा पररूप को प्राप्त नहीं करती है कुछ स्वरूप से रहती है। जिससे वह समय भी संक्रम्यमाण प्रकृति का गिना जाता है। इसलिये दो समय की स्थिति कही है।

इस प्रकार से संक्रांत करते हुए जब स्वरूप की अपेक्षा समय प्रमाण स्थिति और सामान्यतः कर्मरूपता की अपेक्षा दो समय प्रमाण स्थिति शेष रहे तब उन दोनों की (सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय की) जघन्य प्रदेशसत्ता होती है ।^१

नरकद्विक, देवद्विक और वैक्रियसप्तक रूप ग्यारह प्रकृतियों की किसी एकेन्द्रिय जीव ने क्षपितकर्माश होने से उद्वलना की और उसके बाद संज्ञी तिर्यच में आकर अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त बध किया और बंधकर सातवीं पृथ्वी के अप्रतिष्ठान नरकावास में तेतीस सागरोपम की आयु सहित उत्पन्न हो वहाँ विपाकोदय एवं संक्रम द्वारा यथायोग्य रीति से अनुभव करे और उसके बाद उस नरक से निकलकर संज्ञी तिर्यच में उत्पन्न हो और वहाँ तथाप्रकार के अध्यवसाय के अभाव में इन ग्यारह प्रकृतियों का बंध किये बिना एकेन्द्रिय में उत्पन्न हो और वह एकेन्द्रिय जीव पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल द्वारा होने वाली उद्वलना द्वारा उद्वलना करना प्रारम्भ करे और उद्वलना करते-करते जब स्वरूप की अपेक्षा समयमात्र स्थिति और कर्मत्वसामान्य की अपेक्षा दो समय प्रमाण स्थिति शेष रहे तब इन ग्यारह प्रकृतियों की जघन्य प्रदेशसत्ता होती है । तथा—

क्षपितकर्माश कोई सूक्ष्मत्रस—तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव—मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र की उद्वलना करके वहाँ से सूक्ष्म एकेन्द्रिय पृथ्वीकायादि में उत्पन्न हो और वहाँ अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त पुनः इन तीन

- १ इन दोनों की जघन्य प्रदेशसत्ता इसी प्रकार से घटित हो सकती है । यद्यपि क्षायिक सम्यक्त्व का उपार्जन करते हुए भी उन दोनों का क्षय होता है, परन्तु वहाँ अन्तर्मुहूर्त में ही क्षय होता है एवं गुणश्रेणि होने से समयमात्र स्थिति शेष रहे तब जघन्य प्रदेशसत्ता नहीं हो सकती है । इसलिये मिथ्यात्वगुणस्थान में ही उद्वलना होने से जघन्य प्रदेशसत्ता सम्भव है ।

प्रकृतियों को बांध कर तेज और वायुकाय में उत्पन्न हो और वहाँ चिरोद्बलना प्रारम्भ की। तब उद्बलना करते करते स्वरूप की अपेक्षा समयमात्र स्थिति और कर्मत्वसामान्य की अपेक्षा दो समय स्थिति शेष रहे, उस समय इन तीन प्रकृतियों की जघन्य प्रदेशसत्ता होती है। तथा—

जो क्षपितकर्मांश जीव पूर्व में उपशमश्रेणि को न करके क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हो तो उस क्षपितकर्मांश जीव के यथाप्रवृत्तकरण—अप्रमत्तगुणस्थान के चरम समय में संज्वलन लोभ और यशःकीर्तिनाम की जघन्य प्रदेशसत्ता होती है।

यदि मोह का सर्वथा उपशम करे तो गुणसंक्रम द्वारा अबध्यमान अशुभ प्रकृतियों का उक्त प्रकृतियों में संक्रम होने से इनको सत्ता में अधिक दलिक प्राप्त होता है और वैसा होने से जघन्य प्रदेशसत्ता घटित नहीं हो सकती है। जघन्य प्रदेशसत्ता के विषय में उसका कुछ प्रयोजन नहीं होने से उपशमश्रेणि किये बिना क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होने का कहा है तथा अप्रमत्तसंयतगुणस्थान के चरम समय में जघन्य प्रदेशसत्ता होती है। क्योंकि अपूर्वकरण में गुणसंक्रम प्रारम्भ होने से जघन्य प्रदेशसत्ता घटित नहीं हो सकती है। तथा

‘मिच्छत्तगए आहारगस्स’ अर्थात् मिथ्यात्व में गये हुए जीव के आहारकसप्तक की जघन्य प्रदेशसत्ता होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कोई अप्रमत्त जीव अल्पकाल पर्यन्त आहारकसप्तक का बंध करके मिथ्यात्व में जाये और वहाँ पल्योपम के असंख्यातवै भाग प्रमाण काल में उसकी उद्बलना करे और उद्बलना करते हुए चरम समय में स्वरूप की अपेक्षा समयमात्र स्थिति और कर्मत्वसामान्य की अपेक्षा दो समय प्रमाण स्थिति शेष रहे, तब आहारकसप्तक की जघन्य प्रदेशसत्ता होती है। तथा—

‘सेसाणि नियगंते’ अर्थात् शेष प्रकृतियों की उस-उस प्रकृति के क्षय के समय में क्षपितकर्मांश जीव के जघन्य प्रदेशसत्ता होती है।

इस प्रकार से जघन्य प्रदेशसत्ता के स्वामित्व का निर्देश करने के साथ प्रदेशसत्कर्मस्वामित्व का विचार पूर्ण होता है। अब प्रदेश-सत्कर्मस्थानों की प्ररूपणा करने के लिए स्पर्धक की प्ररूपणा करते हैं।

स्पर्धक प्ररूपणा

चरमावलिप्पविट्ठा गुणसेढी जासि अत्थि न य उदओ ।

आवलिगा समयसमा तासि खलु फड्डगाइं तु ॥१७१॥

शब्दार्थ—चरमावलिप्पविट्ठा—अन्तिम आवलिका में प्रविष्ट, गुणसेढी—गुणश्रेणि, जासि—जिन (कर्मप्रकृतियों की), अत्थि—है, न—नहीं, य—किन्तु, उदयो—उदय, आवलिगा—आवलिका के, समयसमा—समय प्रमाण, तासि—उनके, खलु—अवश्य, फड्डगाइं—स्पर्धक, तु—ही ।

गाथार्थ—जिन कर्म प्रकृतियों की गुणश्रेणि अन्तिम आवलिका में प्रविष्ट हो गई है, किन्तु उदय होता नहीं है उन प्रकृतियों के आवलिका के समयप्रमाण स्पर्धक होते हैं ।

विशेषार्थ—अन्तिम आवलिका में प्रविष्ट गुणश्रेणि वाली प्रकृतियों के स्पर्धकों के प्रमाण को गाथा में स्पष्ट किया है—

क्षयकाल में जिन कर्मप्रकृतियों की गुणश्रेणि चरमावलिका में प्रविष्ट हो चुकी है किन्तु उदय होता नहीं है, ऐसी स्त्यानद्धिन्निक, मिथ्यात्वमोहनीय, अनन्तानुबंधिचतुष्क आदि बारह कषाय, नरकद्विक, तिर्यचद्विक, पंचेन्द्रियजाति के सिवाय शेष जातिचतुष्क, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण रूप उनतीस प्रकृतियों के आवलिका में जितने समय हों, उतने उनके स्पर्धक होते हैं । अर्थात् इन प्रकृतियों के आवलिका के समय प्रमाण स्पर्धक होते हैं । विशेषता के साथ जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अभव्यप्रायोग्य जघन्य प्रदेशसत्ता वाला कोई जीव त्रसों में उत्पन्न हुआ और वहाँ अनेक बार सर्वविरति और देशविरति को प्राप्त करके

एवं चार बार मोहनीय का उपशम करके पुनः एकेन्द्रिय में उत्पन्न हो और वहाँ मात्र पत्योपम के असंख्यातवें भाग जितने काल रहकर मनुष्य में उत्पन्न हो और इस मनुष्यभव में शीघ्र मोह का क्षय करने के लिए उद्यत हो। तब वहाँ उक्त प्रकृतियों का यथायोग्य रीति से क्षय करते-करते प्रत्येक के अंतिम खंड का भी क्षय हो और मात्र उदयावलिका शेष रहे तथा उस चरम समय का भी स्तिबुकसंक्रम द्वारा क्षय होते-होते जब स्वरूप की अपेक्षा एक समय प्रमाण स्थिति और कर्मत्व-सामान्य की अपेक्षा दो समय प्रमाण स्थिति रहे^१ तब जो जघन्यतम प्रदेशसत्ता हो, वह पहला प्रदेशसत्कर्मस्थान कहलाता है। इस पहले प्रदेशसत्कर्मस्थान में एक परमाणु का प्रक्षेप करने पर दूसरा प्रदेशसत्कर्मस्थान होता है। अर्थात् जिस जीव के एक अधिक परमाणु की सत्ता हो उसका दूसरा प्रदेशसत्कर्मस्थान होता है, दो परमाणुओं का प्रक्षेप करने पर तीसरा और तीन परमाणुओं का प्रक्षेप करने पर चौथा प्रदेशसत्कर्मस्थान होता है। इस प्रकार एक-एक परमाणु का प्रक्षेप करते-करते^२ भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा अनन्त प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक कहना चाहिए यावत् जो चरम स्थितिविशेष में गुणितकर्मांश जीव के सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्थान हो।

इसके बाद एक भी अधिक परमाणु वाला अन्य प्रदेशसत्कर्मस्थान नहीं होता है। इन प्रदेशसत्कर्मस्थानों के समूह को स्पर्धक कहते हैं।

१ इसका तात्पर्य यह है कि उदयावलिका के चरम समय में अनुदयावलिका की चरम स्थिति स्वरूपसत्ता से नहीं किन्तु पररूप से होती है और उपान्त्य समय में स्वरूपसत्ता से होती है। अतएव उपान्त्य समय स्वरूपसत्ता का और चरम समय पररूपसत्ता का, इस तरह दो समय का संकेत किया है।

२ कर्मप्रकृति के सत्ताधिकार की चूर्णि में एक-एक परमाणु के प्रक्षेप के बदले एक-एक कर्मस्कन्ध की वृद्धि करने का संकेत किया है।

यह पहला स्पर्धक अंतिम समय प्रमाण स्थिति की अपेक्षा से कहा है। इसी प्रकार से दो समय प्रमाण स्थिति का दूसरा, तीन समय प्रमाण स्थिति का तीसरा स्पर्धक जानना चाहिए। इस प्रकार से समयन्यून आवलिका के समयप्रमाण स्पर्धक होने तक कहना चाहिए। इस प्रकार से चरमावलिका के स्पर्धक हुए तथा चरमस्थितिघात का परप्रकृति में जो अंतिमप्रक्षेप हो, वहाँ से प्रारम्भ कर पश्चानुपूर्वी के क्रम से वृद्धि करते हुए प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक कहना चाहिए यावत् अपना-अपना उत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्थान हो। इतने प्रमाण वाला अनंत सत्कर्म-स्थानों का समूह रूप यह भी सम्पूर्ण स्थिति सम्बन्धी यथासंभव एक स्पर्धक ही विवक्षित किया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि चरम स्थिति के अंतिम प्रक्षेप से आरम्भ कर अनुक्रम से बढ़ते हुए सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्ता पर्यन्त जो अनंत प्रदेशसत्कर्मस्थान होते हैं, उनके समूह को एक ही स्पर्धक माना है। पूर्वोक्त स्पर्धकों में इस एक स्पर्धक को मिलाने पर स्त्यानद्धिचक्र आदि अनुदयवती प्रकृतियों के कुल आवलिका के समय प्रमाण स्पर्धक होते हैं।

ये स्थान स्पर्धकरूप होते हैं। अतः अब स्पर्धक का लक्षण बतलाते हैं।

स्पर्धक का लक्षण

सव्वजहन्नपएसे पएसवुड्ढीए णंतया भेया ।

ठिइठाणे ठिइठाणे विन्नेया खवियकम्माओ ॥१७२॥

एगट्ठिइयं एगाए फड्डगं दोसु होइ दोट्ठिइगं ।

तिगमाईसुवि एवं नेयं जावंति जासि तु ॥१७३॥

शब्दार्थ—सव्वजहन्नपएसे—सर्व जघन्य प्रदेशसत्कर्मस्थान से, पएसवुड्ढीए—एक-एक प्रदेश की वृद्धि से, णंतया भेया—अनन्त भेद, ठिइठाणे ठिइठाणे—स्थितिस्थान स्थितिस्थान में अर्थात् प्रत्येक स्थितिस्थान में, विन्नेया—जानना चाहिए, खवियकम्माओ—क्षपितकर्मांश जीव की अपेक्षा ।

एगट्ठिइयं—एक स्थिति सम्बन्धी, **एगए**—एक समय की स्थिति में, **फड्डगं**—स्पर्धक, **दोस्**—दो समय की स्थिति में, **होइ**—होता है, **दोट्ठिइयं**—दो समयस्थिति सम्बन्धी, **तिणमाईसुवि**—तीन आदि समय स्थिति में भी, **एवं**—इसी प्रकार से, **मेयं**—जानना चाहिए, **जाबंति**—जितने, **जासि**—जिनके, **तु**—और ।

गाथार्थ—प्रत्येक स्थितिस्थान में क्षपितकर्माश जीव की अपेक्षा जो सर्वजघन्य प्रदेशसत्कर्मस्थान होता है, उसमें विभिन्न जीवों की अपेक्षा एक-एक परमाणु की वृद्धि से अनन्त भेद जानना चाहिये ।

एक समय की स्थिति में एक स्थितिसम्बन्धी और दो समय की स्थिति में दो समय की स्थितिसम्बन्धी स्पर्धक होता है । इसी प्रकार से तीन आदि समय की स्थितियों में तीन आदि समय की स्थितिसम्बन्धी स्पर्धक जानना चाहिए । इस प्रकार जिन प्रकृतियों के जितने स्पर्धक संभव हैं, उतने उन-उनके स्पर्धक जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में स्पर्धक के लक्षण एवं प्रत्येक प्रकृति के संभव स्पर्धकों का निर्देश किया है ।

सर्वप्रथम स्पर्धक का लक्षण स्पष्ट करते हैं कि एक समय प्रमाण स्थितिस्थान में, दो समय प्रमाण स्थितिस्थान में, तीन समयप्रमाण स्थितिस्थान में, इस तरह यावत् समय-समय की वृद्धि करते-करते समयन्यून आवलिका के समय प्रमाण स्थितिस्थान में क्षपितकर्माश जीव के जो सर्वजघन्य प्रदेशसत्ता होती है, उसमें एक-एक परमाणु की वृद्धि होने पर भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा 'णंतया भेया' अनन्त भेद अर्थात् अनन्त प्रदेशसत्कर्मस्थान होते हैं । जो इस प्रकार जानना चाहिये—

एक समय प्रमाण स्थिति शेष रहे तब क्षपितकर्माश जीव के जो सर्वजघन्य प्रदेशसत्ता होती है, वह पहला प्रदेशसत्कर्मस्थान, एक अधिक परमाणु वाला दूसरा प्रदेशसत्कर्मस्थान, दो अधिक

परमाणु वाला तीसरा प्रदेशसत्कर्मस्थान, इस प्रकार एक-एक परमाणु की वृद्धि करते-करते गुणितकर्मांश जीव के जो सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्म-स्थान होता है, वह अंतिम प्रदेशसत्कर्मस्थान है। इस प्रकार एक स्थितिस्थान में अनन्त प्रदेशसत्कर्मस्थान होते हैं। उनके समूह को स्पर्धक कहते हैं।

इसी प्रकार दो समय प्रमाण स्थिति शेष रहे तब सर्वजघन्य जो प्रदेशसत्ता होता है, वह पहला सत्कर्मस्थान, एक अधिक परमाणु वाला दूसरा, इस तरह गुणितकर्मांश जीव का सर्वोत्कृष्ट जो प्रदेशसत्कर्म-स्थान, वह अंतिम सत्कर्मस्थान है। इन अनंत सत्कर्मस्थानों के समूह का द्विसामयिक स्थिति का दूसरा स्पर्धक कहलाता है। इसी प्रकार से तीन समय स्थिति का तीसरा, चार समय स्थिति का चौथा, इस तरह जितने एक समय प्रमाणादि स्थितिस्थान हों, उतने स्पर्धक होते हैं।

अब इसी पूर्वोक्त को कुछ विशेषता के साथ स्पष्ट करते हैं—

क्षय होते-होते जब एक स्थिति शेष रहे तब उस एक स्थिति में अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्व में कहे गये अनुसार जो अनन्त प्रदेश-सत्कर्मस्थान होते हैं उनका समूह रूप वह एक स्थिति का स्पर्धक होता है। जब दो समय स्थिति शेष रहे तब उस दो समय स्थिति में जघन्य प्रदेशसत्ता से प्रारम्भ कर उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता पर्यन्त जो अनन्त सत्कर्म-स्थान होते हैं, उनका समूहरूप दो स्थिति का दूसरा स्पर्धक होता है। इस तरह तीन समय स्थिति शेष रहे तब उस तीन समय स्थिति में भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा जो अनन्त प्रदेशसत्कर्मस्थान होते हैं, उनका समूहरूप तीन समय स्थिति का तीसरा स्पर्धक होता है। इसी प्रकार से चार आदि समय स्थिति शेष रहे तब स्पर्धक कहना चाहिये। इस तरह जिन प्रकृतियों के जितने स्पर्धक संभव हों उनके उक्त प्रकार से तीन आदि स्थिति सम्बन्धी उतने स्पर्धक कहना चाहिये।

इस प्रकार से स्पर्धकों का लक्षण जानना चाहिये । अब पहले जो यह कहा था कि आवलिका के समय प्रमाण उन प्रकृतियों के स्पर्धक होते हैं तो वे किन प्रकृतियों के होते हैं ? नामनिर्देश पूर्वक उन-उन प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्पर्धक बतलाते हैं ।

प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्पर्धक-निरूपण

आवलिमेत्तुक्कोसं फड्ग मोहस्स सव्वघाईणं ।

तेरसनामतिनिद्दाणं जाव नो आवली गलइ ॥१७४॥

शब्दार्थ—आवलिमेत्तुक्कोसं—आवलिका प्रमाण उत्कृष्ट, फड्ग—स्पर्धक, मोहस्स—मोहनीय की, सव्वघाईणं—सर्वघातिनी प्रकृतियों की, तेरसनाम—नामकर्म की तरह प्रकृतियों की, तिनिद्दाणं—तीन निद्राओं की, जाव—यावत्, जब तक, नो—नहीं, आवली—आवलिका, गलइ—क्षय होती है ।

गाथार्थ—मोहनीय की सर्वघातिनी प्रकृतियों की, नामकर्म की तरह प्रकृतियों की और तीन निद्राओं की जब तक चरमावलिका क्षय नहीं होती है तब तक उनके समयन्यून आवलिका प्रमाण उत्कृष्ट स्पर्धक होते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में मोहनीय की सर्वघातिनी, नामकर्म की तरह प्रकृति एवं निद्रात्रिक के स्पर्धकों का निर्देश किया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मोहनीयकर्म की मिथ्यात्व और आदि की बारह कषाय ये तरह सर्वघातिनी तथा नरकद्विक, तिर्यचद्विक, एकेन्द्रिय आदि चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जातिचतुष्क, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म और साधारण नामकर्म की ये तरह एवं 'तिनिद्दाण'स्त्यानद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला रूप निद्रात्रिक, इस तरह कुल मिलाकर उनतीस प्रकृतियों की सत्ता में विद्यमान अन्तिम आवलिका जब तक अन्य प्रकृतियों में स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रमित होने से क्षय न हो जाये—

‘नो आवली गलइ’—तब तक उनका समयन्यून आवलिका प्रमाण उत्कृष्ट स्पर्धक प्राप्त होता—‘आवलमेत्तुवकोसं फड्डग’ ।

उस आवलिका में का एक समय स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रांत हो जाने से दूर हो तब दो समयन्यून आवलिका प्रमाण स्पर्धक होता है । इस प्रकार जैसे-जैसे समय-समय स्तिबुकसंक्रम द्वारा दूर हो, वैसे-वैसे समयन्यून आवलिका प्रमाण मध्यम स्पर्धक होते हैं । इसी तरह यावत् स्वरूपसत्ता से एक समय स्थिति शेष रहे, वह एक समय प्रमाण जघन्य स्पर्धक होता है ।

इस प्रकार से अनुदयवती उपर्युक्त मिथ्यात्वादि उनतीस प्रकृतियों के चरमावलिका के समयन्यून आवलिका प्रमाण स्पर्धकों और शेष समस्त स्थिति के एक स्पर्धक को मिलाने से समग्ररूपेण आवलिका के समय प्रमाण स्पर्धक होते हैं ।^१

अब क्षीणमोहगुणस्थान में जिन प्रकृतियों का क्षय होता है, उन उदयवती प्रकृतियों के स्पर्धक बतलाते हैं—

खीणद्वासंखंसं खीणंताणं तु फड्डगुवकोसं ।

उदयवईणेगहियं निद्दाणं एगहीणं तं ॥१७५॥

- १ उदयवती प्रकृतियों की क्षय होते-होते जब सत्ता में मात्र एक आवलिका प्रमाण स्थिति रहती है, तब अनुदयवती-प्रदेशोदयवती प्रकृतियों की स्वरूपसत्ता समयन्यून आवलिका शेष रहती है, जिससे उदयवती प्रकृतियों के चरम समय में अनुदयवती प्रकृतियों की स्वरूपसत्ता नहीं होती है । इसी कारण उदयवती प्रकृतियों की उदयावलिका और अनुदयवती प्रकृतियों की स्वरूपसत्ता की अपेक्षा समयन्यून आवलिका शेष रहती है और उनमें का एक भी समय अन्यत्र संक्रम द्वारा क्षय न हो, वहाँ तक समयन्यून आवलिका प्रमाण उत्कृष्ट स्पर्धक पूर्वोक्त प्रकृतियों का होता है और शेष समस्त स्थिति का एक स्पर्धक होता है । इसी कारण उपर्युक्त प्रकृतियों के कुल मिलाकर आवलिका प्रमाण स्पर्धक होते हैं ।

शब्दार्थ—खीणद्वासंखंसं—क्षीणकषायगुणस्थान के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण, खीणताणं—क्षीणकषायगुणस्थान में जिनका अन्त—नाश होता है, तु—और, फड्डगुणकोसं—स्पर्धकोत्कर्ष, उदयवईणेगहियं—उदयवती प्रकृतियों का एक अधिक, निद्राणं—निद्राओं का, एगहीणं—एक हीन, तं—वह स्पर्धक ।

गाथार्थ—क्षीणकषायगुणस्थान में जिनका अन्त—नाश होता है उन उदयवती प्रकृतियों का एक अधिक क्षीणकषायगुणस्थान के संख्यातवें भाग के समय प्रमाण स्पर्धकोत्कर्ष होता है और निद्राओं (निद्रा और प्रचला) का एक हीन स्पर्धक होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में बारहवें गुणस्थान की प्रकृतियों के स्पर्धकों का प्रमाण बतलाया है—

‘खीणताणं’ अर्थात् क्षीणकषायगुणस्थान में जिनकी सत्ता का अन्त—नाश होता है, ऐसी ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और अंतरायपंचक इन चौदह प्रकृतियों का स्पर्धकोत्कर्ष—समस्त स्पर्धकों की संख्या क्षीणकषायगुणस्थान के संख्यातवें भाग के समय प्रमाण होती है—‘खीणद्वासंखंसं’ और इसके साथ यह विशेष जानना चाहिये कि वह संख्या मात्र एक स्पर्धक से अधिक है ।

इन स्पर्धकों के प्रमाण में कौन-सा एक स्पर्धक अधिक होता है ? तो इसका स्पष्टीकरण यह है—

चरम स्थितिघात के चरम प्रक्षेप से लेकर अपनी-अपनी उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता पर्यन्त सम्पूर्ण स्थिति का जो पहले एक स्पर्धक बताया है—कहा है उस एक स्पर्धक से अधिक क्षीणकषायगुणस्थान के संख्यातवें भाग के समय प्रमाण स्पर्धक होते हैं ।

निद्रा और प्रचला इन दोनों निद्राओं का भी बारहवें क्षीणकषाय-गुणस्थान के उपान्त्य समय में अन्त होता है । अतः इस विशेषता की अपेक्षा उनके स्पर्धक बतलाते हैं कि ‘निद्राणं एगहीणं तं’ निद्रा और

प्रचला का एक हीन स्पर्धक होता है । अर्थात् निद्रा और प्रचला की क्षीणकषायगुणस्थान के चरम समय में स्वरूपसत्ता नहीं होने से उस चरम समय सम्बन्धी एक स्पर्धकहीन इन दोनों के स्पर्धक होते हैं । यानि ज्ञानावरणपंचक आदि चौदह प्रकृतियों के जितने स्पर्धक कहे हैं, उनसे एक हीन निद्राद्विक के स्पर्धक होते हैं ।

अब इस संक्षिप्त कथन को सरलता से समझने के लिये विस्तार से स्पष्ट करते हैं—

जैसे मोहनीय की सर्वधाति तेरह, नामकर्म की तेरह और स्त्या-नद्धिन्निक, कुल मिलाकर इन उनतीस प्रकृतियों के आवलिका के समय प्रमाण स्पर्धक होते हैं, उसी प्रकार क्षीणमोहगुणस्थान में जिनका क्षय होता है, उन उदयवती प्रकृतियों के क्षीणमोहगुणस्थान का जितना काल है, उससे अधिक संख्यातवें भाग के समय प्रमाण स्पर्धक होते हैं और निद्रा तथा प्रचला का एक न्यून स्पर्धक होता है । इसका कारण यह है कि निद्रा, प्रचला अनुदयवती प्रकृति हैं । उदयवती प्रकृतियों की स्वरूपसत्ता से जितनी स्थिति शेष रहे, उसकी अपेक्षा अनुदयवती प्रकृतियों की समयन्यून स्थिति शेष रहती है । इसी से उदयवती प्रकृतियों की अपेक्षा अनुदयवती प्रकृतियों का एक स्पर्धक कम होता है ।

अब यह स्पष्ट करते हैं कि क्षीणकषायगुणस्थान में जिनकी सत्ता का नाश होता है, उनके उस गुणस्थान के संख्यातवें भाग के काल प्रमाण स्पर्धक कैसे और किस रीति से होते हैं ?

क्षीणकषायगुणस्थान में वर्तमान कोई क्षपितकर्मांश जीव उस गुणस्थान का जितना काल है, उसका संख्यातवां भाग जाये और अन्तर्मुहूर्त प्रमाण संख्यातवां एक भाग शेष रहे, तब ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और अंतरायपंचक, इन चौदह प्रकृतियों की उस समय सत्ता में जितनी स्थिति हो, उसे सर्वापवर्तना द्वारा अपवर्तित

कर—घटाकर क्षीणकषायगुणस्थान का जितना काल शेष है, उतनी करता है और निद्रा, प्रचला की एक समय हीन करता है। क्योंकि ये दोनों प्रकृतियां अनुदयवती हैं अतः चरमसमय में स्वरूप से उनके दलिक सत्ता में नहीं होते हैं परन्तु पररूप में होते हैं। इसलिये उन दोनों की स्थितिसत्ता स्वरूप की अपेक्षा एक समय न्यून करता है।

जब सर्वापवर्तना द्वारा अपवर्तित कर क्षीणकषायगुणस्थान के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति शेष रहती है तब उसके बाद उन प्रकृतियों में स्थितिघात, रसघात और गुणश्रेणि प्रवर्तित नहीं होती है।^१

जिन प्रकृतियों में जब तक स्थितिघात और गुणश्रेणि प्रवर्तित होती है, तब तक उन प्रकृतियों की समस्त स्थिति का एक स्पर्धक होता है और स्थितिघात तथा गुणश्रेणि रुकने के बाद जितनी स्थिति सत्ता में शेष रहे उस समस्त स्थिति का एक स्पर्धक, एक समय न्यून हो और जितनी स्थिति रहे उसका एक स्पर्धक तथा पुनः एक समय कम हो और जितनी स्थिति रहे उसका एक स्पर्धक, इस प्रकार जैसे-जैसे समय कम होता जाता है, वैसे-वैसे जितनी-जितनी स्थिति शेष रहे, उस उस का एक-एक स्पर्धक होता है, यावत् चरम समय शेष रहे तब उसका एक स्पर्धक होता है। इस प्रकार स्पर्धक उत्पन्न होने की व्यवस्था है।

-
- १ क्षीणकषायगुणस्थान का संख्यातवां भाग जाने और एक भाग शेष रहने पर जीव का ऐसा विशिष्ट परिणाम होता है कि जिसके द्वारा एकदम स्थिति को घटाकर उस गुणस्थान के कालप्रमाण में भोगी जा सके उतनी स्थिति शेष रखता है। जिस विशिष्ट परिणाम द्वारा यह क्रिया होती है, उसका नाम सर्वापवर्तना है। सर्वापवर्तना होने के बाद स्थितिघात, रस-घात या गुणश्रेणि नहीं होती है।

ज्ञानावरणपंचक आदि चौदह प्रकृतियों का क्षीणमोहगुणस्थान के काल का संख्यातवां भाग शेष रहा और स्थितिघात एवं गुणश्रेणि बंद हुई, उससे उनके वे संख्यातवें भाग प्रमाण स्पर्धक और शेष कि जहाँ स्थितिघातादि प्रवर्तित होते हैं, उस सम्पूर्ण स्थिति का एक स्पर्धक, इस प्रकार कुल एक अधिक संख्यातवें भाग के समय प्रमाण ज्ञाना-वरणपंचक आदि चौदह प्रकृतियों के स्पर्धक होते हैं और निद्राद्विक में एक कम होता है। क्योंकि यह पहले कहा जा चुका है कि उदय-वती प्रकृतियों की अपेक्षा अनुदयवती प्रकृतियों के स्पर्धक एक कम ही होते हैं।

इस प्रकार से अभी तक यह बताया है कि क्षीणमोहगुणस्थान के संख्यातवें भाग प्रमाण स्पर्धक हुए। अब यह स्पष्ट करते हैं कि वे स्पर्धक किस तरह से होते हैं—

क्षीणकषायगुणस्थान का संख्यातवां भाग जाये और एक भाग शेष रहे तब सत्तागत स्थिति को कम करके जो संख्यातवें भाग प्रमाण रही है उसे भी यथासम्भव उदय, उदीरणा के द्वारा क्रमशः क्षय होते-होते वहाँ तक जानना चाहिये यावत् एक स्थिति शेष रहे। जब वह एक स्थिति शेष रही तब उसमें क्षपितकर्मांश किसी जीव के कम-से-कम जो प्रदेशसत्ता होती है, वह चरम समयाश्रित प्रथम प्रदेशसत्कर्म-स्थान कहलाता हैणु। उसमें एक परमाणु का प्रक्षेप करने पर दूसरा यानि उस अन्तिम स्थान में वर्तमान एक अधिक परमाणु की सत्ता वाले जीव की अपेक्षा दूसरा प्रदेशसत्कर्मस्थान, दो अधिक परमाणु की सत्ता वाले जीव की अपेक्षा तीसरा प्रदेशसत्कर्मस्थान। इस प्रकार एक एक परमाणु को बढ़ाते हुए निरन्तर प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक कहना चाहिये यावत् गुणितकर्मांश जीव के उस चरम स्थिति में वर्तमान सर्वोत्कृष्ट प्रदेश की सत्ता का अन्तिम प्रदेशसत्कर्मस्थान होता है। यह अनन्त प्रदेशसत्कर्मस्थानों का पिंडरूप चरम स्थिति-स्थान सम्बन्धी स्पर्धक हुआ। दो स्थिति शेष रहे तब उक्त प्रकार से दूसरा स्पर्धक होता है।

इस प्रकार सर्वापिवर्तना द्वारा क्षीणकषायगुणस्थान के काल के समान की गई सत्तागत स्थिति के जितने स्थितिविशेष—समय होते हैं उतने स्पर्धक जानना चाहिये तथा चरम स्थितिघात के चरमप्रक्षेप से आरम्भ कर पश्चानुपूर्वी के अनुक्रम से वृद्धि करते हुए वहाँ तक कहना चाहिये यावा अपनी-अपनी सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्ता हो, इस सम्पूर्ण स्थिति का एक स्पर्धक होता है। यह एक स्पर्धक अधिक होने से ज्ञानावरणपंचक आदि उदयवती प्रकृतियों के एक स्पर्धक से अधिक क्षीणकषायगुणस्थान के संख्यातवें भाग के चरम समय प्रमाण स्पर्धक होते हैं तथा निद्रा और प्रचला की क्षीणकषायगुणस्थान के चरम समय में सत्ता नहीं होने से द्विचरम स्थिति-आश्रित स्पर्धक होते हैं। जिससे उस चरम स्थिति सम्बन्धी स्पर्धक से हीन उन दोनों के स्पर्धक होते हैं। अर्थात् उन दोनों के कुल स्पर्धक क्षीणकषायगुणस्थान के संख्यातवें भाग के समयप्रमाण ही होते हैं।

इस प्रकार से अनुदयवती और क्षीणकषायगुणस्थान में उदयवती प्रकृतियों के स्पर्धकों को बतलाने के बाद अब अयोगिकेवलीगुणस्थान में अंत होने वाली प्रकृतियों के स्पर्धकों को बतलाते हैं—

अज्जोगिसंतिगाणं उदयवईणं तु तस्स कालेणं ।

एगाहिगेण तुल्लं इयराणं एगहीणं तं ॥१७६॥

शब्दार्थ—अज्जोगिसंतिगाणं—अयोगिगुणस्थान में सत्ता वाली प्रकृतियों का, उदयवईणं—उदयवती, तु—और, तस्स—उसके, कालेणं—काल से, एगाहिगेण—एक अधिक, तुल्लं—तुल्य, इयराणं—इतर—अनुदयवती प्रकृतियों का, एगहीणं—एक हीन, तं—वह (स्पर्धक) ।

माथार्थ—अयोगिगुणस्थान में सत्ता वाली उदयवती प्रकृतियों के एक स्पर्धक से अधिक उसके (अयोगिगुणस्थान के) काल के तुल्य स्पर्धक होते हैं और इतर अनुदयवती प्रकृतियों का एक स्पर्धक न्यून होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में अयोगिकेवलीगुणस्थानवर्ती उदयवती और अनुदयवती प्रकृतियों के स्पर्धकों को बतलाया है। पहले उदयवती प्रकृतियों के स्पर्धकों को बतलाते हैं—

अयोगिकेवलीगुणस्थान में जिनकी सत्ता होती है ऐसी मनुष्यगति, मनुष्यायु, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, सुभग, आदेय, पर्याप्त, बादर, तीर्थकर, यशःकीर्ति, साता-असातावेदनीय में से एक वेदनीय और उच्चगोत्र रूप बारह उदयवती प्रकृतियों का स्पर्धकीत्कर्ष—कुल स्पर्धकों की संख्या—अयोगिकेवलीगुणस्थान के काल के तुल्य है, किन्तु एक स्पर्धक से अधिक जानना चाहिये। यानि अयोगिकेवलीगुणस्थान के काल के जितने समय हैं, उनसे एक स्पर्धक अधिक स्पर्धक होते हैं। जिसका विशद अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—

क्षपितकर्मांश किसी जीव के अयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय में जो सर्वजघन्य प्रदेशसत्ता होती है, वह प्रथम प्रदेशसत्कर्म-स्थान है, एक परमाणु को मिलाने पर दूसरा प्रदेशसत्कर्मस्थान, दो परमाणुओं को मिलाने पर तीसरा प्रदेशसत्कर्मस्थान, इस प्रकार अयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय में वर्तमान अनेक जीवों की अपेक्षा एक-एक परमाणु को मिलाते हुए निरन्तर प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक जानना चाहिये कि उसी समय में वर्तमान गुणितकर्मांश जीव का सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्थान हो। इस प्रकार चरम स्थिति-सम्बन्धी एक स्पर्धक होता है।

इसी प्रकार दो स्थिति शेष रहे तब उस दो स्थिति का दूसरा स्पर्धक होता है, तीन स्थिति शेष रहे तब तीन स्थिति का तीसरा स्पर्धक होता है।

इस तरह निरन्तर अयोगिगुणस्थान के पहले समय पर्यन्त समझना चाहिये तथा सयोगिकेवली के चरम समय में होने वाले चरम स्थिति-व्रात के चरम प्रक्षेप से आरम्भ कर पश्चानुपूर्वी के क्रम से बढ़ते हुए निरन्तर प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक कहना चाहिये यावत् अपनी-अपनी उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है। इस सम्पूर्ण स्थितिसम्बन्धी यथासंभव

एक स्पर्धक होता है। जिससे उस एक स्पर्धक से अधिक अयोगिगुण-स्थान के समयप्रमाण उदयवती प्रकृतियों के स्पर्धक होते हैं।

‘इयराण एगहीणं तं’ अर्थात् इतर—अयोगिकेवलीगुणस्थान में जिनकी सत्ता होती है, उन अनुदयवती प्रकृतियों का उदयवती प्रकृतियों से एक न्यून स्पर्धक होता है। इसका कारण यह है कि अयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय में उन अनुदयवती प्रकृतियों की स्वरूपसत्ता प्राप्त नहीं होती है, जिससे वे चरम स्थिति-सम्बन्धी स्पर्धक से हीन हैं।

इस प्रकार से अयोगिकेवलीगुणस्थान में क्षय होने वाली उदयवती और अनुदयवती प्रकृतियों के स्पर्धकों को बतलाने के बाद पूर्व में जो क्षीणमोहगुणस्थान में जिनका अंत होता है एवं अयोगिकेवलीगुण-स्थान में जिनकी सत्ता होती है, उन उदयवती प्रकृतियों के यथोक्त प्रमाण युक्त जो स्पर्धक एक स्पर्धक से अधिक तथा अनुदयवती प्रकृतियों के स्पर्धक उदयवती प्रकृतियों से एक न्यून कहे हैं, अब कारण सहित दो गाथाओं में उसका विचार करते हैं—

ठिइखंडाणइखुड्डं खीणसजोगीण होइ जं चरिमं ।

तं उदयवईणहियं अन्नगए तूणमियराणं ॥१७७॥

जं समयं उदयवई खिज्जइ दुच्चरिमयं तु ठिइठाणं ।

अणुदयवइए तम्मी चरिमं चरिमंमि जं कमइ ॥१७८॥

शब्दार्थ—ठिइखंडाणइखुड्डं—स्थितिखंडों का अत्यन्त क्षुल्लक, सबसे छोटा अंश, खीणसजोगीण—क्षीणमोह और सयोगिकेवलीगुणस्थान में, होइ—होता है, जं—जो, चरिमं—चरम, तं—वह, उदयवईणहियं—उदयवती प्रकृतियों का अधिक, अन्नगए—अन्यगत, उदयवतीप्रकृतियोंगत, तूणमियराणं—और इतरों का, अणुदयवतीप्रकृतियों का न्यून ।

जं—जिस, समयं—समय, उदयवई—उदयवती प्रकृतियों का, खिज्जइ—क्षय होता है, दुच्चरिमयं—द्विचरम, तु—और, ठिइठाणं—स्थितिस्थान का,

अनुदयवद्—अनुदयवती प्रकृतियों का, तस्मी—उसमें, चरिमं—चरम का, चरिमंमि—चरम समय में, जं कमइ—जो संक्रांत होता है ।

गाथार्थ—क्षीणमोह और सयोगिकेवलीगुणस्थान के अंत में प्राप्त होने वाले स्थितिखंडों के सबसे छोटे अंश, उससे आरम्भ कर अपनी-अपनी उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता पर्यन्त जो प्रदेशसत्कर्मस्थानों का चरम स्पर्धक होता है, वह उदयवती प्रकृतियों का अधिक होता है तथा अनुदयवती प्रकृतियों का चरम समयवर्ती दलिक उदयवती प्रकृतियों में संक्रांत हो जाने से उस चरम समय सम्बन्धी एक स्पर्धक से न्यून होता है ।

जिस समय उदयवती प्रकृतियों के द्विचरम स्थितिस्थान का क्षय होता है, उस समय अनुदयवती प्रकृतियों के चरमस्थान का क्षय होता है । क्योंकि चरम समय में अनुदयवती प्रकृतियों के दलिक उसमें संक्रांत हो जाते हैं ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में क्षीणमोह और अयोगिकेवली-गुणस्थान में उदयवती प्रकृतियों का एक अधिक स्पर्धक और अनुदयवती प्रकृतियों का उदयवती प्रकृतियों से एक न्यून स्पर्धक होने के कारण को स्पष्ट किया है । इन दोनों में से पहले उदयवती प्रकृतियों का एक स्पर्धक अधिक होने के कारण को स्पष्ट करते हैं—

ज्ञानावरणपचक आदि प्रकृतियों का क्षीणकषायगुणस्थान में और अयोगिकेवली के जिन प्रकृतियों की सत्ता है, उन प्रकृतियों के सयोगिकेवलीगुणस्थान में स्थितिघात आदि करते-करते अंतिम स्थितिखंड को उत्कीर्ण करने पर उस खंड के दलिकों का अन्य प्रकृतियों में जो प्रक्षेप होता है, उसमें अंतिम स्थितिघात के चरम समय में अतिशय क्षुल्लक छोटा जो चरम प्रक्षेप होता है, वहाँ से आरम्भ कर पश्चानु-पूर्वी के क्रम से बढ़ने पर अपनी-अपनी सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्ता पर्यन्त जो प्रदेशसत्कर्मस्थान होते हैं, उन प्रदेशसत्कर्मस्थानों का समूह रूप सम्पूर्ण स्थिति का जो एक स्पर्धक होता है, वह एक स्पर्धक क्षीणकषाय

गुणस्थान में जिनका अंत होता है, उन प्रकृतियों में तथा अयोगिकेवली के जिनकी सत्ता होती है उन उदयवती प्रकृतियों में अधिक होता है।

इस प्रकार से उदयवती प्रकृतियों में एक स्पर्धक अधिक होने के कारण को स्पष्ट करने के बाद अब अनुदयवती प्रकृतियों के स्पर्धक उदयवती प्रकृतियों के स्पर्धकों से एक कम होने के कारण को स्पष्ट करते हैं।

जिस समय उदयवती प्रकृतियों का द्विचरम उपान्त्य—अंतिम से पूर्व के स्थितिस्थान का स्व-स्वरूप से अनुभव करते हुए क्षय होता है, उस समय अनुदयवती प्रकृतियों के चरम स्थितिस्थान का क्षय होता है। क्योंकि उदयवती प्रकृतियों के चरम समय में अनुदयवती प्रकृतियों के दलिक स्तिबुकसंक्रम द्वारा सक्रमित हो जाते हैं, जिससे उदयवती प्रकृतियों के द्विचरम समय में ही अनुदयवती प्रकृतियों का क्षय होता है। इसलिये चरम समय में अनुदयवती प्रकृतियों का दलिक स्वरूपसत्ता से नहीं होता है। जिससे उस चरम समय सम्बन्धी एक स्पर्धक से न्यून उन अनुदयवती प्रकृतियों के स्पर्धक होते हैं। इस कथन का सारांश यह है—

चरमस्थितिघात के चरम प्रक्षेप से आरम्भ कर सम्पूर्ण स्थिति का जो स्पर्धक उदयवती प्रकृतियों में होता है, वह अनुदयवती में भी होता है, लेकिन उदयवती से अनुदयवती में एक स्पर्धक कम होता है। क्योंकि उदयवती प्रकृतियों का चरम समय में स्वस्वरूप से दलिक अनुभव होता है, जिसमें उनका चरम समयाश्रित स्पर्धक होता है परन्तु अनुदयवती प्रकृतियों का उदयवती प्रकृतियों में स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रमण हो जाने से चरम समय में उनके दलिक स्वस्वरूप से अनुभव नहीं होते हैं, जिसमें चरमसमयाश्रित एक स्पर्धक उनका नहीं होता है। इसी कारण उस एक स्पर्धक से हीन अनुदयवती प्रकृतियों के स्पर्धक होते हैं।

इस प्रकार से क्षीणमोह और अयोगिकेवली गुणस्थानसम्बन्धी उदयवती और अनुदयवती प्रकृतियों के स्पर्धकों विषयक स्पष्टीकरण

करने के बाद अब यह स्पष्ट करते हैं कि संज्वलन लोभ और यशः कीर्ति का दूसरे प्रकार से भी एक स्पर्धक होता है—

जावइया उ ठिईओ जसंतलोभाणहापवत्तंते ।

तं इगिफड्डं संते जहन्नयं अकयसेडिस्स ॥१७६॥

शब्दार्थ—जावइया—जितनी, उ—और, ठिईओ स्थितियाँ, जसंतलोभाणहापवत्तंते—यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में यशःकीर्ति और अंतिम लोभ—संज्वलन लोभ की, तं—उसका, इगिफड्डं—एक स्पर्धक, संते—सत्ता में, जहन्नयं—जघन्य, अकयसेडिस्स—जिसने श्रेणि नहीं की है ।

गाथार्थ—जिसने श्रेणि नहीं की है, ऐसे जीव के यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में यशःकीर्ति और संज्वलन लोभ की जितनी स्थितियाँ सत्ता में हों, उनका एक जघन्य स्पर्धक होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में यशःकीर्ति और संज्वलन लोभ का दूसरे प्रकार से भी एक स्पर्धक होने के कारण को स्पष्ट किया है—

कोई एक अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति की सत्ता वाला जीव त्रस में उत्पन्न हो और वहाँ चार बार मोहनीयकर्म की सर्वोपशमना किये बिना ही शेष कर्मपुद्गलों की सत्ता को कम करने के लिये होने वाली क्षपितकर्मांश क्रिया के द्वारा प्रभूत कर्मपुद्गलों का क्षय करके और दीर्घकाल पर्यन्त संयम का पालन करके मोहनीय का क्षय करने के लिये क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हो तो उस क्षपितकर्मांश जीव के यथा-प्रवृत्तकरण के चरम समय में जितनी स्थितियाँ - स्थितिस्थान सत्ता में हों और उन समस्त स्थानों में जो सबसे कम प्रदेशों की सत्ता हो, उसके समूह का पहला जघन्य प्रदेशसत्कर्मस्थान होता है । उसके बाद वहाँ से आरम्भ कर भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा एक-एक परमाणु की वृद्धि होने पर इसी यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में निरन्तर प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक कहना चाहिये यावत् गुणितकर्मांश जीव का सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्थान होता है । इन समस्त प्रदेशसत्कर्म

स्थानों का समूह रूप एक स्पर्धक संज्वलन लोभ और यशःकीर्ति इन दो प्रकृतियों में उपशमश्रेणि नहीं करने वाले को होता है ।

पूर्व में यशःकीर्ति के अयोगिकेवलीगुणस्थान में जो एक अधिक समय प्रमाण स्पर्धक कहे हैं, उनमें इस रीति से एक स्पर्धक अधिक होता है ।

यहाँ त्रस के भवों में श्रेणि करने के सिवाय ऐसा जो कहा है, उसका कारण यह है कि यदि उपशमश्रेणि करे तो अन्य प्रकृतियों के प्रभून दलिक गुणसंक्रम द्वारा उक्त दो प्रकृतियों में संक्रमित हों और उससे जघन्य प्रदेशसत्कर्म घटित नहीं हो सकता है । इसलिये श्रेणि नहीं करने वाले के होता है, यह कहा है ।

अब उद्वलनयोग्य एवं हास्यषट्क प्रकृतियों के स्पर्धकों को बतलाते हैं—

अणुदयतुल्लं उद्वलणिगाण जाणिज्ज दीहउद्वलणे ।

हासाईणं एगं संछोभे फड्डगं चरमं ॥१८०॥

शब्दार्थ—अणुदयतुल्लं—अनुदयवती प्रकृतियों के तुल्य, उद्वलणिगाण—उद्वलन योग्य प्रकृतियों के, जाणिज्ज—जानो, दीहउद्वलणे—चिरोद्वलना करने पर, हासाईणं—हास्यादि प्रकृतियों का, एगं—एक, संछोभे—संक्षोभ-प्रक्षेप, संक्रमण से, फड्डगं—स्पर्धक, चरमं—चरम, अन्तिम ।

गाथार्थ—उद्वलनयोग्य प्रकृतियों के स्पर्धक उनकी चिरो-द्वलना करने पर अनुदयवती प्रकृतियों के तुल्य जानो और हास्यादि प्रकृतियों का चरम प्रक्षेप से आरम्भ कर एक स्पर्धक होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में पहले उद्वलनयोग्य प्रकृतियों के स्पर्धकों का निर्देश करते हुए बताया है कि 'अणुदयतुल्लं जाणिज्ज' अर्थात् अनु-

दयवती प्रकृतियों के स्पर्धकों के तुल्य जानना चाहिये । विशदता के साथ जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उद्वलनयोग्य तेईस प्रकृतियों की पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाणकाल द्वारा उद्वलना करने पर उनके स्पर्धक अनुदयवती प्रकृतियों के तुल्य जानना चाहिये । अर्थात् पहले जो अनुदयवती प्रकृतियों के आवलिका के समयप्रमाण स्पर्धक बताये हैं, उसी प्रकार उद्वलनयोग्य प्रकृतियों के भी समझना चाहिये ।

अब उक्त कथन को नामोल्लेखपूर्वक पृथक्-पृथक् उद्वलनयोग्य प्रकृति पर घटित करते हैं । उसमें भी पहले सम्यक्त्वमोहनीय के स्पर्धकों को बतलाते हैं—

अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति की सत्ता वाला कोई जीव त्रस में उत्पन्न हो और वहाँ सम्यक्त्व तथा देशविरति-देशचारित्र को अनेक बार प्राप्त करके एवं चार बार मोहनीय का सर्वोपशम करके तथा एक सौ बत्तीस सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्व का पालन करके मिथ्यात्व में जाये और वहाँ चिरोद्वलना के द्वारा पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल से सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वलना करने पर जब अन्तिम स्थितिखंड संक्रांत हो जाये और एक आवलिका शेष रहे तब उसे भी स्तिबुकसंक्रम के द्वारा मिथ्यात्वमोहनीय में संक्रांत करते दो समयमात्र जिसका अवस्थान है, ऐसी एक स्थिति शेष रहे तब कम से कम जो प्रदेशसत्ता होती है वह सम्यक्त्वमोहनीय का जघन्य प्रदेश-सत्कर्मस्थान कहलाता है ।

वहाँ से प्रारम्भ कर अनेक जीवों की अपेक्षा एक-एक परमाणु की वृद्धि होने पर निरन्तर प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उसी चरम स्थितिस्थान में गुणितकर्मांश जीव का सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्थान हो जाये । इन अनन्त प्रदेशसत्कर्मस्थानों का पहला एक स्पर्धक होता है । स्वरूपसत्ता से दो समयस्थिति शेष रहे तब पूर्वोक्त क्रम मे दूसरा स्पर्धक होता है । इस प्रकार वहाँ तक कहना

चाहिये यावत् समयोन आवलिका प्रमाण स्पर्धक होते हैं तथा चरम स्थितिघात के चरमप्रक्षेप से लेकर पूर्व में जैसा कहा गया है उस रीति से एक स्पर्धक होता है। इस प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय के आवलिका के समयप्रमाण कुल स्पर्धक होते हैं।

इसी प्रकार से मिश्रमोहनीय के स्पर्धकों का भी विचार करना चाहिये।

इसी तरह शेष वैक्रियएकादश, आहारकसप्तक, उच्चगोत्र और मनुष्यद्विक रूप उद्वलनयोग्य इक्कीस प्रकृतियों के भी स्पर्धक समझना चाहिये परन्तु इतना विशेष है कि एक सौ बत्तीस सागरोपम प्रमाणकाल मूल से नहीं कहना चाहिये अर्थात् पहले जो एक सौ बत्तीस सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्व का पालन करना कहा गया है, वह नहीं कहना चाहिये।^१

इस प्रकार से उद्वलनयोग्य प्रकृतियों के स्पर्धकों को बतलाने के बाद अब हास्यादि षट्क प्रकृतियों के स्पर्धकों का निर्देश करते हैं—

हास्यादि छह प्रकृतियों का जब चरमप्रक्षेप, संक्रमण होता है, तब वहाँ से आरम्भ कर एक स्पर्धक होता है। जो इस प्रकार जानना चाहिये कि अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति की सत्ता वाला कोई जीव त्रस में उत्पन्न हो और वहाँ सम्यक्त्व एवं देशविरति अनेक बार प्राप्त करके और चार बार मोहनीय का उपशमन करके तथा स्त्रीवेद और नपुंसकवेद को बारंबार बंध द्वारा तथा हास्यादि के दलिकों को संक्रमण द्वारा अच्छी तरह से पुष्ट करके मनुष्य हो और मनुष्य में चिरकाल तक संयम का पालन करके उन प्रकृतियों का क्षय करने के

१ कर्मप्रकृति सत्ताधिकार गाथा ४७ में उद्वलन प्रकृतियों का जो एक स्पर्धक कहा है, वह उपलक्षक जानना चाहिये, किन्तु शेष स्पर्धकों का निषेध करने वाला नहीं समझना चाहिये। जिससे यहाँ के वर्णन से विरोध नहीं है।

लिये प्रयत्नशील हो तब क्षपकश्चेणि में क्षय करते-करते चरम समय में जो अन्तिम क्षेपण होता है, उस समय में इन हास्यादि प्रकृतियों की जो सर्वजघन्य प्रदेशसत्ता होती है, वह पहला सर्वजघन्य प्रदेश-सत्कर्मस्थान है। तत्पश्चात् वहाँ से आरंभ कर नाना जीवों की अपेक्षा से एक-एक परमाणु की वृद्धि करते हुए निरन्तर प्रदेशसत्कर्मस्थान तब तक कहना चाहिये, यावत् गुणितकर्मांश जीव का सर्वोत्कृष्ट प्रदेश-सत्कर्मस्थान होता है। उन अनन्ते प्रदेशसत्कर्मस्थानों का समूह स्पर्धक कहलाता है।

इस प्रकार से हास्यादि षट्क प्रकृतियों में से प्रत्येक का एक-एक स्पर्धक होता है। अब संज्वलनत्रिक—संज्वलन क्रोध, मान, माया तथा पुरुष, स्त्री, नपुंसक वेद के स्पर्धकों का प्रतिपादन करते हैं—

बंधावलियाईयं आवलिकालेण बीड्ठिड्हितो ।

लयठाणं लयठाणं नासेई संकमेणं तु ॥१८१॥

संजलणतिगे दुसमयहीणा दो आवलीण उक्कोसं ।

फड्डं विईय ठिइए पढमाए अणुदयावलिया ॥१८२॥

आवलियदुसमऊणामेत्तां फड्डं तु पढमठिइविरमे ।

वेयाण वि वे फड्डा ठिइदुगं जेण तिण्हंपि ॥१८३॥

शब्दार्थ—बंधावलियाईयं—बंधावलिका व्यतीत हो गई है, आवलिकालेण—आवलिका काल द्वारा, बीड्ठिड्हितो—दूसरी स्थिति में से, लयठाणं—लता-स्थान, लयठाणं—लतास्थान, नासेई—नाश होता है, संकमेणं—संक्रान्त करने के द्वारा, तु—और ।

संजलणतिगे—संज्वलनत्रिक की, दुसमयहीणा—दो समय न्यून, दो—दो, आवलीण—आवलिका का, उक्कोसं—उत्कृष्ट, फड्डं—स्पर्धक, विईय—द्वितीय, ठिइए—स्थिति में, पढमाए—प्रथम स्थिति में, अणुदयावलिया—अनुदयावलिका ।

आवलिय—आवलिका, वुसमऊणा—दो समय न्यून, मेत्त—मात्र, फड्डं—स्पर्धक, तु—और, पढमठिइबिरमे—प्रथम स्थिति के नाश होने पर, वेयाण—वेदों के, वि—भी, बे—दो, फड्डा—स्पर्धक, ठिइदुगं—दो स्थिति, जेण—क्योंकि, तिण्हपि—तीनों की भी ।

गाथार्थ—जिस-जिस लता की बंधावलिका व्यतीत हो गई है, उस-उस संज्वलनत्रिक के लतास्थान को दूसरी स्थिति में से अन्य प्रकृतियों में संक्रान्त करने के द्वारा नाश करता है तथा जब तक प्रथम स्थिति में अनुदयावलिका शेष है, तब तक दूसरी स्थिति में दो समय न्यून दो आवलिका प्रमाण उत्कृष्ट स्पर्धक होता है और जब प्रथम स्थिति का नाश होता है तब समय न्यून आवलिका प्रमाण स्पर्धक होता है ।

वेदों के भी दो स्पर्धक होते हैं, क्योंकि उन तीनों की भी दो स्थिति हैं ।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओं में विस्तार से संज्वलनत्रिक एवं वेदत्रिक के स्पर्धकों का विचार किया गया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

संज्वलन क्रोध, मान और माया की प्रथम स्थिति की जब तक एक आवलिका शेष न रही हो, तब तक उनमें स्थितिघात, रसघात, बन्ध, उदय और उदीरणा होती है और जब प्रथम स्थिति एक आवलिका प्रमाण बाकी रहे तब उन स्थितिघातादि का विच्छेद होता है । उसके बाद के समय में यानि अबंध के प्रथम समय में प्रथम स्थिति के सम-योन एक आवलिका के दलिक और दो समय न्यून दो आवलिका काल में बंधे हुए दलिक मात्र सत्ता में होते हैं, शेष दूसरे सभी दलिकों का क्षय हो जाता है ।

इनमें से प्रथम स्थिति के समयन्यून आवलिका प्रमाण दलिक के स्पर्धकों का विचार तो पूर्व में किये गये स्त्यानद्धित्रिक आदि के

स्पर्धकों के निर्देशानुसार यहाँ भी कर लेना चाहिये । परन्तु दो समय न्यून आवलिका काल में बंधा हुआ जो दलिक सत्ता में है उसके स्पर्धक का विचार दूसरे प्रकार से किया जाता है । क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से स्पर्धक घटित नहीं हो सकते हैं ।

प्रश्न—यह कैसे जाना जा सकता है कि स्थितिघात, रसघात, बंध, उदय और उदीरणा का जिस समय विच्छेद होता है, उसके बाद के समय में दो समयन्यून दो आवलिका काल में बंधा हुआ दलिक शेष रहता है, किन्तु अधिक समय का बंधा हुआ दलिक नहीं रहता है ?

उत्तर—किसी भी विवक्षित एक समय में बंधे हुए कर्मदलिक की निषेकरचना लतास्थान कहलाती है । अब उस प्रत्येक लतास्थान की अर्थात् समय-समय में बंधे हुए, उस कर्मदलिक की जब बंधावलिका व्यतीत हो तब उसे दूसरी स्थिति में से आवलिका मात्र काल में संक्रान्त करने के द्वारा—अन्य प्रकृति रूप में करने के द्वारा—नाश कर ता है ।

उक्त कथन का तात्पर्य यह हुआ कि जिस समय कर्मबन्ध होता है, उस समय से एक आवलिका व्यतीत होने के बाद उसे एक आवलिका काल द्वारा अन्य प्रकृति में संक्रान्त करके दूर करता है । किसी भी एक समय के बंधे हुए दलिक को दूर करने में एक आवलिका काल लगता है । अर्थात् जिस समय कर्मबन्ध हुआ वह कर्म उस समय से दूसरी आवलिका के चरम समय में दूर होता है और उससे किसी भी समय बंधी हुई कर्म की सत्ता दो आवलिका रहती है ।

किसी भी समय बन्धे हुए कर्मदलिक की सत्ता दो आवलिका शेष रहने का कारण यह है—

क्रोधादि का अनुभव करते हुए चरम समय में बंधविच्छेद के समय में जो कर्मदलिक बांधा है, उस बंधावलिका के जाने के बाद आवलिका मात्र काल में अन्य प्रकृति रूप में करते-करते संक्रमावलिका के चरम समय में स्वरूप सत्ता की अपेक्षा उस कर्मदलिक का नाश करता है, द्विचरम समय में क्रोधादि का वेदन करते हुए जिस कर्म

का बंध किया, उसका भी बंधावलिका के व्यतीत होने के बाद आवलिकामात्र काल द्वारा संक्रम करते-करते संक्रमावलिका के चरम समय में स्वरूपसत्ता की अपेक्षा नाश करता है। इस प्रकार जो कर्म जिस समय में बंधा वह कर्म उस समय से लेकर दूसरी आवलिका के चरम समय में स्वरूपसत्ता की अपेक्षा दूर होता है, यह सिद्ध हुआ। ऐसा होने से बंधविच्छेद समय से समयन्यून दो आवलिका काल में बंधे हुए कर्मदलिक की सत्ता का बंधाभाव के पहले समय में नाश होता है। जिससे बंधादि के अभाव के प्रथम समय में दो समयन्यून दो आवलिका में बंधे हुए कर्मदलिक की ही सत्ता संभव है, अन्य किसी भी समय के बंधे हुए कर्मदलिक की सत्ता सम्भव नहीं है। सरलता से समझने के लिए इसी बात को एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

यथार्थतः तो असंख्यात समय प्रमाण आवलिका के होने पर भी यहाँ अस्तकल्पना से उसको चार समय प्रमाण मान लें। अब जिस समय बंधादि का विच्छेद होता है, उस समय से लेकर पहले के आठवें समय में जो कर्म बांधा, वह कर्म उस समय से लेकर चार समय प्रमाण बंधावलिका के जाने के बाद चार समयप्रमाण दूसरी आवलिका द्वारा अन्य प्रकृति में संक्रांत होते-होते संक्रमावलिका के चरम समय में कि जिस समय बंधादि का विच्छेद होता है, उस समय सर्वथा स्वरूप से सत्ता में नहीं रहता है। क्योंकि वह सबका सब पर में संक्रांत हो जाता है। जिससे जिस समय अन्तिम बंध होता है उस समय समयोन आवलिकाद्विक काल में बंधा हुआ कर्मदलिक सत्ता में होता है तथा बंधविच्छेद समय से सातवें समय में जो कर्म बांधा, वह कर्म चार समय प्रमाण आवलिका द्वारा अन्य प्रकृति रूप होते-होते जिस समय बंधादि का विच्छेद हुआ उससे पीछे के अर्थात् अबंध के पहले समय में स्वस्वरूप से सत्ता में नहीं होता है क्योंकि वह सभी परप्रकृतिरूप में हो गया है। जिससे अबंध के पहले समय में बंधविच्छेद-समय से छठे आदि समय का बंधा हुआ कर्मदल सत्ता में

होता है। यहाँ आवलिका के चार समय माने जाने से छह समय अर्थात् दो आवलिका में दो समयन्यून काल होता है। इसीलिए यह कहा गया है कि बंधादि का विच्छेद होने के बाद अनन्तर समय में दो समयन्यून दो आवलिका काल में बंधा हुआ कर्म ही सत्ता में होता है, उससे अधिक समय का बंधा हुआ कर्म सत्ता में नहीं होता है।

बंधादि के विच्छेद के समय जघन्य योग से जो कर्म बांधा, उस कर्म को उसकी बंधावलिका के जाने के बाद अन्य आवलिका द्वारा अन्यत्र संक्रांत करते हुए संक्रमावलिका के चरम समय में अभी भी पर में संक्रांत नहीं किया है, परन्तु जितना कर्मदल पर में संक्रमित करेगा, उतना संज्वलन क्रोध का जघन्य प्रदेशसत्कर्मस्थान कहलाता है तथा बंधादि के विच्छेद के समय यथासम्भव जघन्य योग से बाद योग-स्थान में रहते जो कर्म बांधा उसकी बंधावलिका के जाने के बाद संक्रांत करते-करते संक्रमावलिका के चरम समय में जितना सत्ता में होता है, उसको दूसरा प्रदेशसत्कर्मस्थान कहते हैं। इस रीति से वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट योगस्थान में रहते बंधादि के विच्छेद के समय जो कर्म बांधा उसको संक्रांत करते-करते संक्रमावलिका के चरम समय में जितना कर्मदल सत्ता में हो, उसे संज्वलन क्रोध का सर्वोत्कृष्ट चरमप्रदेशसत्कर्मस्थान कहते हैं।

इस प्रकार नौवें गुणस्थान में जो जघन्य योगस्थान सम्भव हो उस योगस्थान से लेकर सम्भव उत्कृष्ट योगस्थान पर्यन्त जितने योग-स्थान घटित हो सकते हैं, उतने प्रदेशसत्कर्मस्थान चरम समय में होते हैं। उन समस्त प्रदेशसत्कर्मस्थान के समूह का पहला स्पर्धक होता है। इस तरह जिस समय बंधादि का विच्छेद होता है, उससे पूर्व के समय में जघन्य योग आदि के द्वारा जो कर्म बंधता है, उस कर्मदल का उस समय से लेकर दूसरी आवलिका के चरम समय में पहले जघन्य प्रदेशसत्कर्मस्थान से प्रारम्भ कर उत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्म-

स्थान पर्यन्त चरम समय में बंधे हुए दलिक का जिस रीति से और जितने प्रदेशसत्कर्मस्थानों का विचार किया गया है, उसी रीति से आगे उतने प्रदेशसत्कर्मस्थान यहाँ भी जानना चाहिये। परन्तु यह समझना चाहिये कि मात्र दो स्थितिस्थान के हुए हैं। इसका कारण यह है कि बंधविच्छेद रूप चरम समय में बंधे हुए दलिक की भी उस समय सत्ता है। इस प्रकार असंख्य सत्कर्मस्थानों के समूह का दूसरा स्पर्धक होता है।

असत्कल्पना से चार समय प्रमाण आवलिका मानने पर बंध-विच्छेद होने के बाद के समय में अर्थात् अबंध के पहले समय में छह समय के बंधे हुए दलिक की सत्ता होती है। अबंध के दूसरे समय में पांच समय के बंधे हुए, अबंध के तीसरे समय में चार समय के बंधे हुए, अबंध के चौथे समय में तीन समय के बंधे हुए, अबंध के पांचवें समय में दो समय के बंधे हुए और अबंध के छठे समय में मात्र बंध-विच्छेद के समय में बंधे हुए दलिक की ही सत्ता होती है। इस प्रकार होने से तीन समय स्थिति का उपर्युक्त रीति से तीसरा स्पर्धक, चार समय स्थिति का चौथा स्पर्धक, पांच समय स्थिति का पांचवां स्पर्धक और छह समय स्थिति का छठा स्पर्धक होता है। अब इसी कल्पना को यथार्थ रूप में स्पष्ट करते हैं—

बंधादि विच्छेद के त्रिचरम समय में अर्थात् चरम समय से तीसरे समय में जघन्य योगादि के द्वारा जो दलिक बंधता है, उसके उस बंधसमय से लेकर दूसरी आवलिका के चरम समय में पूर्व की तरह उतने ही प्रदेशसत्कर्मस्थान होते हैं, मात्र वे तीन स्थिति के होते हैं। क्योंकि उस समय बंधादि के विच्छेद के समय में बंधे हुए तीन समय की स्थिति वाले दलिक की सत्ता होती है एवं द्विचरम समय में बंधे हुए दो समय की स्थिति वाले दलिक की भी सत्ता होती है। इस तरह असंख्य प्रदेशसत्कर्मस्थानों के समूह का तीसरा स्पर्धक होता है।

इस प्रकार दो समय न्यून दो आवलिका के जितने समय उतने स्पर्धक जानना चाहिये ।

संज्वलन क्रोध के स्पर्धकों की तरह संज्वलन मान और माया के भी उतने ही और उसी प्रकार से स्पर्धक जानना चाहिये । बंध-विच्छेद होने से बाद के समय दो समय न्यून दो आवलिका काल में बंधे हुए दलिकों की ही सत्ता होने से उतनी स्थिति का उत्कृष्ट स्पर्धक होता है ।

प्रश्न—अबंध के प्रथम समय में प्रथम स्थिति की समयन्यून एक आवलिका और दूसरी स्थिति में दो समयन्यून दो आवलिका शेष होने से कुल तीन समयन्यून तीन आवलिका प्रमाण उत्कृष्ट स्पर्धक होना चाहिये । फिर दो समयन्यून दो आवलिका प्रमाण उत्कृष्ट स्पर्धक क्यों कहा है ?

उत्तर—यह प्रश्न तभी सम्भव है, जबकि सत्ता में रही हुई तीन समयन्यून तीन आवलिका अनुक्रम से दूर होती हों । परन्तु वैसा होता नहीं है । प्रथम स्थिति में से और दूसरी स्थिति में से एक साथ ही कम होती जाती है जिससे जब प्रथम स्थिति दूर होती है तब दो समय न्यून एक आवलिका प्रमाण दूसरी स्थिति सत्ता में रहती है । जिससे दो समय न्यून दो आवलिका के समय प्रमाण ही उत्कृष्ट स्पर्धक सम्भव है, इससे अधिक का सम्भव नहीं ।

अब वेदों के स्पर्धकों का निर्देश करते हैं—

‘वेद्याणवि वे फड्डा’—अर्थात् संज्वलन कषायत्रिक के समान ही पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद रूप वेदत्रिक के भी दो-दो स्पर्धक होते हैं । इसका कारण यह है कि तीनों वेदों की प्रथम स्थिति और दूसरी स्थिति इस तरह दो स्थिति हैं । जिससे प्रत्येक वेद के दो स्पर्धक होते हैं ।

अब वेदत्रिक के उक्त दो स्पर्धक होने के संक्षिप्त संकेत का सयुक्तिक विशेष कथन आगे की दो गाथाओं में करते हैं—

पढमठिइचरमुदये बिइयठिईए व चरमसंछोभे ।

दो फड्डा वेयाणं दो इगि संतं हवा एए ॥१८४॥

चरमसंछोभसमए एगा ठिई होइ त्थीनपुंसाणं ।

पढमठिईए तदंते पुरिसे दाआलि दुसमूणं ॥१८५॥

शब्दार्थ—पढमठिइचरमुदये—प्रथम स्थिति के चरम समय के उदय में, बिइयाठिइए—द्वितीय स्थिति, व—और, चरमसंछोभे—चरम प्रक्षेप में, दो—दो, फड्डा—स्पर्धक, वेयाणं—वेदत्रिक के, दो इगि—दूसरी और पहली, संतं—सत्ता, हवा—अथवा, एए—ये दो स्पर्धक) ।

चरमसंछोभसमए—चरम प्रक्षेप के समय में, एगा—प्रथम, ठिई—स्थिति, होइ—होती है, त्थीनपुंसाण—स्त्री और नपुंसकवेद की, पढमठिईए—प्रथम स्थिति के, तदंते—उसके अंत में, पुरिसे—पुरुषवेद की, दाआलि—दो आवलिका, दुसमूणं—दो समय न्यून ।

गाथार्थ—प्रथम स्थिति के चरम समय के उदय और द्वितीय स्थिति के चरम प्रक्षेप में, इस तरह वेदत्रिक के दो स्पर्धक होते हैं । अथवा दोनों स्थितियों की सत्ता रहने तक का एक स्पर्धक और पहली या दूसरी कोई भी एक स्थिति शेष रहने उसका एक स्पर्धक, इस प्रकार प्रत्येक वेद के दो स्पर्धक होते हैं ।

स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के चरम प्रक्षेप के समय प्रथम स्थिति का एक समय शेष रहता है और पुरुषवेद का प्रथम स्थिति के अन्त में दो समयों दो आवलिका शेष रहती हैं ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में वेदत्रिक के दो स्पर्धक होने के कारण को विशेषता के साथ स्पष्ट किया है—

‘पढमठिईचरमुदए’ अर्थात् प्रथम स्थिति के चरम समय का जब उदय हो तब उस चरम स्थिति का एक स्पर्धक होता है और ‘बिइय-ठिई चरम संछोभे’ यानि दूसरी स्थिति के चरम प्रक्षेप-संक्रम में

लेकर अपने-अपने उत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्थान पर्यन्त दूसरा स्पर्धक होता है। इस प्रकार प्रत्येक वेद के दो-दो स्पर्धक होते हैं—‘दो फड्ढावेयाणं।

वेदत्रिक के दो-दो स्पर्धक होने के स्पष्टीकरण का यह पहला प्रकार है। अब दूसरे प्रकार से उनके दो-दो स्पर्धक होने के विचार को स्पष्ट करते हैं—

अभव्यप्रायोग्य जघन्य प्रदेश की सत्तावाला कोई जीव त्रस में उत्पन्न हो, वहाँ पर अनेक बार देशविरति एवं सर्वविरति को प्राप्त कर एवं चार बार मोहनीय की उपशमना कर और एक सौ बत्तीस सागरोपमपर्यन्त सम्यक्त्व का पालन कर और सम्यक्त्व से च्युत न होते हुए नपुंसकवेद के उदय से क्षपकश्चेण पर आरूढ़ हो, वहाँ नपुंसकवेद की प्रथम स्थिति के द्विचरम समय में वर्तमान दूसरी स्थिति में का चरमस्थितिखंड अन्यत्र संक्रामित हो जाता है और वैसा होने से उपरितन दूसरी स्थिति सम्पूर्ण रूप से निर्लेप हो जाती है, मात्र प्रथमस्थिति के चरम समय की ही सत्ता रहती है। उस समय जो सर्वजघन्य प्रदेश सत्ता होती है, वह पहला जघन्य प्रदेशसत्कर्मस्थान कहलाता है, एक परमाणु के मिलाने पर दूसरा, दो परमाणु के मिलाने पर तीसरा प्रदेश सत्कर्मस्थान होता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा एक-एक परमाणु की वृद्धि से होने वाले प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक कहना चाहिये यावत् गुणितकर्मांश जीव का सर्वोत्कृष्ट प्रदेश-सत्कर्मस्थान होता है। इन अनन्त प्रदेशसत्कर्मस्थानों के समूह का एक स्पर्धक होता है तथा—

दूसरी स्थिति के चरम खंड को संक्रांत करते हुए चरमसमय में पूर्वोक्त प्रकार से जो सर्व जघन्य प्रदेशसत्कर्मस्थान होता है, वहाँ से आरम्भ कर भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा उत्तरोत्तर वृद्धि से होने वाले निरंतर प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक कहना चाहिये, यावत्

गुणितकर्मांश जीव का सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्थान होता है। इन सभी प्रदेशसत्कर्मस्थानों के समूह का दूसरा स्पर्धक होता है।

इस प्रकार से नपुंसकवेद के दो स्पर्धक होते हैं। स्त्रीवेद के भी इसी प्रकार दो स्पर्धक समझ लेना चाहिये और पुरुषवेद के दो स्पर्धक इस प्रकार जानना चाहिये—

उदय के चरम समय में जो सर्वजघन्यप्रदेश की सत्ता होती है, वहाँ से लेकर भिन्न-भिन्न जीवों को अपेक्षा एक-एक परमाणु की वृद्धि से होने वाले निरन्तर प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् गुणितकर्मांश जीव का उत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्थान होता है। इन अनन्त प्रदेशसत्कर्मस्थानों का पहला स्पर्धक है तथा दूसरी स्थिति सम्बन्धी चरमखंड को संक्रांत करने पर उदय के चरम समय में जो सर्वजघन्य प्रदेश की सत्ता होती है, वहाँ से लेकर पहले स्पर्धक के समान दूसरा स्पर्धक होता है।

अथवा प्रकारान्तर से दो स्पर्धक की प्ररूपणा इस तरह से जानना चाहिये—

जब तक किसी भां वेद की पहली स्थिति और दूसरी स्थिति सत्ता में हो वहाँ तक जघन्य प्रदेशसत्कर्मस्थान से आरम्भ कर उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता तक का एक स्पर्धक होता है और दोनों में से किसी भी एक स्थिति का क्षय होने पर पहली स्थिति अथवा दूसरी स्थिति जब शेष रहे तब उससे सम्बन्धी दूसरा स्पर्धक होता है—‘दो इगि संतं हवा एए !’

इस प्रकार पहली और दूसरी दोनों स्थितियों का एक स्पर्धक और दोनों में से एक स्थिति शेष रहे उसका एक, इस तरह वेद के दो-दो स्पर्धक होते हैं।

इस प्रकार से प्रत्येक वेद के दो-दो स्पर्धक होने के कारण को स्पष्ट करने के बाद अब यह स्पष्ट करते हैं कि प्रत्येक वेद की प्रथम-स्थिति के अन्त में कितना-कितना समय शेष रहता है—

स्त्रीवेद और नपुंसकवेद की दूसरी स्थिति के चरम स्थितिघात के चरम संछोभ—संक्रम के समय प्रथम स्थिति का एक समय मात्र शेष रहता है, और पुरुषवेद की प्रथम स्थिति का अनुभव करते हुए जब क्षय होता है तब दूसरी स्थिति का दो समयन्यून दो आवलिका काल में बंधा हुआ दलिक सत्ता में शेष रहता है। दो समयन्यून दो आवलिका काल में बंधा हुआ दलिक जब शेष रहता है तब उस अवेदो जीव के संज्वलनत्रिक में किये गये कथन के अनुरूप दो समयन्यून दो आवलिका प्रमाण स्पर्धक समझना चाहिये।

इस प्रकार समग्ररूपेण अधिकृत विवेचनीय विषयों का विवेचन हो जाने से बंधविधि नामक अधिकार की प्ररूपणा पूर्ण होती है और इसके साथ ही कर्मसिद्धान्त का निरूपण करने वाले पंचसंग्रह नामक ग्रन्थ का योगोपयोगमार्गणा आदि पांच विषयों का संग्राहक पंचम भाग भी समाप्त होता है।



पंचसंग्रह
बन्धविधि प्ररूपणा अधिकार
परिशिष्ट

बंधविधि-प्ररूपणा अधिकार की मूल गाथाएँ

गाथा

बद्धस्सुदओ उदए उदीरणा तदवसेसयं संतं ।
तम्हा बन्धविहाणे भन्नन्ते इइ भणियव्वं ॥१॥
जा अपमत्तो सत्तट्ठबंधगा सुहुमळ्हमेगस्स ।
उवसंतखीणजोगी सत्तण्हं नियट्ठिमीसअनियट्ठी ॥२॥
जा सुहुमसंपराओ उइन्न संताई ताव सव्वाइं ।
सत्तट्ठुवसंते खीणे सत्त सेसेसु चत्तारि ॥३॥
बंधंति सत्त अट्ठ व उइन्न सत्तट्ठगा उ सव्वे वि ।
सत्तट्ठेगबंधगभंगा पज्जत्तसन्निमि ॥४॥
जाव पमत्तो अट्ठण्हुदीरगो वेयआउवज्जाणं ।
सुहुमो मोहेण य जा खीणो तप्परओ नामगोयाणं ॥५॥
जाबुदओ ताव उदीरणा वि वेयणीय आउवज्जाणं ।
अद्धावलिया सेसे उदए उ उदीरणा नत्थि ॥६॥
सायासायाऊणं जाव पमत्तो अजोगि सेसुदओ ।
जा जोगि उईरिज्जइ सेसुदया सोदयं जाव ॥७॥
निदाउदयवईणं समिच्छपुरिसाण एगचत्ताणं ।
एयाणं चिय भज्जा उदीरणा उदए नन्नासि ॥८॥
होइ अणाइअणंतो अणाइसंतो य साईसंतो य ।
बंधो अभव्व भव्वोवसंतजीवेसु इइ तिविहो ॥९॥
पयडीठिईपएसाणुभागभेया चउव्विहेक्केक्को ।
उक्कोसाणुक्कोस जहन्न अजहन्नया तेसि ॥१०॥
तेवि हु साइ-अणाई-धुव-अधुवभेयओ पुणो चउहा ।
ते दुविहा पुण नेया मूलुत्तरपयइभेएणं ॥११॥

भूओगारप्पयरग अव्वत्त अवट्ठिओ य विन्नेया ।
 मूलुत्तरपगइबंधणासिया ते इमे सुणसु ॥१२॥
 इगछाइ मूलियाणं बंधट्ठाणा ह्वति चत्तारि ।
 अबंधगो न बंधइ इइ अव्वत्तो अओ नत्थि ॥१३॥
 भूओगारप्पयरगअव्वत्त अवट्ठिया जहा वंधे ।
 उदओदीरणसंतेसु वावि जहसंभवं नेया ॥१४॥
 बंधट्ठाणा तिदसट्ठ दंसणावरणमोहनामाणं ।
 सेसाणेगमवट्ठियबंधो सब्वत्थ ठाणसमो ॥१५॥
 भूओगारा दोनवछयप्पतरा दुगट्ठसत्तकमा ।
 मिच्छाओ सासणत्तं न एककतीसेक्क गुरु जम्हा ॥१६॥
 चउ छ दुइए नामंमि एग गुणतीस तीस अव्वत्ता ।
 इग सत्तरस य मोहे एक्केक्को तइयवज्जाणं ॥१७॥
 इगसयरेगुत्तर जा दुवीस छव्वीस तह तिपन्नाइं ।
 जा चोवत्तरि बावट्ठिरहिय बंधाओ गुणतीसं ॥१८॥
 एक्कार बार तिचउक्कवीस गुणतीसओ य चउतीसा ।
 चउआला गुणसट्ठी उदयट्ठाणाइं छव्वीसं ॥१९॥
 भूयप्पयरा इगिचउवीसं जन्नेइ केवली छउमं ।
 अजओ य केक्कलित्तं तित्थयरियरा व अन्नोतं ॥२०॥
 एक्कारबारसासी इगिचउपंचाहिया य चउणउई ।
 एत्तो चोइसहिय सयं पणवीसाओ य छायालं ॥२१॥
 बत्तीसं नत्थि सयं एवं अडयाल संत ठाणाणि ।
 जोगि अघाइचउक्के भण खिविउं घाइसंताणि ॥२२॥
 साइ अधुवो नियमा जीवविसेसे अणाइ अधुवधुवो ।
 नियमा धुवो अणाई अधुवो अधुवो व साई ॥२३॥
 उक्कोसा परिवडिण साइ अणुक्कोसओ जहन्नाओ ।
 अब्बंधाओ वियरो तदभावे दो वि अविसेसा ॥२४॥

ते णाई ओहेणं उक्कोसजहन्नगो पुणो साई ।
 अधुवाण साइ सव्वे धुवाणणाई वि संभविणो ॥२५॥
 मूलुत्तरपगईणं जहण्णओ पगइवंध उवसंते ।
 तव्वद्धा अजहन्नो उक्कोसो सन्निमिच्छंमि ॥२६॥
 आउस्स साइ अधुवो बंधो तइयस्स साइअवसेसो ।
 सेसाण साइयाई भव्वाभव्वेमु अधुवधुवो ॥२७॥
 साइ अधुवो सव्वाण होइ धव्वबंधियाण णाइधुवो ।
 निययअबंधचुयाणं साइ अणाई अपत्ताणं ॥२८॥
 नरयतिगं देवतिगं इगिविगलाणं विउव्वि नो बंधे ।
 मणुयतिगुच्चं च गईतसंमि तिरि तित्थ आहारं ॥२९॥
 वेउव्वाहारदुगं नारयसुरमुहुमविगलजाइतिगं ।
 बंधहि न सुरा सायवथावरएगिदि नेरइया ॥३०॥
 मोहे सयरी कोडाकोडीओ वीस नामगोयाणं ।
 तीसियराण चउण्हं तेत्तीसयराइ आउस्स ॥३१॥
 मोत्तुमकसाइ तणुया ठिइ वेयणियस्स बारस मुहुत्ता ।
 अट्ठट्ठ नामगोयाण सेसयाणं मुहुत्तंतो ॥३२॥
 सुक्किलसुरम्मिमहुराण दस उ तह सुभचउण्हफासाणं ।
 अड्ढाइज्ज पवुड्ढी अबिलहालिद् पुव्वाणं ॥३३॥
 तीसं कोडाकोडी असाय - आवरण - अंतरायाणं ।
 मिच्छे सयरी इत्थी मणुदुगसायाण पन्नरस ॥३४॥
 संघयणे संठाणे पढमे दस उवरिमेसु दुगुवुड्ढी ।
 सुहुमतिवामणविगले ठारस चत्ता कसायाणं ॥३५॥
 पुंहासरईउच्चवे सुभखगतिथिराइछक्कदेवदुगे ।
 दस सेसाणं वीसा एवइयाबाह वाससया ॥३६॥
 सुरनारयाउयाणं अयरा तेत्तीस तिन्नि पलियाइं ।
 इयराणं चउसु वि पुव्वकोडि तंसो अवाहाओ ॥३७॥

बोलीणेषु दोसुं भागेसुं आउयस्स जो बंधो ।
 भणियो असंभवाओ न घडइ सो गइचउक्केवि ॥३८॥
 पलियासंखेज्जसे बंधति न साहिए नरतिरिच्छा ।
 छम्मासे पुण इयरा तदाउ तंसो बहुं होइ ॥३९॥
 पुव्वाकोडी जेसि आऊ अहिकिच्च ते इमं भणियं ।
 भणियंपि नियअबाहं आउं बंधति अमुयंता ॥४०॥
 निरुवक्कमाण छमासा इगिविगलाणं भवट्ठितंसो ।
 पलियासंखेज्जसं जुगधम्मीणं वयंतन्ने ॥४१॥
 अंतोकोडीकोडी तित्थयराहार तीए संखाओ ।
 तेत्तीस पलियसंखं निकाइयाणं तु उक्कोसा ॥४२॥
 अंतोकोडाकोडी ठिईए वि कहं न होइ ? तित्थयरे ।
 संते कित्तिपकालं तिरिओ अह होइ उ विरोहो ॥४३॥
 जमिह निकाइयतित्थं तिरियभवे तं निसेहियं संतं ।
 इयरमि नत्थि दोसो उवट्ठणवट्ठणासज्जे ॥४४॥
 पुव्वाकोडीपरओ इगिविगलो वा न बंधए आउं ।
 अंतोकोडाकोडीए आरउ अभवसत्ती उ ॥४५॥
 सुरतारयाउयाणं दसवाससहस्स लघु सतित्थाणं ।
 इयरे अंतमुहुत्तं अंतमुहुत्तं अबाहाओ ॥४६॥
 पुवेए अट्ठवासा अट्ठमुहुत्ता जमुच्चगोयाणं ।
 साए बारसहारगविग्घावरणाण किच्चूणं ॥४७॥
 दोमास एग अद्धं अंतमुहुत्तं च कोहपुव्वाणं ।
 सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईए जं लद्धं ॥४८॥
 वेउव्विछक्कि तं सहसताडियं जं असन्निणो तेसि ।
 पलियासंखंसूणं ठिई अबाहूणि य निसेगो ॥४९॥
 मोत्तुमबाहासमए बहुगं तयणंतरे रयइ दलियं ।
 तत्तो विसेसहीणं कमसो नेयं ठिई जाव ॥५०॥

आउस्स पढमसमया परभविया जेण तस्स उ अवाहा ।
 पल्लासंखियभागं गंतुं अद्धद्वयं दलियं ॥५१॥
 पलिओवमस्स मूला असंखभागम्मि जत्तिया समया ।
 तावइया हाणीओ ठिइबंधुक्कोसए नियमा ॥५२॥
 उक्कोसठिइबंधा पल्लासंखेज्जभागमित्तेहि ।
 हसिएहि समएहि हसइ अवाहाए इगसमओ ॥५३॥
 जा एगिदि जहन्ना पल्लासंखंसंजुया सा उ ।
 तेसि जेट्ठा सेसाणसंखभागहिय जासन्नी ॥५४॥
 पणवीसा पन्नासा सय दससय ताडिया इगिदि ठिई ।
 विगलासन्नीण कमा जायइ जेट्ठा व इयरा वा ॥५५॥
 ठिइठाणाइ एगिदियाण थोवाइ होंति सव्वाणं ।
 बेंदीण असंखेज्जाणि संखगुणियाणि जह उप्पि ॥५६॥
 सव्वजहन्ना वि ठिई असंखलोगप्पएसतुल्लेहि ।
 अज्झवसाएहि भवे विसेसअहिएहि उवरुवरि ॥५७॥
 असंख लोगखपएसतुल्लया हीणमज्झिमुक्कोसा ।
 ठिईबंधज्झवसाया तीए विसेसा असंखेज्जा ॥५८॥
 सत्तहं अजहन्नो चउहा ठिइबंधु मूलपगईणं ।
 सेसा उ साइअधुवा चत्तारि वि आउए एवं ॥५९॥
 नाणंतरायदंसणचउक्कसंजलणठिई अजहन्ता ।
 चउहा साई अधुवा सेसा इयराण सव्वाओ ॥६०॥
 अट्टारसण्ह खवगो बायरएगिदि सेसधुवियाणं ।
 पज्जो कुणइ जहन्नं साई अधुवो अओ एसो ॥६१॥
 अट्टाराणजहन्नो उवसमसेहीए परिवडंतस्स ।
 साई सेसविगप्पा सुगमा अधुवा धुवाणंपि ॥६२॥
 सव्वाणवि पगईणं उक्कोसं सन्निणो कुणंति ठिइं ।
 एगिदिया जहन्नं असन्निखवगा य काणपि ॥६३॥

सव्वाण ठिई असुभा उक्कोसुक्कोससंकिलेसेणं ।
 इयरा उ विसोहीए सुरनरतिरिआउए मोत्तुं ॥६४॥
 अणुभागोणुक्कोसो नामतइज्जाण धाइ अजहन्तो ।
 गोयस्स दोवि एए चउव्विहा सेसया दुविहा ॥६५॥
 सुभधुवियाणुक्कोसो चउहा अजहन्न असुभधुवियाणं ।
 साई अधुवा सेसा चत्तारिवि अधुवबंधीणं ॥६६॥
 असुभधुवाण जहण्णं बंधसचरमा कुणंति सुविसुद्धा ।
 समयं परिवडमाणा अजहण्णं साइया दोवि ॥६७॥
 सयलसुभाणुक्कोसं एवमणुक्कोसं च नायव्वं ।
 वन्नाई सुम असुभा तेणं तेयाल धुव असुभा ॥६८॥
 सयलासुभायवाणं उज्जोयतिरिक्खमणुयआऊणं ।
 सन्नी करेइ मिच्छो समयं उक्कोसअणुभागं ॥६९॥
 आहार अप्पमत्तो कुणइ जहन्नं पमत्तयाभिमुहो ।
 नरतिरिय चोइसण्हं देवाजोगाण साऊण ॥७०॥
 ओरालियतिरियदुगे नीउज्जोयाण तमतमा छण्हं ।
 मिच्छ - तरयाणभिमुहो सम्मदिट्ठि उ तित्थस्स ॥७१॥
 सुभधुव तसाइ चउरो परघाय पणिदिसास चउगइया ।
 उक्कडमिच्छा ते च्चिय थीअपुमाणं विमुज्जंता ॥७२॥
 धिरसुभजससायणं सपडिवक्खाण मिच्छा मम्मो वा ।
 मज्झिमपरिणामो कुणइ थावरेगिदिय मिच्छो ॥७३॥
 मुसुराइतिन्नि दुगुणा संठिइसंघयण मणुयविहजुयले ।
 उच्चे चउगइ मिच्छा अरईसोगाण उ पमत्तो ॥७४॥
 सेट्ठिअसंखेज्जंसो जोगट्ठाणा तओ असंखेज्जा ।
 पयडीभेआ तत्तो ठिइभेया होंति तत्तोवि ॥७५॥
 ठिडबधज्जवसाया तत्तो अणुभागबंधठाणाणि ।
 तत्तो कम्मपएसाणंतगुणा तो रसच्छेया ॥७६॥

एगपएसोगाढे सव्वपएसेहि कम्मणो जोगे ।
 जीवो पोगलदव्वे गिण्हइ साई अणाई वा ॥७७॥
 कमसो वुड्ढठिईणं भागो दलियस्स होइ सविसेसो ।
 तइयस्स सव्वजेढो तस्स फुडत्तं जओ णप्पे ॥७८॥
 जं समयं जावइयाइं वंधए ताण एरिसविहीए ।
 पत्तेयं पत्तेयं भागे निव्वत्तए जीवो ॥७९॥
 जह जह य अप्पपगईण वंधंगो तहतहत्ति उक्कोमं ।
 कुव्वइ पएसबंधं जहन्नयं तस्स वेच्चैसा ॥८०॥
 नाणंतराइयाणं परभागा आउगस्स नियगाओ ।
 परमो पएसबंधो सेसाणं उभयओ होइ ॥८१॥
 उक्कोसमाइयाणं आउम्मि न संभवो विसेसाणं ।
 एवमिणं कितु इमो नेओ जोगट्ठिइविसेसा ॥८२॥
 मोहाउयवज्जाणं अणुक्कोसो साइयाइओ होइ ।
 साई अधुवा सेसा आउगमोहाण संवेवि ॥८३॥
 छव्वंधगस्स उक्कस्सजोगिणो साइअधुवउक्कोसो ।
 अणुक्कोस तच्चुयाओ अणाइ अधुवा धुवा सुगमा ॥८४॥
 होइ जहन्नोऽपज्जत्तगस्स सुहुमनिगोयजीवस्स ।
 तस्समउप्पन्नग सत्तबंधगस्सप्पविरियस्स ॥८५॥
 एवकं समयं अजहन्नओ तओ साइ अद्धुवा दोवि ।
 मोहेवि इमे एवं आउम्मि य कारणं सुगमं ॥८६॥
 मोहस्स अइकिलेढु उक्कोसो सत्तबंधए मिच्छे ।
 एवकं समयं णुक्कोसओ तओ साइअधुवाओ ॥८७॥
 नाणंतरायनिदाअणवज्जकसायभयदुगंछाण ।
 दंसणचउपयलाणं चउव्विगणो अणुक्कोसो ॥८८॥
 नियय अवंधचुयाणं णुक्कोसो साइणाइ तमपत्ते ।
 सेसा साई अधुवा सव्वे सव्वाण सेस पगईणं ॥८९॥

साई अधुवोऽधुवबंधियाणऽधुवबंधणा चैव ।
 जाण जहि बंधंतो उक्कोसो ताण तत्थेव ॥६०॥
 अप्पतरपगइबंधे उक्कडजोगी उ सन्निपजत्तो ।
 कुणइ पएसुक्कोसं जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥६१॥
 सत्तविहबन्धमिच्छे परमो अणमिच्छथीणगिद्धीणं ।
 उक्कोससंकिलिट्ठे जहन्नओ नामधुवियाणं ॥६२॥
 समयादसंखकालं तिरिदुगनीयाणि जाव बज्जंति ।
 वेउव्वियदेवदुगं पत्ततिगं आउ अंतमुह ॥६३॥
 देसूणपुव्वकोडी सायं तह असंखपोगला उरलं ।
 परघाउस्सासतसचउपणिदि पणसीय अयरसयं ॥६४॥
 चउरंस उच्च मुभखगडपुरिस मुस्सरतिगाण छावट्ठी ।
 बिउणा मणूदुगउरलंगरिसहत्तिथाण तेत्तीसा ॥६५॥
 सेसाणंतमुहुत्तं समया तित्थाउगाण अंतमुह ।
 वंधो जहन्नओवि हु भंगतिगं निच्चबंधीणं ॥६६॥
 होइ अणाइअणंतो अणाइसंतो धुवोदयाणुदओ ।
 साइसपज्जवसाणो अधुवाणं तह य मिच्छस्स ॥६७॥
 पयडीठिइमाईया भेया पुव्वुत्तया इहं नेया ।
 उदीरणउदयाणं जन्नाणत्तं तयं वोच्छं ॥६८॥
 चरिमोदयमुच्चाणं अजोगिकालं उदीरणाविरहे ।
 देसूणपुव्वकोडी मणुयाउयसायसायाणं ॥६९॥
 तइयच्चिय पज्जत्ती जा ता निदाण होइ पंचण्हं ।
 उदओ आवलिअंते तेवीसाए उ सेसाणं ॥१००॥
 मोहे चउहा तिविहोवसेस सत्तण्ह मूलपगईणं ।
 मिच्छत्तुदओ चउहा अधुवधुवाणं दुविहत्तिविहा ॥१०१॥
 उदओ ठिइक्खएणं संपत्तीए सभावतो पढमो ।
 सति तम्मि भवे बीओ पओगओ दीरणा उदओ ॥१०२॥

उद्दीरणजोग्माणं अब्महियठिईए उदयजोग्माणो ।
 हस्सुदओ एगठिईणं निद्दुणा एगियालाए ॥१०३॥
 अण्भाणुदओवि उदीरणाए तुल्लो जहन्नयं नवरं ६
 आवलिगंते समत्तवेयखीणंतलोभाणं ॥१०४॥
 अजहन्नोऽणुक्कोसो चउह तिहा छण्ह चउविहो मोहो ॥१०५॥
 आउस्स साइअधुवा सेसविगप्पा य सव्वेसि ॥१०५॥
 अजहन्नोऽणुक्कोसो धुवोदयाणं चउह तिहा चउहा ।
 मिच्छत्ते सेसामि दुविहा सव्वे य सेसाणं ॥१०६॥
 समत्तदेससंपुन्नविरइउप्पत्तिअणविसंजोगे ।
 दंसणखवगे मोहस्स समणे उवसंतखवगे य ॥१०७॥
 खीणाइतिगे असंखगुणिय गुणसेढिदलिय जहक्कमसो ।
 समत्ताईणैक्कारसण्ह कालो उ संखंसो ॥१०८॥
 झत्ति गुणाओ पडिए मिच्छत्तगयंमि आइमा तिन्नि ।
 लब्भंति न सेसाओ जं झीणासुं असुभमरणं ॥१०९॥
 उक्कोसपएमुदयं गुणसेढीसीसगे गुणियकम्मो ।
 सव्वासु कुणइ ओहेण खवियकम्मो पुण जहन्नं ॥११०॥
 समत्तवेयसंजलणयाण खीणंत दुजिणअंताणं ।
 लहु खवणाए अंते अवहिस्स अणोहिणुक्कोसो ॥१११॥
 पढमगुणसेढीसीसे निद्दापयलाण कुणइ उवसंतो ।
 देवत्तं झत्ति गओ वेउव्वियसुरदुग स एव ॥११२॥
 तिरिएणंनुदयाणं मिच्छत्तणमीसथीणगिद्धीणं ।
 अपज्जत्तस्स य जोगे दुतिगुणसेढीण सीसाणं ॥११३॥
 से कालेंतरकरणं होही अमरो य अंतमुहु परओ ।
 उक्कोसपएमुदओ हासाइसु मज्झिमडण्हं ॥११४॥
 हस्सठिइ बंधित्ता अद्धाजोगाइठिइनिसेगाणं ।
 उक्कोसपए पढमोदयस्मि सुरतारगाऊणं ॥११५॥

अद्धा जोगुक्कोसे बंधिता भोगभूमिगेसु लहुं ।
 सव्वप्पजीवियं वज्जइत्तु ओवट्ठिया दोण्हं ॥११६॥
 नारयत्तिरियदुग्गदुभगाइनीयमणुयाणपुव्विगाणं तु ।
 दंसण इखवगो तइयगसेढी उ पडिभग्गो ॥११७॥
 संघं भगस्स उ बिइयादितिगुणसेडिसीसम्मि ।
 आहो ययाणं अपमत्तो आइगुणसीसे ॥११८॥
 गुणसेवाए भग्गो पत्तो वेइदिपुढविकायत्तं ।
 आयावस्स उ तव्वेइ पढमसमयंमि वट्ठतो ॥११९॥
 देवो जहन्तयाऊ दीहुव्वट्ठित्तु मिच्छअन्तम्मि ।
 चउनाणदंसणतिगे एगिदिगए जहन्नुदयं ॥१२०॥
 कुव्वइ ओहिदुग्गस्स उ देवत्तं संजमाउ संयत्तो ।
 मिच्छुक्कोसुक्कट्ठित्तु आवलिगंते पएसुदयं ॥१२१॥
 वेयणिय उच्चसोयंतराय अरईण होइ ओहिसमो ।
 निद्दादुग्गस्स उदओ उक्कोसठिईउ पडियस्स ॥१२२॥
 मइसरिसं वरिसवरं तिरिगई थावरं च नीयं च ।
 इंदियपज्जत्तीए पढमे समयंमि गिद्धतिगे ॥१२३॥
 अपुमित्थिसोगपढमिल्लअरइरहियाण मोहपगईणं ।
 अंतरकरणाउ गए मुरेसु उदयावलीअंते ॥१२४॥
 उवसंतो कालगओ सव्वट्ठे जाइ भगवई सिद्धं ।
 तत्थ न एयाणुदओ असुमुदए होइ मिच्छस्स ॥१२५॥
 उवसामइत्तु चउहा अंतमुह बंधिऊण बहुकालं ।
 पालिय सम्मं पढमाण आवलिअंतं मिच्छगए ॥१२६॥
 इत्थीए संजमभवे सव्वनिरुद्धंमि गंतु मिच्छंतो ।
 देवी लहु जिट्ठठिई उव्वट्ठित्तु आवलीअंते ॥१२७॥
 अप्पद्धाजोगसमज्जियाण आऊण जिट्ठठिइअंते ।
 उवरि थोवनिसेमे चिर तिब्बासायवेईणं ॥१२८॥

मंजोयणा विजोजिय जहन्नदेवत्तमंतिममुहुत्ते ।
 बंधिय उक्कोसठिइं गंतुणेगिदियासन्ती ॥१२६॥
 सव्वलहुं नरय गए नरयगई तम्मि सव्वपज्जत्ते ।
 अणुपुव्वि सगइतुल्ला ता पुण नेया भवाइम्मि ॥१३०॥
 देवगई ओहिसमा नवरं उज्जोयवेयगो जाहे ।
 चिरसंजमिणो अंते आहारे तस्स उदयम्मि ॥१३१॥
 सेसाणं चक्खुसमं तंमिव अन्तंमि वा भवे अचिरा ।
 तज्जोगा बहुयाओ ता ताओ वेयमाणस्स ॥१३२॥
 पढमकसाया चउहा तिहा धुवं साइअद्धुवं संतं ।
 दुच्चरिमखीणभवन्ता निहादुगचोइसाऊणि ॥१३३॥
 तिसु मिच्छत्तं नियमा अट्ठसु ठाणेसु होइ भइयव्वं ।
 सासायणंमि नियमा सम्मं भज्जं दससु संतं ॥१३४॥
 सासणमीसे मीसं सन्नं नियमेण नवमु भइयव्वं ।
 सासायणंत नियमा पंचसु भज्जा अओ पढमा ॥१३५॥
 मज्झिल्लदठकसाया ता जा अणियट्ठिखवगसंखेया ।
 मागा ता संखेया ठिइखंडा जाव गिद्धित्तं ॥१३६॥
 थावरतिरिगइदोदो आयवेगिदिविगलसाहारं ।
 नरयदुगज्जोयाणि य दसाइमेगंततिरिजोगा ॥१३७॥
 एवं नपुंसगित्थी संतं छक्कं च बायर पुरिसुदए ।
 समऊणाओ दोन्निउ आवलियाओ तओ पुरिसं ॥१३८॥
 इत्थीउदए नपुंसं इत्थीवेयं च सत्तगं च कमा ।
 अपुमोदयमि जुगवं नपुंसइत्थी पुणो सत्त ॥१३९॥
 संखेज्जा ठिइखंडा पुणोवि कोहाइ लोभ सुहुमत्ते ।
 आसज्ज खवगसेही सव्वा इयराइ जा संतो ॥१४०॥
 सव्वाणवि आहारं सासणमीसेयराण पुण तित्थं ।
 उभये संति न मिच्छे तित्थगरे अंतरमुहुत्तं ॥१४१॥

अन्नयरवेयणीयं उच्चं नामस्स चरमउदयाओ ।
 मणुयाउ अजोगंता सेसा उ दुचरिमसमयंता ॥१४२॥
 मूलठिई अजहन्ना तिहा चउद्धा उ पढमयाण भवे ।
 धुवसंतीणपि तिहा सेसविगप्पाऽधुवा दुविहा ॥१४३॥
 बंधुदउक्कोसाणं उक्कसठिई उ संतमुक्कोसं ।
 तं पुण समयेणूणं अणुदयउक्कोसबंधीणं ॥१४४॥
 उदयसंकम उक्कोसाण आगमो सालिगो भवे जेट्ठो ।
 संतं अणुदयसंकमउक्कोसाणं तु समऊणो ॥१४५॥
 उदयवईणेगठिइ अणुदयवइयाण दुसमया एगा ।
 होइ जहन्नं सत्तं दसण्ह पण संकमो चरिमो ॥१४६॥
 हासाइ पुरिस कोहाइ तिन्नि संजलण जेण बंधुदए ।
 वोछिन्ने संकामइ तेण इहं संकमो चरिमो ॥१४७॥
 जावेगिंदि जहन्ना नियमुक्कोसा हि ताव ठिइठाणा ।
 नेरंतरेण हेट्ठा खवणाइसु संतराईपि ॥१४८॥
 संकमतुल्लं अणुभागसंतयं नवरि देसघाईणं ।
 हासाईरहियाणं जहन्नयं एगठाणं तु ॥१४९॥
 मणनाणे दुट्ठाणं देसघाई य सामिणो खवगा ।
 अंतिमसमये समत्तवेयखीणंतलोभाणं ॥१५०॥
 मइसुयचक्खुअचक्खुण सुयसम्मत्तस्स जेट्ठलद्धिस्स ।
 परमोहिस्सोहिदुगे मणनाणे विपुलनाणिस्स ॥१५१॥
 अणुभागट्ठाणाइ तिहा कमा ताणऽसंखगुणियाणि ।
 बंधा उव्वट्ठोवट्ठाणाउ अणुभागघायाओ ॥१५२॥
 सत्तण्हं अजहन्नं तिविहं सेसा दुहा पएसंमि ।
 मूलपगईसु आउस्स साइ अधुवा य सव्वेवि ॥१५३॥
 सुभधुवबंधितसाई पणिदिचउरंसरिसभसायाणं ।
 संजलणुस्साससुभखगइ पुंपराघायणुक्कोसं ॥१५४॥

चउहा ध्रुवसंतीणं अणजससंजलणलोभवज्जाणं ।
 तिविहमजहन्न चउहा इमाण छण्हं दुहाणुत्तं ॥१५५॥
 संपुण्णगुणिकम्मो पएसउक्कसमंतसामीओ ।
 तस्सेव सत्तमानिग्गयस्स काणं विसेसोवि ॥१५६॥
 मिच्छमीसेहिं कमसो संपक्खित्तेहिं मीससम्मेसु ।
 परमं पएससंतं कुणइ नपुंसस्स ईसाणी ॥१५७॥
 ईसाणे पूरित्ता नपुंसगं तो असंखवासीसु ।
 पल्लासंखियभागेण पुरए इत्थीवेयस्स ॥१५८॥
 जो सव्वसंकमेणं इत्थी पुरिसम्मि छुहइ सो सामी ।
 पुरिसस्स कमा संजलणयाण सो चेव संछोमे ॥१५९॥
 चउरुवसामिय मोहं जसुच्चसायाण सुहुमखवगंते ।
 जं असुभपगइदलियस्म संकमो होइ एयासु ॥१६०॥
 अद्दाजोगुक्कोसेहिं देवनिरयाउगाण परमाए ।
 परमं पएससंतं जा पढमो उदयसमओ सो ॥१६१॥
 सेसाउगाणि नियगेसु चेव आगंतु पुव्वकोडीए ।
 सायबहुलस्स अचिरा बंधंते जाव नो वट्टे ॥१६२॥
 पूरित्तं पुव्वकोडीपुहुत्तं नारयदुगस्स बंधंते ।
 एवं पलियतिगंते सुरदुगवेउव्वियदुगाणं ॥१६३॥
 तमतमगो अइखिप्पं सम्मत्तं लभिय तंमि बहुगद्धं ।
 मणयदुगस्सुक्कोसं सवज्जरिसभस्स बंधंते ॥१६४॥
 बेछावट्ठिचियाणं मोहस्सुवसामगस्स चउक्खुत्तो ।
 सम्मध्रुववारसण्हं खवगंमि सबंधअंतम्मि ॥१६५॥
 सुभथिरसुभध्रुवियाणं एवं चिय होइ संतमुक्कोसं ।
 तित्थयराहाराणं नियनियगुक्कोसबंधंते ॥१६६॥
 तुल्ला नपुंसगेणं एगिदियथावरायवुज्जोया ।
 सुहुमतिगं विगलावि य तिरिमणुय चिरच्चिया नवरि ॥१६७॥

ओहेण खवियकम्मे पएससंतं जहन्नयं होइ ।
 नियसंकमस्स विरमे तस्सेव विसेसियं मुणस् ॥१६८॥
 उव्वलमाणीणेगठिई उव्वलए जया दुसामइगा ।
 थोवद्धमज्जियाणं चिरकालं पालिया अंते ॥१६९॥
 अंतिमलोभजसाणं असेढिगाहापवत्त अन्तमि ।
 मिच्छत्तगए आहारगस्स सेसाणि नियगंते ॥१७०॥
 चरमावलिप्पविट्ठा गुणसेढी जासि अत्थि न य उदओ ।
 आवलिगासमयसमा तासि खलु फड्डगाइं तु ॥१७१॥
 सव्वजहन्नपएसे पएसवुड्डीए णंतया भेया ।
 ठिइठाणे ठिइठाणे विन्नेया खवियकम्माओ ॥१७२॥
 एगट्ठिइयं एगाए फड्डगं दोसु होइ दोट्ठिइगं ।
 तिगमाईसुवि एवं नेयं जावन्ति जासि तु ॥१७३॥
 आवलिमेत्तुक्कोसं फड्डग मोहस्स सव्वघाईणं ।
 तेरसनामतिनिहाण जाव नो आवली गलइ ॥१७४॥
 खीणद्धासंखसं खीणंताणं तु फड्डगुक्कोसं ।
 उदयवईणेगहियं निहाणं एगहीणं तं ॥१७५॥
 अज्जोगिसंतिगाणं उदयवईणं तु तस्स कालेणं ।
 एगाहिणेण तुल्लं इयराणं एगहीणं तं ॥१७६॥
 ठिइखंडाणइखुड्डं खीणसजोगीण होइ जं चरिमं ।
 तं उदयवईणहियं अन्तगए तूणमियराणं ॥१७७॥
 जं समयं उदयवईं खिज्जइ दुच्चरिमयन्तु ठिइठाणं ।
 अणुदयवइए तम्मी चरिमं चरिमंमि जं कमइ ॥१७८॥
 जावइयाउ ठिईओ जसंतलोभाणहापवत्तंते ।
 तं इगिफड्डं संते जहन्नयं अकयसेढिस्स ॥१७९॥
 अणुदयतुल्लं उव्वलणिगाण जाणिज्ज दीहुउव्वलणे ।
 हासाईणं एगं संछोभे फड्डगं चरमे ॥१८०॥

बन्धावलिप्राईयं आवलिकालेण बीइठिईहितो ।
 लयठाणं लयठाणं नासेई संकमेणं तु ॥१८१॥
 संजलणतिगे दुसमयहीणा दो आवलीण उक्कोसं ।
 फड्डं बिईयठिइए पढमाए अणुदयावलिया ॥१८२॥
 आवलियदुसमऊणा मेत्तं फड्डं तु पढमठिइविरमे ।
 वेयाणवि वे फड्डा ठिईदुगं जेण तिण्हंपि ॥१८३॥
 पढमठिईचरमुदये बिइयठिईए व चरमसंछोभे ।
 दो फड्डा वेयाणं दो इगि संतं हवा एए ॥१८४॥
 चरमसंछोभसमए एगाठिइ होइ इत्थीनपुंसाणं ।
 पढमठिईए तदंते पुरिसे दोआलि दुसमूणं ॥१८५॥



उदीरणा विषयक स्पष्टीकरण

यथाकालप्राप्त कर्म-परमाणुओं के अनुभव करने को उदय और अकाल-प्राप्त अर्थात् उदयावलिका से बाहर स्थित कर्म-परमाणुओं को सकषाय या अकषाय योग परिणतिविशेष से आकृष्ट करके उदयावलिका में लाकर उदय-प्राप्त कर्म-परमाणुओं के साथ अनुभव करने को उदीरणा कहते हैं। जो कर्मस्कन्ध अपकर्षण आदि प्रयोग के बिना स्थितिक्षय को प्राप्त होकर अपना-अपना फल देते हैं। उन कर्मस्कन्धों की 'उदय' और जो महान् स्थिति और अनुभागों में अवस्थित कर्मस्कन्ध अपकर्षण करके फल देने वाले किये जाते हैं, उन कर्मस्कन्धों की 'उदीरणा' संज्ञा है।

फलानुभव की दृष्टि से स्वामित्व की अपेक्षा उदय और उदीरणा में कोई विशेषता नहीं है। लेकिन इन दोनों में विशेषता है तो केवल कालप्राप्त और अकालप्राप्त परमाणुओं की। उदय में तो कालप्राप्त कर्म-परमाणुओं का और उदीरणा में अकालप्राप्त कर्म-परमाणुओं का अनुभव किया जाता है। ऐसी व्यवस्था होने पर भी सामान्य नियम यह है कि उदयप्राप्त कर्म-परमाणुओं/प्रकृतियों की उदीरणा होती है और साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उदयावलिका में प्रवेश किये हुए निषेकों की उदीरणा नहीं होती है।

कर्मदलिकों की उदीरणा होने का परिणाम यह होता है कि दीर्घकाल के बाद उदय आने योग्य निषेकों का अपकर्षण करके अल्प स्थिति वाले अधस्तन निषेकों में या उदयावलिका में देकर उदयमुख रूप से अनुभव कर लेने पर वे कर्मस्कन्ध कर्मरूपता को छोड़कर अन्य पुद्गल रूप से परिणमित हो जाते हैं।

कर्मविचार के प्रसंग में सामान्य से १२२ प्रकृतियां उदय और उदीरणा योग्य मानी जाती हैं। लेकिन इसका आशय यह नहीं है कि विस्तार से १४८

अथवा १५८ प्रकृतियों का जो उल्लेख किया जाता है, उनमें से सिर्फ एक सौ बाईस प्रकृतियां ही उदय और उदीरणा योग्य हैं, शेष नहीं। लेकिन यह समझना चाहिए कि जैसे बंधयोग्य १२० प्रकृतियों की संख्या बतलाने के प्रसंग में शरीरनामकर्म के भेदों के साथ उन-उनके बंधन एवं संघातन नामकर्म के पांच-पांच भेद गर्भित कर लिये जाते हैं, उसी प्रकार उदय, उदीरणा में भी उनका शरीरनामकर्म के भेदों में समावेश किया गया है। क्योंकि शरीर-नामों के साथ उन-उनके बंधन और संघातन ये दोनों अविनाभावी हैं। इस कारण ये दस प्रकृतियां अभेद-विवक्षा से शरीरनामकर्म से अलग नहीं गिनी जाती हैं, शरीरनामकर्म की प्रकृतियों में गर्भित मानी जाती हैं तथा बंध की तरह ही वर्णचतुष्क में इनके उत्तर बीस भेदों के शामिल हो जाने से उदय-अवस्था में अभेद से चार भेद ग्रहण किये जाते हैं। इस प्रकार से अभी तक तो बंधयोग्य और उदययोग्य प्रकृतियों की एकरूपता होने से संख्या १२० ही होती है। लेकिन बंधयोग्य में मोहनीयकर्म की अट्ठाईस में से छब्बीस प्रकृतियों का ग्रहण होता है लेकिन उदय में सम्यग्मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व, मोहनीयकर्म के इन दो भेदों को मिलाने से १२२ प्रकृतियां अभेद-विवक्षा से उदययोग्य हैं। किन्तु भेद-विवक्षा से १४८ प्रकृतियां उदययोग्य हैं। इतनी ही प्रकृतियां अभेद एवं भेद-विवक्षा से उदीरणायोग्य समझना चाहिए।

गुणस्थानों और मार्गणास्थानों की अपेक्षा जहाँ जितनी प्रकृतियों का उदय है वहाँ उतनी प्रकृतियों की उदीरणा भी होती है।



परिशिष्ट ३

३. दिगम्बरसाहित्यगत मोहनीयकर्म के भूयस्कार आदि बंधप्रकारों का वर्णन

यद्यपि संसारी जीवों को प्रति समय कर्मबन्ध होता रहता है, लेकिन कारणपेक्षा उस बंध में अल्पाधिकता आदि होती है। इसी दृष्टि से बंध के चार प्रकार हो जाते हैं - भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य। इन चारों प्रकारों की लाक्षणिक व्याख्या पूर्व में की जा चुकी है कि क्रमशः अधिक-अधिक प्रकृतियों को बांधने को भूयस्कारबंध, क्रमशः हीन-हीन प्रकृतियों को बांधने को अल्पतर, पूर्व और उत्तर समय में सम-संख्या में कर्म प्रकृतियों के बंध होने को अवस्थित एवं किसी भी प्रकृति का बंध न करके पुनः उसके बंध करने को अवक्तव्य कहते हैं।

ये चारों बंधप्रकार काल्पनिक नहीं हैं किन्तु जीवपरिणति पर आधारित हैं। इसीलिए कर्मग्रन्थिक आचार्यों ने एतद्विषयक विनोद विवेचन किया है और यह करना इसलिए आवश्यक है कि जीव की परिणति की तरतमता से ही कर्मबंध में अल्पाधिकता होती है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों कर्मग्रन्थिक आचार्यों ने इनकी अत्यधिक स्पष्टता के साथ व्याख्या की है। इस व्याख्या में अपेक्षादृष्टि से कुछ भिन्नता भी है और समानता भी है। जैसे कि दोनों परम्परायें दर्शनावरण, मोहनीय और नाम इन कर्मों की उत्तरप्रकृतियों में भूयस्कार आदि बंध प्रकारों को समान रूप से मानती हैं तथा दर्शनावरणकर्म की उत्तरप्रकृतियों के बंध-स्थानों एवं उनके बंधप्रकारों में समानतन्त्रीय हैं, किन्तु मोहनीय और नाम कर्म की प्रकृतियों के बंधप्रकारों के विषय में अन्तर है। शेष रहें ज्ञानावरण, अन्तराय, वेदनीय, आयु और गोत्र इन पांच कर्मों की उत्तरप्रकृतियों के बंध-स्थानों एवं उनमें सम्भव बंधप्रकारों के वर्णन में एकरूपता है।

इस प्रकार से सामान्य भूमिका का दिग्दर्शन कराने के पश्चात् अब

मोहनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियों में सम्भव भूयस्कार आदि बंधप्रकारों के विषय में दिगम्बर कर्मग्रन्थिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं ।

श्वेताम्बर कर्मसाहित्य की तरह दिगम्बर साहित्य में भी मोहनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियों के आईस, इक्कीस, सत्रह, तेरह, नौ, पांच, चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक इस प्रकार दस बंधस्थान बतलाये हैं । लेकिन इनमें सम्भव भूयस्कार आदि बंधप्रकारों के विषय में अन्तर है । श्वेताम्बर कर्मसाहित्य में नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्य बंधप्रकार बताये हैं । जबकि दिगम्बर आचार्यों ने इन्हीं दस बंधस्थानों में बीस भूयस्कार, ग्यारह अल्पतर, तेतीस अवस्थित और दो अवक्तव्य बंधप्रकार बताये हैं । जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

श्वेताम्बर कर्मसाहित्य में मोहनीयकर्म के दस बंधस्थानों में जो नौ भूयस्कार आदि बंधप्रकार बताये हैं, वे केवल गुणस्थानक्रम में आरोहण और अवरोहण की अपेक्षा हैं । किन्तु दिगम्बर साहित्य में उक्त दृष्टि के साथ इसका भी ध्यान रखा है कि आरोहण के समय जीव किस गुणस्थान से किस-किस गुणस्थान में जा सकता है और अवरोहण के समय किस गुणस्थान से किस-किस गुणस्थान में आ सकता है । इसके अतिरिक्त मरण की अपेक्षा भी सम्भव भूयस्कार आदि बंधप्रकारों को ग्रहण किया है ।

श्वेताम्बर कर्मसाहित्य में एक से दो, दो से तीन, तीन से चार आदि का बंध बतलाकर दस बंधस्थानों में जो नौ भूयस्कारबंध बतलाये हैं, उनको ग्रहण करते हुए दिगम्बर कर्मसाहित्य में जो ग्यारह अधिक भूयस्कारबंध बताये हैं, उनमें पांच की अधिकता तो मरण की अपेक्षा और छह की अधिकता ऊपर के गुणस्थान से पतन कर किस-किस गुणस्थान में आगमन सम्भव होने की अपेक्षा है ।

मरण की अपेक्षा सम्भव पांच भूयस्कारबंध इस प्रकार हैं—(१) एक को बांधकर सत्रह का, (२) दो को बांधकर सत्रह का, (३) तीन को बांधकर सत्रह का, (४) चार को बांधकर सत्रह का और (५) पांच को बांधकर सत्रह का जीव बंध करता है । उसका कारण यह है कि एक से लेकर पांच प्रकृतिक तक के पांच बंधस्थान नौवें अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान के पांचवें, चौथे

तीसरे, दूसरे और पहले भाग में होते हैं और उन बंधस्थानों में रहते यदि कोई जीव मरण को प्राप्त हो तो उत्तर समय में वह जीव वैमानिक देव होता है और वहाँ चौथा अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान होता है। जिससे उस गुणस्थान में बंधने वाले सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान का बंध करता है। इसी कारण ये पांच भूयस्कार बंध मरण की अपेक्षा बताये हैं।

पतनोन्मुखी उपशमश्रेणि वाला कोई जीव छठे गुणस्थान में नौ प्रकृतियों का बंध करके पांचवें गुणस्थान में आकर तेरह का, चौथे गुणस्थान में आकर सत्रह का, दूसरे गुणस्थान में आकर इक्कीस का और पहले गुणस्थान में आकर बाईस का बंध करता है। क्योंकि छठे प्रमत्तसंयतगुणस्थान से च्युत होकर जीव नीचे के सभी गुणस्थानों में जा सकता है। अतः नौ के चार भूयस्कारबंध होते हैं तथा इसी प्रकार पांचवें गुणस्थान में तेरह का बंध करके सत्रह, इक्कीस और बाईस का बंध कर सकता है। अतः तेरह के तीन भूयस्कार होते हैं और सत्रह को बांधकर इक्कीस और बाईस का बंध कर सकता है। जिससे सत्रह के दो भूयस्कारबंध होते हैं। इस प्रकार नौ के चार, तेरह के तीन और सत्रह के दो भूयस्कारबंध होते हैं। जो श्वेताम्बर साहित्य में प्रत्येक बंधस्थान के एक-एक, इस प्रकार तीन बताये गये भूयस्कारबंध-प्रकार से छह अधिक हैं। अतः ये छह और मरण की अपेक्षा ऊपर बताये गये पांच भूयस्कारबंधों को मिलाने से दिगम्बर साहित्य में ग्यारह भूयस्कार-बंध अधिक कहे हैं। किन्तु सामान्य से गुणस्थान-अवरोहण की अपेक्षा विचार किया जाये तो दोनों परम्पराओं के विचार में अन्तर नहीं है।

दिगम्बर साहित्य में जो अल्पतरबंधप्रकार की संख्या श्वेताम्बर साहित्य की तरह आठ न बताकर ग्यारह बताई है, उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

श्वेताम्बर साहित्य में बाईस को बांधकर सत्रह का बंधरूप केवल एक ही अल्पतर बंध बताया है। किन्तु दिगम्बर साहित्य का मतव्य है कि पहले गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक जीव दूसरे और छठे गुणस्थान के सिवाय शेष सभी गुणस्थानों में जा सकता है। अतः बाईस को बांधकर सत्रह, तेरह और नौ का बंध कर सकने के कारण बाईस प्रकृतिक बंधस्थान के तीन

अल्पतरबन्ध होते हैं तथा सत्रह का बन्ध करके तेरह और नौ का बन्ध कर सकने के कारण सत्रह के बन्धस्थान के दो अल्पतरबन्ध होते हैं। इस प्रकार बाईस प्रकृतिक स्थान सम्बन्धी दो और सत्रह प्रकृतिक स्थान सम्बन्धी एक की अधिकता से कुछ ग्यारह अल्पतर बन्ध हो जाते हैं।

अवक्तव्यबन्ध की संख्या के बारे में दोनों परम्परायें समानतन्वीय हैं, कोई मतभिन्नता नहीं है। दिगम्बर साहित्य में भी एक प्रकृतिक और सत्रह प्रकृतिक ये दो अवक्तव्यबन्ध माने हैं।

दिगम्बर साहित्य में अवस्थितबन्ध तेतीस बताये हैं। ये तेतीस अवस्थितबन्धप्रकार पूर्व में बताये गये बीस भूयस्कार, ग्यारह अल्पतर और दो अवक्तव्य बन्ध इनकी अपेक्षा से हैं। क्योंकि जितनी प्रकृतियों का बन्ध पहले समय में हुआ है, उतनी ही प्रकृतियों का बन्ध दूसरे समय में हो, उसे अवस्थितबन्ध कहते हैं। लेकिन यथार्थ दृष्टि से देखा जाये तो मूल अवस्थित बन्ध उतने ही हैं जितने कि बन्धस्थान होते हैं। इसीलिए श्वेताम्बर कर्म-साहित्य में मोहनीयकर्म के दस बन्धस्थान होने से दस अवस्थितबन्ध बताये हैं।

इस प्रकार सामान्य से दिगम्बर साहित्य के अनुसार मोहनीयकर्म के बन्धस्थानों के चारों बन्धप्रकारों की संख्या जानना चाहिए। अब विशेष रूप से भी जिन भूयस्कारों आदि को गिनाया है, उनकी संख्या बतलाते हैं—

एक सौ सत्ताईस भूयस्कार, पैंतालीस अल्पतर और एक सौ पचहत्तर अवस्थित बन्ध होते हैं। ये बन्ध भंगों की अपेक्षा से बनते हैं। अतः इनकी संख्या को जानने के लिए पहले भंगों का विचार करते हैं।

एक ही बन्धस्थान में प्रकृतियों के परिवर्तन से जो विकल्प होते हैं, उन्हें भंग कहते हैं। जैसे बाईस प्रकृतिक बन्धस्थान में तीन वेदों में से एक वेद का और हास्य-रति तथा शोक-अरति के दो युगलों में से एक युगल का बन्ध होता है। अतः उसके $3 \times 2 = 6$ भंग होते हैं। अर्थात् बाईस प्रकृतिक बन्धस्थान को कोई जीव हास्य-रति और पुरुषवेद के साथ बांधता है, कोई शोक-अरति और पुरुषवेद के साथ बांधता है। कोई हास्य-रति और स्त्रीवेद के साथ,

कोई शोक-अरति और स्त्रीवेद के साथ बांधता है। इसी प्रकार नपुंसकवेद में भी समझ लेना चाहिए। इस तरह बाईस प्रकृतिक बंधस्थान भिन्न-भिन्न जीवों में छह प्रकार से होता है। इसी प्रकार इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान के चार भंग होते हैं। क्योंकि उसमें एक जीव के एक समय में दो वेदों (स्त्रीवेद, पुरुषवेद) में से किसी एक वेद और दो युगलों में से किसी एक युगल का बंध होता है। सारांश यह हुआ कि अपने-अपने बंधस्थान में सम्भवित वेदों और युगलों को परस्पर में गुणा करने से अपने-अपने बंधस्थानों के भंग होते हैं। जो इस प्रकार हैं—

बाईस के छह, इक्कीस के चार, इसके आगे प्रमत्तसंयतगुणस्थान तक सम्भवित बंधस्थानों के दो-दो और उसके आगे संभवित बंधस्थानों के एक-एक भंग होते हैं। इन भंगों की अपेक्षा से एक सौ सत्ताईस भूयस्कारबंध इस प्रकार हैं—

पहले मिध्यात्वगुणस्थान में एक भी भूयस्कारबंध नहीं होता है। क्योंकि बाईस प्रकृतिक बंधस्थान से अधिक प्रकृतियों वाला कोई अन्य बंधस्थान नहीं है। जिसके बांधने से वहाँ भूयस्कारबंध सम्भव हो।

दूसरे गुणस्थान में चौबीस भूयस्कार होते हैं। क्योंकि इक्कीस को बांधकर बाईस का बंध करने पर इक्कीस के चार भंगों को और बाईस के छह भंगों को परस्पर में गुणा करने पर $4 \times 6 = 24$ भूयस्कार होते हैं।

तीसरे गुणस्थान में बारह भूयस्कार होते हैं, क्योंकि सत्रह को बांधकर बाईस का बंध करने पर सत्रह के दो विकल्पों का बाईस के छह भंगों से गुणा करने से $2 \times 6 = 12$ भंग होते हैं।

चौथे गुणस्थान में बीस भूयस्कार होते हैं। क्योंकि सत्रह का बंध करके इक्कीस का बंध होने पर $2 \times 4 = 8$ और बाईस का बंध होने पर $2 \times 6 = 12$, इस प्रकार $8 + 12 = 20$ भंग होते हैं।

पांचवें गुणस्थान में चौबीस भूयस्कार होते हैं। क्योंकि तेरह का बंध करके सत्रह का बंध होने पर $2 \times 2 = 4$, इक्कीस का बंध होने पर $2 \times 4 = 8$ और बाईस का बंध होने पर $2 \times 6 = 12$, इस प्रकार $4 + 8 + 12 = 24$ भंग होते हैं।

छठे गुणस्थान में अट्ठाईस भूयस्कार होते हैं। क्योंकि नौ का बंध करके तेरह का बंध करने पर $२ \times २ = ४$, सत्रह का बंध करने पर $२ \times २ = ४$, इक्कीस का बंध करने पर $२ \times ४ = ८$ और बाईस का बंध करने पर $२ \times ६ = १२$, इस प्रकार $४ + ४ + ८ + १२ = ३८$ भंग होते हैं।

सातवें गुणस्थान में दो भूयस्कार होते हैं। क्योंकि सातवें में एक भंग सहित नौ का बंध कर मरण होने पर दो भंग सहित सत्रह का बंध होता है।

आठवें गुणस्थान में भी सातवें गुणस्थान के समान दो भूयस्कार होते हैं।

नौवें गुणस्थान में पांच, चार आदि पांच बंधस्थानों में से प्रत्येक के तीन-तीन भूयस्कार होते हैं। एक-एक पतन की अपेक्षा और दो-दो मरण की अपेक्षा से। जिनका कुल जोड़ पन्द्रह है।

इस प्रकार पूर्वोक्त गुणस्थानों सम्बन्धी भंगों को मिलाने से $(२४ + १२ + २० + २४ + २८ + २ + २ + १५ = १२७)$ एक सौ सत्ताईस भूयस्कारबंध होते हैं।

पैंतालीस अल्पतरबंध इस प्रकार हैं—पहले गुणस्थान में तीस अल्पतर बंध होते हैं। क्योंकि बाईस को बांधकर सत्रह का बंध करने पर $६ \times २ = १२$, तेरह का बंध करने पर $६ \times २ = १२$ और नौ का बंध करने पर $६ \times १ = ६$, इस प्रकार $१२ + १२ + ६ = ३०$ भंग होते हैं।

दूसरे गुणस्थान में एक भी अल्पतरबंध नहीं होता है। क्योंकि दूसरे के बाद पहला ही गुणस्थान होता है और उस स्थिति में इक्कीस का बंध करके बाईस का बंध करता है, जो भूयस्कारबंध रूप है।

तीसरे गुणस्थान में भी कोई अल्पतरबंध नहीं होता। क्योंकि तीसरे से पहले गुणस्थान में आने पर भूयस्कारबंध और चौथे गुणस्थान में जाने पर अवस्थित बंध होता है। इसका कारण यह है कि तीसरे गुणस्थान में भी सत्रह और चौथे गुणस्थान में भी सत्रह प्रकृतियों का बंध होता है।

चतुर्थ गुणस्थान में छह अल्पतर होते हैं। क्योंकि सत्रह का बंध करके तेरह का बंध करने पर $२ \times २ = ४$ और नौ का बंध करने पर $२ \times १ = २$, इस प्रकार $४ + २ = ६$ अल्पतर होते हैं।

पांचवें गुणस्थान में तेरह का बंध करके सातवें गुणस्थान में जाने पर नौ का बंध करता है । अतः वहाँ $२ \times १ = २$ अल्पतर होते हैं ।

छठे गुणस्थान में भी दो अल्पतर होते हैं । क्योंकि छठे से नीचे के गुणस्थानों में आने पर भूयस्कारबंध ही होता है । किन्तु ऊपर सातवें गुणस्थान में जाने पर दो अल्पतर बंध होते हैं ।

यद्यपि छठे और सातवें गुणस्थान में नौ-नौ प्रकृतियों का ही बंध होता है । किन्तु छठे के नौ प्रकृतिक स्थान के दो भंग होते हैं, क्योंकि वहाँ दोनों युगल का बंध सम्भव है जबकि सातवें के नौ प्रकृतिक बंधस्थान का एक ही भंग होता है । क्योंकि वहाँ एक ही युगल का बंध होता है । अतः प्रकृतियों की संख्या बराबर होने पर भी भंगों की हीनाधिकता के कारण $२ \times १ = २$ अल्पतरबंध माने गये हैं ।

सातवें गुणस्थान में एक भी अल्पतर नहीं होता । क्योंकि जब जीव सातवें से आठवें गुणस्थान में जाता है तो वहाँ भी नौ ही प्रकृतियों का बंध करता । अतः अल्पतर सम्भव नहीं ।

आठवें गुणस्थान में नौ का बंध करके नौवें गुणस्थान में पांच का बंध करने पर $१ \times १ = १$ ही अल्पतर होता है ।

नौवें गुणस्थान में पांच का बंध करके चार का बंध करने पर एक, चार का बन्ध करके तीन का बन्ध करने पर एक, तीन का बन्ध करके दो का बन्ध करने पर एक और दो का बन्ध करके एक का बन्ध करने पर एक, इस प्रकार चार अल्पतरबन्ध होते हैं ।

उपयुक्त सभी अल्पतरों की संख्या का कुल योग $(३० + ६ + २ + २ + १ + ४ = ४५)$ होने से पैतालीस अल्पतर होते हैं ।

भंगों की अपेक्षा तीन अवक्तव्यबन्ध इस प्रकार हैं—

दसवें गुणस्थान से उतर कर जीव जब नौवें गुणस्थान में आता है तब प्रथम समय में संज्वलन लोभ का बन्ध करता है । इस अपेक्षा से एक तथा उसी गुणस्थान में मर कर देव असंयत हुआ तब दो अवक्तव्यबन्ध करता है ।

क्योंकि देव होकर सत्रह प्रकृतियों को दो प्रकार से बांधता है । अतः दो अवक्तव्यबन्ध हुए । इस प्रकार कुल तीन अवक्तव्यबन्ध जानना चाहिए ।

एक सौ सत्ताईस भूयस्कार, पैंतालीस अल्पतर और तीन अवक्तव्य बन्ध मिलकर एक सौ पचहत्तर होते हैं । अतः इतने ही अवस्थितबन्ध अर्थात् एक सौ पचहत्तर अवस्थितबन्ध होते हैं ।

इस प्रकार विशेष रूप से मोहनीयकर्म के भूयस्कार आदि बन्धप्रकारों को जानना चाहिए ।^१



१ आधार गो. कर्मकाण्ड, गाथा ४६८-४७४ तथा पंचसंग्रह शतक अधिकार गाथा २४६-२५५ ।

परिशिष्ट ४

४. दिगम्बर कर्मसाहित्यगत नामकर्म के भूयस्कार आदि बन्धप्रकारों का विवेचन

श्वेताम्बर कर्मसाहित्य के अनुरूप दिगम्बर साहित्य में भी नामकर्म के तेईस, पच्चीस, छब्बीस, अट्ठाईस उनतीस, तीस, इकतीस और एक प्रकृतिक ये आठ बन्धस्थान बताये हैं। यद्यपि नामकर्म की समस्त बन्धप्रकृतियां ६७ हैं। किन्तु उनमें से एक समय में एक जीव को तेईस, पच्चीस आदि प्रकृतियां ही बंधती हैं। अतः नामकर्म के आठ बन्धस्थान होते हैं। किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि नामकर्म का बहुभाग पुद्गलविपाकी है, उसका अधिकतर उपयोग जीवों की शारीरिक रचना में होता है। जिससे भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा एक ही बन्धस्थान की अवान्तर प्रकृतियों में अन्तर अवश्य पड़ जाता है, लेकिन बन्धस्थानों की संख्या आठ ही रहती है।

इन आठ बन्धस्थानों में श्वेताम्बर कर्मसाहित्य में छह भूयस्कार, सात अल्पतर, आठ अवस्थित और तीन अवक्तव्य बन्ध बतलाये हैं। लेकिन दिगम्बर साहित्य में जितने प्रकृतिक स्थान को बांधकर जितने प्रकृतिक स्थानों का बन्ध सम्भव है, उन सबकी अपेक्षा से भूयस्कार आदि को बताया है। इस दृष्टि से बाईस भूयस्कार, इक्कीस अल्पतर, छियालीस अवस्थित और तीन अवक्तव्य बन्ध बताये हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

भूयस्कारबन्ध—उपशमश्रेणि से उतरने वाला अपूर्वकरण संयत एक यशः कीर्ति का बन्ध करता हुआ २८ वे लेकर ३१ तक के स्थानों को बांधता है। अर्थात् २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक बन्धस्थानों का बन्ध करता है। इसलिए ये चार भूयस्कार हुए। इसी प्रकार २३ प्रकृतिक स्थान का बन्ध करने वाला जीव २५, २६, २८, २९ और ३० प्रकृतिक बन्धस्थानों का बन्ध करता है। अतएव ५ भूयस्कारबन्ध हुए। पच्चीस प्रकृतियों का बन्ध करने वाला २६, २८, २९ और ३० प्रकृतिक स्थानों का बन्ध करता है, अतः उसकी

अपेक्षा चार भूयस्कारबन्ध हुए। छब्बीस प्रकृतिक स्थान का बन्ध करने वाला २८, २९ व ३० प्रकृतिक बन्धस्थान का बन्ध करता है, जिससे तीन भूयस्कार हुए। अट्ठाईस प्रकृतिक बन्धस्थान का बन्धक २९, ३० और ३१ प्रकृतिक स्थान का बन्ध कर सकता है। जिससे तीन भूयस्कार हुए। उनतीस प्रकृतिक स्थान को बांधने वाला ३० व ३१ प्रकृतियों का बन्ध कर सकता है, जिससे उसकी अपेक्षा दो भूयस्कार हुए तथा तीस प्रकृतिक स्थान का बन्धक इक्तीस प्रकृतियों का बन्ध करता है, इस अपेक्षा से एक भूयस्कार-बन्ध हुआ। उक्त सभी ४, ५, ४, ३, ३, २, १ को मिलाने पर कुल २२ भूयस्कार बन्ध हो जाते हैं।

अल्पतरबन्ध— इक्कीस अल्पतर बन्धप्रकारों को इस तरह से जानना चाहिए—

तीस को आदि लेकर तेईस तक के स्थानों को बांधने पर तथा इक्तीस को बांध कर तीस, उनतीस व एक प्रकृति को बांधने पर एवं अट्ठाईस एवं उनतीस को बांधने वाले को एक यशःकीर्ति बांधने पर कुल मिलाकर इक्कीस अल्पतरबन्ध होते हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

तीस प्रकृतिक बन्धस्थान का बन्ध करने वाले २९, २८, २६, २५ और २३ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं। जिससे पांच अल्पतरबन्ध हुए। उनतीस प्रकृतियों को बांधने वाले २८, २६, २५ और २३ प्रकृतियों का बन्ध कर सकते हैं। अतः उसकी अपेक्षा चार अल्पतरबन्ध हुए। अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधने वाला २६, २५ और २३ प्रकृतियों को बांध सकते हैं। अतः उसकी अपेक्षा तीन अल्पतरबन्ध होते हैं। छब्बीस प्रकृतियों को बांधने वाला पच्चीस और तेईस प्रकृतियों को बांध सकता है। अतः ऐसे जीव की अपेक्षा दो अल्पतर-बन्ध हुए। पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थान के बन्धक के तेईस प्रकृतियों का बन्ध सम्भव है। अतः उसकी अपेक्षा एक अल्पतर बन्ध होता है। इक्तीस प्रकृतियों के बन्धक के तीस, उनतीस और एक प्रकृति का बन्ध सम्भव है, जिससे उसकी अपेक्षा तीन अल्पतरबन्ध होते हैं। अट्ठाईस प्रकृतियों के बन्धक के एक प्रकृतिक बन्धस्थान का बन्ध सम्भव होने से एक अल्पतरबन्ध होता है। इसी

प्रकार उनतीस और तीस प्रकृतियों का बन्ध करने वाला एक, एक प्रकृति का बन्ध कर सकता है । जिससे उनकी अपेक्षा एक-एक अल्पतरबन्ध होता है ।

उक्त सभी ५, ४, ३, २, १, २, १, १, १ बन्धस्थानों का जोड़ इक्कीस है । अतः कुछ मिलाकर इक्कीस अल्पतरबन्ध होते हैं ।

अवक्तव्यबन्ध—उपशांतकषाय संयत किसी भी प्रकृति का बन्ध न कर नीचे उतर कर और सूक्ष्मसंपराय उपशमक होकर एकः यशःकीर्तिनाम् को बांधता है । अथवा उपशांतमोह संयत मरण करके देवों में उत्पन्न होकर मनुष्यगति संयुक्त तीस या उनतीस प्रकृतियों की बांधता है तो उससे अवक्तव्य-बन्ध तीन होते हैं । ये तीनों भूयस्कार रूप हैं । जिससे इनका नाम अवक्तव्य-भूयस्कार भी है ।

अवस्थितबन्ध—पूर्व में भूयस्कार बाईस, अल्पतर इक्कीस और अवक्तव्य तीन बताये हैं । इनका कुल जोड़ छियालीस होने से अवस्थितबन्ध भी उतने ही अर्थात् अवस्थितबन्ध छियालीस होते हैं ।



५. पल्योपम, सागरोपम की स्वरूप व्याख्या

जैन कर्मसाहित्य में कर्मों की स्थितिपर्यादा प्रायः इतनी सुदीर्घ काल की बतलाई है कि जिसका वर्णन उपमाकाल के द्वारा किया जाना सम्भव है। इसके लिए पल्योपम और सागरोपम इन दो शब्दों का प्रयोग किया है।

जिस समयपर्यादा का पल्य की उपमा द्वारा और सागर की उपमा द्वारा निर्देश किया जाये, ऐसे दो भेदों को क्रमशः पल्योपम और सागरोपम काल कहते हैं। प्रकृत में इन दोनों के स्वरूप को जानना अभीष्ट होने से संक्षेप में इनका वर्णन करते हैं।

गणनीय काल की आद्य इकाई समय है और अन्तिम सीमा शीर्ष-प्रहेलिका है। समय से लेकर शीर्ष-प्रहेलिका पर्यन्त काल का प्रमाण क्या है, इसका संकेत आगे किया जा रहा है। गणनीय काल की चरम सीमा के पश्चात् काल का जो कुछ भी वर्णन किया जाता है, वह सब उपमा काल में गणित है। इसका कारण यह है कि जैसे लोक में जो वस्तुयें सरलता से गिनी जा सकती हैं, उनकी तो गणना कर ली जाती है और उनके लिए संज्ञायें निश्चित हैं, लेकिन जो वस्तुयें जैसे तिल, सरसों, गेहूँ आदि गिनी नहीं जा सकती हैं, उन्हें तोल या माप वगैरह से तोल-माप लेते हैं। ऐसी ही स्थिति समय की अवधि को जानने के लिए पल्योपम, सागरोपम की है कि समय की जो अवधि दिन-रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष आदि के रूप में गिनी जा सकती है, उसकी तो गणना कर ली जाती है, किन्तु जहाँ समय की अवधि इतनी लम्बी हो कि जिसकी गणना वर्षों में नहीं की जा सके तो उसको उपमाप्रमाण के द्वारा ही कहा जाता है।

उपमाप्रमाण के क्रम में पल्योपम पहला और सागरोपम दूसरा है। पल्योपम का स्वरूप ज्ञात हो जाने के अनन्तर सागरोपम का स्वरूप सुगमता से जाना जा सकता है। अतः अनुक्रम से इनका वर्णन करते हैं।

पत्योपम -- अनाज आदि भरने के गोलाकार स्थान को पत्य कहते हैं। समय की जिस लम्बी अवधि को उस पत्य की उपमा द्वारा प्रगट किया जाये, उसे पत्योपम काल कहते हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सुतीक्ष्ण शस्त्रों द्वारा भी जो छेदा-भेदा न जा सके ऐसा परम अणु (परमाणु) सब प्रमाणों का आदिभूत प्रमाण है। ऐसे अनन्त परमाणुओं के समुदाय की समिति के समागम से एक उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका और आठ उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका^१ को मिलाने से एक श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका होती है। आठ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका का एक ऊर्ध्वरेणु, आठ ऊर्ध्वरेणु का एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु का एक रथरेणु^२ और आठ रथरेणु का देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्यों का एक बालाग्र होता है। देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्यों के आठ बालाग्रों का हरिवर्ष-रम्यकवर्ष क्षेत्र के मनुष्यों का एक बालाग्र तथा उन क्षेत्रों के मनुष्यों के आठ बालाग्रों का हैमवत-ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यों का एक बालाग्र होता है। हैमवत-ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यों के आठ बालाग्रों का पूर्व विदेह के मनुष्यों का एक बालाग्र होता है। पूर्व विदेह के मनुष्यों के आठ बालाग्रों की एक लिखा (लीख), आठ लीख की एक यूका (जूं), आठ यूका का एक यवमध्य और आठ यवमध्य का एक अंगुल^३ होता है।

- १ जीवसमाससूत्र में अनन्त उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका की एक श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका बताई है। किन्तु आगमों में अनेक स्थानों पर उसे आठ गुनी ही बताया है, इसीलिए यही क्रम रखा है।
- २ कहीं कहीं परमाणु, रथरेणु और त्रसरेणु ऐसा क्रम पाया जाता है। देखो ज्योतिष्करण्डक गाथा ७४। किन्तु प्रवचनसारोद्धार के व्याख्याकार इसे असंगत मानते हैं, पृ. ४०६ उ०।
- ३ अंगुल के तीन भेद हैं—आत्मांगुल, उत्सेधांगुल और प्रमाणांगुल।

आत्मांगुल—जिस समय में जिन पुरुषों के शरीर की ऊँचाई अपने अंगुल से १०८ अंगुल प्रमाण होती है, उन पुरुषों का अंगुल आत्मांगुल कहलाता है। इस अंगुल का प्रमाण सर्वदा एक-सा नहीं रहता है, क्योंकि कालभेद से मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई घटती-बढ़ती रहती है। (क्रमशः)

इस प्रकार के छह अंगुल का एक पाद (पैर), बारह अंगुल की एक वितस्ति (बालिस्ति), चौबीस अंगुल का एक हाथ, अड़तालीस अंगुल की एक कुक्षी, छियानव अंगुल का एक दंड^३ धनुष, युग, नालिका, अक्ष अथवा मूल

उत्सेधांगुल—परमाणु दो प्रकार का है—निश्चय परमाणु और व्यवहार परमाणु । अनन्त निश्चय परमाणुओं का एक व्यवहार परमाणु होता है । यद्यपि यह व्यवहार परमाणु एक स्कन्ध ही है, परन्तु व्यवहार से इसे परमाणु कहने का कारण यह है कि यह इतना सूक्ष्म है कि सुतीक्ष्ण शस्त्र भी इसका छेदन-भेदन नहीं कर सकता है । यही उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका आदि आग्ने की सभी संज्ञाओं का मूल कारण है । इन अनन्त व्यवहार परमाणुओं की एक उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका होती है । इन आठ उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका की एक श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका होती है । इसके बाद का क्रम ऊपर बताया आ चुका है जो अंगुल पर्यन्त जानना चाहिए ।

प्रमाणांगुल—उत्सेधांगुल से अढाइगुणा विस्तार वाला और चार सौ गुणा लम्बा होता है । युग के आदि में भरत चक्रवर्ती का जो आत्मांगुल है, वही प्रमाणांगुल जानना चाहिए ।

—अनुयोगद्वारसूत्र, प्रवचनसारोद्धार
द्रव्यलोकप्रकाश

दिग्गम्बर साहित्य में अंगुलों का प्रमाण इस प्रकार बताया है—

अनन्तानन्त सूक्ष्म परमाणुओं की एक उत्संज्ञा-संज्ञा, आठ उत्संज्ञा-संज्ञा की एक संज्ञा-संज्ञा, आठ संज्ञा-संज्ञा का एक त्रुटिरेणु, आठ त्रुटिरेणु का एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु का एक रथरेणु, आठ रथरेणु का उत्तरकुरु-देवकुरु के मनुष्य का एक बालाग्र, उन आठ बालाग्रों का रम्यक् और हरि-वर्ष के मनुष्य का एक बालाग्र, उन आठ बालाग्रों का हैमवत और हैरण्यवत मनुष्य का एक बालाग्र और इसके बाद का कथन पूर्वोक्तवत् है ।

उत्सेधांगुल से पांच सौ गुणा प्रमाणांगुल है । यही भरत चक्रवर्ती का आत्मांगुल है ।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक के आधार से

५ दोनों हाथ पसारने पर प्राप्त प्रमाण ।

होता है। दो हजार धनुष की एक गव्यूति (गाऊ) होती है, चार गव्यूति का एक योजन होता है।

पूर्वोक्त योजन के परिमाण से एक योजन लम्बा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा, तिगुनी से अधिक परिधि वाला^१ एक पत्य-गड्ढा हो। उस पत्य में देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्यों के एक दिन के उगे हुए, दो दिन के उगे हुए, तीन दिन के उगे हुए और अधिक से अधिक सात दिन के उगे हुए^२

१ इसकी परिधि कुछ कम $३\frac{१}{६}$ योजन होती है।

२ इन बालाग्रखण्डों के लिए शास्त्रों में विभिन्न मंतव्य है।

यथा—

अनुयोगद्वारसूत्र में 'एगाहिअ वेआहिअ तेआहिअ जाव उक्कोसेण सत्तरत्तरूढाणं बालग कोडीणं' लिखा है।

प्रवचनसारोद्धार में भी इसी से मिलता-जुलता पाठ है। दोनों की टीका में इस प्रकार अर्थ किया है—सिर के मुड़ा देने पर एक दिन में जितने बाल निकलते हैं, वे एकाहिक्य कहलाते हैं आदि, इसी तरह सात दिन तक के उगे हुए बाल लेना चाहिए।

द्रव्यलोकप्रकाश में 'उत्तरकुरु के मनुष्य का सिर मुड़ा देने पर एक से सात दिन के अन्दर उत्पन्न केशराशि लेने का संकेत किया है। उसके आगे लिखा है—क्षेत्रसमास की बृहद्वृत्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की वृत्ति का यह अभिप्राय है। अर्थात् उनमें उत्तरकुरु के मनुष्य के केशाग्र लेना बताया है। प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति और संग्रहणी की बृहद्वृत्ति में सामान्य से सिर मुड़ा देने पर एक से लेकर सात दिन तक के उगे हुए बालों का उल्लेख है, उत्तरकुरु के मनुष्यों के बालाग्रों को ग्रहण नहीं किया है।

क्षेत्रविचार की स्वोपज्ञवृत्ति में लिखा है—देवकुरु-उत्तरकुरु में जन्मे सात दिन के मेष (भेड़) के उत्सेधांगुल प्रमाण रोम लेकर उनके
(क्रमशः)

करोड़ों बालाग्र ठूस-ठूस कर इस प्रकार भरे जायें कि उन बालाग्रों को न अग्नि जला सके, न हवा उड़ा सके एवं वे बालाग्र दुर्गन्धित न हों और न सड़ा सकें। इस तरह से पत्य भर दिया जाये।

इसके पश्चात् इस प्रकार के बालाग्रों से ठसाठस भरे हुए उस पत्य में से प्रतिसमय एक-एक बालाग्र को निकाला जाये। इस क्रम से जितने काल में वह पत्य क्षीण हो अर्थात् उन भरे हुए बालाग्रों में से एक भी शेष न रहे, नीरज हो, निर्मल हो, निष्ठित हो, निर्लेप हो, अपहरित हो और विशुद्ध हो, उतने काल को एक पत्योपम काल कहते हैं।

सागरोपम - पत्योपम का ऊपर जो प्रमाण बताया है, वैसे दस कोटा-कोटि पत्योपम का एक सागरोपम होता है।

(क्रमशः)

सात बार आठ-आठ खण्ड करना चाहिए। अर्थात् उस रोम के आठ खण्ड करके पुनः एक-एक खण्ड के आठ-आठ खण्ड करना चाहिए। उन खण्डों में से भी प्रत्येक खण्ड के आठ-आठ खण्ड करना चाहिए। ऐसा करते-करते उस रोम के बीस लाख सत्तानव हजार एक सौ बावन (२०,६७,१५२) खण्ड होते हैं। इस प्रकार के खण्डों से उस पत्य को भरना चाहिए।

दिसम्बर साहित्य में 'एकादिसप्ताहोरात्रिजाता वि बालाग्राणि' लिखकर एक दिन से सात दिन तक के जन्मे हुए भेष के बालाग्र ही लिये हैं।

१—द्रव्यलोकप्रकाश (सर्ग १) में इसके बारे में इतना और विशेष लिखा है—

तथा च चक्रिसैन्येन तमाक्रम्य प्रसर्पता ।

न मनाक् क्रियते नीचैरेवं निविडता गतात् ॥

अर्थात् वे केशाग्र इतने सघन भरे हों कि चक्रवर्ती की सेना उन पर से निकल जाये तब भी वे जरा भी नीचे न हो सकें, इधर-उधर बिखरें नहीं।

पल्योपम सागरोपम के भेद—इन दोनों के तीन तीन भेद हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) उद्धार पल्योपम, (२) अद्धा पल्योपम और (३) क्षेत्र पल्योपम ।

(१) उद्धार सागरोपम, (२) अद्धा सागरोपम और (३) क्षेत्र सागरोपम ।

ये प्रत्येक पल्योपम और सागरोपम भी पुनः दो-दो प्रकार के हैं—एक बादर और दूसरा सूक्ष्म ।^१ इन दो भेदों में से बादर का यही प्रयोजन है कि सूक्ष्म का सुगमता से बोध हो सके ।

उक्त बादर उद्धार पल्योपम आदि तीन तीन भेदों के लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) बादर उद्धार पल्योपम-सागरोपम—ऊपर जो पल्योपम और सागरोपम का स्वरूप बताया गया है, वह बादर उद्धार पल्योपम और सागरोपम का समझना चाहिए ।

(२) सूक्ष्म उद्धार पल्योपम-सागरोपम—पूर्वोक्त बादर उद्धार पल्य के एक-एक केशाग्र के अपनी बुद्धि से असंख्यात-असंख्यात खंड करें । जो विशुद्ध नेत्र वाले छद्मस्थ पुरुष के दृष्टिगोचर होने वाले सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य के असंख्यातवर्ग भाग एवं सूक्ष्म पतक^२ (फूलन) के शरीर से असंख्यातगुणे हों । उन सूक्ष्म बालाग्र खंडों से वह पल्य ठूस-ठूस कर भरा जाये और उनमें से प्रति समय एक-एक बालाग्र खंड निकाला जाये । इस प्रकार निकालते-निकालते जितने समय में वह पल्य खाली हो जाये उसे सूक्ष्म उद्धार पल्योपम कहते हैं, इसमें संख्यात वर्ष कोटि प्रमाण काल होता है ।

दस कोटाकोटि सूक्ष्म उद्धार पल्योपम का एक सूक्ष्म उद्धार सागरोपम होता है ।

१ अनुयोगद्वारा सूत्र में सूक्ष्म और व्यवहारिक ये दो भेद किये हैं ।

२ विशेषावश्यकभाष्य की कोट्याचार्य प्रणीत टीका में इसका 'वनस्पति विशेष' अर्थ किया है । प्रवचनसारोद्धार की टीका में लिखा है कि वृद्धों ने बादर पर्याप्तक पृथ्वीकाय के शरीर के बराबर इसकी अवगाहना बताई है ।

इन सूक्ष्म उद्धार पत्थोपम और सागरोपम से द्वीप एवं समुद्रों की गणना की जाती है। अट्ठाई सूक्ष्म उद्धार सागरोपम अथवा पच्चीस कोटाकोटि सूक्ष्म उद्धार पत्थोपम के जितने समय होते हैं, उतने ही द्वीप और समुद्र जानना चाहिए।^१

(३) बादर अट्ठा पत्थोपम-सागरोपम—पूर्वोक्त बादर उद्धार पत्थ से सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक बालाग्र निकालने पर जितने समय में वह पत्थ खाली होता है, उतने समय को बादर अट्ठा पत्थोपम काल कहते हैं। दस कोटाकोटि बादर अट्ठा पत्थोपम काल का एक बादर अट्ठा सागरोपम काल होता है।

(४) सूक्ष्म अट्ठा पत्थोपम-सागरोपम—यदि वही पत्थ उपर्युक्त सूक्ष्म बालाग्र खंडों से भरा हो और उनमें से प्रत्येक बालाग्र खंड सौ-सौ वर्ष में निकाला जाये तो इस प्रकार निकालते-निकालते वह पत्थ जितने काल में निःशेष रूप से खाली हो जाये, वह सूक्ष्म अट्ठा पत्थोपम है। अथवा पूर्वोक्त सूक्ष्म उद्धार पत्थ में से सौ-सौ वर्ष के बाद केशाग्र का एक-एक खंड निकालने पर जितने समय में वह पत्थ खाली हो, उतने समय को सूक्ष्म अट्ठा पत्थोपम काल कहते हैं। इसमें असंख्यात वर्ष कोटि परिमाण काल लगता है।

दस कोटाकोटि सूक्ष्म अट्ठा पत्थोपम का एक सूक्ष्म अट्ठा सागरोपम काल होता है। दस कोटाकोटि सूक्ष्म अट्ठा सागरोपम की एक अवसर्पिणी और उतने ही काल की एक उत्सर्पिणी होती है।

इन सूक्ष्म अट्ठा पत्थोपम और सूक्ष्म अट्ठा सागरोपम के द्वारा देव, नारक, मनुष्य, तिर्यंच जीवों की आयु, कर्मों की स्थिति आदि जानी जाती है।

(५) बादर क्षेत्र पत्थोपम-सागरोपम—पूर्वोक्त एक योजन लम्बे, चौड़े और गहरे गड्ढे में एक दिन से लेकर सात दिन तक के उगे हुए बालों के अग्रभाग को पहले बताई गई प्रक्रिया के अनुसार अच्छी तरह ठसाठस भर दो। वे अग्रभाग आकाश के जिन प्रदेशों को स्पर्श करें उनमें से प्रतिसमय

एक-एक प्रदेश का अपहरण करते करते जितने समय में समस्त प्रदेशों का अपहरण हो जाये उतने समय को बादर क्षेत्र पत्योपम काल कहते हैं ।

यह काल असंख्यात उत्सर्पिणी और असंख्यात अवसर्पिणी काल के बराबर होता है ।

दस कोटाकोटि बादर क्षेत्र पत्योपम का एक बादर क्षेत्र सागरोपम काल होता है ।

(६) सूक्ष्म क्षेत्र पत्योपम-सागरोपम—बादर क्षेत्र पत्य के बालाग्रों में से प्रत्येक के असंख्यात खंड करके उन्हें उसी पत्य में पूर्व की तरह भर दो । उस पत्य में वे खंड आकाश के जिन प्रदेशों का स्पर्श करें और जिन प्रदेशों का स्पर्श न करें^१, उनमें से प्रति समय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय में स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेशों का अपहरण किया जा सके, उतने समय को एक सूक्ष्म क्षेत्र पत्योपम काल कहते हैं ।

दस कोटाकोटि सूक्ष्म क्षेत्र पत्योपम का एक सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम होता है ।

इन सूक्ष्म क्षेत्र पत्योपम और सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम के द्वारा दृष्टिवाद में द्रव्यों के प्रमाण का विचार किया जाता है ।^२

इस प्रकार से श्वेताम्बर साहित्य में पत्योपम और सागरोपम की व्याख्या की है । दिगम्बर साहित्य में भी पत्योपम और सागरोपम काल का वर्णन किया गया है । वह यहाँ किये गये वर्णन से कुछ भिन्न है । जैसे कि उसमें क्षेत्र पत्योपम नाम का भेद नहीं है और न प्रत्येक के बादर और सूक्ष्म ये भेद किये हैं ।

१ प्रस्तुत पत्योपम से दृष्टिवाद में द्रव्यों के प्रमाण का विचार किया जाता है । उनमें से कुछ द्रव्यों का प्रमाण तो उक्त बालाग्रों से स्पृष्ट आकाश प्रदेशों द्वारा ही मापा जाता है और कुछ का प्रमाण आकाश के अस्पृष्ट प्रदेशों से मापा जाता है । इसीलिए दोनों का संकेत किया है ।

२ अनुयोगद्वारसूत्र १४० ।

संक्षेप में दिगम्बर साहित्यगत-पत्योपम आदि का वर्णन इस प्रकार है —

पत्य तीन प्रकार का है — (१) व्यवहार पत्य, (२) उद्धार पत्य और (३) अद्वा पत्य । इनमें से व्यवहार पत्य का केवल इतना ही उपयोग है कि उसके द्वारा उद्धार पत्य और अद्वा पत्य की सृष्टि होती है परन्तु मापा कुछ नहीं जाता है । उद्धार पत्य से उद्धृत रोमों के द्वारा द्वीप और समुद्रों की संख्या और अद्वा पत्य के द्वारा जीवों की आयु आदि जानी जाती है । इनकी निष्पत्ति का मूल कारण व्यवहार पत्य है, इसी कारण वह व्यवहार पत्य कहलाता है ।

विशेषता के साथ उक्त संक्षिप्त कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

प्रमाणगुल से निष्पन्न एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े और एक योजन गहरे तीन पत्य (गड्ढे) बनाओ । उसमें से पहले पत्य को एक दिन से लेकर सात दिन तक के मेष के रोमों के अग्रभागों को कैची से काट-काट कर इतने छोटे-छोटे ऐसे खंड करो कि जो पुनः काटे न जा सकें, फिर उन खंडों से उस पत्य को खूब ठसाठस भर दो । उस पत्य को व्यवहार पत्य कहते हैं ।

उस व्यवहार पत्य से सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक रोम खंड निकालते-निकालते जितने काल में वह पत्य खाली हो उसे व्यवहार पत्योपम काल कहते हैं ।

व्यवहार पत्य के एक-एक रोम खंड के कल्पना से उतने खंड करो, जितने असंख्यात कोटि वर्ष के समय होते हैं और वे सब रोमखंड दूसरे पत्य में भर दो, उसे उद्धार पत्य कहते हैं । फिर उस पत्य में से प्रतिसमय एक-एक खंड निकालते-निकालते जितने समय में वह पत्य खाली हो, उसे उद्धार पत्योपम काल कहते हैं ।

दस कोटाकोटि उद्धार पत्योपम का एक उद्धार सागरोपम होता है और अढ़ाई उद्धार सागर में जितने रोम खंड होते हैं, उतनी ही द्वीप और समुद्रों की संख्या जानना चाहिए ।

उद्धार पत्य के रोम खंडों में से प्रत्येक रोम खंड के पुनः कल्पना के द्वारा उतने खंड करो कि जितने सौ वर्ष के समय होते हैं और उन खंडों को तीसरे

पल्य में भर दो । उसे अद्धा पल्य कहते हैं । उसमें से प्रतिसमय एक-एक रोम खंड निकालते-निकालते जितने काल में वह पल्य खाली हो, उसे अद्धा पल्योपम काल कहते हैं ।

दस कोटाकोटि अद्धा पल्योपम का एक अद्धा सागर होता है । दस कोटि अद्धा सागरोपम की एक उत्सर्पिणी और उतने ही काल की एक अवसर्पिणी होती है ।

इस अद्धा पल्य, सागर से नारक, तिर्यच, मनुष्य और देवों की कर्मस्थिति, भवस्थिति और कायस्थिति का प्रमाण जाना जाता है ।^१

उपमाकाल के विषय में जैन साहित्य का उक्त प्रकार का मतव्य है । इस काल की प्रवृत्ति गणनीय काल के अनन्तर होती है । अतएव संक्षेप में अब गणनीय काल की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं ।

गणनीय काल—भविष्य की अपेक्षा काल अनन्त है और भूत की अपेक्षा अनादि । अतएव इस अनादि-अनन्त काल का प्रारम्भ कब हुआ, कहना सम्भव नहीं है । किन्तु वर्तमान की अपेक्षा जिस बिन्दु से हम अपनी गणना का प्रारम्भ मानें, उसको आदि मान सकते हैं और इसी आधार से लोकव्यवहार में जो दिन, रात्रि, घड़ी, घंटा आदि का कथन किया जाता है, वह लोकसत्य की दृष्टि से होता है । इन सबका समावेश गणनीय काल में होता है ।

इस गणना योग्य काल का विचार भगवतीसूत्र, अनुयोगद्वारसूत्र, ज्योतिष्करण्डक आदि शास्त्रों और ग्रन्थों में विस्तार से किया गया है । जिनका संक्षिप्त इस प्रकार है—

काल के सूक्ष्मतम भाग को 'समय' कहते हैं । वह कालगणना की आद्य-इकाई है । ऐसे असंख्यात समयों के समुदाय को आवलिका कहते हैं । संख्यात आवलिका का एक उच्छ्वास-निश्वास होता है । एक निरोग, स्वस्थ, वृद्धावस्था एवं व्याधि रहित, निश्चिन्त तरुण पुरुष के एक बार श्वास लेने और त्यागने में जितना समय लगता है, उसे एक उच्छ्वास-निश्वास काल या श्वासोच्छ्वास

१ सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, त्रिलोकसार गाथा ६३-१०२ ।

काल कहते हैं । सात श्वासोच्छ्वास काल का एक स्तोक और सात स्तोक का एक लव होता है । साढ़े अड़तीस लव की एक नाली या घटिका होती है और दो घटिका का एक मुहूर्त होता है ।^१

इसके बाद दिन-रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन वर्ष आदि से प्रारम्भ हुई गणना शीर्षप्रहेलिका में पूर्ण होती है । अर्थात् शीर्षप्रहेलिका पर्यन्त की राशि गणित का विषय है । गणित के प्रमानुसार दिन-रात्रि आदि का प्रमाण इस प्रकार है—

तीस मुहूर्त की एक दिन-रात्रि होती है । पन्द्रह दिन-रात्रि का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक वर्ष, पांच वर्ष का एक युग, बीस युग का एक वर्ष शत (सौ वर्ष), दस वर्ष शत का एक वर्ष सहस्र (एक हजार वर्ष) और सौ वर्ष सहस्रों का एक वर्ष शतसहस्र (एक लाख वर्ष) होता है ।

इसके बाद वर्षों की अमुक-अमुक संख्या को लेकर शास्त्रों में इस प्रकार से संज्ञाओं का उल्लेख किया गया है । अनुयोगद्वारसूत्र के अनुसार नाम और क्रम इस प्रकार है—

८४ लाख वर्ष का एक पूर्वांग, चौरासी लाख पूर्वांग का एक पूर्व, चौरासी लाख पूर्व का एक त्रुटितांग, चौरासी लाख त्रुटितांग का एक त्रुटित, चौरासी लाख त्रुटित का एक अडडांग, चौरासी लाख अडडांग का एक अडड होता है । इसी प्रकार पहले की राशि को ८४ लाख से गुणा करने पर उत्तरोत्तर इनने

१ ज्योतिष्करंडक गाथा ८, ९, १० । भगवतीसूत्र श. ६ उद्देश ७ में भी इसी प्रकार का उल्लेख है । एक मुहूर्त में कितने श्वासोच्छ्वास होते हैं, उसके लिए संकेत है —

तिग्णि सहस्सा सत्त सयाइं तेवत्तरिय ऊसासा ।

एस मुहुतो दिट्ठो सव्वेहि अणंतणाणीहि ॥

अर्थात् ३७७३ उच्छ्वास का एक मुहूर्त होता है, ऐसा अनन्त जानियों ने कहा है ।

वाली संज्ञाओं के नाम इस प्रकार हैं—अववांग, अवव, हुहुअंग, हुहु, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थनिपूरांग, अर्थनिपूर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्ष-प्रहेलिका ।

शीर्षप्रहेलिका पर्यन्त गुणा करने पर १६४ अंक प्रमाण संख्या होती है, यथा—७५८, २६३, २५३, ०७३, ०१०, २४१, १५७, ६७३, ५६६, ६७५, ६६६, ४०६, २१८, ६६६, ८४८, ०८०, १८३, २६६, इन ५४ अंकों पर एक सौ चालीस (१४०) विन्दियां लगाने से शीर्षप्रहेलिका संख्या का प्रमाण आता है ।

यहाँ तक ही गणनीय काल की अवधि-मर्यादा है । तत्पश्चात् आगे के काल की गणना करने के लिए उपमा का आधार लिया जाता है । जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है ।

ज्योतिष्करण्डक के अनुसार पूर्वांग आदि संज्ञाओं का क्रम इस प्रकार है—

८४ लाख पूर्व का एक लतांग, ८४ लाख लतांग का एक लता, ८४ लाख लता का एक महालतांग, ८४ लाख महालतांग का एक महालता, इसी प्रकार आगे नलिनांग, नलिन, महानलिनांग, महानलिन, पद्मांग, पद्म, महापद्मांग, महापद्म, कमलांग, कमल, महाकमलांग, महाकमल, कुमुदांग, कुमुद, महाकुमुदांग, महाकुमुद, त्रुटितांग, त्रुटित, महात्रुटितांग, महात्रुटित, अडडांग, अडड, महा-अडडांग, महाअडड, ऊहांग, ऊह, महाऊहांग, महाऊह, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्ष-प्रहेलिका ।

भगवतीसूत्र में संज्ञाओं का क्रम और नाम इस प्रकार हैं—

८४ लाख वर्षों का एक पूर्वांग होता है । इसी प्रकार आगे-आगे क्रमशः पूर्व, त्रुटितांग, त्रुटित, अटटांग, अटट, अववांग, अवव, हुहुकांग, हुहुक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थनुपूरांग, अर्थनुपूर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्ष-प्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका ।

तत्त्वार्थराजवातिक में संज्ञाओं का क्रम व नाम यह हैं—

पूर्वांग, पूर्व, नयुतांग, नयुत, कुमुदांग, कुमुद, पद्मांग, पद्म, नलिनांग,

नलिन, कमलांग, कमल, वृद्धितांग, वृद्धित, अटटांग, अटट, अममांग, अमम, हंहांग, हाहा, हूहंअंग, हूह, लतांग, लता, महालतांग, महालता, श्रीकल्प, हस्तप्रहेलित ।

इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थों में संज्ञाओं के नामों व क्रम में अन्तर है । लेकिन सभी ने अन्तिम नाम के रूप में समान रूप से प्रहेलिका-प्रहेलित शब्द स्वीकार किया है । इस विभिन्नता के लिए क्षेत्र, काल का अन्तर ही कारण हो सकता है । परन्तु गणनीय काल की अन्तिम संज्ञा को एक रूप में माना है कि यहाँ तक गणनीय काल का वर्णन समझना चाहिए ।

जैन साहित्य में कालगणना का रूपक इस प्रकार है ।



परिशिष्ट ६

६ अपवर्तनीय अनपवर्तनीय आयु विषयक दृष्टिकोण

आयुर्कर्म के पुद्गल द्रव्यायु और देवगति आदि उस उस गति में स्थिति कालायु वाच्य है ।

कालायु के अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय यह दो भेद हैं । विष, शस्त्र आदि बाह्य निमित्तों और रागादि आन्तरिक निमित्तों से जो आयु घटे, उसे अपवर्तनीय आयु तथा वैसे निमित्तों के प्राप्त होने पर भी जो आयु कम न हो, बद्ध समयप्रमाण जिसका भोग किया जाये, प्राप्त भव आदि की निर्धारित आयु पर्यन्त जीवित रहता पड़े, उसे अनपवर्तनीय आयु कहते हैं । इन दोनों प्रकार की स्थितियाँ होने का कारण है आयुबंध की शिथिलता अथवा निगड़ता । यदि आयुबंध काल में शिथिलबंध किया हो तो उसका अपवर्तन होता है किन्तु सुदृढ़ बंध होने पर अपवर्तन नहीं होता है ।

अपवर्तनीय आयु तो सोपक्रम ही होती है । उपक्रम अर्थात् आयु घटने के निमित्त और उन सहित आयु को सोपक्रम आयु कहते हैं । जब भी अपवर्तनीय आयु होती है तब उसे विष, शस्त्रादि निमित्त अवश्य ही प्राप्त होते हैं ।

अनपवर्तनीय आयु निरुपक्रम तो है ही किन्तु सोपक्रम भी है । जिससे अनपवर्तनीय आयु के सोपक्रम और निरुपक्रम ये दो भेद हैं । यहाँ सोपक्रम का अर्थ होगा कि विष-शस्त्रादि निमित्तों के मिलने पर भी जो आयु घटे नहीं, किन्तु आयु पूर्ण हो गई हो तो उन निमित्तों से मरण हुआ जात हो । ऐसी आयु सोपक्रम अनपवर्तनीय आयु है और मरण के समय आयु घटने के विष, शस्त्रादि निमित्त प्राप्त ही न हों, वह निरुपक्रम आयु कहलाती है ।

प्रश्न—यदि आयु का अपवर्तन होता है तो फल दिये बिना उस आयु के क्षय होने से कृतनाश का तथा आयुर्कर्म शेष रहते भी मरण हो जाने से अकृत-अनिमित्त मरण का अभ्यागम-प्राप्ति होने से अकृताभ्यागम दोष प्राप्त

होगा। साथ ही आयु के रहते मरण होता है तो आयुकर्म की निष्फलता भी सिद्ध होती है।

उत्तर—आयुकर्म के लिए उक्त कृतनाश आदि दोषत्रय सम्भव नहीं है। ऐसी दोषापत्ति करना व्यर्थ है। क्योंकि जब विष, शस्त्रादि उपक्रमों का संयोग मिलता है तब उस भवस्थ जीव का समस्त आयुकर्म एक साथ उदय में आ जाने से शीघ्र भोग लिया जाता है। जिससे बद्ध आयुकर्म का फल दिये बिना नाश नहीं होता है और समस्त आयुकर्म का क्षय होने के पश्चात् ही मरण होता है। जिससे अकृत (अनिमित्त) मरण की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए अकृताभ्यागम दोष भी सम्भव नहीं तथा आयुकर्म का शीघ्रता से उपभोग होने और समस्त आयु भोगने के पश्चात् ही मरण होने से वह निष्फल भी नहीं है। जैसे सभी चारों ओर से दृढ़ता से बांधी गई घास की गंजी को एक बाजू से सिलगाने पर वह धीरे-धीरे जलेगी, परन्तु उसका बंधन तोड़कर अलग-अलग दिखेर दिया जाये और चारों ओर से हवा चलती हो तो वह चारों ओर से सिलग पड़ती है और जल कर भस्म हो जाती है। इसी प्रकार बंध के समय शिथिल बांधी आयु उपक्रम का संयोग मिलने पर एक साथ उदय में आती है और एक साथ भोग कर लेने के द्वारा क्षय हो जाती है।

अपपातिक जन्म वालों (देव, नारक) असंख्य वर्षायुष्क (भोगभूमिज मनुष्य तिर्यच), चरमगरीरी (उसी वर्तमान भव के जरीर में रहते मोक्ष प्राप्त करने वाले) और उत्तम पुरुष (तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि) की अनपवर्तनीय आयु ही होती है। शेष जीव अपवर्तनीय, अनपवर्तनीय दोनों प्रकार की आयु वाले हैं।

देव, नारक तथा असंख्य वर्ष की आयु वाले तिर्यच, मनुष्य अपनी भुज्यमान आयु के छह मास शेष रहने पर परभव की आयु का बंध करते हैं और सोपक्रम अपवर्तनीय आयु वाले अपनी-अपनी आयु के तीसरे, नौवें या सत्ताईसवें इस प्रकार से त्रिगुण करते करते आयुबंध कर लेते हैं और यदि उन त्रिगुणों में से भी किसी समय आयु का बंध न हो तो अन्त में भुज्यमान आयु का अन्तर्भूत शेष रहते अवश्य ही परभव की आयु बांधते हैं। क्योंकि परभव की आयु बंध हुए बिना मरण नहीं होता है।



७ दिगम्बर साहित्यगत आयुबंध सम्बन्धी अबाधाकाल का स्पष्टीकरण

आयुर्कर्म के सिवाय शेष ज्ञानावरणादि सात कर्मों के स्थितिबंध सम्बन्धी अबाधाकाल के लिये श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में कोई मत-भिन्नता नहीं है और यह निर्विवाद है कि आयुर्कर्म की जो भी स्थिति बंधती है वह अनुभवयोग्या ही होती है। उसमें कर्मरूपतावस्थानलक्षणा भेद नहीं है तथा उसकी जो भी अबाधा होती है वह भुज्यमान आयु में ही गभित है। वह अबाधा संख्यात वर्ष की आयु वालों की अपेक्षा उत्कृष्ट पूर्वकोटि का त्रिभाग से लेकर जघन्य अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त की भी हो सकती है। इसीलिये आयु सम्बन्धी अबाधाकाल के बारे में निम्नलिखित चार विकल्प होते हैं—

- (१) उत्कृष्ट स्थितिबंध, जघन्य अबाधाकाल।
- (२) जघन्य स्थितिबंध, उत्कृष्ट अबाधाकाल।
- (३) उत्कृष्ट स्थितिबंध, उत्कृष्ट अबाधाकाल।
- (४) जघन्य स्थितिबंध, जघन्य अबाधाकाल।

इन चार विकल्पों के बनने का कारण यह है कि आयुर्कर्म का बंध सदैव नहीं होता रहता है। उसका बंध भुज्यमान उत्कृष्ट स्थिति के त्रिभाग में भी हो सकता है और नहीं भी हो। ऐसे त्रिभाग के भी त्रिभाग करते-करते आठ त्रिभाग हो सकते हैं और उनमें भी यदि आयुर्कर्म का बंध न हो तो मरण से अन्तर्मुहूर्त पूर्व तो अवश्य परभव सम्बन्धी आयु का बंध हो जाता है। क्योंकि परभव सम्बन्धी आयु का बंध हुए बिना मरण नहीं होता है। यही अनिवार्यता आयुर्कर्म की अबाधाकाल के उक्त विकल्पों के बनने का कारण है।

संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज मनुष्यों, तिर्यचों की उत्कृष्ट आयु पूर्वकोटि वर्ष और क्षुल्लकभव रूप अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य आयु होती है। इनकी आयुबंध और अबाधाकाल के विषय में सामान्यतया यही मतव्य दिगम्बर

साहित्य में बताया है लेकिन देव, नारक और भोगभूमिज मनुष्यों, तिर्यचों की छह मास प्रमाण अबोध को लेकर मौलिक भेद है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है ---

दिगम्बर साहित्य के मतानुसार निरुपक्रमायुष्क अर्थात् अनपवर्तित आयुष्क देव-नारक अपनी भुज्यमान आयु छह मास शेष रहने पर परभव सम्बन्धी आयु-बंध के योग्य होते हैं किन्तु छह मास में परभव की आयु का बंध नहीं होता है, उसके त्रिभाग में आयुबंध होता है और यदि उस त्रिभाग में भी आयु का बंध न हो तो छह मास के नौवें भाग में आयुबंध होता है। इसका सारांश यह हुआ कि जैसे कर्मभूमिज मनुष्य, तिर्यच अपनी-अपनी भुज्यमान पूरी आयु के त्रिभाग में परभव की आयु बांधते हैं और आठ अपकर्ष हो सकते हैं, वैसे ही देव नारक और भोगभूमिज भी छह मास के त्रिभाग में आयु बांधते हैं और आठ अपकर्ष इनके लिये भी सम्भव हैं।^१

दिगम्बर परम्परा में यही एक मत सामान्यतः स्वीकृत है। केवल भोग-भूमिजों को लेकर मतभेद है। किन्हीं का मत है कि उनमें नौ मास आयु शेष रहने पर उसके त्रिभाग में परभव की आयु बांधते हैं।^२ इसके अतिरिक्त एक मतभेद और भी है। यदि आठों त्रिभागों में आयु बंध न हो तो अनुभूयमान आयु का एक अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहने पर परभव की आयु नियम से बंध जाती है, यह सामान्य नियम है, लेकिन किन्हीं के मत से अनुभूयमान आयु का

१ निरुपक्रमायुष्काः अनपवर्तितायुष्काः देवनारकाः भुज्यमानायुषिषड्मासा-
वशेषे परभवायुर्बन्धप्रायोग्या भवन्ति । अत्राप्यष्टापकर्षाः स्युः । समया-
धिक पूर्वकोटिप्रभृति त्रिपलितोपम पर्यन्तं संख्यातासंख्यातवर्षायुष्क भोग-
भूमितिर्यग्मनुष्याऽपि निरुपक्रमायुष्का इति ग्राह्यं ।

—गो. जीवकाण्ड गा. ५१८ टीका

२ देवनारकाणां स्वस्थितौ षट्मासेषु भोगभूमिजानां नवमासेषु च अवशिष्टेषु
त्रिभागेन आयुर्बन्ध संभवात् ।

—गो. कर्मकाण्ड गा. १५८ की संस्कृत टीका

काल आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण शेष रहने पर परभव की आयु का बंध नियम से हो जाता है—

पुव्वणं कोड्ढित्तिभागादा संखेय अद्धवोत्ति हवे ।^१

अर्थात् आयुकर्म की अबाधा कोटिपूर्व के तीसरे भाग से लेकर असंक्षेपाद्धा प्रमाण यानि जिससे थोड़ा काल और कोई नहीं ऐसे आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण तक है ।



८ कर्म प्रकृतियों की जघन्य स्थितिबंध विषयक मतभिन्नतायें

कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के बंध के विषय में दोनों जैन परम्पराओं के कर्मसाहित्य में मतभिन्नता नहीं है। उत्कृष्ट अबाधाकाल के लिये भी भिन्नता नहीं है। केवल एक बात उल्लेखनीय है कि जैसे आचार्य शिवशर्मसूरि ने कम्पपयडी (कर्मप्रकृति) में वर्णचतुष्क की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागर बताई है, उसी प्रकार गो. कर्मकाण्ड (दि. कर्मग्रन्थ) में भी बताया है।^१ पंचसंग्रहकार की तरह उनके अवान्तर भेदों की दस कोडाकोडी सागर से लेकर बीस कोडाकोडी सागर तक की उत्कृष्ट स्थिति नहीं बताई है। लेकिन जिन प्रकृतियों की नामनिर्देश पूर्वक पृथक्-पृथक् जघन्य स्थिति बताई है, उनके अतिरिक्त शेष प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध के सम्बन्ध में मतभिन्नता है। ऐसी प्रकृतियाँ पचासी हैं। उनके जघन्य स्थिति बंधक और बंध के बारे में इतना संकेत किया है—

सेसाणं पञ्जत्ते वादर एईदियो विमुद्धो य ।

बंधदि सव्वजहण्णं सगसग उक्कस्सपडिभागे ॥१४३॥

अर्थात् शेष (८५) प्रकृतियों की जघन्य स्थितियों को वादर पर्याप्तक विशुद्ध परिणाम वाला एकेन्द्रिय जीव अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति के प्रतिभाग में बांधता है और फिर उक्त प्रकृतियों की एकेन्द्रियदिक जीवों को अपेक्षा से जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति बताने के लिये लिखा है कि पूर्वोक्त उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर प्राप्त भाग एकेन्द्रिय के योग्य उत्कृष्ट स्थिति और उसमें पत्य का असंख्यातवां भाग न्यून करने पर जघन्य स्थिति हो जाती है।^२ इसीलिये गो. कर्मकांड में शेष पचासी प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध अलग से नहीं बताया है।

१ गो. कर्मकांड गाथा १२८-१३३ ।

२ गो. कर्मकांड गाथा १४४ ।

गो. कर्मकांड में पंचसंग्रह के अनुरूप ही प्रत्येक प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर जघन्य स्थिति का प्रमाण निकाला है। इस प्रकार जहाँ तक प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति में भाग देने का सम्बन्ध है, वहाँ तक गो. कर्मकाण्ड एवं पंचसंग्रह के मत में समानता है कि प्रकृतियों के वर्ग न बनाकर प्रत्येक प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देना चाहिए। लेकिन आगे जाकर वह कर्मप्रकृति के मत से सहमत हो जाता है कि मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का उस-उस प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति में भाग देने पर जो लब्ध आता है वही उस प्रकृति की एकेन्द्रिय की अपेक्षा उत्कृष्ट स्थिति है और उसमें से पत्य का असंख्यातवां भाग कम कर देने पर जघन्य स्थिति होती है।

किन्तु पंचसंग्रह के मत से भिन्नता है। क्योंकि पंचसंग्रह के मतानुसार प्रत्येक प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर जो लब्ध आता है, वह एकेन्द्रिय की अपेक्षा जघन्य स्थिति है, उसमें पत्य का असंख्यातवां भाग जोड़ने पर उसकी उत्कृष्ट स्थिति होती है।

इस प्रकार से दोनों परम्पराओं के अजघन्य स्थितिबंध सम्बन्धी मत जानना चाहिये। श्वेताम्बर साहित्य में इस विषयक मत इस प्रकार हैं—

कर्मप्रकृतिकार आचार्य शिवशर्मसूरि जिस प्रकार से निद्रा आदि पचासी प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का कथन करते हैं, वह स्पष्ट है। इसके लिये उन्होंने जो गथा दी है, वह इस प्रकार है—

वगुवकोस ठिईणं मिच्छत्तुवकोसणेण जं लद्धं ।

सेसाणं तु जहन्ना पल्लासंखिज्ज भागूणा ॥^१

अर्थात् अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर जो लब्ध आता है, उसमें पत्य के असंख्यातवें भाग को कम कर देने पर शेष (८५) प्रकृतियों की जघन्य स्थिति होती है। एकेन्द्रिय उतनी जघन्य स्थिति बांधते हैं और उनके उत्कृष्ट स्थितिबंध के लिये संकेत किया है—

एसेगिदय डहरो सव्वासि ऊण संजुओ जेट्ठो ।

अर्थात् उसमें कम किया पत्योपम का असंख्यातवां भाग मिलाने पर एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है तथा एकेन्द्रिय के उत्कृष्ट स्थितिबंध को अनुक्रम से पचवीस, पचास, सौ और एक हजार से गुणा करने पर जो लब्ध आये वह क्रमशः द्वीन्द्रियादि का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है । उसमें पत्योपम का संख्यातवां भाग न्यून करने पर जो रहे वह द्वीन्द्रियादि की अपेक्षा जघन्य स्थिति है ।^१

वैक्रियषट्क की अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति को मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर जो लब्ध आये उसे हजार से गुणा कर पत्योपम का असंख्यातवां भाग न्यून करने पर जो शेष रहे वह उसका जघन्य स्थितिबंध है और कम किया भाग मिलाने पर प्राप्त प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबंध है । हजार से गुणा करने का कारण यह है कि वैक्रियषट्क के बंधाधिकारी असंज्ञी पंचेन्द्रिय हैं और वे एकेन्द्रिय से हजार गुणा बंध करते हैं । यद्यपि असंज्ञी अपने उत्कृष्ट बंध से पत्योपम का संख्यातवां भाग न्यून स्वबंध योग्य प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध करते हैं तथापि वैक्रियषट्क के लिए प्रत्येक स्थान पर पत्योपम का असंख्यातवां भाग न्यून करने का संकेत किया है । वैक्रियषट्क की जघन्य, उत्कृष्ट स्थिति के लिये पंचसंग्रह और कर्मप्रकृति में मतभेद नहीं है । सार्धशतक में उत्कृष्ट से जघन्य पत्योपम का संख्यातवां भाग न्यून कहा है ।

अतएव कर्मप्रकृतिकार के मतानुसार पचासी प्रकृतियों की एकेन्द्रिय की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण यह हुआ —

दर्शनावरण और वेदनीय कर्म के वर्ग^२ की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर का भाग देने

१ दिग्म्बर कर्मसाहित्य का भी यही अभिमत है—

एयं पणकदि पण्णं सयं सहस्सं च मिच्छवर बंधो ।

इगिग्गिलाजं अवरं पल्लासंखूणसंखूणं ॥

—गो. कर्मकाण्ड गाथा १४४

२ यहाँ सजातीय समुदाय अर्थ में वर्ग शब्द का प्रयोग किया है ।

पर प्राप्त लब्ध ३/७ सागर में से पल्य के असंख्यातवें भाग को कम कर देने पर निद्रापंचक और असातावेदनीय की जघन्य स्थिति होती है। इसी प्रकार से दर्शनमोहनीयवर्ग, कषायमोहनीयवर्ग, नोकषायमोहनीयवर्ग, गोश्रवर्ग तथा वैक्रियषट्क, आहारकद्विक, तीर्थकर और यशःकीर्ति को छोड़कर शेष नामवर्ग की सत्तावन प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का प्रमाण जान लेना चाहिए और उसमें कम किया पल्य का असंख्यातवां भाग मिलाने पर उत्कृष्ट स्थितिबंध का प्रमाण हो जाता है।

सारांश यह हुआ कि अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर प्राप्त लब्ध तो एकेन्द्रिय की अपेक्षा तत्तत् कर्मप्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति है और उसमें से पल्य का असंख्यातवां भाग कम करने पर प्राप्त प्रमाण जघन्य स्थिति है।

पंचसंग्रह में निद्रा आदि पचासी कर्मप्रकृतियों की जघन्य स्थिति के सम्बन्ध में पहले उल्लेख किया जा चुका है कि निद्रा आदि प्रकृतियों की अपनी जितनी उत्कृष्ट स्थिति हो उसे सत्तर कोडाकोडी सागर से भाग देने पर जो आये उतनी उनकी जघन्य स्थिति है और उसमें पल्योपम का असंख्यातवां भाग जोड़ने पर जो आये उतनी उनकी उत्कृष्ट स्थिति है। यद्यपि शुक्ल वर्णादि को अपनी उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी आदि है, अतः उसे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर १/७ भाग आता है, लेकिन जघन्य स्थिति के विचार में तो शुक्लवर्ण, सुरभिगंध, मधुररस और चार शुभ स्पर्श इन सात के सिवाय शेष हारिद्रवर्ण आदि तेरह प्रकृतियों की २/७ भाग जघन्य स्थिति कही है तथा ३/७ आदि जो एकेन्द्रिय की जघन्य स्थिति है, उसे पचीस, पचास, सौ और हजार गुणी करने पर जो आये उतनी अनुक्रम से द्वीन्द्रियादि जघन्य स्थिति बांधते हैं और पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक ३/७ भाग आदि जो उत्कृष्ट स्थिति है, उसे पच्चीस आदि से गुणा करने पर प्राप्त प्रमाण द्वीन्द्रियादि उत्कृष्ट स्थिति बांधते हैं।

इस सन्दर्भ में पांचवें कर्मग्रन्थ गाथा ३६ की टीक में कहा है कि अपनी

अपनी उत्कृष्ट स्थिति को सत्तर कोडाकोडी सागर से भाग देने पर जो आये वह निद्रा आदि प्रकृतियों की जघन्य स्थिति है और पत्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक उत्कृष्ट स्थिति है। यह व्याख्यान पंचसंग्रह के अभिप्रायानुसार समझना चाहिए।

इस सम्बन्ध में उपाध्याय यशोविजय जी ने कर्मप्रकृति पृ. ७७ में इस प्रकार संकेत किया है—

‘पंचसंग्रह में वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति भाजित करना नहीं माना है, परन्तु अपनी अपनी उत्कृष्ट स्थिति को मिथ्यात्व की स्थिति से भाग देने पर जो आये वही जघन्य स्थिति का प्रमाण कहा है। वह इस प्रकार—निद्रापंचक और असातावेदनीय की उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम स्थिति को सत्तर कोडाकोडी से भाग देने पर ३/७ लब्ध आता है, उतनी उनकी जघन्य स्थिति है।’

यहाँ पत्योपम का असंख्यातवां भाग न्यून करने का नहीं कहा है, परन्तु उक्त जघन्य पत्योपम का असंख्यातवां भाग बढ़ाने पर जो आये वह उत्कृष्ट है, जो द्वीन्द्रियादि के जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध को बताने के प्रसंग पर स्पष्ट हो जाता है। द्वीन्द्रियादि की जघन्य, उत्कृष्ट स्थिति बताने के लिए लिखा है—

‘पंचसंग्रह में ३/७ भाग आदि एकेन्द्रिय की जो जघन्य स्थिति कही है, उसमें पत्योपम का असंख्यातवां भाग मिलाकर और उसे पच्चीस आदि से गुणा करने पर जो आये वह द्वीन्द्रियादि की उत्कृष्ट स्थिति है और एकेन्द्रिय

१ पंचसंग्रहे तु वर्गोत्कृष्ट स्थितिर्विभजनीयतया नाभिप्रेता किन्तु ‘सैसाणुक्को-
साओ मिच्छत्तठिइए जं लद्धं’ इति ग्रन्थेन स्वस्वोत्कृष्टस्थितेर्मिथ्यात्व-
स्थित्या भागे हूते यत्त्वभ्यते तदेव जघन्यस्थिति परिमाणमुक्तम्। तत्र
निद्रापंचकस्यासातावेदनीयस्य च प्रत्येकमुत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत् सागरोपम
कोटाकोटीरिति, तस्या मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थित्या भागे ह्रियमाणे शून्यं शून्येन
पातयेदिति वचनाल्लब्धास्त्रयसागरोपमस्य सप्तभागाः इयती निद्रापंच-
कासातावेदनीययोर्जघन्या स्थितिः।

की जितनी जघन्य स्थिति है उसे ही पञ्चीस आदि से गुणा करने पर जो आये उतनी द्वीन्द्रियादि की जघन्य स्थिति है । तत्त्व केवलीगम्य है ।^१

जीवाभिगमसूत्र में इस विषय में यह लिखा है—

पंचसंग्रह के मत से यही जघन्य स्थिति का प्रमाण पल्योपम का असंख्यातवां भाग नहीं कहना चाहिए । क्योंकि उसके मत से—‘शेष प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर जो आये वह जघन्य स्थिति है । जघन्य स्थिति लाने का कारण वहाँ विद्यमान है ।

इस प्रकार विचार करने पर निद्रा आदि की अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति को सत्तर कोडाकोड़ी से भाजित करने पर जो लब्ध आये वह जघन्य है और उतनी जघन्य स्थिति एकेन्द्रिय बांधते हैं । उसमें पल्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक करने पर उत्कृष्ट स्थिति होती है । एकेन्द्रिय की जघन्य और उत्कृष्ट को पञ्चीस आदि से गुणा करने पर द्वीन्द्रियादि की अनुक्रम से जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति होती है । इस प्रकार पंचसंग्रहकार का अभिप्राय ज्ञात होता है ।

जीवाभिगमसूत्र में जघन्य स्थिति का संकेत इस प्रकार किया है—

निद्रा आदि की अपनी उत्कृष्ट स्थिति को सत्तर कोडाकोड़ी से भाग देने पर जो लब्ध हो उसमें से पल्योपम का असंख्यातवां भाग घूँन उनकी जघन्य स्थिति है और कम की गई को मिलाने पर जो प्राप्त हो उतनी उत्कृष्ट स्थिति है ।

प्रज्ञापनासूत्र के तेईसवें पद में उक्त प्रकार से जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति कही है । वहाँ वर्णादि की प्रत्येक प्रकृति की एवं वैक्रियषट्क में से प्रत्येक

१ पंचसंग्रहे तु या जघन्य स्थितिरेकेन्द्रियाणां सा पल्योपमासंख्येयभागाभ्यधिकीकृता पंचविंशत्यादिना च गुणिता द्वीन्द्रियादिनामुत्कृष्टा, यथास्थितैव चैकेन्द्रिय जघन्यस्थितिः पंचविंशत्यादिना गुणिता द्वीन्द्रियादीनां जघन्येत्युक्तमस्ति तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति ।

—कर्मप्रकृति यशोविजय टीका पृ. ७७

प्रकृति की भी अपनी जो उत्कृष्ट स्थिति है, उसे सत्तर कोडाकोडी से भाग देने का संकेत किया है। जिससे पहले जो वर्णादि प्रत्येक की २/७ भाग पल्योपम का असंख्यातवां भाग न्यून जघन्य स्थिति कही है, वह न आकर १/७ भाग आदि आयेगी। देवगति की भी १/७ भाग को हजार से गुणा करके पल्योपम का असंख्यातवां भाग कम करने पर जो शेष रहे वह जघन्य स्थिति होगी तथा एकेन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति को पच्चीस, पचास, सौ और हजार गुणी करने पर जो आयेगी उतनी द्वीन्द्रियादि की उत्कृष्ट स्थिति है और उसमें से पल्योपम का असंख्यातवां भाग न्यून करने पर जो रहे वह जघन्य स्थिति है।

कर्मग्रन्थ में द्वीन्द्रियादि की उत्कृष्ट स्थिति से जघन्य स्थिति पल्योपम के संख्यातवें भाग न्यून बताई है, जबकि यहाँ (पंचसंग्रह में) असंख्यातवें भाग न्यून कहा है।

इस प्रकार स्थितिबंध के विषय में तीन मत हैं।

निद्रा आदि पचासी प्रकृतियों की एकेन्द्रियादि की अपेक्षा तो जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध सम्बन्धी उक्त मंतव्य है तथा इनसे शेष रही प्रकृतियों के लिए यह समझना चाहिए कि आयुचतुष्क, वैक्रियषट्क, आहारकट्टिक और तीर्थकरनाम के सिवाय शेष बाईस प्रकृतियों की अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति में सत्तर कोडाकोडी का भाग देकर पल्योपम के असंख्यातवें भाग से न्यून करने पर प्राप्त लब्ध प्रमाण जघन्य स्थिति एकेन्द्रिय बांधते हैं और परिपूर्ण वह स्थिति उत्कृष्ट से बांधते हैं। एकेन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति को पच्चीस आदि से गुणा कर पल्योपम का संख्यातवां भाग न्यून करने पर जो रहे उतनी द्वीन्द्रियादि जघन्य स्थिति बांधते हैं और उत्कृष्ट से परिपूर्ण वह स्थिति बांधते हैं। यह कर्मप्रकृतिकार के मतानुसार समझना चाहिए।

उक्त समय कथन का सारांश यह है—

पंचसंग्रह के मतानुसार प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को मिथ्यात्व की स्थिति से भाग देने पर जो आये वह एकेन्द्रियों की जघन्य और पल्योपम का असंख्यातवां भाग मिलाने पर प्राप्त प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति को पच्चीस आदि से गुणा करने पर प्राप्त प्रमाण अनुक्रम से द्वीन्द्रियादि की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति होती है।

प्रज्ञापना और जीवाभिगम सूत्र के अभिप्रायानुसार बाईस प्रकृतियों की अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति को मिथ्यात्व की स्थिति से भाग देने पर जो आये उसमें से पल्योपम का असंख्यातवां भाग न्यून करने पर जो शेष रहे उतनी एकेन्द्रिय जघन्य स्थिति बांधते हैं और उत्कृष्ट से परिपूर्ण वह स्थिति बांधते हैं तथा एकेन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति को पच्चीस आदि से गुणा करने पर प्राप्त प्रमाण द्वीन्द्रियादि उत्कृष्ट स्थिति बांधते हैं और पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून जघन्य स्थिति बांधते हैं ।

आयुचतुष्क, आहारकद्विक और तीर्थकरनाम की जघन्य, उत्कृष्ट स्थिति-बंध के विषय में कुछ भी मतभेद नहीं है ।

वैक्रियषट्क की स्थिति के बारे में पंचसंग्रह और कर्मप्रकृति में मतभेद नहीं है । परन्तु प्रज्ञापनासूत्र में देवद्विक की १/७ भाग स्थिति को हजार से गुणा कर पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून जघन्य स्थिति बताई है ।

इस प्रकार से एकेन्द्रियादि की अपेक्षा जघन्य, उत्कृष्ट स्थितिबंध विषयक दृष्टिकोण हैं ।



आयु और मोहनीय कर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबंध स्वामित्व विषयक विशेष वक्तव्य

पंचसंग्रहकार एवं शिवशर्मसूरि ने शतक अधिकार में आयु एवं मोहनीय कर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामित्व के लिये कहा है कि आयुकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामी पांच गुणस्थान वाले और मोहनीयकर्म के सात गुणस्थान वाले जीव है—

आउक्कस्स पदेसस्स पंच मोहस्ससत्त ठाणाणि ।

—शतक प्रकरण गा. ६३

लेकिन दिगम्बर पंचसंग्रह शतक प्रकरण गाथा ५०२ में उक्त कथन के बदले यह कहा है —

आउक्कस्स पदेसस्स छच्चमोहस्स नव दु ठाणाणि ।

यही गाथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड में गाथा २११ के रूप में पाई जाती है । लेकिन इन दोनों की संस्कृत टीकाओं के अर्थ में भिन्नता है ।

दि. पंचसंग्रह की टीका में जो अर्थ किया गया है, उसका सारांश इस प्रकार है —

आयुकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध मिश्रगुणस्थान को छोड़कर प्रारम्भ के छह गुणस्थानों में होता है तथा मोहकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध प्रारम्भ के नौ गुणस्थानों में होता है ।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में इस गाथा की जो २११वीं संख्या के रूप में पाई जाती है, संस्कृत टीका का अंश इस प्रकार है—

'आयुष उत्कृष्टप्रदेशं षड्गुणस्थानान्यतीत्य अप्रमत्तो भूत्वा बध्नाति ।
मोहस्स तु पुनः नवमं गुणस्थानं प्राप्य अनिवृत्तिकरणो बध्नाति ।

इसका हिन्दी अर्थ इस प्रकार किया गया है—

आयुर्कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध छह गुणस्थानों को उल्लंघन सातवें गुणस्थान में रहने वाला करता है। मोहनीय का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नवम गुणस्थानवर्ती करता है।

दि. पंचसंग्रह के टीकाकार ने इस गाथा की टीका में केवल 'मिश्रगुणं विना' इतने अंश को छोड़कर शेष अर्थ में गो. कर्मकाण्ड की टीका का ही अनुसरण किया है। यद्यपि 'मिश्रगुणं विना' इतना अंश उन्होंने उक्त गाथा के अन्त में दी गई वृत्ति 'मिस्सवज्जेसु पढम गुणेषु' के सामने रहने से दिया है।

तथापि उक्त दोनों टीकाओं में किया गया अर्थ न तो मूल गाथा के शब्दों से ही निकलता है और न महाबन्ध के प्रदेशबन्धगत स्वामित्व-अनुयोगद्वारा से ही उसका समर्थन होता है। महाबन्ध में आयु और मोह कर्म के उत्कृष्ट प्रदेश-स्वामित्व का निरूपण इस प्रकार किया है—

'मोहस्स उक्कस्सपदेसबन्धो कस्स ? अण्णदरस्स चटुगदियस्स पंचिदियस्स सण्णस्स मिच्छादिट्ठिस्स वा सम्मादिट्ठिस्स वा सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदस्स सत्तविहबन्धगस्स उक्कस्सजोगिस्स उक्कस्सए पदेसबन्धे वट्टमाणस्स । आउगस्स उक्कस्सपदेसबन्धो कस्स ? अण्णदरस्स चटुगदियस्स पंचिदियस्स सण्णस्स मिच्छादिट्ठिस्स वा सम्मादिट्ठिस्स वा सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयस्स अट्ठविहबन्धगस्स उक्कस्सजोगिस्स ।'

—महाबन्ध पु. ६, पृ. १४

इस उद्धरण में आयुर्कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध न केवल अप्रमत्त के बताया है और न मोहनीय का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध केवल अनिवृत्तिकरण के बताया है। किन्तु कहा है कि आयुर्कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध आठों कर्मों के बांध वाले पंचेन्द्रिय संज्ञी मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि जीव के होता है तथा आयुर्कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों का बांध करने वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के मोहकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है।

महाबन्ध के इस कथन से दि. पंचसंग्रह की मूल गाथा द्वारा प्रतिपादित अर्थ का ही समर्थन होता है।

आ. अमितगति के संस्कृत पंचसंग्रह से भी ऊपर किये गये अर्थ की पुष्टि होती है—

उत्कृष्टो जायते बन्धः षट्सु मिश्रं विनाऽऽयुषः ।

प्रदेशाख्यो गुणस्थाननवके मोहकर्मणः ॥

सं. पंचसंग्रह ४/२५१

दि. पंचसंग्रह के संस्कृत टीकाकार सुमतिकीर्ति के सामने अमितगति के संस्कृत पंचसंग्रह के होते हुए और अनेक स्थानों पर उसके उद्धरण देते हुए भी इस स्थल पर उसका अनुसरण न करके गो. कर्मकाण्ड की टीका का अनुसरण क्यों किया ? यह बात विचारणीय है ।

श्वेताम्बर साहित्य में इस प्रदेशबन्धस्वामित्व के लिए जिस रूप में यह गाथा दी है उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । जिसका अर्थ करते हुए चूर्णिकार ने उक्त दोनों पाठभेदों की सूचना की है । उक्त अंश इस प्रकार है—

‘आउक्कस्स एस्स पंच त्ति’ मिच्छद्दिट्ठि असंजतादि जाव अप्पमत्तसंजओ एतेसु पंचसु वि आउगस्स उक्कोसो पदेशबन्धो लब्भइ । कहं ? सव्वत्थ उक्कोसो जोगो लब्भइ त्ति काउं । अग्ने पढंति—‘आउक्कोसस्स पदेसस्स छत्ति ।’…… ‘मोहस्स सत्तठाणाणि’ त्ति सासण-सम्मामिच्छद्दिट्ठिवज्जा मोहणिज्जबन्धका सत्तविह्वन्धकाले सव्वेस्सि उक्कोसपदेसबन्धं बन्धंति । कहं ? भन्नइ—सव्वेसु वि उक्कोसो जोगो लब्भति त्ति । अग्ने पढंति —‘मोहस्स णव उ ठाणाणि’ त्ति सासणसम्मामिच्छेहि सह ।’

उक्त पाठभेदों के रहते हुए भी चूर्णि में किये गये अर्थ से न पंचसंग्रह की संस्कृत टीका के अर्थ का समर्थन होता है और न गो. कर्मकाण्ड की संस्कृत टीका द्वारा किये गये अर्थ का समर्थन होता है ।

इस अर्थ को सयुक्तिक कैसे बनाया जाये और गुणस्थानापेक्षा मूल प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध के स्वामित्व का स्पष्टीकरण कैसे हो ? विद्वज्जन समाधान करने की कृपा करें ।



मूल प्रकृतियों के बंधादि स्थान : भूयस्कार आदि प्रकार

स्थान	मूल प्रकृति	स्वामी	भूयस्कार	अल्पतर	अवस्थित	अवक्तव्य
बंध ८ प्रकृ.	सब	मिश्र बिना अप्र- मत्त गुणस्थान	३	३	४	×
„ ७ „	आयु के बिना	आदि के नौ गुणस्थान				
„ ६ „	मोह. आयु बिना	सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान				
„ १ „	वेदनीय	११ से १३ गुणस्थान				
उदय ८ प्रकृ.	सब	आदि के दस गुणस्थान	१	२	३	×
„ ७ „	मोह. के बिना	११वां, १२वां गुणस्थान				
„ ४ „	चार अघाति	१३वां, १४वां गुणस्थान				
उदी. ८ प्रकृ.	सब	आदि के छह गुणस्थान	३	४	५	×
„ ७ „	आयु बिना	आदि के छह गुणस्थान (मिश्रगुण. बिना)				
„ ६ „	वेदनीय	आयु की अन्तिम आवलिका में ७वें से १०वें				
„ ५ „	आयु बिना	गुणस्थान				
„ ५ „	मोह. वेद.	११वां, १२वां गुणस्थान				
„ २ „	आयु बिना	गुणस्थान				
	नाम और गोत्र	१३वां गुणस्थान				

स्थान	मूल प्रकृति	स्वामी	भूयस्कार	अल्पतर	अवस्थित	अवक्तव्य
सत्ता ८ प्रकृ.	सब	आदि के ११ गुणस्थान	×	२	३	×
„ ७ „	मोह, बिना	क्षीणमोह गुणस्थान				
„ ४ „	चार अघाति	१३वां, १४वां गुणस्थान				

विशेष—

- (१) तीसरे, आठवें, नौवें गुणस्थान को छोड़कर शेष पहले से सातवें गुणस्थान तक आयुबंध होने पर सात प्रकृतिक बंधस्थान नहीं समझना चाहिए । किन्तु आठ प्रकृतिक बंधस्थान होता है ।
- (२) चारों बंधस्थान पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय में ही प्राप्त होते हैं । शेष तेरह जीवस्थानों में आठ और सात प्रकृतिक बंधस्थान होते हैं ।
- (३) पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय में ही तीनों उदयस्थान एवं तीनों सत्तास्थान होते हैं । शेष तेरह जीवस्थानों में आठ प्रकृतिक उदय व सत्ता स्थान होते हैं ।
- (४) क्षपक को भी सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान की अन्तिम आवलिका में एवं उपशांतमोह और क्षीणमोह गुणस्थान की एक आवलिका पूर्व तक मोहनीय, वेदनीय, आयु के बिना पांच मूल कर्मों की उदीरणा होती है ।
- (५) क्षीणमोहगुणस्थान की अन्तिम आवलिका में नाम और गोत्र इन दो कर्मों की उदीरणा होती है ।
- (६) संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त में पांचों उदीरणास्थान एवं शेष तेरह जीव-भेदों में सात अथवा आठ प्रकृतिक उदीरणास्थान होते हैं ।



प्रत्येक कर्म की उत्तर प्रकृतियों के बंधादि स्थान : भूयस्कार आदि प्रकार

कर्म का नाम	स्थान व संख्या	प्रकृतिक	भूयस्कार	अत्यन्तर	अवस्थित	अवक्तव्य
ज्ञानावरण	बंधस्थान १	५ प्रकृतिक	×	×	१	१
	उदयस्थान १	५ प्रकृतिक	×	×	१	×
	सत्तास्थान १	५ प्रकृतिक	×	×	१	×
दर्शनावरण	बंधस्थान ३	६, ६, ४ प्रकृतिक	२	२	३	२
	उदयस्थान २	४, ५ प्रकृतिक	१	१	२	×
	सत्तास्थान ३	६, ६, ४ प्रकृतिक	×	२	२	×
वेदनीय	बंधस्थान १	१ प्रकृतिक	×	×	१	×
	उदयस्थान १	१ प्रकृतिक	×	×	१	×
	सत्तास्थान २	२, १ प्रकृतिक	×	१	१	×
मोहनीय	बंधस्थान १०	२२, २१, १७, २, १, प्रकृतिक	६	८	१०	२
	उदयस्थान ६	१, २, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० प्रकृतिक	८	८	६	५
	सत्तास्थान १५	२८, २७, २६, २४, २३, २२, २१, १३, १२, ११, ५, ४, ३, २, १ प्रकृतिक	१	१४	१५	×
आयु	बंधस्थान १	१ प्रकृतिक	×	×	१	×
	उदयस्थान १	१ प्रकृतिक	×	×	१	×
	सत्तास्थान २	२, १ प्रकृतिक	१	१	२	×

कर्म का नाम	स्थान व संख्या	प्रकृतिक	भूयस्कार	अल्पतर	अवस्थित	अवक्तव्य
नाम	बंधस्थान ८	२३, २५, २६, २८, २९, ३०, ३१, १ प्रकृतिक	६	७	८	३
	उदयस्थान १२	२०, २१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ६, ८ प्रकृ.	८	९	१२	×
	सत्तास्थान १२	६३, ६४, ६६, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७६, ७५, ६, ८ प्रकृतिक	६	१०	१०	×
गोत्र	बंधस्थान १	१ प्रकृतिक	×	×	१	१
	उदयस्थान १	१ प्रकृतिक	×	×	१	×
	सत्तास्थान २	२, १ प्रकृतिक	१	१	२	१
अन्तराय	बंधस्थान १	५ प्रकृतिक	×	×	१	१
	उदयस्थान १	५ प्रकृतिक	×	×	१	×
	सत्तास्थान १	५ प्रकृतिक	×	×	१	×

विशेष—गोत्रकर्म में अवक्तव्य सत्ता उच्चगोत्र की सत्ता पुनः प्राप्त होने की अपेक्षा समझना चाहिए । किन्तु गोत्रकर्म की सत्ता का नाश होने के पश्चात् पुनः सत्ता सम्भव नहीं होने से अवक्तव्य सत्ता घटित नहीं होती है ।



समस्त उत्तर प्रकृतियों के बंधादि स्थान : भूयस्कार आदि प्रकार

स्थान व संख्या	प्रकृतिक	भूयस्कार	अल्पतर	अवस्थित	अवस्तव्य
बंधस्थान २६	१, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २६, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४ प्रकृतिक	२८	२८	२९	×
उदयस्थान २६	११, १२, २३, २४, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९ प्रकृतिक	२१	२४	२६	×
सत्तास्थान ४८	११, १२, ८०, ८१, ८४, ८५, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३२, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, प्रकृतिक	१७	४७	४४	×

गाथाओं की अकाराद्यनुक्रमणिका

गाथांश	गा. सं./पृ.	गाथांश	गा. सं./पृ.
अजहन्नोऽणुक्कोसो	१०५।३४७	अन्तो कोडाकोडी	४२।१७१
अजहन्नोऽणुक्कोसो	१०६।३५१	अन्तो कोडाकोडीठिइए	४३।१७३
अज्जोगि संतिगाणं	१७६।४६६	आउस्सपढम समया	५१।१६०
अट्टारानऽजहन्नो	६२।२१८	आउस्ससाइ अधुवो	२७।१३६
अट्टारसण्हखवगो	६१।२१७	आवलिमेत्तुक्कोसं	१७४।४६०
अणुदयनुत्तलं उक्खलणिगाणं	१८०।४७२	आवलियदुसमऊणामेतं	१८३।४७५
अणुभागट्टाणाइं	१५२।४२८	आहार अप्पमत्तो	७०।२४७
अणुभागुदओवि उदीरणाए	१०४।३४५	इगछाइ मूलियाणं	१३।३७
अणुभागोणुक्कोसो	६५।२३१	इगसयरेगुत्तर जा	१८।६५
अट्ठाजोगुक्कोसे	११६।३७०	इत्थीउदए नपुंसं	१३६।४०३
अट्ठाजोगुक्कोसेहि	१६१।४४१	इत्थीए संजमभवे	१२७।३८६
अन्नयरवेयणीयं उच्चं	१४३।४०६	ईसाणे पूरित्ता	१५८।४३६
अप्पट्ठाजोगसमज्जियाणं	१२८।३८८	उक्कोसठिईबंधा	५३।१६५
अप्पतरपगइबंधे	६१।३०१	उक्कोसपएसुदयं	११०।३६३
असुमित्थिसोगपढमिल्ल	१२४।३८१	उक्कोसमाइयाणं	८२।२८१
असुभधुवाणं जहण्णं	६७।२४२	उक्कोसापरिवडिंसाइ	२४।१३२
असंखलोगखपएसतुल्लया	५०।२१०	उदओ ठिइक्खएणं	१०२।३३६
अन्तिम लोभ जसाणं	१७१।४५०	उदयवईणेगठिइ	१४६।४१६

ગાથાંશ	ગા. સં./પૃ.	ગાથાંશ	ગા. સં./પૃ.
ઉદયસંકમ ઉક્કોસાણ	૧૪૫.૪૧૪	જમિહ નિકાઇય તિત્થં	૪૪.૧૭૪
ઉદીરણ જોગાણં	૧૦૩.૩૪૦	જા અપમત્તો સત્તટ્ઠબંધગા	૨૧૪
ઉબ્બલમાણીણેઘઠિઈ	૧૬૬.૪૫૦	જા ઇગિદિ જહ્નના	૫૪.૧૬૭
ઉવસામહત્તુ ચઉહા	૧૨૬.૩૮૪	જાવહ્યાય ઠિઈઓ	૧૭૬.૪૭૧
ઉવસંતોકાલગઓ	૧૨૫.૩૮૩	જાવ પમત્તો અટ્ઠપ્પહુ	૫.૧૨
એકાર વાર તિ ચઉક્કવીસ	૧૬.૬૫	જાવુદઓ તાવ ઉદીરણા	૬.૧૬
એકારવારસાસી	૨૧.૧૧૮	જાવેગિદિજહ્નના	૧૪૮.૪૨૨
એકં સમયં અજહ્નનો	૮૬.૨૮૪	જાસુહુમસંપરાઓ	૩.૭
એગટ્ઠિયં એગાહ	૧૭૩.૪૫૭	જો સવ્વ સંકમેણં	૧૫૬.૪૩૬
એગપેસોગાઢે	૭૭.૨૬૭	જં સમયં ઉદયવર્હ	૧૭૮.૪૬૮
એવં નપુંસગિત્થી	૧૩૮.૪૦૨	જં સમયં જાવ હ્યાઈ	૭૨.૨૬૫
ઓરાલિય તિરિયદુગે	૭૧.૨૪૬	જ્ઞત્તિગુણાઓપડિએ	૧૦૬.૩૬૧
ઓહેણે ક્ખવિયકમ્મે	૧૬૮.૪૪૬	ઠિહ્વંઠાણેહ્વહ્વં	૧૭૭.૪૬૮
કમસો વુહ્ઠઠિઈણં	૭૮.૨૭૧	ઠિહ્ઠાણાઈં ઇગિદિયાણ	૫૬.૨૦૧
કુવ્વહ્ ઓહિદુગસ્સ	૧૨૧.૩૭૮	ઠિહ્વંઠાણેહ્વહ્વં	૭૬.૨૬૨
ક્ષીણદ્ધાસંખંસં	૧૭૫.૪૬૧	તદ્વચ્ચિયપજ્જત્તી	૧૦૦.૩૩૩
ક્ષીણાહિતિગે અસંખગુણિય	૧૦૮.૩૫૪	તમતમગો અહિલ્લિપ્પં	૧૬૪.૪૪૪
ગુણસેઢીએ ભગ્ગો	૧૧૬.૩૭૫	તિરિએગંતુદયાણં	૧૧૩.૩૬૮
ચઉદ્દુહા નામંમિ	૧૭.૫૪	તિસુમિચ્છત્તં નિયમા	૧૩૪.૩૬૭
ચઉરંસઉચ્ચસુભલ્લગઈં	૬૫.૩૨૨	તીસં કોઢાકોઢી	૩૪.૧૫૫
ચઉરુવસામિયે મોહં	૧૬૦.૪૪૦	તુલ્લા નપુંસગેણં	૧૬૭.૪૪૮
ચઉહાધુવસંતીણં	૧૫૫.૪૩૨	તેણાહ્ ઓહેણં	૨૫.૧૩૫
ચરમાવલિપ્પવિટ્ઠા	૧૭૧.૪૫૫	તે વિ હુ સાઈ અણાઈ	૧૧૩૦
ચરમસંછોભસમએ	૧૮૫.૪૮૨	થાવરતિરિગહ્વો દો	૧૩૭.૪૦૧
ચરિમોદયમુચ્ચાણં	૬૬.૩૩૨	થિરસુભજસસાયાણં	૭૩.૨૪૩
છલ્લંધગસ્સ ઉક્કસ્સ	૮૪.૨૮૪	દેવગઈ ઓહિસમા	૧૩૧.૩૬૧
જહ્ જહ્ ય અપ્પગઈં	૮૦.૨૭૮	દેવોજહ્નયાક	૧૨૦.૩૭૬

गाथांश	गा. सं./पृ.	गाथांश	गा. सं./पृ.
देसूण पुव्वकोडी	६४।३१८	बंधावलियाईयं	१८१।४७५
दो मास एग अद्ध	४८।१८०	बंधुदउक्कोसाणं	१४४।४११
नरयतिगं देवतिगं	२६।१४३	भूओगारप्पयरग	१२।३४
नाणतराइयाणं	८१।२७६	भूओगारप्पयरग	१४।४१
नाणंतरायदंसण	६०।२१५	भूओगारा दो नव छ	१६।५४
नाणंतराय निहा	८८।२८६	भूयप्पयरा इगिचउवीसं	२०।१०६
नारय तिरियदुग दुमगाइ	११७।३७२	मइसरिसं वरिसवरं	१२३।३८०
निहाउदय वईणं	८।२५	मइसुध चक्खुअचक्खुणं	१५।१४२७
नियय-ऊ बंध वुयाणं	८६।२८६	मज्झल्लदुकसाया	१३६।४००
निरुवक्कमाण छासा	४१।१६६	मयनाणे दुट्ठाणं	१५०।४२६
पढम कसाया चउहा	१३३।३६४	मिच्छमीमेहि कमसो	१५७।४३६
पढमगुण सेडि सीसे	११२।३६६	मूलठिई अजहन्ना	१४३।४०८
पढम ठिइचरमुदये	१८४।४८२	मूलुत्तर पगईणं	२६।१३७
पणावीसा पन्नासा	५५।१६७	मोत्तु य कसाई तणुया	३२।१५१
पयडी ठिइ पएसणुभागभेया	१०।३०	मोत्तुमवाहा समए	५०।१८८
पयडी ठिइमाईया	६८।३३१	मोहस्स अइकिलिट्ठे	८७।२८७
पलिओवमस्स मूला	५२।१६३	मोहाउयवज्जाणं	८३।२८३
पलियासंखेज्जंसे	३६।१६५	मोहेचउहा तिविहो	१०१।३३६
पुव्वाकोडी परओ	४५।१७६	मोहे सयरीकोडा कोडीओ	३१।१४८
पुव्वाकोडी जेसि	४०।१६७	वेउव्वाहार दुगं	३०।१४५
पुंवेए अट्टवासा	४७।१७८	वेउव्विच्छक्कितं	४६।१८५
पुंहासरई उच्चे	३६।१५६	वेछावट्ठिचियाणं	१६५।४४५
पूरित्तु पुव्वकोडी	१६३।४४३	वेयणिय उच्चसोयंतराय	१२२।३७६
बत्तीसं नत्थिय सयं	२२।११८	वोलीणेमु दोसुं	३८।१६५
बद्धस्सुदओ उदए	१।३	सत्तण्हं अजहन्ना	५६।२१२
बंधदुणा तिदसट्ठ	१५।४६	सत्तण्हं अजहन्तं	१५३।४३०
बंधति सत्त अटठव	४।१०	सत्तविहबंध मिच्छे	६२।३११

गाथांश	गा. सं./पृ.	गाथांश	गा. सं./पृ.
समया दसंखकालं	६३।३१७	सुसुराई तिन्नि दुगुणा	७४।२५५
सयलसुमाणुवकोसं	६८।२४१	से कालेन्तरकरणं	११४।३६६
सयलासुमायवाणं	६९।२४२	सेदि असखेज्जंसो	७५।२६२
सव्वजहन्न पएसे	१७२।४५७	सेसाउगाणि नियेगेसु	१६२।४४१
सव्वलहु नरयगए	१३०।३८६	सेसाणं चक्खुसमं	१३२।३६२
सव्वजहन्ता वि ठिई	५७।२०६	सेसाणंतमुहुत्तं	६६।३२५
सव्वाणठिई असुभा	६४।२२६	संकमनुल्लं अणुभागसंतयं	१४६।४२५
सव्वाण वि आहारं	१४१।४०५	संखेज्जा ठिइखंडा	१४०।४०७
सव्वाण वि पगईणं	६३।२२०	संघयण पंचगस्स उ	११८।३७३
साई अधुवोऽधुव	६०।२८६	संघयणे संठाणे पढमे	३५।१५७
साई अधुवोनियमा	२३।१३०	संजलण तिगेदु समयहीणा	१८२।४७५
साई अधुवोसव्वाण	२८।१४१	संजोयणा विजोजिय	१२६।३८६
सायासाया ऊणं	७।१६	संपुण्णगुणियकम्मो	१५६।४३६
सासय मीसेमीसं	१३५।३६६	संमत्तदेस संपुत्तविरइ	१०७।३५४
सुनिकलसुरभि मंहुराण	३३।१५८	संमत्त वेयसंजलयाण	१११।३६४
सुभथिरं सुभ धुवियाणं	१६६।४४६	हस्सठिई बंधित्ता	११५।३६६
सुभधुवतसाइ चतुरा	७२।२५१	हासाइ पुरिसकोहाइ	१४७।४२०
सुभधुव बंधितसाइ	१५४।४३२	होइ अणाइ अणन्तो	६।२८
सुभधुविआणुवकोसो	६६।२३५	होई अणाई अणंतो	६७।३२६
सुरनारया दुयाणं	३७।१६१	होइ जहन्नोऽपउजत्तगस्स	८५।२८४
सुरनारयाउयाणं	४६।१७७		



प्रस्तुत ग्रन्थ : एक परिचय

कर्मसिद्धान्त एवं जैनदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य चन्द्रवि महत्तर (विक्रम ६-१० शती) द्वारा रचित कर्मविषयक पाँच ग्रन्थों का सार संग्रह है—पंचसंग्रह ।

इसमें योग, उपयोग, गुणस्थान, कर्मबन्ध, बन्धहेतु, उदय, सत्ता, बन्धनादि आठ करण एवं अन्य विषयों का प्रामाणिक विवेचन है जो दस खण्डों में पूर्ण है ।

आचार्य मलयगिरि ने इस विशाल ग्रन्थ पर अठारह हजार श्लोक परिमाण विस्तृत टीका लिखी है ।

वर्तमान में इसकी हिन्दी टीका अनुपलब्ध थी । श्रमणसूर्य मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज के सान्निध्य तथा मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि जी की संस्मरण से इस अत्यन्त महत्वपूर्ण, दुर्लभ, दुर्बोध ग्रन्थ का सरल हिन्दी भाष्य प्रस्तुत किया है—जैनदर्शन के विद्वान् श्री देवकुमार जैन ने ।

यह विशाल ग्रन्थ क्रमशः दस भागों में प्रकाशित किया जा रहा है । इस ग्रन्थ के प्रकाशन से जैन कर्म सिद्धान्त विषयक एक विस्मृतप्रायः महत्वपूर्ण निधि पाठकों के हाथों में पहुँच रही है, इसका एक ऐतिहासिक मूल्य है ।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्राप्ति स्थान :—

श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार, ग्यावर (राजस्थान)

मूल्य : सिर्फ २०/- रुपया